

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतो-द्वादश-त्रयोदशो-ग्रन्थो-

जलभेदः

चतसृभिःश्लोकाभिः समलंकृतः

- | | |
|------------------------|----------------------|
| १. श्रीकल्याणरायाणाम् | ३. श्रीवल्लभानाम् |
| २. श्रीपुरुषोत्तमानाम् | ४. श्रीबालकृष्णानाम् |

परिशिष्टद्वयोपेतः

१. 'पूर्णा भगवदीया' इत्यत्र श्रीहरिरायाणां स्वतन्त्रलेखः
२. 'शेष व्यास' इत्यत्र श्रीशानां स्वतन्त्रलेखः

पञ्चपद्यानि

च

टीकाद्वयसमलंकृतानि

१. श्रीहरिरायाणा
२. श्रीपुरुषोत्तमानाम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-नित्यलीला-स्थित-गोस्वामिश्री
१००८ श्रीवल्लभलाल-महाराज-श्रीत्येतेषां-स्मृती-तेषां-श्रीमती
-रत्नप्रभा-वहूजी-महाराजश्रीत्येताभिः-प्रकाशितौ.

प्रकाशक :

गोस्वामी १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराजके श्रीरत्नप्रभा बहुजी महाराज,
श्रीलालबाबा मंदिर, १४२/बी, भुलेश्वर, बंबई, ४०० ००२, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

राजसंस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द : ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :

स्टुडिओ बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग चौपाटी, बम्बई-४०० ००७



गोस्वामिश्री १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

जलभेद तथा पञ्चपद्यानि ग्रन्थ कब कहाँ और किसके लिए लिखे गये इसका विवरण कहीं मिलता नहीं है.

जलभेदमें भगवत्कथाके वक्ताके उत्तम मध्यम तथा कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं; तथा पञ्चपद्यानिमें श्रोताके उत्तम मध्यम और कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं. यद्यपि भागवतके प्रथम स्कन्धका भी वर्ण्य-विषय यही है फिरभी सर्वांशमें दोनों ग्रन्थ प्रथम स्कन्धका ही अनुसरण करते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता है.

भागवतके प्रथम स्कन्धमें स्वयम् भागवतके वक्ता तथा श्रोता के उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारोंका निरूपण किया गया है. जबकि इन जलभेद और पञ्चपद्यानि में भागवतोक्त धर्म शरणागति तथा निर्गुणा भक्ति के अंगभूत, भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण-स्मरण-कीर्तनार्थ अपेक्षित, वक्ताओं तथा श्रोताओं के उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारका विवेचन किया गया है. यहाँ भागवतपुराणके प्रवचन या श्रवण का प्रश्न नहीं है अपितु भागवतानुसारी भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण-स्मरण-कीर्तनके एक व्यापक सन्दर्भमें ही श्रीमहाप्रभुने जलभेद तथा पञ्चपद्यानि ग्रन्थका उपदेश दिया है. अतएव भागवतके लिए श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं—

यदौपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा ।

वर्णिनामेव तद्धि स्यात्स्त्रीशूद्राणां ततोऽथवा ॥

(भाग. नि. ३।१७८)

अर्थ : औपनिषद तथा श्रीभागवतके ज्ञान का अधिकार उपनयन संस्कारवाले द्विजोंका ही होता है—अनुपनीत स्त्री या शूद्रों का नहीं.

आजकल चल निकली चन्दा एकत्रित करनेके लिए होती भागवत-संज्ञाहकी हास्यास्पद रीतिसे विपरीत भागवतके प्रवचन और श्रवण के कुछ गम्भीर नियम श्रीमहाप्रभु स्वीकारते हैं. अतएव आज्ञा करते हैं कि “भागवत प्रसंगो न यथाकथञ्चिद् यत्रकुत्रचिद् कर्तव्यः किन्तु महान्तश्चेद् बहवः शुद्धास्तीर्थनिरताः प्रार्थयंयुस्तदैव प्रसंगः कर्तव्यः. एतादृशेषु श्रोतरि न सहसा भागवतं वक्तव्यं किन्तु तद्हृदयमवगाह्यैव... रीतिरियं सदा” (भाग. नि. १।२२-२५) अर्थ : जैसे मनमें आये वैसे, जहाँ मनमें आजाये वहीं, भागवतका प्रसंग छेड़ नहीं देना चाहिये. किन्तु अनेक महापुरुष तीर्थवासनिरत शुद्ध श्रोताओं द्वारा प्रार्थना किये जातेपर ही भागवतका प्रसंग छेड़ना चाहिये. फिर ऐसोंके सम्मुख भी सहसा नहीं—पहले श्रोताकी हादिक उत्कण्ठा एवम् जिज्ञासुता को अच्छी तरह पहचान कर ही प्रसंग छेड़ना चाहिये. आदि—प्रवचनकर्ताओंकी यही रीति थी और आज भी तथा सर्वदा यही रीति हमें निभानी चाहिये.

श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि इसके विपरीत जब अनधिकारी लोग यशोलिप्सा, धनलिप्सा

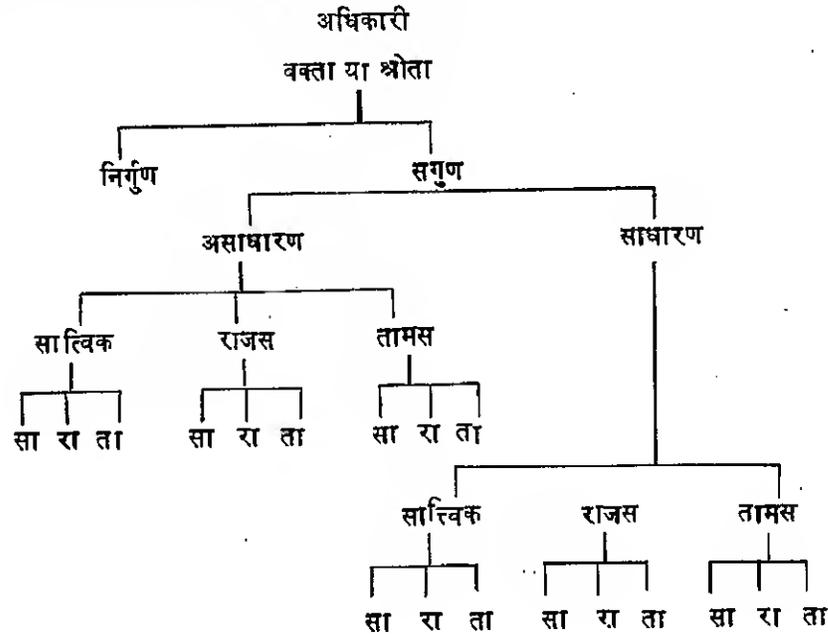
या स्पर्धा के वशीभूत होकर स्वयम्को भागवतप्रवचनके योग्य अधिकारी मान बैठते हैं और यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रवचन करने लग जाते हैं तो भागवतके प्रवचन पाठन या पठन का अधिकार तो दूर भागवतोक्त धर्म-पालनके अधिकारी भी वे रह नहीं जाते हैं— “ये पुनरेतानि वाक्यान्वा-श्रित्य स्वस्यापि पाठाधिकारमापादयन्ति तेषां मात्सर्यादिदोषग्रासेन श्रीभागवतधर्मेष्वप्यनधि-कारः किं पुनः पाठे....नतु श्रावणीयं वा विध्यभावात्” (भाष्यप्रका. १।३।३८)

यहां जलभेद और पञ्चपद्यानि में किन्तु जिस वक्ता या श्रोताको आदर्श माना गया है उसका उपनीत या द्विज होना अनिवार्य नहीं है. क्योंकि इस वक्ताका वेदादि शास्त्रोंका प्रवचनकर्ता होना भी आवश्यक नहीं है. वेदादि शास्त्रोंसे अविरोद्ध भगवत्स्वरूप-गुण-लीलाके निर्व्याज अहर्निश चिन्तनमें सप्रेम तत्पर होना ही यहां पर्याप्त है. भागवतमें आता है कि

तद्वान्विसर्गो जनताधविष्णवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमवद्वत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोकिंतानि य—
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥

अर्थ : भक्तोंके मुखसे निःसृत वाणी, लौकिक भाषामें गाये गये गीति-पद अथवा संस्कृत भाषामें गाये गये गीतगोविन्द जैसे काव्य, प्राणिमात्रके सभी पापोंको नष्ट कर देते हैं. यह सम्भव है कि इनमें छन्द-व्याकरणकी दृष्टिसे कुछ श्रुतियां हो अथवा गानेकी प्रक्रियामें भगव-न्नामके अक्षरोंका तानकर गान करनेमें परस्पर सहभाव टूट जाता हो. पर अनन्तकीर्ति भगवानके यशोकिंत अनन्त नाम भक्तिमान् वक्ताओंके मुखसे सुने जानेपर या भक्तिमान् श्रोताओंके सम्मुख गाये जानेपर अथवा स्वयम् भी एकाकितया लिये जानेपर सारे कल्मषोंको दूर कर देते हैं. (सुबो. १।५।११).

अतएव भागवतमें वक्ता और श्रोता के उन्नीस भेद माने गये हैं. यथा :



इस वर्गीकरणमें निर्गुण अधिकारी उत्तम माना गया है. असाधारण अधिकारीके सात्विक-सात्विक राजस-सात्विक आदि नौ भेद होते हैं. ये मध्यम अधिकारी हैं. इसी तरह साधारण अधिकारीके भी पूर्वोक्त रीतिके अनुसार नौ भेद होते हैं और इन्हें कनिष्ठ माना जाता है. यह उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ कक्षा भक्ति वैराग्य तथा द्विविध ज्ञान (अनुभवपर्यवसायी अर्थज्ञान तथा अनुभवविहीन केवल शाब्दिक ज्ञान) की चारों कसौटीपर खरे उतरनेवाले की उत्तम, अनुभवपर्यवसायी अर्थज्ञान तथा भक्ति रहनेपर भी वैराग्यरहित होनेपर मध्यम; तथा वैराग्यरहित केवल शाब्दिक ज्ञान एवम् भक्तिवाले अधिकारीकी कनिष्ठ कक्षा मानी जाती है.

तदनुसार हो जलके भेद भी सुबोधिनोमें उन्नीस ही माने गये हैं, जहां श्रीमहाप्रभु यह विवेचन करते हैं कि “उन्नीस भेद होनेपर भी बहता हुआ जल और स्थिर जल ये दो मुख्य भेद हैं” (दृ. सुबो. १०।३।३). जबकि यहां जल और वक्तृभाव दोनोंके बीस भेद स्वीकारे गये हैं. इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रथम स्कन्धमें निर्धारित अधिकारभेद केवल भागवतके सन्दर्भमें ही विवक्षित है. जबकि यहां भगवत्स्वरूप भगवद्गुण या भगवद्लीला का भागवतानुसारी या भागवत-अविरोधी होना अनिवार्य होनेसे, वक्ताका भी भागवतानुसारी या भागवत-अविरोधी होना अनिवार्य है, परन्तु एतावता प्रत्येक वक्ताका भागवतपुराणपर प्रवचनकारी होना आवश्यक नहीं है. यहां तो पुष्टिमार्गीय श्रोताको भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन कैसे वक्ताके सत्संग द्वारा सम्पन्न करना चाहिये यही विवक्षित सन्दर्भ है. अतएव श्रोताके भी उन्नीस भेद न दिखलाकर केवल तीन या चार भेद ही दिखलाये गये हैं. अतएव उन्नीस और बीस के भेदको विवक्षाप्रयुक्त मानना चाहिये.

फलतः पुराणप्रवचनकी अनिवार्य शर्तें उपनयन-संस्कार या द्विजत्व अथवा पुरुष होना भी यहां अनिवार्य नहीं लगता है. परन्तु इसके सिवा अन्य गुण जो भागवतके वक्ताकी उत्तम-ताके परिचायक हैं यथा उसका स्वसम्प्रदायकी परम्पराके अनुसार सत्पुरुषके मुखसे भगव-द्लीला एवम् सिद्धान्त का श्रवण किये हुए होना, स्वयम् धनोपार्जनके हेतु भगवत्कथामें प्रवृत्त न होना एवम् ज्ञान-भक्ति-वैराग्य-सम्पन्न होना आदि, उन्हें इस सन्दर्भमें भी आवश्यक माना जा सकता है— “वक्ताधिकारी सर्वज्ञः सम्प्रदायेन सन्मुखात् श्रुतभागवतो भक्तो....” (भाग. नि. १।२३).

जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि, श्रीमहाप्रभुके अनुसार, चित्तका श्रीकृष्णमें तन्मय हो जाना है. इसके दो साधन दिखलाये गये—

- १) तदाश्रय— प्रपत्ति
- २) तदीयता— भक्ति

विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें तदाश्रयके उपायरूप विवेक धैर्य एवम् अनन्याश्रय का निरूपण किया गया है. इसी तरह तदीयताके उपायरूप आत्मनिवेदन सर्वसमर्पण, सर्वभावसे तनुवित्तजा सेवा, भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन आदिका सिद्धान्तरहस्य त्वरत्न चतुश्लोकी

सिद्धान्तमुक्तावली तथा भक्तिवर्धनी में निरूपण किया गया है।

भक्तिवर्धनीमें भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेका उपाय, यदि व्यक्ति अव्यावृत्त हो तो, स्वगृहमें स्ववर्णाश्रमाचारको निभाते हुए भगवत्सेवा-कथा-मय जीवनयापन करना माना गया है। व्यक्तिके व्यावृत्त होनेके कारण यदि भगवत्सेवाका निर्वाह शक्य न हो तो उसे भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें तत्पर रहना चाहिये, बीजभावको दृढ़ करने के लिए। बीजभावके दृढ़ होनेपर गृहत्यागकी प्रेरणा भी दो गयी है। गृहत्यागकी शक्यता न हो तो भगवत्सेवा-कथा-परायण भगवदीयों द्वारा की जाती भगवत्सेवामें परिचारक-सहायक बननेका और अथवा भगवत्कथा (जब वे करते हों) में श्रवणार्थ सम्मिलित होनेका विधान भी किया गया है। इस तरह अनेकविध उपायोंसे बीजभावसे लेकर प्रेम आसक्ति व्यसन सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्य तक के विकल्पकी रूपरेखा दिखलायी गयी है।

इन सभी विकल्प और अनुकल्प द्वारा भक्तिमार्गमें भगवत्कथाकी असाधारण महत्ता एवम् उद्गादेयता स्पष्ट होती है। भगवत्कथामें वक्ताकी अपेक्षा रहती है श्रवणार्थ; तथा श्रोताकी अपेक्षा रहती है कीर्तनार्थ। स्मरण स्वतः भी सम्भव है परन्तु फिरभी किसी समानशील भगवदीयकी सत्संगतिमें भगवत्स्मरणका एक अलग ही रूप निखरता है इसमें सन्देह नहीं।

कुल मिलाकर श्रोता एवम् वक्ता दोनोंको भगवत्कथाके श्रवणार्थ एवम् कीर्तनार्थ परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा रहती ही है। ऐसी स्थितिमें योग्य वक्ता तथा योग्य श्रोता के अभावमें न केवल भगवत्कथामें रसाभास होनेकी अपितु बीजभावके भी दृढ़ होनेके वजाय खण्डित होनेकी संभावना रहती है। अतएव जलभेदमें योग्य वक्ताका स्वरूप श्रोताके श्रवणार्थके रूपमें समझाया गया है तथा पञ्चपद्यानिमें योग्य श्रोताका स्वरूप वक्ताके कीर्तनार्थके रूपमें समझाया गया है :

नित्याभिवन्दनीय श्रीहरिके सर्वतापहारी एवम् सर्वसुखकारी गुण भी वक्ताओंके हृदयके भावभावमें भरे होनेपर कुछ न कुछ भिन्न रूप धारण कर लेते हैं। जैसे जल स्वतः शीतल स्वच्छ अव्यक्तमधुर सर्वशोधक एवम् तापशामक होनेपर भी जिस आधारभूमिमें (उदाहरण-तथा कूप-तलाव-नदी-समुद्र-झरना-नाला-गड्ढे आदिमें) भरा हुआ होता है वहाके गुणधर्मोंसे युक्त हो जाता है, वैसे ही।

तैत्तिरीय संहिताके सातवें काण्डमें जलके बीस रूप श्रुतिमें गिनाये गये हैं। यथा (१) कूप (२) नहर (३) खेतकी नाली (४) नदीके जलसे बना गड्ढा (५) गन्दे नाले या मोरी के जलसे बना गड्ढा (६) नदीके जलसे बने बड़े तालाव (७) पीने लायक पानीवाले बड़े तालाव (८) सुन्दर सरोजादि पुष्पवाले बड़े सरोवर (९) छोटे तलाव (१०) पंकवहुल तालाव (११) वर्षाका जल (१२) स्वेदजल-पसीना (१३) जलप्रपात-झरना (१४) ओसके जलबिन्दु (१५) वरसाती नदी-नालों जैसा अस्थिर प्रवाहवाला जल (१६) वारहमासी नदियोंका स्थिर-सर्वदा समान रूपमें बहनेवाला जल (१७) निरन्तर उद्गमवाली ऐसी नदियां जिनका जल वर्षा या ग्रीष्ममें बढ़ता था घटता हो (१८) समुद्रमें मिलनेवाली महानदियां (१९)

समुद्र (२०) अन्य भी इनमें से भरे गये अथवा गिरे हुए जल।

स्वभावतः एकरूप भी जल अपने इन आधारोंके गुण-धर्मोंके अनुरूप अनेकरूपता प्रकट करता है। इसी तरह भगवान्के एकरूप गुण भी भगवत्कथाके वक्ताकी योग्यता एवम् भावों के अनुरूप अनेकरूपता धारण कर लेते हैं। यथा:

(१) भगवद्-गुणोंका स्वर-ताल-लयाश्रित गान करनेवाले विश्रुत गन्धर्वोंके जैसे लोग कुएकी तरह होते हैं। कुछ कुए भीठे जलके होते हैं तो कुछ खारे जलके। कुछ पवित्र शास्त्रीय माहात्म्यवाले होते हैं। यथा न्यग्रोध वृक्षसे उत्तरकी दिशामें स्थित कूप अथवा द्वारकाका दामोदरकूप या ब्रजका गोपकूप। कुछ कुए अपवित्र-मलिन जलवाले होते हैं। ऐसे ही सभी भेद गायकोंमें भी होते हैं। कुछ गायक स्वर-तालके अंगरूपेण भगवद्-वर्णनात्मक शब्दोंका योजन करते हैं, तो कुछ गायक भगवद्-वर्णनात्मक शब्दोंके अंगरूपेण स्वर-तालका योजन करते हैं। प्रथम प्रकारके गायकोंको खारे जलवाले कुएकी तरह समझना चाहिये और दूसरे प्रकारके गायकोंको भीठे जलके कुएकी तरह। गहरे कुएका जल ठंडीमें गरम और गरमी ठंडा लगता है। इसी तरह भावगाम्भीर्यवाले गायकों द्वारा किया गया भगवद्-गुणगान सांसारिक तापसे तप्त श्रोताको आध्यात्मिक-आधिदैविक शीतलता प्रदान करता है; और सांसारिक मोहसे जडीभूत-ठिठुरते हृदयोंको भगवद्-भावकी कुछ उष्मा भी इन गायकों द्वारा किये गये भगवद्-गुणगानसे मिल सकती है।

(२) पौराणिक - पुराणकथा सुनानेवाले नहरकी तरह होते हैं। नहरका जल अपना-स्वयम्का नहीं होता किन्तु किसी नदी या सरोवर से जुड़ा हुआ होता है। इसी तरह पुराणकथा सुनानेवाले वक्ताका भाव स्वयम् उसका न होकर केवल पुराणकथा करते समय कथादेशसे प्रयुक्त होता है। अतएव अश्रुपात कण्ठावरोध या उल्लास केवल कथाकालमें ही प्रकट होते हैं सर्वदा नहीं।

(३) अपने कुटुम्बपोषण धन या यश की कामनासे जो कथा करते हैं वे खेतको जल पहुंचानेवाली नालियोंकी तरह होते हैं। खेतकी नालीके जलका मुख्य प्रयोजन धान्योत्पादन है। उसी तरह इन वक्ताओंकी भगवत्कथाका भी मुख्य प्रयोजन संसार बढ़ाना ही होता है। अतः वही फल श्रोताको भी मिलता है।

(४) वैश्या या स्वैरिणी स्त्रियोंसे घिरे, चूत और मद्यपान आदि व्यसनोसे प्रमत्त वक्ता नदीके जलसे बने गन्दे जलके गड्ढेकी तरह होते हैं। इन्हें वेदमें 'प्रदर' कहा गया है तथा इनका आचमन भी निषिद्ध माना गया है।

(५) भगवान्के गुणगानको आजीविका बनाकर उदर या कुटुम्ब का पोषण करनेवाले गायक या पौराणिकों के भाव, घरकी गन्दी मोरियोंमें से निकलनेवाला मलिन जल चारों ओर फैल न जाये इसके लिए जो गड्ढे खोदे जाते हैं, उनमें भरे हुए जल जैसा अपवित्र होता है। जैसे उस गन्दे जलका स्पर्श अशुचिकर होता है वैसे ही भगवद्गुणगानको आजीविका बनानेवालोंका प्रवचन भी।

(६) नदियोंके जलसे जैसे कहीं जलाशय बनाया जाता है या कभी नैसर्गिक रूपसे स्वय-
मेव भी बन जाता है. इसी तरह गीता भागवत पाञ्चरात्रादि भगवद्-शास्त्रोंके निरन्तर
अभ्याससे व्यक्तिके हृदय और बुद्धि में भगवद्-भावका एक विशाल जलाशयसा भर जाता है.
बड़े जलाशयोंका जल न तो धूपके कारण सूख सकता है और न उसे भँस जैसे पशु मलिन
ही बना सकते हैं. ठीक इसी तरह इन शास्त्राभ्यासियोंका भाव न तो सांसारिक तापोसे
शुष्क होता है और न कुर्तक या असम्भावना-विपरीतभावना से मलिन ही.

(७) स्वयम् निरन्तर शास्त्राभ्यास करना एक बात है और श्रोताके सन्देहोंको निवारण
कर पानेका सामर्थ्य दूसरी बात है. अतः सन्देह-निवारक वक्ता मानों पीने लायक पानीवाले
बड़े जलाशयकी तरह होते हैं. ऐसे स्वच्छ निर्मल जलाशय कि जिनमें न तो पंक और न
शेवाल ही पैदा होते हैं.

(८) स्वयम् भगवद्-शास्त्रोंका निरन्तर अभ्यास तथा दूसरोंके सन्देहोंको भी निवारण
करनेकी क्षमता होनेपर भी कभी-कभी वक्तामें स्वयम् भक्ति-भाव नहीं होता. परन्तु वह भी
यदि प्रकट हो जाये तो ऐसे वक्ताको सुन्दर सरोजवाले रम्य सरोवरकी तरह समझना चाहिये.

(९) कुछ वक्ताओंमें भगवत्प्रेम होता है पर वे स्वयम् अल्पश्रुत होते हैं. ऐसे वक्ताओंको
छोटे तालाबोंकी तरह समझना चाहिये; जो स्वयम् स्वच्छ जलवाले होनेपर भी भँस जैसे
पशुओं द्वारा मलिन बनाये जा सकते हैं, अल्प जलराशीके कारण ही. ऐसे ही अल्पश्रुतताके
कारण इनके भाव कुतर्कसे दूषित हो सकते हैं.

(१०) जिन वक्ताओंने स्वयम् न तो शास्त्रीय विषयोंका श्रवण भलीभाँति किसी सद्गु-
रुके मुखसे किया हो और न भगवद्-भक्ति ही जिनमें पर्याप्त हो, फिर भी जिनकी निष्काम
धर्माचरण-कर्मानुष्ठानमें निष्ठा दृढ़ हो, ऐसीको यदि भगवत्कथा-प्रवचन करनेकी वृत्ति जगे
तो इनके भाव भी छोटे तलावकी तरह ही समझने चाहिये. छोटे तलावका जल शीघ्र ही
सूख भी जाता है और शीघ्र मलिन भी हो सकता है.

(११) जिन व्यक्तियोंका मन योगध्यान आदिकी प्रक्रियामें लगा हुआ हो, उनके भाव
स्वतः तो निर्मल हो सकते हैं, परन्तु श्रोताओंसे घिरते ही इनके भावोंमें परिवर्तन आने
लगता है. यौगिक साधनाका निवारण एकान्तमें आता है. अतः जनतासे घिरे रहनेकी वृत्ति-
वाले योगीकी समूची योगसाधना निष्फल चली जाती है. अतएव इनका भाव वर्षजलकी
तरह होता है जो स्वयम् स्वच्छ होनेपर भी जहाँ गिरा वहाँके गुणधर्म शीघ्रतया स्वीकार
लेता है.

(१२) केवल तपो-ज्ञान-वैराग्यादिकी साधनामें निरत व्यक्ति जब भगवत्कथाका प्रव-
चन करते हुए मिलें तो उनके भावको स्वेदजलकी तरह समझना चाहिये. स्वेदजल-पसीना
जिसे आता है वह उसके परिश्रमका तो द्योतक होता है, परन्तु दूसरेके कामका वह नहीं
होता. इसी तरह व्यक्तिकी तपश्चर्या या भक्तिहीन शुष्क ज्ञानवैराग्य-साधना स्वयम् व्यक्तिके
द्वारा लिए हुए आध्यात्मिक परिश्रमकी द्योतक तो होती है, परन्तु अन्य श्रोताओंके लिये

तो व्यर्थ ही !

(१३) पर्वतपरसे गिरते जलप्रपात-झरने का जल, निर्मल शीतल मधुर सतत तथा श्रवण
दर्शन स्पर्शन स्नान आचमन पान आदिमें मनोहारी तापहारी एवम् सुखकारी लगता है. इसी
तरह भगवत्कृपाके कारण अथवा महान् भगवदीयोंकी कृपाके कारण, जिन्हे स्वयम् श्रीहरिके
दिव्य मधुर गुणोंका अलौकिक ज्ञान प्राप्त हो गया हो तो ऐसे वक्ताओंके मुखसे भगवद्-
गुणगान सुनना किसी मनोहारी झरनेके सामने पहुँच जानेकी तरह एक सुखद प्रसंग होता है.
यह सर्वत्र-सर्वदा सुलभ नहीं होता. जैसे झरनेके सामने पहुँचनेसे पहले, कुछ दूरीपर से ही
उस जलप्रपातकी ध्वनिसे उसके अस्तित्वका बोध हो जाता है. इसी तरह इन भगवदीयोंके
पद-ग्रन्थ आदि रूपमें शब्दोंके श्रवणमात्रसे ही इनकी अलौकिक अनुभूतिका निर्णय हो जाता है.

(१४) सकाम उपासनाके अंगभूत श्रोत या पौराणिक, वरुण इन्द्र दुर्गा गणपति भैरव
नवग्रह आदि, देवताओंके उपासक यदि श्रीकृष्णकी कथा करते हों तो उनके भावोंको ओसके
बिन्दुओंकी तरह समझना चाहिये. ओसके जलबिन्दु जिस स्थानपर गिरते हैं वहाँ उभरे हुए
दिखलायी पड़ते हैं. पर वह वास्तविकता नहीं होती. इसी तरह अन्यदेवोपासक वक्ताके मुखसे
श्रीकृष्णकथा अन्यदेवोंकी उपासनाभूमिपर श्रीकृष्ण द्वारा गिराये गये ओसके क्षुद्र बिन्दुओंकी
तरह होती है. ओसकी जैसे केवल देखने भरकी शोभा होती है, इसी तरह इस कृष्णकथाकी
केवल श्रवणमात्रकी ही शोभा होती है. स्नान-पानमें ओसके जलबिन्दु अनुपयोगी होते
हैं और थोड़ी सी धूप निकलते ही ओसल हो जाते हैं. इसी तरह इनके भाव भी श्रोताके
लिए उद्योगी नहीं होते. कथाकालमें ही केवल प्रकट होकर पश्चाद् वे ओसल हो जाते हैं.

(१५) वर्णाश्रमधर्मको निभाते हुए श्रीकृष्णकी नवधा भक्तिमें तत्पर वक्ताओंमें यदा-
कदा प्रेमावेशके कारण भगवदीय धर्मोंका स्फुरण होता रहता है, इनके भावको बरसाती
नदीके प्रवाहकी तरह समझना चाहिये.

(१६) कुछ नदियां बारहमासी होती हैं. इनमें न तो पूर आता है और न इनका जल
घटता है. इसी तरह भगवत्कथामें न जिन्हें प्रेमावेशका पूर आता हो और न उनकी रुचि
ही कभी क्षीण होती हो ऐसे मर्यादामार्गीय वक्ताओंके भाव स्थिर प्रवाहवाली नदीके तुल्य
होते हैं.

(१७) कुछ नदियोंके उद्गमस्थलपर निरन्तर पानी उभरता रहता है. अतः इनका प्रवाह
कभी रुकता नहीं, पर वर्षा-आतपके कारण इनके जलस्तरमें निरन्तर वृद्धि-ह्रास होता रहता
है. इसी तरह जिन वक्ताओंका भाव उनके आसपासके व्यक्तियोंकी संगतिके कारण कभी
वृद्धिगत होता हो और कभी क्षीण होता रहता हो परन्तु भावप्रवाह कभी अवरुद्ध न होता
हो, तो ऐसीका भाव अनेक जन्मोंसे चली आ रही भावसाधनाके कारण निरन्तर उद्गम-
वाली नदीके समान होता है.

(१८) कुछ महानदियां समुद्रगामिनी होती हैं जो ऋतुचक्रसे अप्रभावित रहती हैं. इनमें
पूर आता है पर जल कभी कम नहीं होता. जिन वक्ताओंके भाव संगदोषसे अप्रभावित रहते

हैं उन्हें समुद्रगामिनी महानदियोंके तुल्य समझना चाहिये।

(१९) समुद्रोंके अनेक भेद शास्त्रोंमें वर्णित हैं। यथा (क) क्षारोद (ख) इक्षुरोद (ग) सुरोद (घ) घृतोद (ङ) क्षीरोद (च) दधिमण्डोद (छ) शुद्धोद या अमृतोद। ये सब अगाध एवम् वृद्धि-क्षयरहित होते हैं। इसी तरह, लौकिक गुणोंके मिश्रण, वैदिक गुणोंके मिश्रण तथा लोकवेदमिश्रित गुणोंके मिश्रण से, भगवद्गुणोंके वर्णन करनेवाले समुद्रोपम वक्ताओंके भाव भी अनेकविध होते हैं।

(क) श्रीराम या श्रीकृष्ण को साक्षात् परमेश्वर न मानकर केवल महापुरुष अर्थात् महान् मनुष्य माननेवाले वक्ताओंके भाव क्षारोद समुद्रके जलकी तरह खारे होते हैं। इनसे भक्तकी तृषा मिट नहीं सकती। भगवदवतारोंके चरित्रकी मानवीय व्याख्या करनेवाले वक्ताओंका भाव भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे खारा अरुचिकर तथा तृषा-अनिवर्तक होता है।

(ख) परमात्माको अप्राकृत गुणधर्मोंसे युक्त माननेपर भी अवतारोंको प्राकृत गुण-धर्म-युक्त माननेवाले वक्ताओंका भाव इक्षुरोदके तुल्य होता है। गन्ना चूसनेपर प्रारम्भमें मधुर लगता है किन्तु अन्तमें विरस हो जाता है।

(ग) स्वयम् मोहवश अथवा मोहप्रवर्तनकी भगवदाज्ञाके वशीभूत होकर जो भगवान्के गुणोंको मायिक मानते हैं तथा ब्रह्मको निर्गुण निराकार निर्धर्मक मानते हैं, उनकी भगवत्कथाका श्रवण सुरोदके आचमनकी तरह होता है। सुरासे जैसे स्वरूप-विस्मृति आदि अनेक प्रमाद प्रकट होते हैं, वैसे ही ब्रह्मको अथवा भगवदवतारोंको निर्गुण अथवा मायिक गुणोंवाला माननेवालोंके उपदेश सुननेसे भी अनेकविध मोह उत्पन्न हो जाते हैं। बहुधा ऐसे वक्ता स्वयम् परम भगवदीय होते हैं—अगाध समुद्र जैसे, पर उपदेश इनके भक्तिमार्ग-विरोधी होते हैं। जैसे परम भागवत श्रीमहादेवको भगवदाज्ञावश मायावादका प्रवर्तन करना पड़ा।

(घ) भगवान्के दयालुता आदि गुणोंपर जो भार देते हुए भगवत्कथा करते हैं उनसे भगवद्-गुणगान सुनना घृतोद समुद्रके आवमनकी तरह भक्तिबल को बढ़ानेवाला होता है।

(ङ) श्रीहरिके सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वदुःखहर्ता आदि गुणोंपर भार देते हुए जो भगवत्कथा करते हैं उनसे भगवद्-गुणगान सुनना क्षीरोदके आवमनकी तरह होता है। यह स्वादिष्ट-शक्तिवर्धक और पवित्र होता है।

(च) केवल वैदिक मर्यादाओंकी स्थापनाके सीमित प्रयोजनको प्रस्तुत कर जो वक्ता भगवदवतारचरित्रोंकी व्याख्या करते हैं उनके भाव दधिमण्डोदकी तरह होते हैं। दधिमण्ड-मठा सुपाच्य तथा स्वादिष्ट होनेपर भी नवनीतके निकल जानेसे सारहीन होता है। वैसे ही भक्तोंको स्वरूपानुभवके द्वारा परमानन्दका दान, जो अवतारका मुख्य प्रयोजन है, इनकी भगवद्-गुणगानकी रीतिके कारण कथामें से बाहर निकल जाता है। फलतः इनकी कथा सारहीन हो जाती है।

(छ) शुद्धोद समुद्रको ही श्रीमहाप्रभु 'अमृतोद' भी कहते हैं। श्वेतदीपके चतुर्दिक

परिखा-खाईके रूपमें भरे हुए 'अर' और 'प्य' नामक समुद्रोंका वर्णन वाराह पुराणमें भी उपलब्ध होता है—“अरनामामृताम्भोधिः प्यनामामृतसागरः” ऐसे ही छान्दोग्योपनिषद्में भी “अरश्च वै प्यश्च अर्णवी ब्रह्मालोके... तदंरमदीयं सरः” कहा गया है। इनसे प्रतीत होता है कि 'शुद्धोद' और 'अमृतोद' पर्यायवाची हैं।

सनत्कुमारोंको उपदेश देनेवाले संकषर्ण शेष, अपने आत्मज शुकको भागवत पढानेवाले भगवद्-ज्ञानावतार महर्षि वादरायण व्यास, अग्निपुराणके वक्ता अग्नि, वायुपुराणके वक्ता मासत या हनुमान भी, रहूगण राजाको ज्ञानोपदेश करनेवाले अवधूत जडभरत, अनेकधा भक्तिशास्त्रोंके उपदेशक नारद, सनत्कुमारके शिष्य तथा विदुरके गुरु मंत्रेय; और भी ऐसे पूर्ण भगवदीयोंके उपदेशश्रवणको अमृतोदके पानके तुल्य समझना चाहिये।

जलभेदके इस अंशपर एक स्वतन्त्र लेख लिखनेवाले श्रीश भट्टके अनुसार इन उल्लिखित भक्तोंकी परम्पराकी धरोहरको सम्हालनेके लिए प्रकट हुए शेषावतार श्रीरामानुजाचार्य, व्यासावतार श्रीविष्णुस्वामी, अग्निके अवतार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, वायुके अवतार श्रीमन्वाचार्य, जडभरतके अवतार श्रीरामानन्द, नारदके अवतार श्रीचैतन्य, सनकके अवतार श्रीनिम्बार्काचार्य आदि मुख्य चार वैष्णव सम्प्रदाय तथा अवशिष्ट उपसम्प्रदायोंके आचार्य या भक्तोंके उपदेश भी अमृतोदके तुल्य मानने चाहिये। स्वयम् श्रीमहाप्रभुने भी मुख्य चारों भक्तिसम्प्रदायोंका भगवत्प्रवर्तित होना तृतीय स्कन्धकी सुबोधिनीमें स्वीकारा है—“एवम् चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादितः” कह कर। अतः इस श्रीश भट्टकी व्याख्यारीतिमें कोई विप्रतिपत्ति दिखलायी नहीं देती है।

प्राकृत या मायिक गुणोंसे रहित श्रीविष्णुके सभी अप्राकृत-दिव्य-शुद्ध सच्चिदानन्दरूप गुणोंके वर्णन-स्मरण-कीर्तन करनेवाले ये विचक्षण वक्ता अमृतोद सिन्धुके समान हैं। इनके वचनामृत का पान वस्तुतः जीवनकी सुदुर्लभ उपलब्धि है। इनमें से कुछ पुष्टिभक्तिमार्गीय और कुछ मर्यादामार्गीय हैं पर सभी अमृतोद सिन्धुके समान हैं।

विष्णुदूतोंके वचन जैसे अजामिलके कानोंमें पड़े तो उसकी कृति मति और भावना सभीमें चमत्कारिक परिवर्तन आगया। इसी तरह अकस्मात् भी इन अमृतोदके तुल्य वक्ताओंके एकाद वचन अमृतके बिन्दुपानके समान होनेसे तृप्तिप्रद न भी हों पर निश्चयेन सुख-प्रद तो होते ही हैं। और जब इनके वचनामृतोंके सतत श्रवणसे राग अज्ञान काम क्रोध आदि मनोविकार दूर हो जाते हैं तो वह अमृतके बिन्दुपानकी तरह नहीं किन्तु लेहनकी तरह समझना चाहिये। अमृतोदके अमृतका ऐसा लेहन कि जिसमें परमानन्दकी अभिव्यक्ति हो जाती है। श्रोता कृतार्थ हो जाता है !

(२०) इनके अलावा अन्य जो वक्ता या उनके भाव होते हैं उन्हें इन्हीं कूप आदि उन्नीस जलस्थानोंमें से भरे गये अथवा गिर गये जलकी तरह समझना चाहिये। तदनुसार उनसे कथा श्रवण करनेके फलका भी यथायथ स्वरूप विचार लेना चाहिये।

इस तरह विष्णुके एकरूप गुण तत्तद् जीवोंकी वागिन्द्रिय-वाणीपर कैसे अनेकरूप धारण

कर लेते हैं, और कैसे फल उनसे मिलते हैं आदि बातोंका निरूपण सम्पूर्ण हुआ.

पञ्चपद्यानिमें वर्णित श्रोताका स्वरूप

वक्ताके अधिकार और स्वरूप तथा तदनुसार उनके मुखसे श्रवण-कीर्तनके फलके निरूपणके बाद अब श्रोताके अधिकार तथा स्वरूप का निरूपण श्रीमहाप्रभु पञ्चपद्यानिमें करते हैं.

भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन भगवत्स्वरूपसेवाके साथ-साथ सेवाके अनवसरमें चलता रहे तो वह भगवत्स्नेहके पूर्वोत्तर दल (संयोग एवम् विप्रयोग) दोनोंमें भक्तिके पूर्ण आविर्भावका उपाय बनता है. परन्तु किसी व्यक्तिको भगवत्स्वरूपसेवाकी सुविधा आजीवन सम्भव नहीं हो पाती. ऐसी स्थितिमें केवल भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी प्रेम-आसक्ति-व्यसन-सर्वात्मभाव या अलौकिकसामर्थ्य आदिके क्रमिक सोपानोंपर भक्तिका आरोहण शक्य बन जाता है.

तदनुसार सेवाके साथ-साथ जो कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनका भी सतत निर्वाह कर पाते हैं वे उत्तम श्रोता होते हैं. अन्यथा सेवाके अनुकूलके रूपमें जो भगवत्कथाका निरन्तर समाश्रयण करते हैं वे मध्यम प्रकारके श्रोता होते हैं. जो यदा-कदा श्रवण कर पाते हैं वे निम्न प्रकारके श्रोता होते हैं. यह एक दृष्टि श्रोताके उत्तम-मध्यम-निम्न प्रकारोंको निर्धारित करनेकी दिखलायी देती है.

दूसरी दृष्टि यह है कि शुद्धपुष्टि पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाहपुष्टिके अधिकारिभेदके अनुसार श्रोताकी त्रिविध कक्षायें निर्धारित की जायें. शुद्धपुष्टि या पुष्टिपुष्टि आदि अधिकारोंकी पहचान पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें—“पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः...” में दी गयी है.

तीसरी दृष्टि, श्रोताके उत्तम-मध्यम-निम्न अधिकारकी, वक्ताके ज्ञान-भक्ति-वैराग्य गुणोंके अनुरूप (१) जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता (२) रुचि तथा (३) इतर साधनोंके दुराग्रहपूर्ण अनुष्ठान या अभिमान का अभाव, तज्जन्य क्षुद्र फलोंमें अनासक्ति, इस तरह तीनों गुण जिस श्रोतामें मिलते हों वह उत्तम, दो मिलते हों वह मध्यम; तथा किसी एकाद गुणका विद्यमान होना उसके निम्न अधिकारका द्योतक होता है.

चतुर्थ दृष्टि—पुष्टिमार्गीय उत्तम, मर्यादामार्गीय मध्यम; तथा प्रवाहमार्गीय या चर्चणी श्रोताको अधम माननेकी— उचित होनेपर भी यहां अप्रासंगिक लगती है. क्योंकि पुष्टिमार्गीय जीवोंके लिए ही श्रीमहाप्रभुने षोडशग्रन्थका प्रणयन किया है. अतः जिन जीवोंका अपुष्टिमार्गीय होना निश्चित हो उन्हें पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त या भगवल्लीला का उपदेश ही श्रीमहाप्रभुके अनुसार अनुमोदनीय नहीं है. जलभेदमें भी जो मर्यादामार्गीय वक्ताका स्वरूप दिखलाया गया है वह उन वक्ताओंसे पुष्टिमार्गीय उपदेशकी आशा न रखनेके लिए ही है. क्योंकि वक्तृचयनमें अधिक सावधानी अपेक्षित है, अतः जलभेद जितना विस्तार पञ्चपद्यानिमें अपेक्षित नहीं है.

पांचवी दृष्टिके अनुसार, जैसे शास्त्रार्थ प्रकरणके अन्तिम भागमें भगवत्सेवा करनेवालोंके

त्रिविध अधिकार दिखलाये हैं— उन्हें भगवत्कथाके श्रवणाधिकारका भी उपलक्षण माने तो वह असंगत नहीं होगा. यथा :

जिज्ञासुता—श्रवणोत्सुकता दो तरहकी हो सकती है : (१) प्रमाण (शास्त्र) तथा प्रमेय (भगवान्के स्वरूप गुणधर्म एवम् लीला) दोनोंके बारेमें; अथवा (२) इन प्रमाण या प्रमेय में से किसी एकके बारेमें, इसे केवल ‘शब्दनिष्ठा’ तथा ‘अर्थनिष्ठा’ भी कहा जा सकता है

इसी तरह कथारतिके भी दो भेद सम्भव हैं: (१) सामान्य रुचि; और (२) उत्कट रति. इनके परस्पर मिश्रणसे अनेक प्रकारके विकल्प बन सकते हैं. यथा :

(१) कथाश्रवणकी उत्कट रति एवम् कथाके उभयपक्ष—शब्द (प्रमाण) पक्ष और अर्थ (प्रमेय) पक्ष—में जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता रखनेवाले उत्तमाधिकारी ज्ञानी-भक्त जैसे माने जाने चाहिये.

(२) कथाश्रवणमें उत्कट रति न होनेपर भी उसमें सामान्य रुचि रखनेवाले तथा कथाके उभय पक्षोंमें से शब्द पक्षपर भार देनेवाले शब्दनिष्ठ जिज्ञासु प्रेमके अभावके कारण मध्यमाधिकारी ज्ञानी जैसे माने जाने चाहिये.

(३) कथाश्रवणमें रति रखनेवाले तथा कथाके शाब्दिक प्रमाणपक्षके बारेमें श्रवणोत्सुक न होनेपर भी अर्थ (प्रमेय) पक्षके बारेमें जिन्हें तीव्र जिज्ञासा हो ऐसे अर्थकनिष्ठ श्रवणोत्सुकोंको ज्ञानाभावके कारण मध्यमाधिकारी भक्त मानना चाहिये.

(४) जिन्हें न तो उत्कट रति और न अर्थनिष्ठा (कथाके अर्थ—प्रमेय भगवान्के स्वरूप गुण या लीलाके बारेमें श्रवणोत्सुकता) ही तीव्र हो ऐसे सामान्य रुचिवाले-ज्ञान-प्रेम-उभय रहित श्रोताको कनिष्ठ निम्न या अधम कोटीका मानना चाहिये.

(दृष्टव्य शा. नि. “एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणा दिभिरुत्तमः प्रेमाभावे मध्यमः स्थात् ज्ञानाभावे तथादिमः उभयोरप्यभावे.” कारि. सं १०१-२)

छठी दृष्टि यह भी सम्भव है कि आरम्भके मुख्य-मध्यम-अधम श्रवणाधिकार, क्रमशः ‘रसविक्षिप्तमानस’, ‘रसविक्लिप्तमानस’ तथा कदाचित् रसावेशसे ‘रसावेशविकलमानस’ विशेषणोंके द्वारा, भक्तिमार्गीय श्रवणाधिकारके रूपमें विवक्षित हैं. पांचवे अन्तिम श्लोकमें वर्णित ‘अनन्यमानस’ विशेषणद्वारा अन्याश्रय-रहित प्रपत्तिमार्गीय श्रवणाधिकार विवक्षित है. पुष्टिभक्तको इस भूतलपर मिलती परमफलकी अनुभूति अलौकिक-सामर्थ्य या तनूनवत्वका लाभ प्रपत्तिमार्गीय अधिकारीको नहीं मिलता. पर विद्यमान देहके पातके बाद उन्हें सायुज्य-मोक्ष मिल सकता है. अतएव देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मादिके अन्याश्रयके त्यागके कारण इन अधिकारियोंके उत्तम होनेपर भी, विद्यमान देहादिसे भूतलपर परम फलकी अनुभूतिसे वञ्चित होनेके कारण, इन्हें ‘मर्त्य’ कहा गया है. क्योंकि श्रीकृष्ण-सायुज्यका लाभ इन्हे मृत्युके पश्चात् ही होता है. पञ्चपद्यानिके प्रथम चार श्लोकोंमें वर्णित अधिकारियोंको ‘मर्त्य’ नहीं कहा इससे उनका भक्तिमार्गीय होना ध्वनित होता है.

सर्व. निबन्धमें—“सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवम् फलम्” कारिकाके प्रकाशमें—“एवं देहपातनपर्यन्तं कृष्णैकमानसस्य सायुज्यं शीघ्रमेव भवति कायवाग्बिनिर्योगाभावेपि स्वस्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतद्” कहकर प्रपत्तिमार्गीय जीवके ‘अनन्यमानस’ होनेपर उसे उत्तमाधिकारी माना है.

इन विभिन्न दृष्टीकोणोंसे श्रवणाधिकारका विचार करनेपर पञ्चपद्यानिके पांच पद्योंमें: भिन्न-भिन्न कक्षाके पांच अधिकारियोंकी चर्चा है— मुख्याधिकारी एकविध है और अमुख्याधिकारी त्रिविध यों कुल चार प्रकारके अधिकारियोंकी चर्चा है — ‘मुख्य’ तथा ‘उत्तम’ को पर्यायवाची शब्द मानकर तथा उपक्रम और उपसंहार में एक ही अधिकारीको विवक्षित मानकर कुल त्रिविध अधिकारियोंकी चर्चा है — इनमें से द्विदमित्यतया किसी एक व्याख्या-रीतिका समर्थन जरा कठिन काम है. फिर भी मुख्य और अमुख्य तथा भिन्न और प्रपत्ति के भेदको लक्ष्यमें रखकर आरम्भके प्रथम श्लोकमें मुख्य भक्तिमार्गीय श्रोताका निरूपण तथा अवशिष्ट चार श्लोकोंमें भक्तिमार्गीय द्विविध अमुख्य श्रोता तथा एक प्रपत्तिमार्गीय श्रोता का वर्णन है ऐसा सोचनेमें कोई असंगति सामने नहीं आती है. क्योंकि जो बात श्री महाप्रभु कह रहे हैं पांच श्लोकोंमें वह इस तरह है :

(क) दशम स्कन्धके सातवें अध्यायकी “यल्लृच्छवतोपेत्यरतिवितृष्णा सत्त्वं च शुद्धत्यचि रेण पुंसः भक्तिर्हारी तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत्” कारिकाकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने भगवत्कथाके पांच परिणाम गिनाये हैं

- (१) भगवत्-चरित्रमें अरतिकी निवृत्ति
- (२) भक्तिका प्राकट्य
- (३) सांसारिक तृष्णाकी निवृत्ति
- (४) सत्त्व-अन्तःकरणकी शुद्धि
- (५) भगवदीयोंके सत्संगरूप सख्यकी वृद्धि

ये पांच परिणाम जिस श्रोतामें प्रकट होने जा रहे हों उसे भगवत्कथाके श्रवणका मुख्याधि-कारी मानना चाहिये. अतएव श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि भक्तिरसके आलम्बन-विभावरूप श्रीकृष्णके नामात्मक स्वरूपकी कथाश्रवण-कालमें बाह्यानुभूति तथा भक्तिरसके स्थायि-भावरूप (माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह) रसकी आन्तर अनुभूतिके चक्रके तीव्रवेगसे चल पड़नेके कारण जिनका मानस विक्षिप्त सा हो जाता है, उनके लिए भगवत्कथा दुस्त्यज हो जाती है. अर्थात् वे चाहें या न चाहें उनकी वाणी और कर्णेंद्रिय निरन्तर भगवत्कथा करते रहने और सुनते रहनेके व्यसनवाली हो जाती हैं.

ऐसे कृष्णरसविक्षिप्तमानस श्रोताओंकी भगवच्चरित्रमें से अरति निवृत्त हो जाती है अतः उन्हें ‘अरतिवर्जिता’ कहा जाता है.

इनका चित्त न तो लौकिक विषयोंकी ओर आकृष्ट होता है और न वैदिक मोक्षादि फलोंकी ओर ही. सांसारिक विषयोंमें तृष्णाबन्धनके टूट जानेसे इन्हें इन विषयोंमें निवृत्ति

अर्थात् सुख-सन्तोषकी अनुभूति नहीं होती.

भगवत्कथाकी प्रणालीसे इनके सत्त्व-अन्तःकरणकी शुद्धि हुई होनेसे केवल ज्ञानी या विरक्तों की तरह वैदिक फल स्वर्ग-मोक्ष-अपवर्गकी कामना भी इनके मनमें रह नहीं जाती. अतः इन्हे वेदमें भी अनिर्वृत्ति हो जाती है.

ऐसे श्रोता भगवल्लीलके श्रवणकी उत्सुकताके कारण निरन्तर भगवदीयोंका सख्य या सत्संग खोजते रहते हैं.

निरोधकी सिद्धिके कारण इन्हे भक्तिमार्गीय मुख्य श्रवणाधिकारी समझना चाहिये.

(ख) कुछ श्रोताओंका मन श्रीकृष्णभक्तिके रससे इतना आर्द्र-विलग्न हो पाता है कि कथाश्रवणकी वेलामें ये भगवत्स्मृतिसे विवहल हो जाते हैं. भगवत्कथाके शाब्दिक प्रमाणपक्ष-में इनकी रचि तीव्र नहीं होती. परन्तु अर्थनिष्ठा-कथाके प्रमेय अर्थात् भगवत्स्वरूप-गुणधर्म-लीलाके श्रवणमें इनकी निष्ठा बड़ी प्रबल होती है, इसी अर्थनिष्ठाके कारण इनमें ज्ञानकी लालसा कम होनेपर भी प्रेमकी स्पष्ट विद्यमानताके कारण इन्हे भक्तिमार्गीय मध्यम कक्षाके श्रवणाधिकारी समझना चाहिये.

(ग) कुछ अन्य श्रोताओंमें ऐसी अर्थनिष्ठा नहीं होती पर शब्दनिष्ठा तीव्र होती है. फलतः प्रमाण विवेचनकी प्रक्रिया द्वारा इन्हें निःसंदिग्ध ज्ञानके प्राप्तिकी लालसा रहती है. ऐसे श्रोताओंकी आस्था तो स्पष्ट होती है कि केवल श्रीकृष्ण ही सर्वभावसे भजनीय है परन्तु भाव निरन्तर उद्बुद्ध नहीं होता रहता. कभी-कभी कथारसके आवेशके कारण अथवा प्रपञ्च-विस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति की तात्कालिक अभिव्यक्तिके कारण ये स्नेहविकल हो पाते हैं; अन्यथा ज्ञानिजनोचित स्वास्थ्य (!) इनका बना रहता है.

तात्कालिक पूर्ण भावोदयके कारण यह पूर्ण अर्थनिष्ठा भी इनकी तात्कालिक ही होती है. अतएव ये कथाश्रवणकालकी तन्मयताके बाद पुनः अन्यासक्त हो जाते हैं. ये भक्तिमार्गीके अन्तर्गत कनिष्ठ प्रकारके श्रवणाधिकारी हैं.

(घ) प्रपत्तिमार्गीय जीव अन्यमार्गीय श्रोताओंकी अपेक्षा उत्तमाधिकारी माना जा सकता है, पर शर्त इसमें यह है कि देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्म-आदि अनेकविध धार्मिक साधनों-के अभिमानोंको छोड़कर श्रीकृष्णके स्वरूप-गुणधर्म-लीलाओंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें जब उसके मनकी अनन्यरचि पनप जाये. यह प्रपत्तिमार्गीय श्रवणाधिकार अन्य मर्यादामार्गीय कर्मज्ञानोपासनाके अधिकारोंसे तो उत्तम ही होता है.

इस तरह वक्ता एवम् श्रोता के अधिकारोंका विवेचन यहां सम्पूर्ण होता है.

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९७६ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रोसेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उस संस्करणमें इन दो ग्रन्थों जलभेद और पञ्चपद्यानिके अलावा परिशिष्टके रूपमें सेवाफलकी तीन टीकायें भी प्रकाशित हुई थी. उन्हें यथास्थान रखनेके उद्देश्यसे यहां प्रकाशित नहीं किया गया है. उक्त संस्करणके सम्पादक श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा

श्रीधीरजलाल ब्रजदास सांकलिया और प्रकाशक गोस्वामी १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (पोरबंदर) थे. इन सभी महानुभावोंका हम इस पुनःप्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करते हैं.

शोधपत्रम् ।

आ संप्रद्व मुद्रित थई गया पछी श्रीमद्गोस्वामिश्रीअनिरुद्धलालजी महाराजश्रीनी कृपाथी जलभेदनी भावार्थबोधिनी तथा श्रीपुरुषोत्तमजीनी पञ्चपद्यटीका ए बे हस्तलिखित पुस्तको जामनगरस्थ श्रीसदनमो-हनलालमन्दिरस्थ संप्रद्वमांना प्राप्त थया, तदाधारे आ द्वितीय शोधपत्र आवश्यक जणायुं छे.

जलभेदशोधः ।

प. पं.	अशुद्धम्	शुद्धम्	प. पं.	अशुद्धम्	शुद्धम्
३८११	क्रिया	ज्ञा	४४१२७	सर्वाभोग्यत्वमित्याधिकं	सुधाविशेषणम् ।
३९११०	दोष	विषय	४४१२७	देव	देह
३९१२९	निवर्तन	विवर्तन	४४१३०	प्रापक	प्राप्यक
४०१११	शीतलयुक्त	शीतलकमलयुक्त	४५१९	न कार्य	कार्य
४०१२०	कलिलं	पङ्किलं	४५११५	रहित	सहित
४३११०	दहक	दाहक	४५१२०	यदा	सर्वथा यदा
४४१२	मोहन	मोहेन	४५१२२	तिरोहित-	मायया तिरोहित
४४११५	असौ भवत्यर्थ	सायुज्यार्थ	४५१२७	पूर्वोक्ता अमृत	पूर्वोक्तामृत
४४१२४	गुणान् न्यून	गुणान् ननु न्यूनाधिक्य	४५१३१	मल	बाह्य

अन्तिमश्लोकविवरणमेवं वाचनीयम्—गताः जीवानां भगवदंशत्वात्रानात्वं वा प्राप्ताः एतादृशा भगवतो विष्णोर्व्यापकस्य सर्वेषु भावरूपेण प्रकटस्य गुणाः स्वरूपतः एतादृशं स्वरूपमिति फलतश्च एतादृशं फलमिति निरूपिताः नितरां रूपिताः स्वरूपेण प्रकटीकृता इत्यर्थः ।

श्रीमदाचार्यपादाब्जरेणवो मयि संततम् । कृपयन्तु सदा स्वीयं मत्वा कृष्णप्रबोधकाः ॥ १ ॥
श्रीविठ्ठलपदाम्भोजरेणुसंकाक्षिणा मया । विवृतिर्जलभेदस्य कृता भावार्थबोधिनी ॥ २ ॥

पञ्चपद्यशोधः ।

प. पं.	अशुद्धम्	शुद्धम्	प. पं.	अशुद्धम्	शुद्धम्
५४१७	भक्तिहेतु	भक्तिवृद्धिहेतु	५५११	अथ	तत्र
५४११०	भगवत्कीर्तन	भगवत्कृपया कीर्तन	५५११	संबन्ध	संबन्धाद्य
५४१११	संबन्ध	संबन्धि	५५१२	ते	तत्
५४११५	भावं सम्भवरूपं-	भावंसंभवरूप	५५१३	दिदृश्यते	दीदृशे
५४११८	विदुरमैत्रेयज्ञान	विदुरे मैत्रेयज्ञानसंक्रमस्य	५५१७	तथाहि	तत्र हि
		मैत्रेये विदुरभक्तिसंक्रमस्य	५६१४	पतितपावनादिक	पतितपावनत्वादिकं
५४१२२	तादृशमेव	तादृशमेव			चानारोपितरूपं

प्रस्तावना ।

श्रीसुदामापुरीस्थ श्रीमद्गोस्वामि श्रीजीवनलालजीना निःसंकोच द्रव्यसाहाय्यथी बार टीका सहित सेवाफल, छ टीका सहित निरोधलक्षण, अने अष्ट टीका सहित संन्यासनिर्णयनुं प्राकव्य थयुं छे. उक्त त्रण पुस्तकना मुद्रणमां वपरायलुं द्रव्य पुस्तकोनो विक्रय करी पाछु लेवानी आपश्रीनी इच्छा न हती, परन्तु विक्रयमांथी प्राप्त थतां द्रव्यथी अन्य सांप्रदायिकग्रन्थो छपाववा एवी हती. तदिच्छानु-सार उक्त त्रण पुस्तकोना वेचाणमांथी उत्पन्न थयला द्रव्यसाहाय्यथी चार टीका सहित जलभेद, तेना बे स्वतंत्र लेख, बे टीका सहित पंचपद्य, तथा नूतन प्राप्त थयली सेवाफलनी त्रण टीका-ओ ए सर्वनुं मुद्रण थाय छे. अर्थात् आ ग्रन्थनुं प्राकव्य पण उपर दर्शाव्या प्रमाणे श्रीजीवनलालजी महाराजश्रीनी संपूर्ण कृपाथी थयुं छे, अने वैष्णवो एतदर्थ एओश्रीना करणी छे. आपश्रीनी कृपा हशे अने वैष्णवोनुं सौभाग्य हशे तो चतुर्दश टीका सहित भक्तिवर्धिनीनुं दर्शन पण सत्वर थशे.

१. जलभेद उपर चार टीकाओ प्राप्त थई छे. तेमां प्रथम श्रीकल्याणरायजीनी छे. उक्त टीकानी एक प्रति तो श्रीहरिरायजीना निज श्रीहस्ताक्षरमां लखेली छे. आ टीकाना मुद्रणमां मुख्य आधार तेनो ज लीयो छे. परन्तु अन्य प्रतिओ पण वारंवार मुद्रणमां उपयोगी थई पडी हती. नीचे जणावेली प्रतिओने आधारे आ टीकानुं मुद्रण थयुं छे. १. श्रीहरिरायजीना श्रीहस्ताक्षरनी, २. नटपुरस्थ ब्राह्मण वैष्णव तापीबाईनी, ३. पंडित गद्दूलालाजीनी, ४. श्रीजीवनलालजी महाराजनी, ५. पं. गद्दूलालाजीनी नूतन, ६. पं. गद्दूलालाजीनी प्राचीन, ७. पं. गद्दूलालसंग्रहस्थ मूल श्रीपीतांबरजीनी प्राचीन. आ सप्त पुस्तकोने आधारे आ टीकानुं शोधन करी मुद्रण कर्युं छे. टीकाकार श्रीकल्याणरायजी श्रीगुसांइजीना पौत्र थाय अने श्रीहरिरायजीना पितृचरण थाय. विशेष परिचय एओश्रीनो सेवाफलमां कराव्यो छे.

२. द्वितीय टीका श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजनी छे. एओश्रीनो परिचय सेवाफलादिमां कराव्यो छे. एओश्रीनी टीकानुं मुद्रण नीचे जणावेली प्रतिओना आधारे थयुं छे. १. शास्त्री भाई नारायणनी प्राचीन शुद्ध, २. पं. गद्दूलालाजीनी नूतन, ३. पं. गद्दूलालाजीनी नूतन मुद्रित, ४. पं. गद्दूलालाजीनी प्राचीन शुद्ध, ५. श्रीमद्गोस्वामि श्रीजीवनलालजीनी नूतन शुद्ध, ६. संभतीर्थस्थ शास्त्री भद्रशंकरनी. प्रायः आ सर्व पुस्तको शुद्ध छे.

३. तृतीय टीका अमे श्रीवल्लभ-श्रीगोकुलनाथजीना नामथी मुद्रित करी छे, परन्तु ए टीका श्रीवल्लभनी छे एम कहेवामां अमारी कल्पना विना अन्य प्रमाण नथी. अमारी कल्पनाओ आधार आ छे. आ टीका अमने हरीच्छाथी श्रीनाथद्वारादि अमे गथा हता लां प्राप्त थई. ए प्रति उपर नाम नथी. मात्र बाजु उपर 'जल. टी. गो.' आटलु प्रत्येक पत्र उपर लख्युं छे. संवत् १७५८ मां लखेली छे. परंपरा एण छे के श्रीगोकुलनाथजीए जलभेदनी टीका लखी छे. आ टीकानी भाषा तथा आरंभ तथा अन्तना मंगलाचरणना श्लोको श्रीगोकुलनाथजीनी निरोधलक्षण तथा सेवाफलनी टीकाओना सदृश छे. 'अग्नि, शब्द'नो अर्थ श्रीकल्याणरायजीए श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यजीपरत्वे घटाव्यो, ते संबन्धमां संप्रदायमां महान् जहापोह थयो हतो एम श्रीहरिरायजीना 'पूर्णा भगवदीयाः' ए श्लोकना स्वतंत्र लेखथी माहलम पडे छे. आ टीकामां तेज तात्पर्य रागद्वेषथी मुक्त थई स्वीकार्युं छे. श्रीगोकुलनाथजी निज शिष्य श्रीकल्याणरायजी तथा श्रीहरिरायजीनुं मत अयुक्त नथी ए दर्शावे छे, छतां 'अग्नि' शब्द'नो 'रुद्र' अर्थ करनार टीका-कार प्रति समभाव राखे छे. 'अग्नि'नो अर्थ रुद्र छे एम कथनार टीकाकार जो श्रीद्वारकेशजी-तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीना ज्येष्ठ पुत्र होय तो उपर जणावेलुं अनुमान सर्वथा असंभवित नथी लागतुं.

४. चतुर्थ टीका कोनी कहेवी ए पण संशयग्रस्त छे. अमारी पासे भक्तिवर्धिनीनी एक टीका छे, जेनु मंगलाचरण अने अत्र मुद्रित टीकानुं मंगलाचरण वाचतां उभयनुं एककलुं रूप स्पष्ट छुरे छे. उक्त

१. रत्यन्तेस्वेदविन्दुश्रितमुलकमलस्तामवष्टभ्य जातो निष्पन्दः श्रान्तियुक्तो मलयजपवनसेवितः पुष्पतल्पे ।

श्रीराभावक्रुपामाहुतमधुचिरतःपानधूर्णायमानोद्विक्तः सेहार्द्रदृष्टिः प्रतिफलतु दृशोः शीघ्रमेव ब्रजेजः ॥ १ ॥

મકિર્વાર્ધિનીની ટીકાની બે પ્રતિ અમારી પાસે છે; તેમાં એક ઉપર શ્રીબાલકૃષ્ણજીકૃત ટીકા એમ લખેલું હોવાથી અમે 'શ્રીબાલકૃષ્ણકૃત' આ ટીકા છે એમ કલ્પ્યું છે. પરન્તુ તેજ પુસ્તકની અન્ય પ્રતિ ઉપર શ્રીદ્વારકેશકૃત ટીકા એમ લખેલું છે. જો એમ જ હોય તો આ ટીકા શ્રીદ્વારકેશકૃત માનવી ઉચિત છે. શ્રીદ્વારકેશજીની બાલબોધકૃષ્ણાશ્રયાદિ ઉપર કરેલી ટીકાઓનું દર્શન આપણને થાય છે. શ્રીપુસ્તકોત્તમજી પળ આ ટીકાકાર શ્રીદ્વારકેશજીના મતનો ઉપન્યાસ બાલબોધાદિમાં કરે છે. અગ્ર સુપ્રિત કરેલી જલભેદની તૃતીય ટીકાના કર્તા-શ્રીગોકુલનાથજીને આ ટીકાકારની સ્વર છે. અગ્રિ શબ્દનો અર્થ રુદ્ર આજ ટીકાકાર કરે છે. આ ટીકા પળ આથી વધુ પ્રાચીન ઠરે છે. આ ટીકાની એક જ પ્રતિ પંડિત ગદૂલાલાના સંગ્રહમાંથી પ્રાપ્ત થઈ હતી, આ પ્રતિ અનેક સ્થળે ત્રુટિત, સંદિગ્ધ અને અશુદ્ધ હતી. વહુ પ્રયાસથી આ ટીકા અમે શોધી છે, છતાં એમાં સ્વલ્પો અમે ન જ કર્યાં હોય તો પ્રમુકુપા જ સમજવી.

૫. 'પૂર્ણા ભગવદીયા:' એ શ્લોક ઉપર તિજપિતુચરણ શ્રીકલ્યાણરાયજીની ટીકા અયુક્ત નથી. દર્શાવનાનો કાંઈક રાગયુક્ત પ્રયત્ન શ્રીહરિરાયજીએ અગ્ર કર્યો છે. આની ત્રણ પ્રતિ પ્રાપ્ત થઈ છે. એક પં. ગદૂલાલાની, દ્વિતીય યાત્રામાંથી, અને તૃતીય કચરામાંથી. આ પરિશિષ્ટ પ્રથમ છે.

૬. 'પૂર્ણા ભગવદીયા:' ઉપર કોહનો શ્રીશ-મટેશ શ્રીનાથમટનો સ્વતંત્ર લેખ છે. આ લેખ શ્રીબાલ-કૃષ્ણજીની શ્રીમધુરાષ્ટકની ટીકાના પુસ્તકને અન્તે લખેલો હતો. આ લેખ યુક્ત વા અયુક્ત છે વા આચાર્યા-શય પ્રકાશ કરે છે કે નહિ તે પર્વામાં નહિ ઉત્તરવા પડેલું તો કહીશું કે એ વાચવામાં વિનોદ છે. આ પુસ્તક પં. ગદૂલાલાનું છે. આ પરિશિષ્ટ દ્વિતીય છે.

૭. પદ્મપદ્મની ટીકા પ્રથમ શ્રીહરિરાયજીકૃત છે. આ ટીકાનું સુદ્રગ ત્રણ પુસ્તકના આધારે કર્યું છે. એક શ્રીજીવનલાલજી મહારાજનું અને અન્ય દ્વય પં. ગદૂલાલાજીના સંગ્રહના.

૮. પદ્મપદ્મની દ્વિતીય ટીકા શ્રીપુરુષોત્તમજીકૃત છે. આ ટીકાનું સુદ્રગ બે પુસ્તકના આધારે થયું છે. પ્રથમ પં. ગદૂલાલાજીનું, અને દ્વિતીય ભગવદ્ભૈરવરાયણ પં. બલમદ્રશર્માનું.

૯. સેવાફલની અમુદ્રિત ત્રણ ટીકાઓ છે. આ ટીકાઓ અમને યાત્રામાં પ્રાપ્ત થઈ છે. પ્રત્યેકની એક એક પ્રતિ મળી હતી. આ ટીકાઓના કર્તાઓનાં નામ અમને અજ્ઞાત છે. આ સર્વે ટીકાઓ પ્રાચીન છે.

૧૦. જલભેદ ગ્રન્થ તૈત્તિરીયસંહિતાના મન્ન ઉપરથી સૂચિત થયેલો છે. એમાં જલદષ્ટાન્તથી વક્તાના ગુણ-આવનું નિરૂપણ છે. ડૉ. રાજેન્દ્રલાલમિત્ર કલ્પે છે તેમ રોગોના જલોપચારનું નિરૂપણ નથી. પંચ-પદ્યમાં શ્રોતાના ગુણભાવનું નિરૂપણ છે.

૧૧. જલભેદની શ્રીકલ્યાણરાયજીની ટીકાની પ્રતિ ધીરજલાલ કાશીનાથ પંડ્યાએ કરી હતી. શ્રીપુરુષોત્તમજીની ટીકા તથા 'પૂર્ણા ભગવદીયા:' ઉપરનો શ્રીહરિરાયજીનો લેખ, તથા પંચપદ્યની વહે ટીકા વહેચરદાસ મગનલાલ શાહે પ્રેસમાટે લખી આપી હતી. શ્રીવલ્લભની ટીકા શાસ્ત્રી કલ્યાણજીએ લખી આપી હતી. અને શ્રીબાલકૃષ્ણકૃત ટીકા તથા 'પૂર્ણા ભગવદીયા:' નો દ્વિતીય સ્વતંત્ર લેખ શાસ્ત્રી ભદ્રશંકર જયશંકરે લખી આપ્યો હતો. આ સર્વનું નિરૂપણ સાહાય્ય સ્તુલ્ય છે. એ સર્વનો ઉપકાર સ્ત્રીકારીએ ઢીએ.

પુસ્તક સંગ્રહમાં પંડિત ગદૂલાલાજીની સંસ્થાનો ઉપકાર સર્વથા અવિસ્મરણીય છે. તદુપરાન્ત પં. બલમદ્રશર્મા, પં. ગોકુલદાસજી, શાસ્ત્રી ભદ્રશંકર, નટપુરસ્થ વૈષ્ણવતાપીશાઈ એ સર્વનું સાહાય્ય વિસ્મરણીય નથી.

આશ્વિન શુક્ર સપ્તમી }
૧૯૭૫.

મૂલચન્દ્ર તેલીવાલા.
ધૈર્યલાલ સાંકલીયા.

કૃષ્ણયજુ: તૈત્તિરીયશાસ્ત્રસંહિતા કા. ૭ પ્ર. ૪ અ. ૧૨.

કૂપ્યાભ્યઃ સ્વાહા કૂલ્યાભ્યઃ સ્વાહા વિકૃત્યાભ્યઃ સ્વાહા સ્વદ્યાભ્યઃ સ્વાહા સ્વન્યાભ્યઃ
સ્વાહા દ્વ્યાભ્યઃ સ્વાહા સૂદ્યાભ્યઃ સ્વાહા સર્સ્વાભ્યઃ સ્વાહા વૈશ્વન્તીભ્યઃ સ્વાહા પલ્વ-
ર્યાભ્યઃ સ્વાહા વર્ષ્યાભ્યઃ સ્વાહા સ્વર્ષ્યાભ્યઃ સ્વાહા હાદુનીભ્યઃ સ્વાહા પૃષ્વાભ્યઃ
સ્વાહા સ્વન્દમાનાભ્યઃ સ્વાહા સ્થાવરાભ્યઃ સ્વાહા નાદેયીભ્યઃ સ્વાહા સૈન્ધવીભ્યઃ
સ્વાહા સમુદ્રિયાભ્યઃ સ્વાહા સર્વાભ્યઃ સ્વાહા ॥ ૧૩ ॥

જલભેદ: ।

નમસ્કૃત્ય હરિં વક્ષ્યે તદ્ગુણાનાં વિભેદકાન્ ।

ભાવાન્ વિંશતિથા ભિન્નાન્ સર્વસન્દેહવારકાન્ ॥ ૧ ॥

ગુણભેદાસ્તુ તાવન્તો યાવન્તો હિ જલે મતાઃ ।

ગાયકાઃ કૂપસક્લાશા ગન્ધર્વા ઇતિ વિશ્રુતાઃ ॥ ૨ ॥

કૂપભેદાસ્તુ યાવન્તસ્તાવન્તસ્તેપિ સમ્મતાઃ ।

કુલ્યાઃ પૌરાણિકાઃ પ્રોક્તાઃ પારમ્પર્યયુતા શ્રુતિ ॥ ૩ ॥

ક્ષેત્રપ્રવિષ્ટાસ્તે ચાપિ સંસારોત્પત્તિહેતવઃ ।

વેદ્યાદિસહિતા મત્તા ગાયકા ગર્તસંજ્ઞિતાઃ ॥ ૪ ॥

જલાર્થમેવ ગર્તાસ્તુ નીચા ગાનોપજીવિનઃ ।

હદાસ્તુ પળિડતાઃ પ્રોક્તા ભગવચ્છાસ્તત્પરાઃ ॥ ૫ ॥

સન્દેહવારકાસ્ત્ર સૂદા ગંભીરમાનસાઃ ।

સરઃકમલસમ્પૂર્ણાઃ પ્રેમયુક્તાસ્તથા બુધાઃ ॥ ૬ ॥

અલ્પશ્રુતાઃ પ્રેમયુક્તા વેશન્તાઃ પરિકીર્તિતાઃ ।

કર્મશુદ્ધાઃ પલ્વલાનિ તથાલ્પશ્રુતિભક્તયઃ ॥ ૭ ॥

યોગધ્યાનાદિસંયુક્તા ગુણા વર્ષ્યાઃ પ્રકીર્તિતાઃ ।

તપોજ્ઞાનાદિભાવેન સ્વેદજાસ્તુ પ્રકીર્તિતાઃ ॥ ૮ ॥

અલૌકિકેન જ્ઞાનેન યે તુ પ્રોક્તા હરેર્ગુણાઃ ।

કાદાચિત્કાઃ શબ્દગમ્યાઃ પત્તચ્છબ્દાઃ પ્રકીર્તિતાઃ ॥ ૯ ॥

દેવાશુપાસનોદ્ભૂતાઃ પૃષ્વા ભૂમેરિવોદ્ભૂતાઃ ।

સાધનાદિપ્રકારેણ નવથા ભક્તિમાર્ગતઃ ॥ ૧૦ ॥

પ્રેમપૂર્વા સ્ફુરદ્ધર્માઃ સ્યન્દમાનાઃ પ્રકીર્તિતાઃ ।

યાદશાસ્ત્રાદશાઃ પ્રોક્તા વૃદ્ધિક્ષયવિવર્જિતાઃ ॥ ૧૧ ॥

સ્થાવરાસ્તે સમાલ્યાતા મર્યાદૈકપ્રતિષ્ઠિતાઃ ।

અનેકજન્મસંસિદ્ધા જન્મપ્રભૃતિ સર્વદા ॥ ૧૨ ॥

सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
 निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥
 एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
 पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥
 जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।
 लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥
 वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षड् प्रकीर्तिताः ।
 गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
 सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
 तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥
 तादृशानां कचिद्राक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
 अजामिलाकर्णनवद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
 रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
 तदा लेहनमित्युक्तं खानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥
 उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
 उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥
 इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
 रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥
 इति श्रीमद्ब्रह्मसंहिताप्रकटितो जलभेदः समाप्तः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः ।
 अनिर्वृता लोकवेदे मुख्यास्ते श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥
 विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
 अथैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥
 निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
 ते त्वावेशान्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥
 पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।
 अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥
 अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।
 देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥
 इति श्रीमद्ब्रह्मसंहिताप्रकटितानि पञ्चपद्यानि ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीकल्याणरायविरचितविवृतिसमेतः ।

भावितं विविधैर्भावैः प्रेष्टभावितया मुहुः । भावये राधया कृष्णं भवितुं भावभावुकः ॥ १ ॥
 यद्वाक्पीयूषभावानां भावनादभवो भवः । भावये तान्निजाचार्यपदो भावोपलब्धये ॥ २ ॥
 श्रीकृष्णे केवलभावेनापि 'केवलेन हि भावेने'ति वाक्यात् तत्प्राप्तेः 'नैष्कर्म्यमप्यच्यु-
 तभाववर्जित'मित्यादिभिर्भावहीनस्य ज्ञानादेरप्यसमर्थत्वादस्नेहभोजनमिव भावहीनं सर्वमिति
 श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वीयानां भावणोपायं कृपया भावनिरूपणं प्रतिजानते नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।

भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

नमसो गतिसंज्ञकत्वात् कुगतिप्रादय इति समासादत्र ल्यप् विसर्गस्य सकारो 'नम-
 स्पुरसोर्गल्यो'रिति । 'यो भावान् भक्तमाहात्म्यं ज्ञापयित्वोद्धवादिषु । अहरत्सर्वदुःखानि
 वन्दितोभीष्टदोस्तु स' इत्याशयेनाहुः हरिं नमस्कृत्येति । भगवति नमनातिरिक्तस्य
 कर्तुमशक्यत्वात् । वक्ष्ये इति । निरूपिता भावाः प्रथमत आत्मने फलन्तीत्यात्मनेपदम् ।
 तद्गुणानां विभेदकानिति । ते प्रसिद्धाश्च ते गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषां विभेद-
 कान् निवर्तकानित्यर्थः । यद्वा । भगवतो ये गुणा धर्मास्तेषां निवर्तकान् । भगवतो
 भक्तार्थं सर्वसमत्वादेस्त्यागात् । 'ये भजन्ती'ति वाक्यात् । यद्वा । तेषां जीवानां गुणा
 धर्मास्तेषां वैलक्षण्यसम्पादकानित्यर्थः । अथवा भगवतो ये धर्मास्तानानीयात्र दायकानि-
 त्यर्थः । भावान् विंशतिधा भिन्नानिति । भावशब्दस्यानेकार्थत्वेप्यत्र स्नेहस्तज्ज-
 न्याश्चावस्थाविशेषा भावा उच्यन्ते । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' इत्यादिभिः
 स्नेहाभिधानात् । गुणभेदैः कृत्वा विंशतिप्रकारैर्भिन्नान् । सर्वसन्देहवारकानिति ।
 विधेयविशेषणमेतत् । भगवद्भजने सर्वेषां साधनानां स्वरूपतः फलतश्च ये सन्देहास्तन्निवा-
 रकान् । यद्वा । भावैर्भगवति स्फुरिते सर्वे सन्देहाः स्वत एव निवर्तन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

भावानां स्वत एकस्वरूपत्वेपि गुणभेदैरेव भेदाद्भावभेदकान् गुणभेदानेवाहुः गुणेति ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।

गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

जले यावन्तो भेदा वेदेन सम्मता ज्ञाता वा तावन्तो गुणभेदास्तथेत्यर्थः । वेदोक्त-

जलभेददृष्टान्तकरणाद्भावानां शुद्धत्वलौकिकत्वतापहारकत्वशोधकत्वाप्यायकत्वानि ध्व-
नितानि । अत्र 'कूप्याभ्यः स्वाहे'त्यारभ्य 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यन्ता तैत्तिरीयश्रुतिरनुसन्धेया ।

तत्र प्रथमं गानप्रियत्वाद्देविन्दस्य गायकानां भावमाहुः गायका इति । गन्धर्वा
इति प्रसिद्धाः गाननिपुणाः कूपतुल्यास्तेषां भावः तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा कूपजलं
जाड्यकाले क्रोष्णत्वाद्जाड्यनिवर्तकमुष्णकाले शीतलत्वात्तापनिवर्तकं व्यवहियमाणं वर्धते,
समीचीनं च भवति, तथैतेषां भावोतिजाड्ये पुंसि जाड्यनिवर्तकः, संसारते तापनिव-
र्तको गीयमानो वर्धते, समीचीनश्च भवति । यथा रज्ज्वादिभिः कूपजलं गृह्यते तथा गान-
द्वारैवैतेषां भावो ग्राह्यः ॥ २ ॥

ननु गायकाः सर्वे तुल्या एव नेत्याहुः कूपभेदास्त्विति ।

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यथा केचित् कूपाः स्वादुपरिणामसुखकारिजलाः, केचिदमिष्टजलाः, केचित् क्षार-
जलाः, तिक्तजलाः, परिणामदुःखजलाश्च, तथा गायका अपि पुरुषोत्तमतद्विभूतिगुणाव-
तारांशादिललाभेदेन भगवन्तं गायन्तः सत्त्वगुणादिभिरुपलक्षिताश्चाकामा मोक्षकामाः स्व-
र्गकामा लौकिककामाश्चेति बहुधा इति पूर्वोक्तकूपविशेषैस्तुल्या इति तेषां भावस्तज्जलतुल्य
इत्यर्थः । अत एवोक्तं कपिलदेवैर्देवहूतिं प्रति 'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भूमिनि
भाव्यते । स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते । अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भमा-
त्सर्यमेव च । संरम्भी भिन्नद्वयभावं मयि कुर्यात् स तामसः । विषयानभिसन्धाय यश
ऐश्वर्यमेव वा । अर्चादावचर्येद्यो मां पृथग्भावः स राजसः । कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा
तदर्पणम् । यजेद्यष्ट्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः । मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्व-
गुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्या-
प्युदाहृतम् । अहैतुक्यप्रतिहता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।' इत्यादि । अत एव स्वभाव-
भूतानां गुणानां मार्गेण वृत्तिभेदेन पुंसामभिप्रायो भिद्यते इति फलसङ्कल्पभेदाद्भक्तिभेद
इति गुणानां मिश्रणेन तामसादिभक्तिषु त्रयस्त्रयः प्रकारा इति श्रवणादिषु प्रत्येकं नवनव
भेदा इति सगुणा भक्तिरेकाशीतिप्रकारा, निर्गुणा त्वेकविधैवेति द्व्यशीतिप्रकारा भक्तिः
प्रथमेतराम् । तदेव श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैर्भक्तिर्हंसे निरूपितम् । 'श्रवणादिनवकमप्यधिका-
रिभेदेन क्रियमाणं सत्कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेनानेकविधं भवती'ति । द्वितीयं
भावमाहुः कुल्याः पौराणिका इति । कुल्या अत्या कृत्रिमा सरित् । पुराणमधीयते
विदन्ति वा पौराणिकाः पुराणेतिहासपाठकाः कृत्रिमाल्पनदीतुल्याः, तेषां भावस्तज्जल-
तुल्य इत्यर्थः । यथा भूमौ कुल्या जलशयेन पारम्पर्ययुताः परम्परासम्बद्धास्तथा एतेपि
भुवि पुराणार्थप्राप्तौ पारम्पर्ययुताः सद्व्यपदेशादवगतपुराणार्थाः । सद्व्यपदेशं किना

श्रीभागवतविष्णुपुराणादौ भाषात्रयासुरव्यामोहकलीलास्वरूपाज्ञाने सर्वमनर्थकं स्यात् ।
यथा प्रत्यहं यत्ने क्रियमाणे कुल्या प्रवहति, नान्यथा, तथा पुराणपाठ एव तेषां भावोदयो,
नान्यदेति दृष्टान्तेन सूचितम् ॥ ३ ॥

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

वेद्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

तृतीयं भावमाहुः क्षेत्रप्रविष्टा इति । च पुनस्ते पूर्वोक्ताः । 'क्षेत्रं पत्नी-
शरीरयो'रिति कोशादेहकुटुम्बयोः पोषार्थं पुराणेतिहासपाठकाः स्वसंसारस्योत्पत्तिहेतवो
भवन्तीत्यर्थः । कुल्याजलान्यपि क्षेत्रप्रविष्टानि सम्यक् सारस्यान्नस्योत्पत्तिहेतवो भव-
न्ति । न बहिरन्तःशुद्धिहेतुस्नानाचमनादौ हेतवस्तथैतेपि न स्वर्गापवर्गहेतवो भवन्ति ।
अपिशब्दात् क्षेत्रप्रविष्टा गायका अपि संसारहेतवो भवन्तीत्यर्थः । अत एवोक्तं भ-
क्तिर्हंसे 'वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवल्लौकिक एवे'ति । गीतायां च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति ।
श्रीभागवते चोक्तम् । 'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् । आशासानो
न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ॥ त्वत्पादुके ह्यविरतं परि ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने
शुचयो गृणन्ति । विन्दन्ति ते कमलनाभमवापवर्गमाशासते यदि त आशिष ईश नान्य'इति ।
चतुर्थं भावमाहुः वेद्यादिसहिता इति । आदिपदात् कुलटात्संगिघृतादय उच्य-
न्ते । 'न तथास्य भवेन् मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गि-
सङ्गत' इति कपिलदेववाक्यात् । एतादृशा गायका गर्ततुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः ।
यदि विषयैर्बाध्यमाना अपि दुराचारा अपि समयभेदेनापि भगवन्तमेव भजेयुस्तदापि
समीचीना भवेयुस्तदपि नास्तीत्याहुः मत्ता इति । अतः स्वस्वाम्यनुसन्धानरहिताः ।
नद्येते प्रीत्या माहात्म्याधियां वा कृष्णं गायन्ति, किन्तूत्तमस्वरगीतवशात् कदाचिदतो
गर्ततुल्या एवेत्यर्थः । अतो नैषां भावस्य कूपकुल्याजलवदाप्यायकत्वादिगुणयोग
इत्यर्थः । अमत्तास्तु कूपभेदेषु ज्ञेयाः ॥ ४ ॥

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

पञ्चमं भावमाहुः जलार्थमेवेति । प्रक्षालनोच्छिष्टजलप्रक्षेपार्थमेव ये गर्तास्तुतुल्या
नीचा गानोपजीविन इत्यर्थः । नीचत्वेन बाह्योत्कर्षाभावाद्गानोपजीवनेनान्तरोत्कर्षाभावाद्दु-
च्छिष्टजलगर्ततुल्यत्वमेवैषां, तेनोच्छिष्टगर्तजलवत्तेषां भावो न सद्भिर्ग्राह्य इत्यर्थः । यद्वा ।
जलनिःसरणार्थं गर्ता इत्यर्थः । पौराणिकनिरूपणानन्तरं पुनर्थदायकनिरूपणं तदेतादृशानां
पौराणिकानामेतदायकतुल्यत्वज्ञानार्थम् । षष्ठं भावमाहुः हृदास्त्विति । तुशब्दः पण्डित-
प्रकरणबोधनार्थः । भगवच्छास्त्रं गीताभागवतादिकं तत्र तत्पराः । न तु मायावादादिमते ।
एतादृशाः पण्डिता हृदतुल्यास्तेषां भावो हृदजलतुल्य इत्यर्थः । यथा हृदजलमन्तःशी-

तलत्वादगाधत्वाच्च नातपेन पश्वादिभिश्च तापयितुं कलुषयितुं वा शक्यमेवमेषां भावोपि सांसारिकतापेन कुतर्कादिभिश्च न तापयितुं कलुषयितुं वा शक्य इति भावः ॥ ५ ॥

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

सप्तमं भावमाहुः सन्देहेति । भगवच्छास्त्रे सन्देहवारकाः गंभीरं मानसं येषामित्यन्तर्निष्ठा एतादृशाः पण्डिताः । सुष्ठु उदकं येषां तादृशहृदयविशेषतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथोत्तमोदकानां जलं मनःप्रसादहेतुरप्येवं भगवच्छास्त्रसन्देहवारकानामन्तर्निष्ठानां भावोपि मनःप्रसादहेतुरपीति भावः । वाप्यो वा सूदा उच्यन्ते । अष्टमं भावमाहुः सरःकमलसम्पूर्णा इति । भगवच्छास्त्रे सन्देहवारकाः अन्तर्निष्ठा वा ज्ञातारः प्रेमयुक्ताः सन्तः, सरःसंबन्धकमलानि सम्पूर्णानि यासु तादृश्य आप एतत्तुल्यभावा इत्यर्थः । जलाशयं विहायात्र जलदृष्टान्तकरणादेतेषामपि भावतुल्यत्वं सूचितम् । यथा एतादृश्य आपः सकलेन्द्रियसुखहेतवः कमलसौरभमृङ्गसारसादिसाहिल्यात् तथैतेषां भावा अपीति भावः ॥ ६ ॥

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥

नवमं भावमाहुः अल्पेति । अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशन्तोऽल्पसरस्तत्तुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्मभिः शुद्धाः, कर्माणि कृत्वेश्वरे ये समर्पयन्ति तेषां कर्म चित्तशोधकं भवतीति कर्मशुद्धाः । 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पण'मिति भगवद्वाक्यात् । एते पल्वलमल्पसरोविशेषस्तत्तुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । अल्पा श्रुतिः पुराणादिश्रवणं भक्तिर्येषाम्, अल्पश्रुत्या वा भक्तिर्येषामिति तेपि तथा, पल्वलजलतुल्या इत्यर्थः । यथा वेशन्तपल्वलयोरल्पतडागत्वात्तज्जलं पूर्वं निर्मलमपि वराहाद्यवगाहितं कलुषं भवति, तथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'स्वर्गकामः अग्निष्टोमेन, स्वर्गकामो यजेते'त्यादिवाक्यात् सकामानामेव यागाद्यधिकारात् फलाश्रवणेपि विश्वजिज्ञयायेन फलकल्पनात्तेश्वरार्पणार्थं कर्म कर्तव्यम्, किन्तु फलार्थमेव, यागानधिकारिणामेव भक्तावधिकार इत्यादिभिः कर्मजडानामसद्वादैस्तेषामपि भावः कलुषो भवति । तेषां 'मत्कर्मपरमो भव, मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि, मन्मना भवे'त्यादिप्रमाणानामज्ञानादित्यर्थः । वेशन्तपल्वलयोल्लोके पर्यायत्वेपि 'वेशन्तीम्यः स्वाहा, पल्वल्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्या तयोर्जलयोर्भेदनिर्देशात् । स्वादुसौरभादितदभावाभ्यां वा भेदो ज्ञेयः ॥ ७ ॥

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्वाः प्रकीर्तिताः ।

तपोज्ञानादिभावेन खेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

एकादशभावमाहुः योगध्यानादीति । योगोद्यत्तः, ध्यानं प्रादेशमात्रादेः,

आदिपदाद् बाह्यपदार्थास्मृतिः, एतत्समानाधिकरणा गुणा भावा वर्ष्वाः प्रकीर्तिताः । वृष्टिजलतुल्याः कथिता इत्यर्थः । यथा वृष्टिसमये वृष्टिजलं सर्वदेशं व्याप्नोति, सर्वत्र सुलभमाधारगुणमादाय कार्यविशेषमन्नादिकं च जनयति, तथैतेषां योगादिसमय एव भगवद्भावो देहेन्द्रियादि सर्वं व्याप्नोति, सुलभः पात्रविशेषे स्वसजातीयं भावविशेषं च जनयति, अत एव संयुक्ता इत्यनेन सम्यग्योगो निरूपित इति भावः । द्वादशं भावमाहुः तपोज्ञानादिभावेनेति । तपः पञ्चाभिसहनादि, ज्ञानं जीवात्मनः, आदिपदाद्वर्णाश्रमाचारश्च, प्रत्येकमेतान्येव भावस्तपोज्ञानादिभिर्वा यो भावस्तेनोपलक्षिताः खेदजलतुल्याः कथितास्तेषां भावः खेदजलतुल्य इत्यर्थः । केचित् तपसैव भगवानाराध्य इति मन्यन्ते । वस्तुतो भक्तिप्राप्य एव । 'मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौ-जस्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः । नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाये'त्यादिवाक्यैः । केचिदितरभिन्नत्वेन स्वात्मज्ञानान्मोक्ष इति तदेव भजनमिति मन्यन्ते । वस्तुतस्तु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवती'त्यादेर्भगवज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनम् । 'श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धय' इति वाक्ये केवलान्मज्ञानस्य निन्दितत्वाच्च । केचित्तु 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् । विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारण'मिति वाक्याद्वर्णाश्रमाचारमेव भगवद्भजनं मन्यन्ते । तदपि न विचारक्षमम् । वर्णाश्रमाचारस्याधिकारिविशेषणत्वादारारधनं तु श्रवणादिरूपं भिन्नमेव । 'धर्मः सत्यदयोपेतः, धर्मः स्तनुष्ठितः पुंसाम्, विप्राद्विषड्गुणयुतादरविन्दनामपादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम् । मन्ये तदपितमनोवचने हितार्थः प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमान्' इत्यादिभिर्भगवद्भजनाभावे भगवद्भैमुख्ये च धर्मस्याप्रयोजकत्वनिरूपणात् । 'वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः । स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसंकरः पर' इति भगवतोद्भवं प्रत्याचारभक्तयोर्भेदेन निरूपणात् । द्विजपत्न्यनुग्रहे द्विजैर्भगवद्भैमुख्ये त्रिवृद्विधादीनां धिक्कारोक्तेश्च । 'ये त्विहासक्तमनस' इत्यादिवाक्यैः सर्वकर्माणि कुर्वतामपि भगवद्भैमुख्योक्तेश्च । अत एव 'परमापदमापन्नो हर्षे वा समुपस्थिते । नैकादशीं त्यजेद्यस्तु यस्य दीक्षास्ति वैष्णवी ।' 'समात्मा सर्वजीवेषु निजाचारादविच्युतः । विष्णवर्षिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यते' इत्येभिः पुराणवाक्यैर्माधवाचार्यैः कालमाधवीये वैष्णवलक्षणमभिधाय वैष्णवस्मार्तयोर्भेदो निरूपितः । वर्णाश्रमाचारस्यैव भजनरूपत्वे सम्प्रत्युक्तसकलविरोधात् । यथा खेदजलं न शुद्धिहेतुस्नानाचमनाद्युपयोगि तर्षनिवर्तकं तापहारकं वा भवति, तथैतेषां भावोपीति भावः ॥ ८ ॥

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

त्रयोदशं भावमाहुः अलौकिकेनेति । महदनुग्रहादिना प्राप्तज्ञानेन ये सर्वदुः-

खहर्तुर्गुणा ऐश्वर्यादयः प्रोक्ताः कदाचिदेव प्रतीयमानाः वेदादिगम्यास्ते गुणाः दूरात् पर्वतादेर्धारारूपेण पततां जलानां ये शब्दास्तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । यथा धाराजलशब्दाः (पर्वतपतित) धाराजलानां ज्ञापकास्तथोच्यमाना भगवद्गुणा अपि वक्तृणां धाराजलसदृशभावज्ञापका इत्यर्थः । यथा धाराजलं नैर्मल्यशैत्यमाधुर्याविच्छेदयो- गादर्शनस्पर्शनस्नानाचमनपानादिभिर्मनोहारि तापहारि सौहित्यसुखकारि, तथैतेषां काव्या- दिषु प्रतीयमानो भावोपीति भावः ॥ ९ ॥

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिचोद्भूताः ।

साधनादिप्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

चतुर्दशं भावमाहुः देवा इति । श्रीपुरुषोत्तमव्यतिरिक्तानां देवानामादिपदात् पितृमातृपतिज्येष्ठभ्रात्रादय उच्यन्ते । एतेषामेव उपासनेऽयमेव देवः परमेश्वरो, वयं परमेश्वरभजनमेव कुर्मः । पितृवात्साकमीश्वरः, पितृसेवां विष्णुभजनमेव कुर्म इत्येवमादयो ये उद्भूता भावास्ते, अथ च देवाः शिवादयः आदिपदाद् यक्षरक्षःपिशाचादयः । तेषां देवा- दीनामुपासनमुद्भूतमुद्भूतं येषु भगवद्भावेषु ते भावा देवाद्युपासनेन सह बोद्भूता भगवद्भावास्ते च भूमेरुद्भूताः पृष्वा इव । 'अवश्या यजन्याः पृष्वा' इति वेदभाष्ये । पृष्वा जलविन्द- वस्तुधारकणाः जलबुद्बुदा वा त इत्यर्थः । तेषां ग्रान्त्या भजनात्तुल्यतयैव सर्वभजनाच्च । महापुरुषाणां भगवद्भक्तानां भजनं तु भगवत्प्रीतिभक्तिशुद्ध्यादिसाधकत्वाद्भिन्नरूपमेव । अत एव श्रीभागवते 'मद्भक्तपूजाभ्यधिका । तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः । प्रसङ्गभजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् । सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदः । न तथा ह्यधवान् राजन् पूयेत तपधादिभिः । यथा कृष्णापितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया । किरातहृणान्त्रे'त्यादि । पित्रादिसे- वायाः स्वर्गादिसाधकत्वान्न भगवत्फलसाधकत्वम् । अत एव भगवता गीतायां 'येप्यन्य- देवताभक्ता' इत्यत्र, स्वयजने विधिपूर्वकत्वाभाव उक्तो, विध्यभावे कर्मणि फलाभाववद- त्रापि भगवत्फलं न भवतीत्याशयेन । ('यान्ति मद्याजिनोपि माम् । देवान् देवयजो यान्ती' तिवाक्यैः पुरुषोत्तमभजनकर्तुरेव पुरुषोत्तमप्राप्तिस्तस्यैव भगवान् योगक्षेमं वहतीति पुरुषोत्तमप्राप्तौ पुरुषोत्तमभजनमेव विधिर्नतु केनापि प्रकारेणान्यभजनमित्यत्र विध्यभावात् फलाभावो युक्त इति भावः ।) यथा विन्दवस्तुधारकणाः बुद्बुदजलं वा न स्नानाचमनपाना- दिभिः शुद्धितृप्त्यादिसाधकं तथैतेषां भावोपि न शुद्ध्यादिसाधक इत्यर्थः । पञ्चदशं भावमाहुः साधनादिप्रकारेणेति । साधनमादिः फलात् यस्मिन् प्रकारे तेन प्रकारेण नवधा भक्तिरेव मार्गो भगवत्प्राप्तिसाधनं तस्मात् क्रमेण प्रेमपूर्त्या स्फुरन्तो धर्मा येषां श्रवणादयो

नटवेशादयो वा ते स्यन्दमानाः प्रस्रवणजलतुल्यभावाः प्रकीर्तिता इत्यर्थः । भक्तिमार्गो मर्यादाया भगवद्भक्तिकारादकामोपहतैरखिलवर्णाश्रमधर्मैः सत्त्वशुद्धौ भगवद्भक्तिरेव पुरुषार्थ इति शास्त्रार्थनिश्चयाच्छ्रवणादिभिस्तेषां भाव इति । यथा पर्वतोपरि वृष्टितडागादिसद्भावे प्रस्र- वणजलं वर्धते तदभावे हसत इति तत्सापेक्षं शुद्ध्यादिहेतुश्च, तथैतेषां भावोपि सा- धनानुसारी शुद्ध्यादिहेतुश्चेति भावः । इदमेवोक्तं भक्तिहंसे । 'आद्यस्तु तत्साधने भवति प्रवृत्तस्तथैव तद्वरणात्, परन्तु स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव तत्र प्रयोजकस्तदुत्पत्त्यनन्तरं च रागादेव तत्सम्बन्धिपदार्ये यतिष्यत इति विधेरप्रयोजकत्वमिति । एकादशस्कन्धे च 'भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेनघ । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् । श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् । परिनिष्ठा तु पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम । आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् । मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः । मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् । मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् । मदर्थेऽ- र्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्भक्तं तपः । एवं धर्मै- नुष्याणामुद्भवात्मनिवेदिनाम् । मयि सज्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यते' इत्यादि- भिर्निरूपितम् । नवधा भक्तिस्तु 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसार्पिता विष्णोर्भक्तिश्चेन्नवलक्षणा । क्रियते भगवत्सद्भा तन्मन्येऽधीतमुत्तम'मिति ग्रहादैर्निरूपिता ॥ १० ॥

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥

स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

षोडशं भावमाहुः यादृशा इति । यादृशाः पूर्वमव्यवधानेन प्रोक्तास्तादृशा वृद्धि- क्षयविवर्जिताश्चेत्, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः मर्यादायामेव केवलाः प्रतिष्ठिताः, न तु ततोधिक- विशेषाङ्गीकारयुक्तास्ते स्थावरा आपः स्थिरजलतुल्यभावाः समाख्याता इत्यर्थः । यद्वा । ये केचित् येनकेनचित् प्राप्तवृद्धिक्षयविवर्जितप्रेमाणस्ते तथाप्रोक्ता इत्यर्थः । अत एव प्रे- मस्वरूपं श्रूयते । 'आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि क्षीयेतापि न चापराध- विधिना नत्या न यद्बर्धते । पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः सांप्रतं प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्मिष्ठता लाघव'मिति । यथैतज्जलं नातपेन शुष्यति स्नानादिहेतुश्च भवति, तथैतेषां भावोपि न संसारतापकुतर्कादिभिर्गच्छति शुद्ध्यादिहेतुश्च भवतीति भावः ॥ ११ ॥

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सद्भादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

सप्तदशं भावमाहुः अनेकजन्मेति । ये भावा अनेकजन्मसु 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते' इति वाक्यात् तपे-

ध्यानसमाधिभिः सम्यक्सिद्धाः तज्जन्मारभ्य सदा भुवि आधारभूते चात्मनि सङ्गः सत्सङ्गः आदिपदादन्नकालविशेषदेशविशेषाः दुष्टसङ्गादयश्च तेषां यौ गुणदोषौ ताभ्यां क्रमेण वृद्धिक्षययुताः, निरन्तर उद्गम उद्भवो गमनं च तेन युताः । एतादृशास्ते भावा नद्यः स्वतोऽ-समुद्रगामिनदीजलतुल्याः परकीर्तिता इत्यर्थः । यथा नदीजलं वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिक्षयवद्भवति, भूमिपर्वतादिगुणदोषाभ्यां गुणदोषवद्भवति, शुद्धितृष्यादिहेतुश्च भवति, तथैते भावा अपि तपोध्यानसमाधिसाध्यपापक्षयद्वारा जनिता इति शुद्ध्यादिहेतवः सत्सङ्गादिभिर्गुणवन्तो भवन्ति, वर्धन्ते च, दुष्टसङ्गादिभिर्दोषवन्तः भवन्ति, हीयन्ते चेति भावः ॥ १३ ॥

एतादृशाः स्वतन्त्रास्ते सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥

जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

अष्टादशं भावमाहुः एतादृशा इति । अव्यवधानेनोक्ता भावाः स्वतन्त्राः निरु-पाधिकाश्चेत्तदा ते सिन्धवः स्वतःसमुद्रपामिन्यो महानद्यस्तज्जलतुल्याः परिकीर्तिता इत्यर्थः । सिन्धुषु नदा अपि गृह्यन्ते । यथा महानदीजलप्रविष्टाः समुद्रं प्रविशन्ति, तथैतद्भावानुसारिणोपि दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशन्ति, महानदीजलवदेते भावाः शुद्ध्या-दिहेतवोपि भवन्तीति भावः । एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा भगवदीया इति । ये भगवदीयाः भक्त्या सेवया पूर्णा 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः' येषामात्मा-दिकं भगवदर्थमपेक्षितं नत्वात्माद्यर्थं भगवान् सेव्यस्ते समुद्राः रत्नाकरतुल्याः प्रकी-र्तितास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । भगवदीयशब्दस्तु नामधेयस्य विकल्पेन वृद्धत्वाच्छे-षार्थं छप्राप्तौ 'बहुलं छन्दसी'ति छसो विधानात् सिद्धः, पुराणप्रसिद्धोपि, वाचस्पत्या-दिवल्लोके ज्ञेयः । तान् प्रसिद्धान् गणयन्ति शेषव्यासाग्निमारुता इति । जडनारद-मैत्राद्या इति । शेषो भगवद्गुणपरः शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते विभूतिरूपश्च । 'अन-न्तश्चास्मि नागाना'मिति वाक्यात् । व्यासः कलायतारः सदा भगवद्दर्शनिरूपणपरो यस्य पूर्णभगवद्दर्शनिरूपणेनात्मप्रसादः । अग्निर्भगवदास्यरूपाः स्वयमेव येषां सर्वांशे सर्वस्वरूपः कृष्ण एव । मारुतो हनुमान् श्रीरघुनाथतद्गुणतत्परः । जडो जडभरतो योन्तःपूर्णभावाद्दहिर्जड इव प्रतीयते । नारदः सदा पुरुषोत्तमगुणगानैकतानः । मैत्रो मैत्रेयः पराशरशिष्यो भगवद्दर्म-वक्ता । आद्यपदादुद्भावाय । समुद्रदृष्टान्तेन यथा चन्द्रदर्शनादधिस्तुङ्गतरलिततरङ्गो भवति, तथा भगवन्मुखचन्द्रदर्शनादेतेषु प्रवर्धमानभावा भवन्तीति भावः । अयमेव भावः कपिलदेवैरुक्तः 'सालोक्यसाष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इति ॥ १४ ॥

पूर्णभावान् स्वरूपज्ञानभेदेन विलक्षणान्निरूपयन्ति लोकवेदगुणैरिति ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

एके लोकमिश्रभावेन । एके वेदमिश्रभावेन । एके गुणैर्मिश्रभावेन हरिगुणान् वर्णयन्ति । ते क्रमेणोच्यन्ते । रामकृष्णादयो मनुष्या एव, परं बलादिनाधिका इति ज्ञात्वैके हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तु तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षारजलं न तृषादिनिवर्तकं न वा तृप्तिमुखकारि तथैतेषां भावोपीति भावः । एके 'तूद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना' इत्यादिना वेदे भूम्युद्धारदेः कृष्णकर्तृकत्वेन नि-रूपणात् जगत्कर्तृव्य विविधशरीरेषु आविश्य कार्यं कृत्वा तानि त्यजतीति ज्ञात्वा हरे-र्गुणान् वर्णयन्ति । ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा दधि-मण्डस्यासारत्वान्न पुष्टिहेतुत्वम् । तथैतेषां भावस्यापीति भावः । मायागुणैर्विना भगवतः कर्तृत्वाभावात्तद्गुणैरेव भगवान् सर्वं करोतीति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् ये वर्णयन्ति ते सुरोदतुल्यास्तेषां भावः सुरातुल्य इत्यर्थः । यथा सुरायाः स्वरूपविस्मारकत्वं दोषजन-कत्वं तथैतद्भावस्यापीति भावः । भगवान् सर्वेश्वरः सर्वं कर्तुं समर्थ इति ज्ञात्वा ये हरे-र्गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावः क्षीरतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरं स्वादु मधुरं पुष्टिजनकं तथायं भावोपीति भावः । भगवान् महावीर्यः स्वभक्तानपि वीर्यवतः करोतीति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान् वर्णयन्ति ते घृतोदतुल्यास्तेषां भावो घृततुल्य इत्यर्थः । यथा घृतं वीर्यहेतुस्तथायं भावोपीति भावः । 'तं यथा यथोपासत' इति श्रुतेः 'भ-गवान् लक्ष्मीकलत्रः सेवितो भुक्तिं मुक्तिं च यच्छती'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान् वर्णयन्ति ते त्विक्षुरसोदतुल्यास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः । यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनिवर्तक-स्तथायं भावोपीति भावः । 'यशःस्वानुद्धरेत् कृष्णो यादृशांस्तादृशानपि । सर्वथा शरणं यातानतः सेव्यः स एव ही'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान् वर्णयन्ति ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदकतुल्य इत्यर्थः । यथा शुद्धोदकं तापनिवृत्तिर्नैर्मल्यतृष्यादिहेतुस्तथायं भा-वोपीति । भगवान् चिद्रूपो ज्ञानपूर्णो ज्ञानगम्यः सर्वसमो मोक्षार्थं सेव्य इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान् वर्णयन्ति ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावो दधिमण्डतुल्य इत्यर्थः । भगवान् वैरा-ग्यपूर्णो न किञ्चिदपेक्षते गृह्णाति वा सर्वैः पावित्र्यार्थं विहितत्वात्सर्वं समर्प्यते स्तूयते चेति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान् वर्णयन्ति ते क्षारोदतुल्यास्तेषां भावः क्षारजलतुल्यो, भगवद्द्वैरा-ग्यस्य भिन्नरूपत्वादिति भावः । केवलसमुद्रदृष्टान्ते क्षारोदः शुद्धोदो वा ज्ञेयः ॥ १५ ॥

पूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान्निरूपयन्ति गुणातीततयेति ।

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥

सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणः ।

तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

ये भगवदीयाः 'तमु स्तोतारः' 'यस्मात्क्षरमतीतोहम्' 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्' 'लोकवत्तु लीला कैवल्य'मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैर्भगवन्नामरूपधर्माणां गुणातीतत्वं निश्चित्य भगवन्नाम सच्चिदानन्दात्मकं भगवान् क्षराक्षरातीतः पुरुषोत्तमो भगवन्निष्ठं सर्वं निर्गुणं भगवतो लोकवदपि या लीला सैव कैवल्यं मोक्षः फलरूपा गुणातीता स्मरणादिनान्येषां मोक्षसाधिका चेत्वेवं निरूपणेन विष्णोः पुरुषोत्तमस्य सर्वात्रैव गुणान्नवनीतादिचौर्यगोचरण-वेणुवादनगोवर्धनोद्धरणादीनापि शुद्धान्गुणातीतत्वेन मायासंबन्धरहितात्रित्यान्सच्चिदानन्द-रूपवतो वर्णयन्ति तेऽमृतोदाः सुधासमुद्रतुल्याः समाख्याताः कथितास्तेषां भावः सुधातुल्य इत्यर्थः । ते भगवच्चौर्यादिप्रयोजनज्ञातारो, यतो विचक्षणाः, ततस्तद्वाक्यानां तेषां वचना-मृतस्य पानमन्तर्निवेशनं तत उपदेशग्रहणं सादरश्रवणं च सुदुर्लभं सुतरां दुःप्रापम् । अत एव नामस्वरूपज्ञानार्थमेतादृशानामुपदेष्टृणामुपसक्तिः कार्यत्याशयेनाह श्रुतिः 'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे' इति । ते त्वत्संबन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भगवन्तं जानन्तं भ-गवद्भक्तमित्यर्थः । अत एव तत्त्वसागरेषु 'दुर्लभे सद्गुरुणां तु स्यात्सत्सङ्ग उप-स्थिते । तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महानि'ति । अत एव नित्यानन्दमयपुरुषो-त्तमत्वेन भगवत्स्वरूपाज्ञाने ज्ञानकर्मादिकं व्यर्थमित्याह भगवा'नवजानन्ति मां मूढा' इत्यारभ्य 'प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता' इत्यन्तेन । नित्यानन्दमयपुरुषोत्तमत्वेन भगवज्ज्ञाने सर्ववित्त्वं सर्वभावेन स्वभजनं चोक्तं भगवता 'यो मामेवमसंमूढ' इति श्लोकेन । तद्वाचो महिमानमाहुः तादृशानामिति । पूर्णभगवदीयानां वाक्यं क्वचित् यत्र प्रसन्नतया स्वेच्छया वदन्ति, न त्वनुरोधेन प्रेरणया वा, तत्र दूतानां सन्देशहराणामिव वर्णितं ज्ञेयं, यथा दूतमुखेन राजा वदति, तथा तन्मुखेन भगवानपि दूतानामिव प्रभू-त्कर्षवर्णने तेषां न शङ्का चेति भावः । अतो भगवत्कृपया फले भाविन्येतादृशानां समा-गमो भवति । अत एव श्रीभागवते 'भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युतस-त्समागमः । सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेषु त्वयि जायते मतिः । महद्विचलनं नृणा'-मित्यादि । अत एवैतद्वचनामृतविन्दुपानमेभ्य उपदेशग्रहणं श्लोकमात्रश्रवणं शिक्षा वाप्यजामिलाकर्णनवत् । अजामिलस्य यदाकर्णनं विष्णुदूतेभ्यो भगवद्दर्मबलश्रवणं शिक्षा वा तद्वत् प्रकीर्तितम् । यथाजामिलस्य तदनन्तरं न पुनर्नरकसम्बन्धो भगवद्दर्माचरणेनोत्कृष्ट-फलप्राप्तिस्तथैतद्विन्दुपानकर्तुरपीति भावः । यद्वा । अजामिलस्यकर्णनं यस्मिन् तदजामि-लोपाख्यानं तेन यथा भगवद्द्रूपनामादिमाहात्म्यं ज्ञातं भवति, तथैतद्विन्दुपानेनापि भवतीति

भावः । अत एव श्रीभागवते 'किरातहूणान्भ्रे'ति 'यत्पादपङ्कजे'ति । एतद्विन्दोः पानापेक्षया रसास्वादोधिक इति तत्परिचायकमाहुः रागाज्ञानादिभावानामिति । रागः स्नेहो गृहादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिपदात् गृहाद्यासक्तिः, एतान्येव भावाः । यद्वा । अज्ञानमविद्या आदिर्येषां भावानां शोकमोहादीनां तेषां यदा सर्वथा नाशनं, तद्वासनापि न तिष्ठति, तदा लेहनं रसास्वादनं पूर्णमुक्तम् । यद्वा, रागाज्ञानादिभावानां यदा सर्वथा नाशनमस्फूर्तिस्तदेति । इदमेव विन्दोः पानं लेहनं रसास्वादनमुक्तम् । श्रवणादौ व्यसने सम्पन्ने तदेवास्वाद्यमानममृतं भवतीत्यर्थः । तत्स्वानन्दोद्गमकारणं स्वस्य यो भगवदानन्दस्यो-द्गमस्तस्य नित्यत्वात् तत्र कारणम् । 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती'ति श्रुतेः । स्वस्य तिरोहितानन्दस्य य उद्गमः प्राकट्यं ज्ञानफलं तत्कारणतुल्यं यत्रेति च । ब्रह्मभावानन्तरं भक्तिप्राप्तेः । भगवति क्रमेण प्रेमासक्तिव्यसनैः प्रापञ्चिकास्फूर्तौ न किञ्चिदवशिष्यते । अत एवोक्तमेकादशे 'भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते । मध्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दा-नुभवात्मनि । एवं धर्मैर्ननुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिना'मित्यादिना च । तथोक्तं भक्तिव-र्धिन्यां श्रीवल्लभाचार्यचरणैः 'स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासत्तया स्याद्गृहारुचिः । यदा स्याद्वासनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि' ॥ १६-१९ ॥

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

विंशं भावमाहुः उद्धृतोदकवदिति । अव्यवधानेनोक्तामृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथा तेषामेव सर्वे भावाश्च भाववतामप्रत्यक्षदशायामादरेण गृहीतानि वाक्यानि भावाश्चोद्धृतोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । यथा कथञ्चिद्गृहीतानि पतितोदकवज्जलाश-यात् पृथक् स्थितोदकवत् । अथवा, प्रासादादितः पतितोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । अथवा । भाववदप्रत्यक्षदशायां सर्वे भावा अमृतोदतुल्यातिरिक्तानामुद्धृतोदकवत्फलं साधयन्ति । वाक्यानि च पतितोदकवत् फलं साधयन्तीत्यर्थः । ततस्तेभ्यो भावेभ्यो वाक्येभ्यश्च फ-लमपि तथा तदनु रूपमेवेत्यर्थः । यथोद्धृतजलानि स्वप्रभवगुणसदृशानेव गुणान् विद-धते, न तु तानेव, तथा तत्तद्भावा अपि तत्तद्गुणसदृशान् गुणान् विदधते । सुधा तु सदै-करूपमेव गुणं विधत्त इति भावः ॥ २० ॥

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

उपसंहरन्ति इतीति । इतीति समाप्तौ । अनेन प्रकारेण वा । जीव आत्मा इन्द्रियाणि च तेषु गताः प्राप्ताः । अत एव भुवि आधारे नानाभावं अनेकविधं सा-त्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः, नानात्वं वा प्राप्ताः, एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणास्तेषां भावानां भगवदीयत्वात् तद्रूपत्वाद्वा । रूपतः स्वरूपतः ईदृशमिति यत् स्वरूपमिति । फलतः

इतीदृशमेतत्फलमिति निरूपिता विवेचिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

जलानामिव भावानां भेदा यत्र निरूपिताः । जलभेद इति ख्यातो ग्रन्थोयं भावबोधकः ॥१॥

श्रीविट्टलेशाङ्घ्रिसरोजपीठं कल्याणरायेण मुदा प्रणम्य ।

ताताङ्घ्रिपद्मे च गुरुन् पितृव्यान् टीका कृतेयं जलभेदनाम्नः ॥ २ ॥

श्रीगोविन्दसुतप्रोक्ता टीका रागवतां हरौ । भावपूर्णां मुदे भूयात्सुन्दरीवाल्पभाषिणी ॥३॥

मृषोधमनवद्यं वा बालसेव कृपालवः । क्षमन्तां विट्टलाधीशचरणाः प्रभवो मम ॥ ४ ॥

इति श्रीविट्टलेश्वरचरणैकतानश्रीकल्याणरायचिरचिता

जलभेदटीका सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतः ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् भगवन्तं च तद्गुणान् ।

गुणस्वभावबोधार्था या वाचस्ता उपास्महे ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिवर्धिन्यां त्यागिनां गृहस्थानां च भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणरूपं कीर्तनरूपं च साधनमुक्त्वा तदर्थमर्थबलात्कीर्तयितुः श्रोतुश्च प्राप्ते सङ्गे स किं यस्य कस्यापि कर्तव्यं उत भगवदीयत्वेन परीक्षितस्येत्याकांक्षायां यद्येकादशस्कन्धे 'स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणां, गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः, आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यङ्गसानु कौ, तमोनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वर' इति शुकवाक्ये भगवत्कीर्तेः संसाररक्तमस्तारकत्वेन कथनात्तस्याश्च गुणजन्यत्वात्तेषामपि श्रूयमाणानां कीर्त्यमानानां स्मर्यमाणानां क्वचित् दृश्यमाणानां च संसारतारकत्वमेवोचितं, भगवता तदर्थमेवानवतारदशायां कीर्तिद्वारा प्रकटनात्, 'साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा, वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदु'रिति षष्ठस्कन्धे शुकवाक्यादजामिलस्य पुत्रोपचारितनामकीर्तनमात्रेणैव संसारत उद्धाराच्च, यस्य कस्यापि सङ्गः कर्तव्य इत्यङ्गीक्रियते, तदा 'मिक्षाशया ये गृह्णन्ति मम नामानि चार्जुन, अमुख्यास्ते जनाः पार्थ दूरतः परिवर्जये'दित्यादिपुराणवाक्येषु निन्दास्मरणस्य, सप्तमस्कन्धे समाप्तौ, 'अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हण' इत्यादिभिर्नारदेन स्वपूर्वजन्मवृत्तान्तकथने गायतो गतस्य मत्त्वस्त्रीपरिवृत्तस्वपुरुलम्पटत्वैः स्वस्य विश्वसृग्दत्तशापकथनस्य च कथमविरोधः । किञ्च, प्रथमस्कन्धे नारदेन स्वस्य शूद्रजन्मनि योगिसङ्गतदुक्तभगवत्कथाश्रवणाभ्यां स्वस्य म-

गवद्रत्यादिकथनं, एकादशस्कन्धे च भगवता कथाश्रवणाद्यर्थं सत्सङ्गस्यैव कथनं च कथं सङ्गच्छते, तथा गुणकर्मानुरूपभगवन्नामोच्चारयितृणां भिक्षाशामात्रेण कथं निन्द्यत्वं, गुणगातुरुपबर्हणस्य च कथं विश्वसृग्भ्यः शापः । किञ्चैवं भावभेदेन नामाहुच्चारयितृणां गुणगातृप्रभृतीनां च स्वरूपभेदे फलभेदे चावगम्यमाने कथं द्विविधवाक्यानामविरोध इति सन्देहे स्वीयानां जाते तद्धारणार्थं 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् स' इति न्यायेन भगवानाकाशादिभूतेष्वधाधारेषु तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तत्कार्यं करोति, तथा भगवद्गुणा अपि भगवद्भूत्वाद्भौतिकेषु तत्तद्भावरूपेष्वधाधारेषु तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तद्भावानुसार्यैव कार्यं कुर्वन्तीति भगवद्गुणानामाधारवशेन फलतः स्वरूपतश्च नानाप्रकारतां वदिष्यन्तस्तदाधारनिरूपणं प्रतिजानते नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।

भावान्विशतिधा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिं 'हराम्यघं यत्सर्वदृणा'मिति' भारतवाक्यात्स्मरतामघहर्तारं भगवन्तं नमस्कृत्य, तद्गुणानां तच्छब्दस्य सन्निहितपरामर्षित्वात्तस्य हरेः गुणानामुत्कर्षाधायकानाम् धर्माणां विभेदकान् विशब्दो नानार्थः नानाभेदजनकान् विशतिप्रकारेण भिन्नान्, सर्वसन्देहवारकान् गुणस्वरूपफलविषयकाः सर्वे पूर्वोक्तप्रकारका अन्ये च ये तादृशाः सन्देहास्तेषां निवर्तकान् भावान् जीवानां मनोविकारान् वक्ष्ये कथयिष्यामि । अत्र सर्वसन्देहवारकानितिविशेषणेन सन्देहनिवृत्तिरूपफलसूचनात्तदर्थं गुणाधारभूतान् भावान् वक्ष्यामीत्यर्थः । न चात्र गुणेषु तदभिध्यानन्यायाङ्गीकारे किं मानमिति शङ्क्यम्, उपसंहारवाक्ये, 'इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवी'त्यत्र जीवेन्द्रियगतानां नानाभावप्राप्तिकथनेन तदभिध्यानसूत्रोक्तन्यायस्यैव सूचितत्वादिति ॥ १ ॥

नन्वाधाराणां जीवेन्द्रियधर्मत्वेनानन्यात्कथं विशतिधाभिन्नत्वमेव प्रतिज्ञायत इत्याकांक्षायां बोधसौकर्यार्थं श्रौतवासनया दृष्टान्तेन तथा भिन्नत्वं बोधयन्त्यर्धेन गुणभेदा इत्यादि ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ॥ १ ॥

तुः शङ्कानिरासे, उक्तसंख्याविषयिणी शङ्का न कार्या, हि यतो हेतोः गुणभेदास्तावन्तः यावन्तः यत्संख्याकाः जले मताः श्रुतिसंमताः । तथा चाधारानन्येपि यथा जलस्य विशतिभेदास्तथा गुणानामपि । जलं हि शैत्यगुणकं स्वच्छं अव्यक्तमधुररसं सर्वशोधकं स्वसम्बन्धेन द्रव्यान्तरस्य भूयस्त्वापादकमाप्यायकं च स्वभावतः सदपि यादृगाधारे पतति तादृक्स्वभावं लोके भवति, गुणदोषौ च जनयति, तथा गुणा अपि स्वभावत एकविधा आनन्दरूपाः ब्रह्मणः सकाशात्प्रकाशाश्रयन्यायेन भिन्नाभिन्ना अप्यनेकस्वभाववत्तामनेकगुणदोषवत्तां चापद्यन्त इति तद्दृष्टान्तेन तथोच्यते । श्रौतदृष्टान्तस्यैवं बोधार्थमङ्गी-

कारादित्यर्थः । तत्र तैत्तिरीयसंहितायां सप्तमकाण्डे 'कूप्याभ्यः स्वाहा, कूल्याभ्यः स्वाहा, विकर्ष्याभ्यः स्वाहा, अवघ्याभ्यः स्वाहा, खन्याभ्यः स्वाहा, हृद्याभ्यः स्वाहा, सूद्याभ्यः स्वाहा, सरस्याभ्यः स्वाहा, वैशन्तीभ्यः स्वाहा, पल्वल्याभ्यः स्वाहा, वर्ष्याभ्यः स्वाहा, अवर्ष्याभ्यः स्वाहा, हादुनीभ्यः स्वाहा, पृथ्व्याभ्यः स्वाहा, स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा, स्यावराभ्यः स्वाहा, नादेयीभ्यः स्वाहा, सैन्धवीभ्यः स्वाहा, समुद्रियाभ्यः स्वाहा, सर्वाभ्यः स्वाहेति मन्त्रेषु विंशतिविधा आप अपां होमे उक्ताः ॥ १३ ॥

तत्र प्रथमं कूप्या उक्ता इतीहापि कूपसमानं गुणाधारं प्रथममेकेनाहुः गायका इत्यादि ।

गायकाः कूपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः ।

गायका गानकर्तारः कूपसंकाशाः कूपोपमाः, कूपाश्च केचिदुत्तमाः यथा स्कान्दे पुरुषोत्तममाहात्म्ये, 'न्यग्रोधादुत्तरे कूपः सर्वतीर्थमयोस्ति वै,' यथा च द्वारकायामवन्त्यां च दामोदरकूपः, केचिच्च कदाचिदुत्तमाः, यथा ब्रजे गोपकूपः, 'सोमवत्याममायामेव सर्वतीर्थमयो नान्यदा', एवं साधारणा अप्रयोजकाश्च ज्ञातव्याः, तथा गायका अपि, तेषां न साधारणाः, किन्तु गन्धर्वा इति पुराणे वेदे च श्रुताः विशेषेण प्रसिद्धाः । तु पुनः यावन्तः कूपभेदास्तावन्तस्ते गन्धर्वा अपि संमताः सम्यग्विचारिताः । तथा च कूपे भवाः कूप्यास्ता यथा कूपरूपाधारभेदेन रूपतः फलतश्च नानाविधा भवन्ति, एवं गन्धर्वैर्गीयमाना गुणा अपि गन्धर्वस्य भगवद्भक्तत्वे तदभक्तत्वे साधारणत्वे लम्पटत्वादिदोषविशिष्टत्वे च तद्भावसमानाकारा भवन्तस्तदनु रूपमेव फलं जनयन्ति । एतेनोपबर्हणस्य शापोऽन्येषां गन्धर्वाणां शापाभावः 'भिक्षाशया ये गृह्णन्ती'तिवाक्यं च समर्थितं ज्ञेयम् । तेन 'गुणगाने सुखावासि'रित्यादिना निरोधलक्षणग्रन्थे गुणगातृणां स्वरूपफलोत्कर्षां यावुक्तौ तावपि 'निवृत्ततर्पणरूपगीयमाना'दिति श्लोकोक्तरीतिकेष्वेव पर्यवस्यत इति बोधितम् । इदं 'पूर्णा भगवदीया य' इत्यत्र स्फुटिष्यति ॥ २३ ॥

कूल्याभ्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य द्वितीयं भावमाहुः कुल्या इत्यादि ।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

श्रुतौ कूल्या इति दीर्घः छान्दसो वर्णविकृतिरूपः । पौराणिकाः कुल्याः प्रोक्ताः 'कुल्या स्यात् कृत्रिमा सरि'दिति कोशात् महतो जलाशयात् अन्यत्र जलानयनार्थं या कृत्रिमा नदी क्रियते सा कुल्या । पौराणिकाः पुराणवाच्यितारस्ताः प्रोक्ताः । अत्रोपमावाचकपदाभावाद्भूपकं ज्ञेयम् । 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते' इति काव्यादर्शे लक्षणात्तत्रापीदमाधिक्यन्यूनत्वयोरनुक्तत्वादनुभयोक्तिरूपकं ज्ञेयम् । केषाञ्चिदलङ्काराणां किञ्चित्प्रयोजनार्थं शास्त्रेऽङ्गीकारस्यानुमानिकसूत्रे तद्विषयश्रुतौ च दर्शनादिति । एवमत्रेपि बोध्यम् । पौराणिकानां कुल्यातौल्ये हेतुगर्भं विशेषणमाहुः पारंपर्ययुता भुवीति । तथा

च सूमिष्टत्वात्परंपरया मूलसम्बन्धाच्च ते कुल्यातुल्या इत्यर्थः । तेन यादृश्य आपः कुल्यायां भवन्ति तादृशस्तेषां भावः । ता यथा नद्यादिरहिते देशे कृत्रिमोपायेन नीताः प्रवहन्त्यः पानस्नानाचमनादिरूपपरोपकाराय भवन्ति, तथा तेषां भावोपि । पात्रे माघघ्राहात्म्ये वैश्यं प्रति देवदूतवाक्यजाते 'विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये । पुराणसंहितां ये च श्रावयन्ति पठन्ति च । व्याकुर्वन्ति स्मृतिं ये च ये धर्मप्रतिबोधकाः । वेदान्तेषु निविष्टा ये तैरियंजगती धृता । तेषामभ्यासमाहात्म्यैः सर्वे ते हतकिल्बिषाः । गच्छन्ति ब्रह्मणो लोकं यत्र मोहो न विद्यते । ज्ञानमज्ञाय यो दद्याद्वेदशास्त्रसमुद्भवं । अपि देवास्तमर्चन्ति भवबन्धविदारक'मिति पौराणिकानामुत्कृष्टत्वकथनात् । अत्र भुवीतिकथनात् पूर्वश्लोकोक्ताः स्वर्गस्था इति बोधितम् । अन्यथा तद्वैश्वर्यापातादिति ॥ ३ ॥

अतः परं 'विकर्ष्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य तृतीयं भावमाहुः क्षेत्रेत्यादि ।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

च पुनः ते पौराणिका अपिशब्दाद्गन्धर्वाः क्षेत्रप्रविष्टाः, क्षेत्रशब्देन यथा केदार उच्यते, तथा 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रिति कोशात् 'बलेः क्षेत्रे महीसुज' इति 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयत' इत्यादिवाक्याच्च शरीरपद्म्यावप्युच्येते । एवं सति कृत्रिमजलमार्गे कृते तद्वारा केदारप्रविष्टाः कुल्याया आपो यथा उप्तस्य बीजस्य वृक्षस्य वा यः संसारः अभिवृद्धिः तदुत्पत्तिहेतवो भवन्ति, तथा पौराणिका गन्धर्वाश्च स्वदेहे पत्न्यां वाभिनिविष्टाः संसारस्याहन्ताममतात्मकस्योत्पत्तिहेतवो भवन्ति । अतस्तेषां भावो विकर्ष्यातुल्यः । कृ विश्लेषे, सदोरप्, विशेषेण विविधं वा कीर्यते विश्लेष्यते असौ विकरः, केदारे कुल्याजलानयनार्थं कृतो मार्गस्तत्र भवाः विकर्ष्याः, ता यथा क्षेत्रिभिः स्वान्नसिद्धयर्थं यतस्ततो नीयन्ते तथा तद्भावो अपीति । तादृशा गन्धर्वपौराणिकाः विकरतुल्या इत्यर्थः । एवं च द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां कामनाकरणमुपक्रम्य 'वसुकामो वसून् देवा'नित्यस्य द्वितीयव्याख्याने यदुक्तम् । 'एवं धनस्यापि, भगवद्भक्तैश्चानत्यर्थं श्रवणादिसिद्धयर्थं उपदेशनार्थं वा देयमपेक्ष्यते, साधनरूपश्रवणादिकं तादृशैरेव भवती'ति । तत्रापि धनदातुः सत्फलं प्रतिगृहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः । 'भिक्षाशये'ति वाक्यात् । यदि तु तत्रविचारार्थमुदरभरणोपयोग्यन्नमात्रं गृह्णाति, तदा तु तीर्थपर्यटितृवन्न दोष इति बोध्यम् । एतदपि तदा यदा पौराणिकानां पारंपर्ययुतत्वं भवति । तदभावे तु वक्तृश्रोत्रोरुभयोरपि संसार एव । स्वबुद्धान्यथाव्याख्यानान्यथाबोधयोः संभवाच्चेति ज्ञेयम् । ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे 'कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलम् । कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिते'ति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, 'मन्नामविक्रयी विप्रो न हि मुक्तो भवेत् ध्रुवं । मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते' इति श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्याच्च, नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः । तत्र

शिष्योपद्वैकितग्रहणेन नामविक्रयसंभवादिति चेत् । सत्यम् । तथापि गुरुत्वस्य साहजिक-
ब्राह्मणवृत्तित्वेनात्याज्यत्वात्, 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् । सर्वात्मना हि
दोषेण धूमेनाशिरिवावृता' इति भगवद्वाक्यात् । श्रुतावपि षडाचार्यब्राह्मणारम्भे जनक-
समीपे याज्ञवल्क्य आगते जनकेन, 'याज्ञवल्क्य ! किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्न'
'एवं ता'निति गोर्थं सूक्ष्मवस्तुनिर्णायकप्रश्नान्मत्तः कारयितुं वागतोसी'ति पृष्ठे या-
ज्ञवल्क्येन 'उभयमेव सम्रा'डित्युक्त्वा, राजप्रश्ने अब्रवी'न्म उदङ्कः शौल्वायन' इत्यादिना
प्राणब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन हस्त्यृषभसहस्रं ददामीत्युक्ते याज्ञवल्क्येन 'पिता मे-
मन्यत नाननुशिष्य हरेते'त्युक्त्वा पूर्णं ब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन विदेहाः स्वात्मा
च याज्ञवल्क्याय समर्पितः, तदा याज्ञवल्क्यस्तदङ्गीकृतवानिति श्रावितत्वेन ब्रह्मविद्योप-
देशोत्तरं शिष्योपद्वैकितग्रहणस्य प्राप्ततया तन्नयायस्यात्रापि वक्तुं शक्यत्वाच्च । किञ्च,
गीतायामेव सहजकर्मात्यागमुक्त्वा, 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्य-
सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छती'त्यत्र असक्तबुद्धित्वादिभिस्तत्कर्मसंन्यासेन नैष्कर्म्यसि-
द्धिप्राप्तिं कथयता भगवता तद्वेषपरिहारोपायस्योक्तत्वाच्च तथा करणे दोषाभावादिति ।
एवञ्च यत्प्रभुचरणैरुक्तं 'विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः । अविचारितदानेन स्वयं
दाता विनश्यती'ति । तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य चोद्धारं विचार्यैव देयम् । लोभादविचा-
रितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयमपराधभाभवतीत्यर्थो ज्ञेयः । प्रकृतमनुसरामः ।
तेन गन्धर्वाणां पौराणिकानां च सङ्गस्तत्स्वरूपं विचार्य कार्यं इति बोधितम् ॥ ३३ ॥

अतः परं 'अवद्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य चतुर्थं भावमाहुः वेद्यादीत्यादि ।

वेद्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

आदिपदेन स्वैरिणीसङ्ग्रहः । ईदृशाः गायकाः गर्तसंज्ञिकाः । गर्तलक्षणं तु कात्यायन-
स्मृतौ 'धनुःसहस्राण्यष्टौ तु तोयं यासां न विद्यते । न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ते परि-
कीर्तिताः' इति । आपः नदीसम्बन्धिन्योपि नदीशब्दवहा न, किन्तु ते जलाशया गर्ताः
शास्त्रेषु सर्वत्र कीर्तिता इत्यर्थः । तथा च 'नद्या यच्च परित्यक्त'मित्यादिवाक्यान्तरात् तज्जलं
बहुलमपि न शिष्टानां स्नानपानादियोग्यम् । तथा तादृशां भावोपीत्यर्थः । यद्वा, 'प्रह्लादो
ह वै कायाधवः विरोचन'स्वपुत्रमुदास्यत्, स प्रदरोऽभवत्, तस्मात्प्रदरस्य नाचामे'दिति
श्रुतावापस्तम्बस्मृतौ च न वर्षधारास्वाचामेत्तथा च प्रदरोदक इति तज्जलाचमननिषेधात् ।
तत्र 'प्रदरो गर्त' इति सायणीयादौ व्याख्यानात्तेषामपोऽवद्याः, न उद्यन्त इत्यवद्याः पूर्वो-
क्तश्रुतिस्मृतिभ्यां तदाधारनिन्दातः ता अपि निन्धा इत्यर्थः । तादृशां भावस्य दुष्टत्वात्तद्वीता
गुणा न समीचीनफलदाः गावृणां श्रोवृणां चेति तादृशां सङ्को न कर्तव्य इति भावः ॥ ४ ॥

अतःपरं 'खन्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पञ्चमं भावं वक्तुमन्यानपि ततो
हीनानाहुः जलार्थमित्यादि ।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

हस्तपादप्रक्षालनगण्डूषादिदुष्टजलस्य सर्वत्र प्रसाराभावार्थं ये गर्ताः कृतास्तादृशाः ।
तथा च तज्जलं न समीचां योग्यम् । जाला नीचाः गानोपजीवनेनैव ये उदरंभरयस्ते
यथा तथा तेषां भावोपीति तद्गता गुणा अपि तादृशा इति तत्सङ्को न कार्यं इति भावः ।
श्रुतौ 'अवद्याभ्यः स्वाहे'त्यनन्तरं 'खन्याभ्यः स्वाहे'त्युक्तम् । अत्र खननेन निष्पन्ना आपः
खन्या इति व्याख्यानम् । तथा सति तत्सङ्ग्रहार्थमत्रापि प्रकारान्तरेण पुनर्व्याख्येयम् ।
तुशब्देन तथा सूचनात् । तथा च नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ताः । तु पुनः नीचा
गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ता इति । एतस्मिन् पक्षे चायमर्थः । जलार्थं जलनिष्पादनार्थं
खननेन निष्पादिता ये गर्तास्ते जलार्थमेव गर्ताश्चोद्ग्राणीति यावत् । नीचा गानोपजी-
विनस्तादृशाः तेषु नीचत्वं जातिदोषः, गानोपजीवित्वं च कर्मदोष इति । चोद्गजलं पुनः
खननात्कलुषं निर्मलमपि संस्कारं विना नानाजातीयजनोच्छिष्टसंसर्गदोषाच्च यथा शिष्टायोग्यं,
तथा तद्भावनविद्यया गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्च दुष्यन्तीति तादृशामपि सङ्को न कार्यं इति
बोधितम् । एवं पञ्चविधा भावा उक्ताः । एवमत्र गातृविषयकाः सन्देहा निवारिताः ॥४३॥
अतः परं कीर्तयितृविषयकांस्तान् निवारयितुं 'हद्याभ्य स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्योत्तमं
षष्ठं भावमाहुः हृदास्त्वित्यादि ।

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता बेशन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥ ७ ॥

अत्र तुशब्दः प्रकरणं भिनत्ति । पण्डा शास्त्रजन्या बुद्धिः स्वाधीष्टार्थग्राहिका च
तद्वन्तः पण्डिताः प्रकर्षेण पुराणादिषूक्ताः । शास्त्रदर्शित्वेपि विशेषमाहुः भगवच्छास्त्रत-
त्परा इति । भगवता प्रोक्तं शास्त्रं गीताश्रीभागवतपञ्चरात्रवाराहपुराणादि तन्निष्ठाः ये ते
हृदाः । 'जलाशयो जलाधारस्तत्रागाधजलो हृद' इति कोशात् महान् जलाशयो हृदः, परं न-
थेकदेशभूतो नदीसंलग्नः । 'कालिन्द्यां कालीयस्यासीत् हृद' इति 'शुष्यद्गदाः कृशतटा
वत् सिन्धुपत्न्य' इत्यादौ तादृशेष्वेव हृदपदप्रयोगात् । तथा च तेषां भावे निविष्टा भगवद्गुणा
अपि हृद्यजलतुल्याः । तद्यथा सर्वकार्येषु स्वरूपतः प्रशस्तं फलतश्चोत्तमं, तथा तैर्विचार्य-
माणास्तेभ्यः श्रूयमाणाश्च गुणाः स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इत्यर्थः । अत्रापि 'विचारयन्ति
ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये' इति पूर्वोपन्यस्तमाधमाहात्म्योक्तं स्वरूपवाक्यं फलवाक्यं
चानुसन्धेयम् । सूद्याभ्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य तस्मादुत्कृष्टं सप्तमं भावमाहुः सन्देहे-
त्यादि । तत्र तेषु भगवच्छास्त्रतत्परेषु येऽज्ञानां श्रोतृणां भगवच्छास्त्रविषयकं सन्देहं वार-

यन्ति, ते सूदाः, सुष्ठु समीचीनं स्वादु सद्गुणं उदमुदकं येषां ते सूदाः । तत्र हेतु-
माहुः गंभीरमानसा इति । अगाधं दुरवगाहं हृदयं येषां तादृशाः । तथा च श्रोतुर्हृदयं
बुद्ध्या तदधिकारानुसारेण तद्विदितं बोधयन्ति, न तु सर्वं शास्त्रार्थमित्यर्थः । तेन यादृशं ज-
लमुक्तं तादृशस्तेषां भावः स्वरूपतः फलतश्चोत्तम इति तादृशां सङ्गः कर्तव्य इति भावः ।
अत्रापि 'पूर्वोक्तज्ञानमज्ञाय यो दद्यादिति वाक्यं 'गच्छन्ति ब्रह्मणो लोक'मिति तत्फल-
वाक्यं चानुसन्धेयम् । एवमत्र भय्यादामागीयं भावद्वयमुक्तम् । श्रीकल्याणरायास्तु 'सूदा
इत्यनेन वाप्योदा उच्यन्ते' इति पक्षान्तरमाहुः । तदा तस्मिन् पक्षे गंभीरत्वं निम्नत्वं स-
न्देहवारकत्वं च तत्र सोपानस्थानापन्नं ज्ञेयम् । तत्रैव श्रोतृणां विशेषतस्तत्सङ्गादिति ।
अतः परं 'सरस्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्यनुसारेण तत् उत्कृष्टं पुष्ट्यनुसृतमष्टमं भावमाहुः सर
इत्यादि । भगवति प्रेम्णा युक्ताः निवृत्तलौकिकरागाः, तथा पूर्वोक्तवत् बुधाः भगवच्छ-
लतत्पराः श्रोतुः सन्देहवारकाः ये ते सरःकमलसंपूर्णाः, सरसि यानि कमलानि तैः स-
म्पूर्णा सम्यग्भरिता या आपस्तादृशाः । न च श्रुतौ सरस्यापदेन सरोधिकरणकत्वमात्रला-
भादत्र कमलसम्पूर्णत्वस्य कुत उक्तिरिति शङ्क्यम् । सरस्यापदस्य 'सारसं सरसीरूह'मिति
कमलनामस्मारणेन तत्संबन्धार्थमेव तत्प्रयोगात् । अन्यथा हृद्यासूद्याभ्यां विशेषाभावात्तद-
नुल्लेखापत्तेरिति बोध्यम् । अत्र पूर्वं जलधाराणां दृष्टान्तत्वमुक्त्वात्र यदाप एव दृष्टान्त-
त्वेन सूचितास्तेन तेषां भावव्याप्तत्वं सूच्यते । तथाच यथा ता आपः सौगन्ध्यभ्रमर-
शंकारप्रभृतिभिः सर्वेन्द्रियाह्लादिन्यस्तथा तेषां भावोपि श्रोतृषु ज्ञानभक्ती संक्रामयन्
तेषां सर्वेन्द्रियाह्लादी भवति, फलतश्चोत्कृष्यत इति तद्वता गुणास्तथेत्यर्थः । अत एवैका-
दशस्कन्धे संवादसमाप्तौ भगवतोक्तं 'य एतन्मम भक्तेषु संप्रदद्यात्सुपुष्कलं, तस्याहं
ब्रह्मदायस्य दद्याम्यात्मानमात्मने'ति । अतःपरं 'वैशन्तीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य ततो
न्यूनं नवमं भावमाहुः अल्पश्रुता इत्यादि । अल्पं श्रुतमध्ययनं श्रवणं वा सत्पुरुषवा-
क्यसम्बन्धि येषां ते अल्पश्रुताः भगवद्विषयकप्रेमयुक्ताश्च । ते वैशन्ताः अल्पसरस्तुल्याः ।
'वैशन्तः पल्वलं चाल्पसरे' इति कोशात् । 'विश प्रवेशने विशन्त्यस्मिन् भेकादय' इति
निरुक्तेश्च । अत्र चाल्पश्रुतप्रेमयुक्तपदयोः समभिव्याहाराद्भक्तावपि स्वल्पत्वं सूच्यते । तेन
'वैशन्तीभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्युक्ता या आपस्तत्तुल्यस्तेषां भाव इति बोधितम् । तथा च
प्रेमवत्त्वेन पूर्वोक्तजातीयत्वेप्यल्पत्वाद्यथा तज्जलं महिषादिभिरवगाढं कलुषं भवति, तथा
तद्भावोपि श्रुतप्रेम्णोरल्पत्वाद्द्विजातीयशास्त्रादिसंसर्गेण कलुषितो भवतीति तत्सङ्गोऽप्रयोजकं
इवेत्यर्थः । अतः परं 'पल्वल्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्यनुसृतं वैशन्तसजातीयं दशमं भावमाहुः
कर्मत्यादि । श्रुतं च भक्तिश्च श्रुतभक्ती, तथा पूर्वोक्तवदल्पे श्रुतभक्ती येषां ते तथाल्प-
श्रुतभक्तयः । पूर्वोक्तादिशेषः कर्मशुद्धा इति । भगवदर्पितेन फलासङ्गरहितेन कर्म-
निर्हीरोदेशतो वा कृतेन कर्मणा शुद्धाः तदनु रूपचित्तशुद्धियुक्ताः पल्वलानि । वैशन्तपल्व-

लयोः शक्यतावच्छेदकतौल्येपि श्रुतौ 'पल्वल्याभ्यः स्वाहे'ति निर्देशभेदात् पलगतौ पलति
पल्यते वेति निरुक्तिभेदाच्च तयोः कश्चित् भेदो वाच्यः । स चात्र कर्मशुद्धिभेदादवग-
न्तव्यः । तेनैवं पूर्वस्मादाधिक्येपि गन्तृत्वान्महिषादिगम्यतया कालुष्याच्च तत्तुल्यकक्षत्वमेव ।
तथा च तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति तत्सङ्गोऽप्रयोजक इवेत्यर्थः । एवमत्र कीर्तयितृविषयकाः
सन्देहा निवारिताः । कीर्तयितृषु च श्रोतृणामुपकाराय वाच एव प्राधान्यात्तस्माच्च बहि-
रिन्द्रियत्वात्तदाधारभूतस्थूलदेहे प्राधान्येन गुणाधारा एव जलाधारसाम्येन निरूपिताः ।

अतः परं भावयितृविषयकान् सन्देहान् वारयितुं तेषु लिङ्गशरीरस्य मनस एव
प्राधान्याद्गुणा विशेषतो बहिर्न निर्गच्छन्तीति दुर्लभत्वाद्गुणानामेव जलतुल्यत्वं निरूपयन्तो
'वर्ष्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पूर्वस्माद्विलक्षणमेकादशं भावमाहुः योगेत्यादि ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो, यमाद्यष्टाङ्गसहितः । यथा द्वितीयस्कन्धे प्रथमाध्याये 'गृहा-
त्प्रव्रजितो धीर' इत्यादिना स्थूलभगवद्विषयकधारणानुक्तः । 'यतः सन्धार्यमाणयां यो-
गिनो भक्तिलक्षणः । आशु संपद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षत' इत्यनेन तस्यापि भक्तिसा-
धकत्वोक्तेः । ध्यानं सप्रयत्नश्चित्तव्यापारः । यथा 'केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं
पुरुषं वसन्तम् । चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ती'त्यादिषुक्तं, आदिपदेन
धारणा, एतैस्त्रिभिः समुच्चितैरेकैकेन वा संयुक्ता भगवतो गुणा योगप्रभावादयो रूपली-
लादयश्च । कपिलदेवैः 'स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशय'मिति ध्यानविषये लीला-
नामप्युक्तत्वात् । तादृशा गुणा वर्ष्याः वृष्टिर्वर्षस्तत्सम्बन्धिन्य आपो वर्ष्याः, ता यथा
दिव्याः भूमौ पतन्त्यो जलाशयान् स्वकाल एव भरन्ति, तथा योगादियुक्ता भगवद्गुणा
अपि योगिषु वर्तमानाः भूमौ दुर्लभाः अधिकारिविशेषान् कृतार्थयन्ति, न सर्वानित्यर्थः ।
यद्यपि वृष्टिजलं क्षेत्रादौ पतितं सत् संसारहेतुर्भवति, तथापि सौंशो नात्र दृष्टान्तफल-
तयाभिप्रेतः । तेषां योगित्वादान्तर्निष्ठत्वेन तथात्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, कुयोगित्वापा-
तेन विदूरकाष्ठत्वापाताच्च, 'वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे, पञ्चपर्वेति विद्येयं
यया विद्वान् हरिं विशेदि'ति निबन्धे योगस्य विद्यापर्वत्वेनोक्ततयात्रोत्कर्षार्थं तद्ग्रहणाच्च ।
दार्ष्टान्तिकतयात्र गुणानामेवोक्तत्वाच्च । अन्यथा तु भावकथनस्योपक्रान्तत्वेन तद्विरोधाप-
त्तेश्च । तस्मात्पूर्वोक्तमेव दृष्टान्तफलं ग्राह्यम् । इतः पूर्वं कर्मशुद्धानामुक्तत्वाद्वा तत्प्रस-
ङ्गेन योगस्मरणं, योगस्यापि कर्मविशेषत्वादिति ॥ ७ ॥

अतःपरं 'मवर्ष्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य कर्मसम्बन्धिनमेव द्वादशं भावमाहुः तप इत्यादि ।

तपोज्ञानादिभावेन खेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

तुः प्रकरणभेदकः । 'तप सन्तापे,' शरीरेन्द्रियादिकं तपति यत्कर्म कृच्छ्रचान्द्राय-
णानशनादिरूपं तत्तपः, ज्ञानं सेश्वरसांख्यादिसिद्धं, आदिपदेन त्यागः, तेषां भावेन वि-

द्यमानतया संयुक्ता ये गुणास्ते स्वेदजाः प्रकीर्तिताः । अत्र योगध्यानादिसंयुक्तपदैकदेश-
भूतं संयुक्तं पदमनुषजते । तथा च तादृशा गुणाः स्वेदजाः प्रकीर्तिताः, 'ष्विदा गात्रप्रक्ष-
रणे,' धर्मश्रमादिना सन्ततादात्रात्प्रसृतं यज्जलं सः स्वेदस्तस्माद्जाता वर्षजलभिन्नत्वेपि
बिन्दुरूपत्वाद्द्वर्ष्यतुल्या अवर्ष्याः या आपो वस्त्रादावेकीभूतास्तत्तुल्याः । ता यथा न समी-
चीनव्यवहारयोग्याः, किन्तु तद्गात्रस्यैव तापनिवारिकाः, नान्यस्य, एवं तद्गता गुणा अ-
पीत्यर्थः । तेन तादृशमपि सङ्गो न प्रकृतोपयोगी । तपआदिष्वेव विशेषाभिनिवेशेन
गुणानां गौणत्वात्कचिन्मुख्यत्वेपि प्रकृतानुपयोगित्वादिति । अवर्ष्यत्वं च वर्ष्यभिन्नत्वे
सति तत्समानत्वं, तच्च भूयः प्रक्षरणाद्बोध्यम् ।

सायणीये तु वर्ष्यनैरपेक्ष्येण भूमाववस्थिता अवर्ष्या इति व्याख्यातम्, तन्नास्माकं
रोचते । पर्युदासस्य सद्यग्राहित्वेन भूमाववस्थिते तत्सद्यत्वाभावात् । अतस्तदर्थं तत्र
स्वेदजलमेव ग्राह्यं, भूयः सादृश्यादिति ॥ ८ ॥

अतःपरं 'हादुनीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य कीर्तयितृनिष्ठमुत्कृष्टं त्रयोदशं भावमाहुः
अलौकिकेनेत्यादि ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

तुः पूर्वोक्तसादृश्यभेदकः । अलौकिकं भगवत्कृपाजन्यं महदनुग्रहजन्यं वा
अलौकिकार्थप्रकाशकत्वालोकविलक्षणं यत् ज्ञानं, तेन प्रत्यासत्तिभूतेन मनसि तेषां भाना-
त्तेनैव श्रोतुरधिकारस्यापि भानात् प्रकर्षेण तदधिकारानुसारेणोक्ताः कादाचित्काः श्रोतृणां
कस्मिंश्चित्कालविशेष एव बुद्धिगोचराः शब्दगम्या आसवाक्यादेव ज्ञायमाना ईदृशा ये हरेः
सर्वदुःखहर्तृगुणाः रूपलीलाविशेषाः प्रकर्षेण कीर्तिताः । 'पल्ल गतौ,' पतन् सर्वतो गच्छन्
शब्दो हादो यासामपां ताः पतच्छब्दास्तादृशाः प्रकर्षेण कीर्तिताः । तथा च भगवतो रहस्या
ये गुणास्ते तादृशेभ्य एव कीर्तयितृभ्यः श्रोतृभिः प्राप्यन्ते, न सर्वैः । अतस्तादृशाधिकारस-
म्पत्तौ तादृशां कीर्तयितृणां सङ्गः सर्वथा कार्य एवेति भावः ॥ ९ ॥

अतः परं 'पृष्ठाभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य चतुर्दशं जघन्यं भावमाहुः देवेत्यादि ।

देवानुपासनोद्भूताः पृष्ठा भूमरिवोद्भूताः ।

देवः श्रौताः शैवाणिकान् शिवान्दिगुणपतिप्रगृह्य आदिशब्देनान्ये पितृ-
मात्रादयस्तेषामुपासनं स्वरूपचिन्तनं सेवनं वा तेनोद्भूता उपासके उद्भूताः स्वयम-
न्यैश्रानुभूयमाना इति यावत् । ईदृशा ये गुणाः ज्ञानबलसामर्थ्यादयस्ते पृष्ठाः अवश्याय-
जन्या आपः पृष्ठा इति सायणभाष्ये व्याख्यातं, तत्तुल्याः । ता यथा पाषाणभूमौ पतिताः,
तत उद्भूता इव भासन्ते, न तु तास्तदीयाः, एवं तेषुपि गुणा भगवदीया एव, 'यद्यद्विभूति-
मत्सत्त्वं श्रीमद्भूजितमेव वा, तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽसम्भव'मिति गीतावाक्योक्त-

न्यायात् । परन्तु तानुपासकाः स्वीयत्वेन देवीयत्वादिना वा भ्रमान्मन्यन्ते, तेन च उत्सिन्यन्ते
साहंकारा भवन्तीति यावत् । अतस्तेषां स्वरूपं फलं च जघन्यमेव । नीहारेण प्रावृता इति
श्रुतौ नीहारस्य ज्ञानतिरोधायकत्वेनोक्तत्वादिति तेषूत्कर्षबुद्धिस्तादृशां सङ्गश्च न कार्य इत्यर्थः ।

अतःपरं 'स्यन्दमानाभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पञ्चदशं भावमाहुः साधनेत्यादि ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

साधनानि वर्णाश्रमधर्मास्ते आदयो यस्य तादृशो यः प्रकारो मर्यादामार्गीयो
निष्कामतत्करणरूपस्तेन प्रकारेण यो नवधा भक्तिमार्गः । 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः
स्मरणं पादसेवनं । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसापिंता विष्णौ
भक्तिश्चेन्नवलक्षणे'ति वाक्योक्तो मार्गो भगवत्प्राप्त्युपायः । ततो या प्रेम्णः भगवद्भक्ति-
रूपस्य पूर्तिर्हृदये व्याप्तिस्तया कृत्वा स्फुरन्तो भगवद्धर्मा येषु ते स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।
स्यन्दू प्रसवणे, प्रसवणरूपा या आपस्तादृशाः । ता यथा स्नानपानाचमनादौ प्रशस्ताः
स्वसंयुक्तां भूमिं शीतलां कुर्वन्ति, सर्वानुपकुर्वन्ति च, तथा तादृशगुणाधाराः पुरुषा अपि
पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वान् श्रोतृन् द्रष्टृश्च स्वात्मनश्च भगवदुपयोगिनः कुर्वन्तीति तादृशां
सङ्गः कार्य इत्यर्थः ॥ १० ॥

अतःपरं 'स्थावराभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य षोडशं भावमाहुः यादृशा इत्यादि ।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥

स्थावरास्ते मया ख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

यादृशाः साधनादीत्यारभ्य धर्मा इत्यन्तेन यत्प्रकारकाः सिद्धास्तादृशास्तत्प्रका-
रकाः सन्तः प्रोक्ताः प्रकर्षेण शास्त्रे उक्ताः, ये गुणाधारा वृद्धिक्षयविवर्जिताः न वर्धन्ते,
न वा क्षीयन्ते, किन्त्वेकरूपास्तिष्ठन्ति । किञ्च, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः । 'एके मुख्यान्यके-
वलाः' मर्यादायामेव एके च ते प्रतिष्ठिताश्च एकप्रतिष्ठिताः मुख्याः प्रतिष्ठां च प्राप्ताः ते
गुणाधारा मया स्थावरा एकत्र प्रतिष्ठिता या आपस्ताः स्थावराः तत्तुल्याः ख्याताः प्रकथिताः ।
ता यथा एकत्रैव तिष्ठन्ति स्वाधारमेव च शीतलीकुर्वन्ति, गुणवत्तया ख्यापयन्ति च ।
ननु सत उद्यम्यान्यानुपकुर्वन्ति, तथा ते गुणाधाराः पुरुषा अपि स्वसम्बद्धान् स्वाधारं
च ख्यापयन्ति । तेन तादृशां सङ्गस्तावन्मात्रगुणकः, न तु विशेषानुग्रहफलक इत्यर्थः ।
अत्र मयेत्युक्त्या नान्येषां सम्मतिरिति बोधितम् । अन्येषां मर्यादाप्रतिष्ठितत्वेन पुष्टि-
स्वरूपस्याज्ञानान्मर्यादादिकेषूत्कर्षबुद्धेरिति ॥ ११ ॥

अतःपरं 'नादेयीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य सप्तदशं भावं सार्धेनाहुः अनेकेत्यादि ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

अनेकेषु जन्मसु संसिद्धाः सम्यक्सिद्धाः पूर्वानुरूपतया सिद्धाः । जन्मप्रभृतीति क्रियाविशेषणम् । एतज्जन्मारभ्य, सर्वदा सर्वस्मिन्काले सङ्घातगुणदोषाभ्यां, आदिशब्देन कालकर्मदेशस्वभावास्तत्कृतौ यौ गुणदोषौ ताभ्यां कृत्वा भुवि भवनं भूः उत्पत्तिर्विद्यमानता वा तस्यां वृद्धिक्षययुताः सत्सङ्गेन समीचीनदेशकालकर्मस्वभावैर्वृद्धिमन्तः दुःसंगादसमीचीनकालकर्मदेशस्वभावैः क्षयं प्राप्नुवन्तः, ईदृशाः सन्तोपि निरन्तरोद्गमयुता निरन्तरो यदुद्गमः प्रवाहस्तेन युतास्तादृशा ये गुणास्ते नादेयीनामपामाधारभूता या नद्यस्तत्तुल्याः कीर्तिताः । तथा च नद्यो यथा काश्चित्स्वभावतः शुभाः काश्चिद्दुष्टाः, यथा गङ्गादयः, कर्मनाशायश्च, काश्चन कालतः, यथा 'कलौ वेन्नवती गङ्गे'ति । गङ्गा च न पूर्ववत्त्वानमात्रेण कुष्ठं हरतीति, तथा देशतः, यथा भागीरथी महानदी च प्रवाहदेशभेदात् । एवं संगदापि ज्ञेयाः, यथा श्रीयमुनासङ्गेन गंगा उत्कृष्टा जाता, तासां जलं च तादृशमेव, तथा तद्भावा अपीति तन्निष्ठा गुणा अपि तत्स्वरूपा इति तादृशां संगो न निश्चयेनोत्तमफलद इत्यर्थः । अत्र च नदीनामेतावद्विशेषणकथनं दाष्टान्तिके एतेषामेव धर्माणां प्राप्त्यर्थम् । तेन भावेषु गुणेषु तदाधारेषु चैत एव धर्मा अतिदेष्टव्याः, नेतर इति सूचितम् । अन्यथैतावत्कथनवैयर्थ्यापत्तेरिति ॥ १२ ॥ १३ ॥

अतःपरं 'सैन्धवीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्याद्यादशं भावमाहुः एतादृशा इत्यादि ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

अत्रैतादृशा इत्यनेनाद्यन्तविशेषणयोः संग्रहः । स्वतन्त्रा इत्यनेन मध्यविशेषणनिरासः क्रियते । तथा चैतादृशा अनेकजन्मसंसिद्धा निरन्तरोद्गमयुताः स्वतन्त्राः जन्मप्रभृति सर्वदा संगगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षयरहिताश्चेत्स्युः तदा ते जीवाः सिन्धवः समुद्रगामिन्यो महानद्यो महानदाश्च तत्तुल्याः परिकीर्तिताः । तेषां भावो महानदीजलतुल्यः । तद्यथा दृष्टं स्पृष्टं समीचीनव्यवहारेण शुभफलं गृह्यादावानीतमपि शुभम्, तथा तद्वता गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इति तादृशां संगः कर्तव्य इति भावः ॥ १३ ॥

अतःपरं 'समुद्रियाभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य तत उत्तममूनर्विशं भावमाहुः पूर्णा इत्यादि ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥

जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

पूर्णाः ज्ञानक्रियाभक्तिसाफल्ययुक्ताः भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनः । भगवदीयशब्दो अव्युत्पन्नो वैदूर्यादिशब्दवद्ब्रह्मो 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति श्रीभागवतपञ्चमस्कन्धे प्रयोगादवगन्तव्यः । य इति दुर्लभत्वं तेषां सूच्यते । तान् गणयन्ति शेषेत्यादि । शेषः संकर्षणः सनत्कुमारोपदेष्टा । व्यासो भगवान् वादरायणः, भगवतो ज्ञानावतारः, समाधौ भगवत्स्वरूपं लीलां चानुभूय श्रीभागवतमुक्तवान्, शुकं च पाठित-

वान् । अग्निरग्निपुराणवक्ता, मारुतो वायुपुराणवक्ता, जडो रूहणोपदेष्टा, नारदः प्रसिद्ध एव, सनत्कुमारशिष्यः प्राचीनबर्हिर्गुरुः, मैत्रो मैत्रेयः विदुरोपदेष्टा, आदिपदेन शिवादिप्रसिद्धः । ते समुद्राः प्रकीर्तितास्तेषां भावः समुद्रजलतुल्यः । समुद्रजलं यथातिगम्भीरं अक्षोभ्यं रत्नानामाकरभूतं तथा तेषां भावोप्यत्यन्तगम्भीरोऽक्षोभ्यो नानाविधभावाकरश्चेति तन्निष्ठा गुणा अपि तथेति तादृशां संगः सेवा च स्वरूपतः फलतश्चोत्तमेति सा कार्येत्यर्थः ॥ १४ ॥

पूर्वं भावनिरूपणारम्भे श्रुतिपुराणसिद्धाः गन्धर्वाः 'कूपभेदास्त्वि'त्यर्थेन यथा नानाभेदा उक्तास्तथा अन्ते पुराणादिप्रसिद्धान् भगवदीयानपि नानाभेदान् द्वाभ्यामाहुः लोकेत्यादि ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

गुणातीततया शुद्धान्सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥

सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।

तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

लोकश्च वेदश्च गुणाश्च लोकवेदगुणास्तैर्मिश्रभावेन मिलितत्वेन एके मुख्यभगवदीयाः हरेः सर्वदुःखहर्तुर्भगवतो गुणान् वर्णयन्ति । यथा वाल्मीकी रामायणे रामगुणान् लोकमिश्रानुक्तवान् । यथा चाध्यात्मरामायणे शिवो रामगुणान् वेदमिश्रान् । यथा विष्णुपुराणे पराशरः सत्त्वगुणमिश्रान् । यथा च मनुःस्मृत्यारम्भे रजोमिश्रान् । 'स्वयंभुवे नमस्कृत्ये'त्युक्त्वा पश्चादग्रे सृष्टिर्वर्णयिष्यन् 'ब्रह्मा नारायणाख्यस्तु सुध्वाप सलिले तदे'त्युक्तवान् । यथा च वायुर्वायवीये शिवरूपमेव ब्रह्मत्वेनोक्तवान् । न च मनोर्भगवदीयत्वाभावः शक्यः । तृतीयस्कन्धे तस्य तथात्वसाधनात् । न वा वायोः । हनुमदवतारे तस्य रामभक्तत्वेनैव सुप्रसिद्धत्वादिति । न च गुणमिश्रवर्णने गुणाभिमानिवर्णनमिति शक्यम् । तत्र तदुक्तेषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वरेषु अभिमानित्वापादकस्य कालभयस्यानुक्तत्वात् । अतो गुणावतारा एव तत्रोच्यन्ते, न जीवाः । एवमत्र लोकवेदगुणमिश्रभावेन पञ्चैव सिध्यन्ति, न षष्ठः, अतो लोकवेदगुणैरुपलक्षितान् मिश्रभावेनोपलक्षितान् हरेर्गुणान् वर्णयन्तीति व्याख्येयम्, तथा सति संकीर्णपुराणवक्ताः षष्ठा भविष्यन्तीति तैः संख्यापूर्तिः । एवञ्च तत्तद्भावस्तत्तज्जलतुल्योवगन्तव्यः । तज्जलं यथा क्षाराम्लमादानव्यक्तमधुरस्नेहव्यक्तमधुरगुणकम्, तथा तेषां भावोपीति तन्निष्ठा गुणा अपि लोकादिप्रधानास्तदनु रूपफलदा इति तत्संगोपि तथेत्यर्थः । न च गुणाद्युपलक्षिता गुणा न मूलगुणा इति शक्यम् । 'यदादित्यगतं तेज' इति न्यायेन तेषामपि भागवत्त्वे बाधकाभावादापाततः प्रतीतेरप्रयोजकत्वाच्च, अत एव निबन्धे 'सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्ता तेषु तथोदित' इति स्थितमिति न काचिच्छङ्का । एवं षट् समुद्रतुल्यान् भगवदीयानुक्त्वा सर्वत उत्तमान् सप्तमानाहुः गुणातीततयेत्यादि । स्वस्य गुणातीततया शुद्धान् लोकवेदगुणामिश्रान् सच्चिदानन्दरूपिणः सच्चिदान-

न्दात्मकान्, विष्णोरित्यस्य वा विशेषणं, तथा च सच्चिदानन्दरूपिणो विष्णोः तादृशान् शुद्धान् सर्वान् गुणान् स्वयं गुणातीततया विचक्षणाः सर्वज्ञातारः सन्तो ये वर्णयन्ति, ते अमृतोदाः शुद्धोदसमुद्रतुल्याः सम्यक्प्रकारेण आख्याताः कथिताः । अतस्तादृशां भावो गुणातीत एवेति । तत्र भगवद्गुणा अपि स्वस्य यथावत्स्वरूपतया प्रकाशमाना भवन्तीति तेषां संगो दुर्लभ इति तद्वाक्यानां तेषां या वाचस्तासां स्वान्तःप्रवेशनं सुतरां दुर्लभमित्यर्थः । अत्र शुद्धोदा इत्यनुक्त्वा यदमृतोदा इत्युक्तं तेन श्वेतद्वीपादिपरिखाभूतावरण्याख्यौ 'अरश्च ह वैण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके' इति श्रुत्युक्तौ 'अरनामामृतांभोधिर्णयामामृतसागर' इति वाराहपुराणोपबृंहितौ समुद्रावपि संगृहीतौ ज्ञेयौ । किञ्च, 'कूप्याभ्य' इत्यादिश्रुतौ 'सर्वाभ्यः स्वाहे'ति समाप्तावुक्तम् । तत्र सर्वशब्दस्य पूर्वोक्तसंग्राहकत्वे अपां ऊनविंशति भेदा एव भवन्तीत्यभिप्रेत्य सर्वशब्दस्य समुद्रजल एव निवेशः कृतः । एतदभिप्रायेणैव 'नद्यः प्रसन्नसलिला' इत्यस्य सुबोधिन्या 'भापो बहुविधा एकोनविंशति भेदा' इत्युक्तम् । न च पूर्वं शेषादीन् सप्तोक्त्वा ततो लोकेत्यादि सार्धद्वयेन समुद्रविभागस्योक्तत्वाच्छेषादय एव सप्तात्र ग्राह्याः, नेतर इति शक्यम् । तत्र यथायथं क्रमेण ग्रहणे शेषव्यासयोः क्षारदधिमण्डोदतुल्यत्वापत्त्या प्रतिलोमग्रहणे च मैत्रेयनारदयोस्तथात्वापत्त्या निकर्षोपत्तेः । अतस्तत्राद्यशब्दोक्ता इतर एव किञ्चित्तद्धर्मसाम्येन षड् ग्राह्याः । तेन पूर्वोक्ताः सप्तामृतोदेभ्येव प्रविशन्तीति मम प्रतिभाति ॥ १५-१७ ॥

नन्वेवं सति तेषां तादृशां च दुर्मिलत्वात्तद्वाक्यानामिदानानीन्तनानां कालादिदोषदुष्टानामलभ्यमेवेति वक्तव्यं, न तु सुदुर्लभमिति शङ्कायामाहुः तादृशानामित्यादि ।

तादृशानां कचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।

अजामिलाकर्णनचन्द्रिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तादृशानामपि कचिद्भगवतोद्धार्यत्वेन विचारिते केनचिदपराधादिना भगवद्वियुक्ते पुरुषे भगवत्स्तद्द्वारोद्दिधीर्षायां वाक्यं श्रुतिगोचरं भवतीति शेषः । तत्र प्रमाणमाहुः दूतानामिव वर्णितमिति । यथा षष्ठस्कन्धे भगवद्दूतानां वर्णितं वाक्यमजामिलस्य श्रुतिगोचरमभूत्तथेदानीमपि भगवदुद्दिधीर्षाविषयस्य भवतीति नालभ्यम्, किन्तु सुदुर्लभमेवेत्यर्थः । एवं तादृशां सङ्गं तद्वागन्तःप्रवेशं च साधयित्वा श्रोतृणामुद्दिधीर्षाविशेषविषयस्वप्रकारज्ञापनाय पाने विशेषमाहुः अजामिलेत्यादि । अजामिलेन यथा यमदूतान् प्रत्युच्यमानं भगवद्दूतवाक्यमाकर्णितं, तथा चेदाकर्णयेत्तदाकर्णनं चिन्दुपानं प्रकीर्तितम् । जलचिन्दोर्यथा पानं न तृप्तिदं, किन्त्वीषत्सुखदं, तथा स्वोद्देशेनान्यान् प्रत्युच्यमानं तदुद्देशेन वा तान् प्रत्युच्यमानं स्वयमाकर्णयेत्तदा तद्विन्दुपानतुल्यं स्वदोषज्ञानेन सांसारिकग्लानिजनकं पश्चाज्जन्मान्तरे भगवत्प्राप्तिफलकं चेत्यर्थः । यदा त्वेतदुद्देशेनैव

भगवद्गुणबोधकं वाक्यममृतोदतुल्यैरुच्यते, तदा त्विहैव भगवत्प्राप्तिफलमिति तत्स्वरूपमाहुः रागेत्यादि ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।

तदा लेहनमित्युक्तं खानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

रागश्च अज्ञानं च ते आदिर्येषां तादृशा ये भावाः कामक्रोधादिविकारभाजस्तेषां यदा नाशनं निवृत्तिरमृतोदानां वाक्येन भवतीति शेषः । तदा तद्वाक्यानां तत्कालमेव स्वगुणं जनयलेहनमित्युक्तं, लिह आस्वादनं, आस्वादनमित्युक्तम् । तत्र हेतुः । खानन्दोद्गमकारणमिति । स्वस्य भगवतो य आनन्दः स्वरूपात्मको लीलात्मको वा तस्य य उद्गम उच्चैः प्राकट्यं तस्य कारणं, तथा चैवं दोषनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दसाधकत्वात्तत्पानं लेहनरूपमित्यर्थः । एवमपां ऊनविंशतिभेदपक्षादरणेन सर्वे भावास्तद्वन्तो जीवास्तद्गता गुणाश्च प्रपञ्चेन निरूपिताः ।

अतः परं सायणीये 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यस्य तद्व्यतिरिक्ता इत्यर्थं उक्तं इति तमनुसृत्य पूर्वैभ्योतिरिक्तं विंशं भावमाहुः उद्धृतेत्यादि ।

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं वापि तथा ततः ॥ २० ॥

सर्वे पूर्वोक्तातिरिक्ता ये गुणा भावास्तदाधाराश्च ते उद्धृतोदकवत् कूपतडागादिस्यः पात्रेषूद्धृतं यदुदकं तद्वत्, उद्धृतं जलं यथा परिमितं यादृशभाण्डस्थं तदनुरोधेन शुद्धयशुद्धिमच्च भवति । कचित्किञ्चित्स्वाकारानुकार्यपि भवति । तथा ते उक्तातिरिक्ता भावा अपि परिमिता आधारानुसारेणाकारानुसारेण च शुद्धयशुद्ध्यादिभाजः । तथेति वैयधिकरण्यदृष्टान्तबोधकं, उक्तातिरिक्तानां भावाधिकरणानां वाक्यानि, पतितोदकवत् पात्रेभ्यः पतितं यदुदकं तद्वत् । पतितोदकं यत्र पतति तदाद्रीकुर्वत् कचिद्गुणं कचिद्दोषं च विधत्ते । तथा तेषां वाक्यानि आधारमाद्रीकुर्वन्ति, तदनुरोधेनैव गुणदोषकराणि । चेत्यनादरे, आत्मनः फलमपि तथा, आत्मनो गुणाधारस्य फलमपि तथा भाववदेव । चकारपाठे तु च पुनरित्यर्थो वक्तव्यः ॥ २० ॥

एवं भगवद्गुणाधारभूतान् जीवानां भावान् तदधिकरणभूतान् जीवांश्च भगवद्गुणस्वरूपफलभेदार्थं निरूप्योपसंहरन्ति इतीत्यादि ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इति उक्तप्रकारेण भुवि भूलोके जीवेन्द्रियगताः, जीवाः शरीरविशिष्टाश्चेतनाः, इन्द्रियाणि मनोवाक्चक्षुःप्रभृतीनि, तद्गतास्तेषु स्थिताः नानाभावं गताः, तत्र स्थित्यैव

रूपतः फलतश्च अनेकभावं प्राप्ताः, विष्णोर्व्यापकस्य भगवतो गुणा धर्माः निरूपिताः, नितरां कथिताः । तथा च भगवन्निष्ठत्वेनैकरूप्येऽप्याधारभेदेन तल्लिङ्गास्तदतुरूपफलाश्च भवन्तीति तदाधारस्वरूपं विचार्य तज्ज्ञानार्थं जीवसङ्गो भगवद्भक्तैर्विधेयो, नतु कथञ्चित् गुणसत्तामात्रेणेत्यर्थः । अत्रोपसंहारे गुणा निरूपिता इति कथनेन गुणनिरूपणमेव मुख्यम् । भावतदाधारनिरूपणं तु तदुपोद्घाततया प्रासङ्गिकमिति बोधितं ज्ञेयम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसंहिताचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचिता
जलभेदविवृतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतः ।

श्रीमदाचार्यचरणसरोजे शरणं सदा । तेनैव खलु तद्वाक्यभावार्थावगतिर्मम ॥ १ ॥
नानामार्गेषु विविधभावैस्ते तेऽधिकारिणः । प्रवृत्तास्तत्तदेवात्र मन्यन्ते भजनं हरेः ॥ २ ॥
अतस्तन्मार्गभावाधिकारिणां तत्स्वरूपतः । फलतश्च निजाचार्याः सन्देहविनिवृत्तये ॥ ३ ॥
वेदबोधितकूपादिजलदृष्टान्तभेदतः । विवेकं चक्रिरे तत्तद्भावार्यो हि प्रकाशयते ॥ ४ ॥

तत्र प्रथमं 'निवृत्ततर्पैरुपगीयमाना'दित्यत्र भगवद्गुणानुवादे 'आत्मघाती कर्मजडो निन्दितार्थरतः सदा । पशुस्त्री च' एतद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषां प्रवृत्तिरुक्ता । ते च मुक्तमुमुक्षुविषयिणः । तत्र मुक्तानां 'आत्मारामाश्च मुनय' इत्युक्तप्रकारेण प्रवृत्तिः । मुमुक्षूणां विहितभक्तिज्ञानयोगतपःकर्मादिसाधनप्रकारेण बहुधा सा भवति । विषयिणां तु तत्र रागादिमाधुर्यतः प्रवृत्तिर्न तु धर्मतः । तथा च, 'वेदे रामायणे चैव भारते' इत्यत्र 'हरिः सर्वत्र गीयते' इत्युक्तत्वात् सर्वत्र सर्वेषु धर्मेषु भगवद्गुणप्रवेशस्यावश्यं वक्तव्यत्वात् तेषां सर्वेषां साधनफलयोरेकरूपत्वं वा नानात्वमिति सन्देहे तन्निर्णायकं ग्रन्थं निरूपयितुं श्रीमदाचार्यचरणाः प्रतिजानते—

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।

भावात्त्रिंशतिधा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिं नमस्कृत्य भावान् वक्ष्ये । भावास्तु 'इति जीवेन्द्रियगता' इत्यत्रोपसंहारे जीवगता एवोक्ता इत्युपक्रमेति त एव ज्ञेयाः । तैरेव भगवद्गुणानामनेकरूपत्वम्, अन्यथा भगवद्गुणाः सर्वे तत्तत्स्वरूपात्मका इत्येकरूपत्वमेव, गुणगुणिनोरभेदात् । आधारगुणसम्बन्धादेव तेषां भेद इति विशेषणमाहुः तद्गुणानां विभेदकानिति । भगवद्गुणानां

स्वरूपतः पृथक्कारकान् भिन्नत्वेन ज्ञापकानित्यर्थः । अथवा स्वस्वभावानुसारेण फलसाधकान्, न तु तदनुसारेणेत्यर्थः । एतदेव भेदकत्वं भावानाम् । ते भेदाः कतीति प्रमाणमाहुः त्रिंशतिधा भिन्नानिति । तत्रापि द्वैविध्यम् । एके जीवाधिकारानुसारिणः । एके पुनः कूपया भगवदानजन्याः स्वरूपनिष्ठाः स्वतन्त्रास्ते भिन्नाः, ते एवाग्रे अमृतोददृष्टान्तेन वाच्याः । एते सर्वेपि भेदा वेदे कथिताः 'कूप्याभ्यः स्वाहा' इत्यादिना । एतद्विवेचने सर्वेषां स्वरूपज्ञानेन सर्वे सन्देहा निवर्तन्त इत्याहुः सर्वसन्देहवारकानिति । एतदर्थमेव वेदेष्युक्ताः ॥ १ ॥

नतु कूपादिदृष्टान्तेन भेदज्ञानं कथं भविष्यति तत्राहुः—

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।

गायकाः कूपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

नह्यत्र कूपादिदृष्टान्तः, किन्तु तत्तत्स्थितगुणदोषसहितजलदृष्टान्तोभिप्रेतः । तेन यावन्तो जले भेदास्तावन्तो भेदा गुणानामपि भवन्तीति भावः । तत्र प्रथमं प्रथमाधिकारित्वाद्विषयिणां भावमाहुः गायका इति । गायका भगवद्गुणगायकाः । ते तु गन्धर्वा विश्रुताः प्रसिद्धाः । तेषामयमेव सहजो धर्मः यत्सङ्गीतशास्त्रोक्तं भगवद्यशः प्रबन्धरागतानाद्यालापकुशला रागादिमाधुर्यविषयत्वेन गायन्ति, न तु भगवद्दर्भस्वरूपं ज्ञात्वा, परन्तु भृतकाध्यापनवन्न गायन्ति, तादृशास्ते कूपसंकाशाः कूपतुल्याः प्रोक्ताः । सामान्यतः कूप उक्तो, न तु गुणदोषयुक्त इति । यथा कूपो महान् रमणीयः, जलमपि समीचीनमेव, परन्तु दूरे अधस्तलं, तेनेतरविषयप्रयत्नत्यागेन रज्ज्वादिसाधनपूर्वकं तदाहरणे तत्प्राप्तं भवेत्, तथा तेषां भगवद्यशोगानं तूत्तममेव, परन्तु तस्य परमफलमन्यविषयकप्रयत्नत्यागे तदेकनिष्ठगुणगानेन प्राप्तं भवेत्, नो चेद् दूर एवेति भावः सूचितः । वस्तुस्वभावात्तथा भेदपीति सामान्यदृष्टान्त उक्तः ॥ २ ॥

एतादृशा गन्धर्वा अपि बहुविधा इति तद्भेदानाहुः—

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः ।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता सुवि ॥ ३ ॥

यथा कूपभेदा बहवस्तथा गायका अपि बहुविधा ज्ञेयाः । तानेवाग्रे 'वेश्यादिसहिता' इत्यनेन वक्ष्यन्ति । मध्ये पौराणिकान्निरूपयन्ति कुल्या इति । यद्यपि गायकप्रकरणमध्ये पौराणिकनिरूपणं न संभवति, तथापि यन्निरूपितं तत्तादृशपौराणिकानां गायकतुल्यत्वमेवेति ज्ञापनायोक्तम् । अत्रायं भावः । गानं द्विविधम् । एकं संगीतशास्त्रोक्तं रागतालमूर्च्छनादिभेदेन । अपरं वक्तृश्रोतृसङ्गावे पुराणाकथनद्वारा गुणानुकीर्तनम् । उभयेपि तत्तदुपजीविनः, परन्तु भृतकाध्यापनवन्न गायन्तीति सामान्यदृष्टान्तेन ज्ञायते । वृत्त्युपजीविनामग्रे निन्दितत्वाच्च । एवं सति सामान्यत उभयेषां समानधर्मत्वाद्गायकानां

मध्ये सामान्यतः पौराणिकानपि निरूपयन्ति कुल्या इति । तेषां पुराणादिकथनं तु परंपराप्राप्तम्, न तु कश्चनोद्दिश्य ते कथयन्ति, तादृशास्ते कुल्याः अल्पाः कृत्रिमाः सरितः प्रवहणशीलास्तत्कुल्या इत्यर्थः । यद्यपि ता अपि पारंपर्ययुताः, यत आनीयन्ते तत्रागाधता, तथापि स्वयं त्वल्पाः कृत्रिमाः, न तु सहजाः । तेनोपरोधे रुद्धा अपि भवन्तीति सूचितम् । तथा तेऽपि यतः पुराणार्थोवगतः स गुरुर्महान्, परन्तु स्वयं त्वल्पपात्ररूपाः । साहजिकभगवद्भ्रमप्रवृत्तिरहिताः । संसारस्थिताः । उपरोधे रुद्धाः अपि भवन्ति तादृशाः । परन्तु प्रवहणशीलत्वात् कुल्यानां तद्दृष्टान्तेन पुराणकथनद्वारा यथाधिकारं धर्मोपदेशका इति गायकसकाशादेतावान् विशेषः । अत एव द्वितीयभावत्वेन निरूपणम् ॥ ३ ॥

तादृशा अपि केवलं वृत्त्यर्थमेव पुराणपाठकाः, तदा ततोपि हीनत्वमाहुः—

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

ते च पुनः क्षेत्रप्रविष्टाः 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रिति स्त्रीपुत्रादिभरणपोषणार्थं पुराणादिपाठे प्रविष्टास्तदा संसारोत्पत्तिहेतवो भवन्ति । यथा कुल्यासंबन्धिन्य आपः क्षेत्रेषु प्रविष्टा यदा तदा संसारोत्पत्तिहेतवो रजोगुणयुक्तत्वेन रतेः पोषकवस्तुत्पादकत्वाद्विधा-धर्माणामेवोत्पादिका भवन्ति, न तु प्रवहणदशावच्छेदकत्वमुपकारकत्वं वा तेषां, तथा तेषां सांसारिकस्त्रीपुत्रादिभरणपोषणमात्रोपयोगित्वेन पुनः पुनर्जन्ममरणदियुक्ता एव भवन्ति, न परोपकारकाः स्वात्मशोधका वा भवन्ति । तादृशश्रवणपाठात् शक्तिहासे पुराणार्थाः फलदा न भवन्तीति भावः । एतेन तेषां तृतीयमार्गप्रवेशो निरूपितः ॥ ३½ ॥

एवं भेदद्वयमुक्तमतः परं गायकभेदानाहुः—

वेद्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

पूर्वोक्ता गायकाः भृतकधर्मरहिताः । तेषामन्यधर्माधिकाराभावात् गाने भृतकधर्म-राहित्यमात्रमेवोत्तमत्वम् । तादृशाः पुनर्वेद्यादिसहिताः, आदिपदेनान्येपि विधर्माः पाना-दयः सूचिताः । अत एव मत्ताः, स्वपरधर्मविवेकरहिताश्चेत्तदा गर्ततुल्याः । गर्तोत्र जलर-हितान्धकूपः । स यथाधस्तलपर्यन्तगतः दुष्टजीवकङ्कालादिस्थानभूतोन्वेषां पतनहेतुश्च भवति, तथैतेपि स्वयं त्वधोगताः एवान्वेषामपि पातहेतवो भवन्तीति भावः ॥ ४ ॥

एवं चतुर्थं भावमुक्त्वा पञ्चमं भावमाहुः—

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

गर्ता अपि बहुविधा इति ये जलार्थं जलसङ्ग्रहार्थमेव क्रियन्ते, गानोपजीविनो भृत-काध्यापनवत् गन्धर्वास्तत्कुल्याः । यथा तज्जलस्य प्रयोजनमुपजीवनमेव, नान्यत्, कर्माद्यु-पयोगित्वाभावात्तीर्थरूपत्वाभावाच्च । तथा तेषामपि तेन गानेनोपजीवनमेव भवति, न तु कश्चन विशिष्टो धर्मो भवति, प्रत्युत पापमपि भवेन्नधिद्वत्वात्तस्येति भावः । एवं गन्धर्वाणां त्रयो भेदा उक्ताः ॥ ४½ ॥

एवं विषयिणां भावानुक्त्वा मुमुक्षूणां भावान्निरूपयन्तः षष्ठं भावमाहुः—

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्परः ॥ ५ ॥

हृदास्त्विति । पूर्वं तु सन्मतित्वाभावादपण्डिताः, एते तु पण्डिताः धर्मोपधर्मविवे-किनः कर्ममार्गीया यद्यपि गृहादिसंभक्तास्तथापि निवृत्तिमुखाः । अत एव मोक्षेच्छया भगवच्छास्त्रे तत्परः जाताः । तादृशास्ते हृदा हृदतुल्या इत्यर्थः । अत्रापि सामान्यतो हृद उक्तो, न तु कश्चन विशेषः । तेन हृदो यथा प्रवाहधर्मरहितो निर्मलः, तथा तेषां प्रवा-हधर्माविवृत्ता निर्मलप्रज्ञा इति सूचितम् । तत्परत्वकथनेन तद्धर्मजिज्ञासैवास्ति, न तु निःसन्दिग्धं धर्मा ज्ञाता इति ज्ञाप्यते । एतेन तेषां प्रथमप्रवृत्तिः सूचिता ॥ ५ ॥

ततोप्रेतनभावविशिष्टं स्वरूपं निरूपयन्तः सप्तमं भावमाहुः—

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गम्भीरमानसाः ।

सरःकमलसंपूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

तत्र भगवच्छास्त्रेषु ये सन्देहवारकाः, बहूनां मतानां कथनात्तेषु सन्देहा उत्पद्यन्ते, तेषां ये निवारकास्ते सूदाः । सुष्ठु शोभनमुदकं येषां तादृशा हृदास्तद्रूपाः । शोभनत्वकथ-नेन गुणविशेष उक्तः । किञ्च, गम्भीरमानसा इति गंभीरं मानसं येषां, भगवद्भ्रमज्ञाने-नान्यथाभावनाविपरीतभावनादिना कलुषितं न भवतीति भावः । पूर्वेषु गंभीरत्वसूदत्वा-दिगुणाभावात्सामान्यत्वमुक्तम् । तत्र विशिष्टधर्मत्वात्ततो विशेष उक्तः, तथा दार्ष्टान्ति-केपि सन्देहवारकत्वविशेषः । परन्तु ज्ञानस्यैव विशेषो न क्रियाया इति दृष्टान्तेन सूचितं भवति । अतः परं पूर्वतो विशिष्टमष्टमं भावमाहुः सरःकमलसंपूर्णा इति । पूर्वं तु शास्त्रज्ञानेन पूर्णा उक्ताः, गंभीरमानसत्वकथनेन ज्ञानस्यैवमप्युक्तम् । एते तु बुधाः ज्ञानिनः पुनः प्रेमयुक्ता भक्तियुक्ता इति सरःसंबन्धिन्यः कमलैश्च संपूर्णाः आच्छादिताः तादृश्य आपस्तद्रूपाः । सरस्तु विहितं भवति । तत्र कमलं भक्तिरूपं, तेन पूर्णा आपः रसरूपाः । तत्तुल्यत्वकथनेन विहितभक्तिसहितप्रेमयुक्ताः ज्ञानेन च वासितास्तादृशास्त इति सूचितम् । तेनात्र क्रियापि सूचिता । रसस्य विहितसरःसंबन्धित्वेन विहितभक्त्यनु-सायैव प्रेमपि तेष्विति सूचितम् । एवमेते त्रयोपि क्रमत उत्तरोत्तरविशिष्टधर्मसहिताः सामान्यतो विहितभक्तिमार्गीया उक्ताः ॥ ६ ॥

अतः परमेतेष्वप्यवान्तरभेदान्निरूपयन्तो नवमं भावमाहुः—

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पल्लवानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥ ७ ॥

पूर्वोक्तेषु सरोदृष्टान्तीयेषु केचनल्पं श्रुतमध्ययनं येषामेतादृशाः, परन्तु भगवद्गुणेषु प्रेमयुक्ताः, ते वेशन्ताः अल्पसरोरूपाः परिकीर्तिताः । प्रेमयुक्तत्वेपि विहितत्वेन प्रवृत्त-त्वात् संपूर्णभगवद्भ्रमज्ञानं विना भक्तिर्दृढा न भवतीत्यल्पसरोदृष्टान्त उक्तः । यथाल्पसरो

नष्टमपि भवेत्तथैतेषां भावा अपीति भावः । एतेन पूर्वापेक्षया हीनभावत्वमुक्तम् । एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे 'शास्त्रज्ञानाभावेपि प्रेम्णा भजते स मध्यम' इति । एवं सर्वमित्यत्र । अतोपि हीनत्वेन दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्मणैव शुद्धाः निःकामकर्मादिना चित्तशुद्धियुक्ताः, नतूत्पन्नज्ञानभक्त्यादयः, ते तु पल्लवतुल्याः । यद्यपि वेशन्तपल्लवयोर्न भेदस्तथापि वेदे यथेन्द्रमहेन्द्रयोर्भेदः स्वीकृतस्तथा वेशन्तपल्लवयोरपि 'वेशन्तीभ्यः स्वाहा पल्लवत्याभ्यः स्वाहे'त्यत्र भेदनिर्देशः कृत इति तथात्वेन दृष्टान्तः । परं तत्रैतावान् विशेषः । पल्लवमपि द्विविधम् । एकं कमलादिरहितम्, अपरं तत्सहितम् । पूर्वोक्तेषु भक्तित्वा(सत्त्वा)त् कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः, कर्मशुद्धेषु विहितैकनिष्ठेषु तद्रहितदृष्टान्त इति, यथा पल्लवं स्वल्पं सर्वदा स्थिरजलं न तिष्ठति, वर्षाकाले पुनः पूर्णं भवति, तदपि स्वरूपतः स्वल्पं, तथा कर्मपूर्तौ पूर्णता, तस्य क्षये शुष्कतेति जन्ममरणादिसहिता निरूपिताः । पूर्वोक्तेषु कमलादिसहितवेशन्तदृष्टान्तेन भक्तिमत्त्वेन जन्ममरणाद्यभावोपि संभवति । यथा कमलादिसंपत्तिशोभादर्शनादिना कदाचित्तस्य महत्त्वं रक्षां च कश्चित्कारयति तथेत्यर्थः । एतेषु तदभावान्न तथेति भावः । कदाचिज्जन्मान्तरे तादृशो ज्ञानी भवतीति निबन्धे निरूपितम् । किञ्च, यथा एतादृशाः पल्लवरूपाः प्रोक्तास्तथा वेशन्तदृष्टान्तीयानां पूर्वमल्पश्रुतत्वं प्रेमयुक्तत्वं च निरूपितम् । ते पुनरल्पश्रुतभक्तयो भवन्ति, तदा पल्लवतुल्या एवेति भावः । श्रुतं तु पूर्वमल्पमेव केवलं प्रेमयुक्तत्वेन कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः । तदभावात्पल्लवतुल्यत्वं युक्तमेव ॥ ७ ॥

एवं कर्ममार्गीयानां स्वरूपमुक्त्वा योगादिभावानां स्वरूपं निरूपयन्तः एकादशं भावमाहुः ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।

तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

योगोऽष्टाङ्गः । तत्र ध्यानादिः कल्पितमूर्तैस्तेन संयुक्ता ये गुणास्ते वर्ष्याः वर्षासम्बन्धिजलतुल्या इत्यर्थः । वर्षा यथा शून्यावलम्बिन्यः, न स्वरूपावलम्बिन्यस्तत्रापि फलस्याल्पत्वात् ता अपि प्रथमोद्भूता विरलाः पतनमात्रेण शुष्का भवन्ति, न तु कचिदार्द्रतां संपादयन्ति, तथा तादृशा अपि न भक्तिफलाधिकारिणः । किन्तु तत्साधनानुसारिफलाधिकारिण इति भावः । अतः परं द्वादशं भावमाहुः तपोज्ञानादीति । केचन तप एव परं मत्वा कुर्वन्ति, केचन ज्ञानमेव केवलं परं मन्यन्त इति तेषां स्वरूपमाहुः—तपः पञ्चामिसाधनादीनि, ज्ञानं केवलं, तत्र प्रवृत्तानां भावाः स्वेदजा स्वेदजलतुल्याः कथिता इत्यर्थः । यथा श्रमेण स्वेदजलं स्रवति । ऊष्मणा वा । अपवित्रमप्रयोजनकं च भवति, तथैवेते भावाः श्रमसाधकाः, न तूत्कृष्टफलाः । अत्रेपि तापकारकाः संसारकरणादिति भावः । अत एव 'रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्ब्रह्मा । न छन्दसा नैव जलामिसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकमित्युक्तम् ॥ ८ ॥

अन्ये केचन वेदमाहात्म्यज्ञानैकनिष्ठास्तेषां स्वरूपं कथयन्तस्त्रयोदशं भावमाहुः—

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

अलौकिकेन ज्ञानेन वेदोक्तार्थज्ञानेनेत्यर्थः । ब्राह्मणानां वेद एव परस्तद्गम्यास एव तेषां धर्म इति तत्पाठकरणरूपा ये गुणाः प्रोक्ताः, तेषु कादाचित्काः, न सर्वदा स्थिराः, तेषु शब्देनैव गम्याः, शब्द एव गम्यो येषां, नत्वर्थ इति वा, तादृशास्ते पतन्तः उच्चतः पतन्तो ये जलौघास्तेषां शब्दा इव । अथवा दूरात् कर्णे पतन्तः शब्दा इव प्रकीर्तिताः । यथा ते निरर्थकाः, दूरात् पतनजशब्देनैव ज्ञायन्ते, न तु ते प्राप्तुं शक्यन्ते, तथा वेदपाठका एष, न तु ते वेदार्थं जानन्ति, न मुख्यफलं प्राप्नुवन्तीति भावः । आपाततो ज्ञानेपि कादाचित्कत्वेन न मुख्यफलमिति भावः ॥ ९ ॥

ननु तेषु देवाद्युपासनां कुर्वन्ति, वेदार्थाज्ञाने तु साङ्गोपासना न भवेदित्याशङ्कानिरासाय चतुर्दशं भावमाहुः ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्भूताः ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

प्रेमपूर्व्या स्फुरद्दर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

यद्यपि केचन देवादीनामुपासनां कुर्वन्ति । न ह्येतावानेव वेदार्थ इति तावन्मात्रज्ञानेन क्रियमाणा सा न परमफलदायिनीति तादृशा गुणा भावाः भूमेरुद्भूताः पृष्वा जलविन्दवो बुद्बुदास्तद्रूपाः । यथा ते यत्रैवोत्पन्नास्तत्रैव लीना भवन्ति, तथा यस्य देवस्योपासना तत्रैव पर्यवस्यन्ति, न तु ब्रह्मपर्यवसाना इत्यर्थः । अतः परं वैष्णवधर्मनिष्ठस्य भावास्त्रिरूपयितुं पञ्चदशं भावमाहुः साधनादीति । देशादिसाधनेषु भूतशुद्ध्यादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः श्रवणकीर्तनादिद्वारा प्रेमपूर्व्या स्फुरन्तो धर्माः अश्रुपुलकादिरूपा येषां तादृशाः स्यन्दमाना भूमितः प्रसवणशीला आपस्तद्रूपाः । पूर्वापेक्षया प्रसवणशीलत्वात् किञ्चिदुपकारकत्वं सूच्यते । तेनोपासनायामपि तात्रिकरीत्या विष्णुपासना ज्ञेया । परन्तु वृद्धिक्षयसहिताः, श्रवणस्याल्पत्वाद्विभूतिपर्यवसानत्वाच्च ततोप्यागमनगमनादिकं संभवतीति सूचितम् । एतेन सकामतापि सूचिता ॥ १० ॥

एते तु वृद्धिक्षयसहिताः, ते एव पुनर्वृद्धिक्षयरहिता भवन्ति, तेषां भावमाहुः षोडशम् ।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥

स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

यादृशाः पूर्वं प्रोक्तास्तादृशा वृद्धिक्षयविवर्जिताश्चेत्तदा स्थावराः स्थिरजलतुल्याः स्थिरजलाशयाः स्थिरप्रवाहा नदीरूपा वा, तत्सदृशाः । स्थिरास्वरूपमाहुः मर्यादैकप्रतिष्ठिता इति । यावत्प्रमाणमर्यादया विहितास्तावन्मर्यादया सर्वदा स्थिराः ।

अत एव तावति धर्मे वृद्धिक्षयरहितत्वमुक्तम् । तेन निरन्तरपूजाप्रवाहसहिताः स्वमर्यादाधर्मयुक्तास्तादृशा भक्ताः जन्ममरणादिरहिता मोक्षपर्यवसायिनः स्वमर्यादयेति ज्ञापितम् । यथा तादृशो नद्योपि परंपरया नद्यन्तरसङ्गेन समुद्रगामिन्यस्तथेति भावः । जलाशयपक्षे वृद्धिक्षयराहित्यमेव जन्ममरणाभाव इति तथात्वम् ॥ ११^३ ॥

अथ भक्तिमार्गीयभेदान् वक्तुं सप्तदशं भावमाहुः ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

प्रथमजन्मारभ्यानेकजन्मसाधनैः सम्यक् सिद्धिं प्राप्ताः । सर्वदेति साधनैरन्तर्यमुक्तम् । तेन 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभि'रित्युक्तसाधनसिद्धाः प्रावाहिकभक्तिमन्तो भक्ताः सामान्यतः प्रोक्ताः । ते प्रथमं साधनदशायां सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुक्ता भवन्ति, परन्तु निरन्तरमुद्गम उदयस्तेन युता भगवद्धर्मप्रयत्नवन्तः सङ्गदोषेण क्षयेपि तद्धर्मनिष्ठां न त्यजन्ति । तादृशा नद्यः नदीरूपा नदीजलतुल्या इत्यर्थः । यथा नद्यः वर्षाजलेन वर्धन्ते, ग्रीष्मसङ्गेन क्षीणा भवन्ति, परन्तु मूलतः प्रवाहस्य निरन्तरमुद्गमस्तिष्ठति, तेन परंपरया समुद्रगामिन्यो भवन्ति, तथा तादृशभावा अपि सत्सङ्गेन वर्धन्ते, असत्सङ्गेन क्षीयन्ते, तथापि निरन्तरं भगवद्धर्मनिष्ठात्वाभावात् कदाचिद्भगवत्समुद्रगामिनो भविष्यन्तीति भावः । पूर्वोक्तापेक्षया हीनाधिकार उक्तः ॥ १३ ॥

अतः परं च शिष्टान् निरूपयन्तोऽष्टादशं भावमाहुः ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥

जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशा पूर्वोक्तधर्मवन्तः प्रवाहमार्गीयाः स्वतन्त्राश्चेत् न केनचिद्वृद्धि क्षयं वा प्राप्नुवन्ति, ते समुद्रपर्यन्तं समुद्रगप्रवहणशीलाः सिन्धवः महानद्यो नदा वा तद्रूपा ज्ञेयाः । यथा तादृशो नद्यः स्वयमप्रतिबद्धाः सत्यः समुद्रं प्रविशन्ति, तथा तादृशा भक्ता अपि स्वमार्गीयसारेण भगवन्तं प्राप्स्यन्तीति भावः । अतः परं केवलं भगवद्धर्मैकपूर्णान् निरूपयन्त एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा इति । एते सर्वे भगवदीयाः भगवद्धर्मैकनिष्ठाः ज्ञातारो वक्तारश्च सर्वदा तदेकरसपूर्णाः, न तु कदाचिदपि न्यूनभावयुताः शेषादयः । तत्र शेषो गुणगानपरः सर्वदा भगवद्धर्मवक्ता । व्यासः सकलपुराणकर्ता, तद्द्वारा समस्तधर्मवक्ता । अग्निः स्वयमेव । अयं भावः । श्रीमदाचार्यस्वरूपे अंशद्वयमस्ति, मर्यादामार्गीयान् पुष्टिमार्गीयपदेष्टृत्वं च । तेन स्वरूपमपि द्विविधम् । एवं सति मर्यादामार्गीयान् प्रति तादृग्रूपस्यैव प्राकट्यं भवति, न त्वंलौकिकस्य वल्लभाष्टकसर्वोत्तमाद्युक्तस्येति तादृशस्य तन्म-

ध्यपातित्वेन गणना कृता, अत एव 'व्यासोऽस्माकं गुरु'रित्युक्तम् । अन्यथा पुष्टिमार्गीयगुरुवस्तु स्वामिन्य इति तद्भावात्मकभगवन्मुखारविन्दाधिष्ठात्रलौकिकाग्निरूपस्य स्वस्य व्यासगुरुत्वं न संभवतीति न तथोक्तं स्यात् । एवं सति शेषादिमध्यपातित्वेन भगवद्गुणनिरूपणसाम्याद्युक्तैव गणनेति सर्वमनवद्यम् । केचित्त्वग्निः रुद्राग्निरिति वदन्ति । रुद्रस्य भक्तत्वात् । मारुतो हनूमान् परमभक्तः । जडो जडभरतः । नारदः पञ्चरात्रागमप्रवर्तकः । मैत्रो मैत्रेयो धर्मवक्ता । एते सर्वे मर्यादामार्गीया भक्ता गुणज्ञाः, न तु स्वरूपनिष्ठैकभावा इति समुद्ररूपाः प्रकीर्तिताः । समुद्रो यथा स्वमर्यादायामेव तिष्ठति, तथैतेपीति भावः । अत्र समुद्रोपि शुद्धोदो ज्ञेयः । अन्यानग्रे वक्ष्यन्तीति । किञ्च, एतेषु सामान्यतः समुद्रदृष्टान्त उक्तो, न तु कश्चन गुणदोषविशिष्टो धर्मस्तस्योक्त इति प्रवाहमार्गीयद्विवृतत्वं पूर्णत्वागाधत्वादयो धर्माश्च सूचिताः । यथा समुद्रमध्ये रत्नानि सारभूतानि, तथैतेषां हृदयेषु भगवद्धर्मा इति भावः ॥ १४^३ ॥

अतः परं समुद्रा अप्यनेकविधा इति तद्भेदान्निरूपयन्तो विंशं भावमाहुः ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

अयं भावः । एके भगवतो गुणा लोकसमाना एव, लोको यथा प्राकृतस्तथा भगवद्गुणा अपि प्राकृता एव, भगवानपि नास्ति, कर्मणैव सर्वं भवतीति मन्यन्ते, ते क्षारोदतुल्याः, न काचन तैः पुरुषार्थसिद्धिरिति भावः । केचन वेदानुसारेण धर्मान् मन्यन्ते, ज्ञानेच्छादयो जगत्कर्तृत्वादयो धर्मा भगवति सन्तीति तादृशा दधिमण्डोदतुल्याः । उभयाशसत्त्वात्तद्युता । तेपि तावन्मात्रधर्मानेव मन्यन्ते, न तु स्वरूपमवतारादिकं चेति तादृशा भावा न पुरुषार्थसाधका इति भावः । अपरे गुणैः प्रकृतिगुणैरविद्याधर्मैः कृत्वा धर्मा भासन्ते, वस्तुतो धर्मा एव न सन्तीति मन्यन्ते, ते सुरोदतुल्याः, स्पर्शमात्रेपि धर्मनाशका मिथ्यावादिनः पुरुषार्थनाशका इति सर्वथा त्याज्या एवेत्यर्थः । एते त्रयोप्यमिश्राः । अथ मिश्रानाहुः । केचित्तु ये धर्मा लौकिकभावसहितास्ते लौकिका एव, ये ब्रह्मधर्मास्तेऽलौकिकाः सर्वे सन्तीति मन्यन्ते, ते मिश्राः क्षीरोदतुल्याः । स यथा स्वरूपतो ह्युत्तमस्तथापि मथनानन्तरं निःसारो जातः, सकलरत्नानां निर्गमात्, तथा तेषां तावन्मात्रधर्मवत्त्वेपि परमपुरुषार्थो न सिध्यतीति, न ते ग्राह्या इति भावः । यतो भगवतो 'लोकवल्लीलापि कैवल्य'मित्युक्तत्वात् तत्रालौकिकबुद्धिनिष्ठाभावात् न सत्सम्मता इत्यर्थः । अन्ये वेदोक्तधर्मा जगत्कर्तृत्वादयो यद्यपि सन्ति, तथापि न वास्तवाः अविद्यासंवलिताः, ब्रह्म तु निर्विकारमेवेति मन्यन्ते, ते घृतोदतुल्याः, घृतं विकृतं भवति, क्षीरपरिणामो दधि तत्परिणामो घृतमतस्तेपि विकृतत्वाङ्गीकारात्तत्र ग्राह्याः, पुरुषार्थासाधकत्वात् । एके पुनर्भगवति धर्माः सन्ति, परं त्ववतारादिधर्मास्तु प्राकृता इति मन्यन्ते, ते इक्षु-

रसोदतुल्याः, यथेक्षुरसः स्वरूपतो मधुरः, परन्तु परिणामविरसस्तथैते धर्मा अपि परिणामे विरसत्वाङ्गीकारान्न पुरुषार्थसाधका इति भावः । पूर्वापेक्षया षण्णामेतेषां हीनभावत्वमुक्तम् । एवं विंशतिधा जीवाधिकारानुसारिणो भावा निरूपिताः । साधनसाध्या लोकेवेदप्रसिद्धा इति ॥ १५ ॥

अतः परं लोकेवेदातीतः साधनासाध्यो भगवद्दानेनैवोत्पद्यते, नान्यथेत्येतादृशोपि ऋश्चन भावो वर्तत इति स्वकीयानां ज्ञापनार्थं कृपया तादृशभावस्य यथार्थस्वरूपं वदन्त एकविंशमपि भावं लक्षयन्ति ।

गुणातीततया शुद्धान्सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥

सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।

तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

ये पुनर्विष्णोर्व्यापकस्य रसात्मकस्य च भगवतः सर्वे गुणाः, लोकानुसारिणो बालचरित्रादयो, वेदानुसारिणो माहात्म्यप्रतिपादकाः ब्रह्मधर्माः गुणानुसारिणः स्थित्युद्भव-प्रलयरूपाः, रसात्मकलीलारूपाश्च, गुणातीता एव शुद्धा दोषरहिता निर्विकाराः सच्चिदानन्दरूपिणः सन्तीति मन्यन्ते, ते भक्ता अमृतोदतुल्याः, यथा अमृतस्य षड्सात्मत्वेपि मधुरत्वमेवैवं भगवद्दर्शनामपि तत्तद्भूतत्वेपि सच्चिदानन्दरूपत्वमेव, न त्वन्यथा । यथा स्वरूपमानन्दरूपं रसात्मकम्, तथा गुणा अपीति निरूपितम् । किञ्च, समुद्रस्यामृतरूप-त्वेनान्येभ्यो विशेष आधिक्यं दूरत्वमगाधत्वं मरणादिदोषनिवर्तकत्वं देवोत्तमैरेव भोग्यत्वं चोक्तं यथा, तथैते धर्मा अप्येतावद्दर्भवन्त एतदधिकारिभिरेव भोग्या इति सूचितम् । अत एवाधिकारिविशेषणं विचक्षणा इत्युक्तम् । तथा चोक्तं 'मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः' इति । अत एव रसिकजनानुभवैकवेद्यत्वादेते भावाः सर्वोत्तमाः । तादृग्भाववन्तो भक्ता अपि सर्वोत्तमा इति सर्वोत्तमाद्युक्तस्वरूपाग्नेः कथनमेतेषु युक्तम्, न तु पूर्वोक्तेषु शेषादिषु, सर्वसाधारणत्वात् । अतस्तत्राग्निशब्दस्य तथा निरूपणं कृतम् । यद्यग्निशब्दस्य कश्चनान्योप्यर्थो भवेत्तदा स एवोत्तमः, नास्माकं तत्राग्रहः । यथा विरोधो न भवेत्तथा ग्रन्थार्थो व्याख्येय इति भावः । एवं स्वतन्त्रभक्तिभावस्वरूपनिर्देशमपि कृत्वा तस्य दुर्लभत्वमाहुः तद्वाक्पानं सुदुर्लभमिति । अत एव 'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभे'त्युक्तत्वाद्वापि ते भावा नोच्यन्ते इति भावः । अत एव 'शुद्धा प्रेम्णातिदुर्लभा' इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

एवं दुर्लभत्वे को हेतुस्तत्राहुः ।

तादृशानां कचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।

अजामिलाकर्णनचद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तादृशानां वाक्यं कचिदेव भवति । उत्तमाधिकारिसंयोगे भवति, यथा शुकपरी-

क्षितयोः । यथा वा 'अक्षण्वता'मित्यादि । यथा वा भ्रमरगीते उद्धवं प्रति श्रीस्वामिनी-वाक्यानि । पुनस्तत्स्वरूपज्ञानेनोद्धववाक्यानि । तादृशं वाक्यं दूतानामिव वर्णितं भवति । दूतास्तु यथार्थवक्तारो यथानुभूतं कथयन्ति, तथा तेषां वाक्यं स्वानुभूतत्वेन तथार्थमिति प्रमाणमित्यर्थः । ननु तादृशवाक्यस्यातिदुर्लभत्वेनाशक्योपदेशकथनं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्राहुः अजामिलेति । यथा अजामिले सर्वथानधिकारिष्यपि परमकृपया स्वनाममाहात्म्यं प्रकटितवान् प्रभुः, तथा तादृशे निःसाधनेपि कृपया परमानुग्रहेण तादृग्वाक्यं कदाचित्प्रकटीकरोति । अत एव कचिद्वाक्यं भवतीत्युक्तम् । अत एव तद्वाक्यममृतरूपविन्दुपानं प्रकीर्तितम् । यथा मृतस्य विन्दुपानेप्यमरत्वं सिध्यति, तथा तावन्मात्र-वाक्यश्रवणेपि तादृग्मृतत्वं समस्तभगवन्माहात्म्यस्वरूपज्ञानं च भवतीति भावः ॥ १८ ॥ ननु माहात्म्यज्ञाने जातेप्यविद्याधर्माणां विद्यमानत्वात्कथं परमफलं सेत्स्यतीति तत्राहुः ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।

तदालेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

तद्विन्दुपानमात्रक्षणे स्त्रीपुत्रादिषु यो रागः स्नेहः, अज्ञानं भगवत्स्वरूपधर्मयोः, आदिपदेनासंभवावनाविपरीतभावनादीनां च सर्वथा नाशनं नाशकारकं तद्वाक्यं भवति, एतद्यदा भवेत्तदालेहनं भगवत्स्वरूपनिष्ठभावैस्तादास्वादनं जायते, तेन प्रतिबन्धनिवृत्तिः सूचिता । इष्टप्राप्तिमाहुः स्वानन्दोद्गमकारणमिति । तदास्वादे पूर्वं तिरोहितानन्दस्य प्राकट्यम्, पश्चात् प्रेमासक्तिसङ्कल्पव्यसनोत्पादनेनान्तर्भवत्स्वरूपानन्दाविर्भावो भवतीति भावः ॥ १९ ॥

ननु पूर्वोक्ता शेषादयः पूर्णा उक्ताः, तथाप्येतदपेक्षया न्यूनत्वात्तेषां धर्माणां कथं पूर्णत्वं फलसाधकत्वं च तत्राहुः—

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

उक्तातिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ताः शेषादयः तेषां वाक्यानि उद्धृतोदकवत्, यथा गङ्गात उद्धृत्य गृहे समानीतं जलमपि गङ्गाजलमेव, तथापि मर्यादामार्गविधिना स्नानपूजादिफलं प्रवाहस्थजल एव भवेन्नस्मिन्, तथा तेषां धर्माणामपि भगवद्दर्शरूपत्वं पूर्णत्वादिकं च तिष्ठत्येव, परन्तु पुष्टिफलप्रापकत्वं नेति भावः । पुष्टिफलं तु तादृग् विन्दुपानजनितरसास्वादेनैव भवेन्नान्यथेति सूचितम् । एवं सति मर्यादामार्गीयभक्तिरसपूर्णत्वं पुरुषोत्तमसायुज्यफलकत्वं तेषां सम्पन्नमिति ज्ञापितम् । किञ्च, एतत्पोषकत्वेन द्वितीयं दृष्टान्तमाहुः पतितोदकवदिति । यथा वर्षाजलमाकाशात् पतितं यद्यपि शुद्धं निर्मलं, तथापि मध्ये गृहीतं चेत् कर्मादियोग्यं न भवति, भूमौ पतितं चेत्कर्मादियोग्यं भवति, तथा तानि वाक्यानि शुद्धानि निर्मलानि, तथाप्येतादृशभक्तिरसभावाशयसंवलितत्वाभावादेतत्फलरूपस्वरूपसंबन्धकारकाणि न भवन्तीति भावः । एतदेवोक्तं फलं चापि तथा

तत इति । यादृशो मार्गः यादृशं वाक्यं तादृशमेव फलं भवेदिति भावः । अथवा, पूर्व स्वतन्त्रतया प्रमेयवल्माश्रित्योक्तम्, अधुना शास्त्रक्रमानुसारेणोच्यते । तथाहि, उक्तातिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ताः शेषादयस्तेषां वाक्यानि उद्धृतोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । यथा जलाशयादुद्धृतं गृहे समानीतं जलं गृहादिशोधकत्वेन स्नानाचमनादिनात्मशोधकत्वेन पाकादिकर्मकारकत्वेन तृषादिनिवर्तकत्वेन चोपकारकं भवति, तथा तेषां वाक्यानि वाक्योक्तधर्माचरणादिना अविद्यौपाधिककर्मनाशकत्वेन ज्ञानादिधर्मोत्पादकत्वेन सांसारिकतापनिवर्तकत्वेन मुक्तिफलकत्वेन च प्रतिक्षणमुपकुर्वन्तीति भावः । तादृशस्थितौ विशेषानुग्रहश्चेत्तदा पुष्टौ प्रवेशः, नो चेत्तदुपकार एवेत्यर्थः । एतदेवोक्तं सिद्धान्तमुक्त्वावल्यां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यतीति' । अतएव पुष्टिमार्गाधिकारो मुक्तानामेवेति 'मुक्तोपसृप्य' इत्याद्युक्तम् । किञ्च, एतत्लोषकत्वेन द्वितीयं दृष्टान्तमाहुः पतिनोदकवदिति । वर्षाजलं पतितमुपकरोति, परन्तु मर्यादया पतितं चेत् । नो चेत्सर्वसस्यादिनाशकं भवेत् । एवं मर्यादया धर्माचरणे फलं भवेत्, नो चेदौद्धत्येन सर्वधर्मनाशो भवेदिति तेषां वाक्यानामुपकारकत्वं पूर्णत्वं फलसाधकत्वं चोक्तम् । अत एव फलं चापि तथा तन इत्युक्तम् । ततस्तादृशवाक्यात् फलं च तथा तदनुसार्यैव सायुज्यं भवेदिति भावः ॥२०॥

अतः परमुपसंहरन्ति ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इति प्रकारका जीवेन्द्रियगताः, जीवगता आत्मगामिनः, इन्द्रियगता विषयगामिनः । अत एव भुवि स्वाधारे नानाभावं गतास्तादृशा विष्णोः व्यापकस्य रसात्मकस्य च गुणाः भावा रूपतः स्वरूपतः फलतश्च निरूपिताः । एतेन सन्देहनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्मार्गप्रवृत्तौ फलं भविष्यतीति ज्ञापितम् ॥ २१ ॥

यथामति मया भावा रूपतः फलतोपि हि ।

निरूपितास्तत्र किञ्चिद् बुद्धिदोषेण यद्भवेत् ।

अन्यथा तत्सकरुणा क्षमन्तां प्रभवो मम ॥ १ ॥

इति श्रीबह्मभक्तं श्रीजलभेदविवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीबालकृष्णकृतविवृतिसमेतः ।

श्रीराधिकावदनपद्ममरन्दपानघूर्णायमाननयनः स्फुटलाञ्छनश्रीः ।

मन्दस्मितो रतिविलासजयोदिताङ्गकान्तिः सदा स्फुरतु मद्बुद्धि गोपिकेशः ॥ १ ॥

भावाब्धिमथनाचार्यचरणान् नौमि संततम् ।

गोपीशभावभावार्थित्कृपातो न दुर्लभा ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां भावज्ञानेन पूर्णप्रेमभावोत्पत्त्यर्थं भावनिरूपणं प्रतिजानते । यथा निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थं मङ्गलाचरणस्य शिष्टाचारत्वं, तथात्र स्वीयेषु निर्विघ्नभावोत्पत्तिसिद्ध्यर्थं भगवन्नमस्करणात्मकं मङ्गलमाचरन्ति नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।

भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिमकारणसर्वदुःखहर्तारं नमस्कृत्य तद्गुणानां तदीयभक्तगुणानां विभेदकान् विशेषेण भेदबोधकान् भावान् वक्ष्ये इति सम्बन्धः । विंशतिप्रकारेण भिन्नान् तान् वक्ष्ये इत्यर्थः । ननु एतत्कथनं किंप्रयोजनकमित्याकाङ्क्षायामाहुः सर्वसन्देहवारकानिति । यच्छ्रवणात् सर्वेषां सन्देहाभावः स्यादित्यर्थः । यद्वा, सर्वे भगवति प्राप्ति-सन्देहवारका इति भावः ॥ १ ॥

एवं प्रतिज्ञाय भेदानेवाहुः गुणभेदा इति ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।

गायकाः कूपसङ्गाद्या गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

यावन्तो जले भेदा वेदोक्तास्तावन्तो गुणभेदा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अत्र 'कूप्याभ्यः स्वाहे'त्यारभ्य 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यन्ता श्रुतिरनुसन्धेया । गुणानां जलसाम्योक्त्या स्वतः शुद्धत्वं बोध्यते । 'आपः स्वभावतो मेध्या' इत्यादिवाक्येभ्यो जलानां स्वतःशुद्धत्वं, तथैव भगवत्सम्बन्धित्वाद्गुणानामिति भावः । यथा जलमन्यमेलने तदात्मकतां भजते, तत्र च स्वस्वरूपात्मकतां च करोति, तथा भगवानपि भक्तभावमेलने स्वगुणान् तद्भावसाम्यान् करोति, तं च स्वीयं स्वसमं करोति ।

ननु भक्तस्य प्रभुसाम्यता कथमिति चेदुच्यते । तदसाम्यत्वे भक्तत्वमेव न स्यात् । अत एवोक्तं 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्' 'यो यच्छूद्रः स एव सः' इत्यादि च । तस्मान्न-

क्तत्वेपि न हानिर्यतो तद्भजनस्यैव स धर्मो, न त्वन्यधर्म इति त्वदुक्ताशङ्कागन्धलेशोपि नेत्यलम् । तत्र प्रथमं भगवतो रसरूपत्वाद्रमणैकस्वभावत्वात् तत्र च गानमुख्यता श्रुत्योच्यते 'यदा खलु वै पुरुषो श्रियमश्रुते तदा वीणास्यै वाद्यते' इत्यादि । तस्मान्नानप्रियो भगवानिति गायकानां भावमाहुः गायका इति । विश्रुताः प्रसिद्धाः गानरसज्ञा ये गायकास्ते कूपसङ्गाशास्तेषां भावः कूपजलतुल्य इत्यर्थः । यथा कूपोदकं शीतकाले अन्तरुष्णं, घर्मकाले बाह्यतः शीतं, तथैतेषामपि भावोपि श्रवणानन्दत्वेनोपरि शीतलस्तदनन्तरं रसबोधे भगवत्प्राप्त्यर्थं मनस्तापकः । तथा सति अतिप्रचुरबाह्यतापे सति भगवच्छ्रवणसुखदत्वेनान्तःशीतल इति भावः । ननु एतेषां भगवद्गुणसम्बन्धत्वेन गानाभावात् कथं भगवद्भाव इति चेत् ? उच्यते । भगवत्स्वरूपस्य नादब्रह्मात्मकत्वाद्यथास्थितनादस्वरूपज्ञाने भगवत्प्राप्तिरिति भावः । अत एव सङ्गीतशास्त्रे निरूपितं 'वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः । तालक्रियाप्रयासेन मोक्षमार्गं लभेत हि' इति । यथा कौपं जलं गुणेनैव ग्राह्यं, तथैतेषां भावो भगवत्त्वगुणत्वेनैव गृह्यत इति भावः ॥ २ ॥

ननु गायकानामनेकभेदवत्त्वात् कथं सर्वेषां तुल्यतेत्याशङ्क्याहुः कूपभेदास्त्विति ।

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यावन्तः कूपभेदाः सन्ति तावन्त एव गायकभेदाः सम्मता इत्यर्थः । यथा केचित् कूपा मिष्टान्नपरिपाचकत्वे सुरतरुपक्षस्थाः, केचिद्गुरुत्वादन्नपरिपाककारिणः, केचित् क्षाराः शुद्ध्यादिहेतवः, एवमनेकभेदास्तथा तेषु भगवद्गुणनिबन्धार्थज्ञानयुक्ताः, केचिच्च नादब्रह्मात्मकस्वरूपज्ञाः, केचिद्गानमाधुर्यपराः बहुभेदाः सन्ति इति यावन्तस्ते तावन्तस्तेषामपि भेदा ज्ञेयाः इति भावः । प्रथमभावं निरूप्य द्वितीयमाहुः कुल्याः पौराणिका इति । पौराणिकाः पुराणज्ञाः कुल्याः प्रोक्ताः । कृत्रिमसरित्तुल्या उक्ता इत्यर्थः । यतो भुवि पारम्पर्ययुताः, धरण्यां यथा परम्परया पुराणं श्रुत्वा वर्णयन्ति, न तु स्वतो विचारयन्ति, तेषां भावस्तजलतुल्य इत्यर्थः । यथा कृत्रिमा नदी प्रत्यहं खननादियानैरेव प्रवहति, प्रमादादप्यप्रयत्नतो वालुकादिभिः सुनिहता भवति, तथा तेषामपि नित्यं पुराणादिदर्शन एव भावो भवति, नान्यदा । यथा तस्याः पारम्पर्यता भुव्येव तडागादिषु, न तु स्वतः प्रवहन्नदीजलवत् सादित्वं समुद्रगत्वं च, तथैतेषामपि पुराणदर्शनकाल एवोत्पत्तिस्तत्रैव च समाप्तिर्न तु दयासमुद्रभगवद्भामित्वम् ॥ ३ ॥

तृतीयमाहुः क्षेत्रप्रविष्टा इति ।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिकाः ॥ ४ ॥

ते च पौराणिकाः । गायकनिरूपणानन्तरं पौराणिकनिरूपणेन पुनश्च गायकनि-

रूपेण पुराणोक्तभगवद्गीतानिरूपका गायका इवेत्यर्थः । गानस्य यथा चित्तहारकत्वम्, तथा पुराणानामपीति तन्मध्यनिरूपणमिति भावः । क्षेत्रप्रविष्टाः स्वकुटुम्बपोषणाजीविकार्थं पुराणनिरूपकाः ये ते संसारोत्पत्तिकुटुम्बपोषणसाधनोत्पत्तिहेतवो भवन्ति इत्यर्थः । चकारेण भगवद्गुणवर्णकानामनुचितः संसारः, तथापि तदर्थमेव कृतत्वात् तथेति भावो बोध्यते । अपिशब्देन संसारोत्पत्तिरपि भगवद्गुणविक्रेतुर्न भवेत्, परं भगवन्माहात्म्यवत्येवेति बोध्यते । यथात्पसरिदपि क्षेत्रे प्रविष्टा सती संसारोत्पत्तिहेतुरन्नाद्युत्पादिका भवति, न तु स्नानपानयोग्या । तथैतेषां भावोपि पुराणदर्शनेन स्वात्मशोधको न भवति, किन्तु जीविकाहेतुरेव भवतीत्यर्थः । अत एव पुराणोपजीविका नीचा उक्ताः । 'नीचा पौराणिकाः स्मृता' इति । चतुर्थं भावमाहुः वेश्यादिसहिता इति । वेश्यादिसहिता मत्ता ये गायकास्ते गर्ततुल्या इत्यर्थः । यदि गानस्वरूपज्ञानेन दोषरहिताः स्युस्ते नादं ज्ञात्वा मुक्त्यधिकारिणो भवेयुः, परं मत्तत्वादिषयाभिनिविष्टास्तेन तेषां भावो गर्तजलतुल्य इत्यर्थः । यथा गृहमध्यकृतगर्तसञ्चितजलस्य तद्गृह एव व्यवहारयोग्यत्वम्, न तु कूपादिवत् सर्वोपयोगित्वं शुद्धिकरत्वं वा; तथैतेषां भावो गानमाधुर्यादिना तद्दयानन्दकर एव, न तु पुरुषार्थसाधकोपि, तदर्थमपि नादस्य ब्रह्मात्मकत्वाद्भगवतो गानप्रियत्वात् तद्रसज्ञत्वात्तेष्वपि आनन्दोद्भवो भगवता दीयत इति भावः । मत्तत्वादिदोषरहिताः पूर्वोक्तसहिता गायकाः कूपादितुल्या इति भावः । यथा कूपोदकं गुणैकग्राह्यं भवति, जलग्रहणपर्यन्तमेव गुणकार्यं, न तु तदनन्तरमपि, तथा स्त्रीगानस्य मधुरत्वात् तद्वारा नादब्रह्मानन्दानुभवार्थमेतत्साहित्यमिति भावः ॥ ४ ॥

पञ्चमं भावमाहुः जलार्थमेव गर्तास्त्विति ।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

हदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

तुशब्दः पूर्वगतसाम्यत्वं निराकरोति । प्रक्षालनोच्छिष्टजलनिःसरणार्थं ये गर्ताः तत्तुल्या गानोपजीविन इत्यर्थः । यथा गर्तजलं नीचादिस्पर्शयोग्यमेव, न तु शुद्ध्यादिकरं, तथैतेषां भावोपीत्यर्थः । नीचत्वादेतेषां गानश्रवणमपि भगवद्भक्तैर्न कार्यमिति भावः, तद्गानस्यानन्दराहित्यादित्यर्थः । षष्ठं भावमाहुः हृदास्त्विति । भगवच्छास्त्रगीतापञ्चरात्रश्रीभागवतादिषु तत्परास्तदेकनिष्ठाः पण्डिताः हृदाः प्रोक्तास्तेषां भावो हृदजलतुल्य इत्यर्थः । तुशब्देन भगवच्छास्त्राभ्यासरतो न त्वन्य इत्यर्थो ज्ञाप्यते । यथा हृदजलं तरङ्गावर्तारिदहितं अन्तःशीतलं जलक्रीडादियोग्यं भवति, तथैतेषां भावोपि पण्डितत्वात् चाञ्चल्यरहितमनोनिवर्तनाद्यनुपहतो भगवच्छास्त्रतत्परात्वात् अनिरूपितभगवत्क्रीडानिरूपणयोग्य इति भावः ॥ ५ ॥

सप्तमं भावमाहुः सन्देहवारका इति ।

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

तत्र भगवच्छास्त्रसन्देहवारकाः सर्वमतनिराकरणपूर्वकभगवन्मार्गस्थापका गम्भीरं मनो येषां ते सूदाः सुष्ठु उदकं येषामेतादृशा हृदविशेषतुल्याः । तेषां भावस्तद्भेदतुल्य इत्यर्थः । जले शुक्तिशैवालाद्यावरणरहिताः गम्भीरमानसोक्त्या अन्तः कालुष्यान्याश्रयादिदोषरहिता इति भावः । यथा हृदजलं गम्भीरत्वे घर्मकालेऽन्तःशीतलं उपरि तप्तञ्च भवति; तथैतेषां भावोप्यन्तर्भगवत्सम्बन्धाच्छीतलो वहिलौकिकनिवृत्त्यर्थं सन्तप्त इति भावः । अष्टमं भावमाहुः सरःकमलसम्पूर्णा इति । यथा पूर्वोक्तप्रकारकसन्देहवारकाः बुधाः प्रेमयुक्ताः सन्तः सरःसम्बन्धिकमलपरिपूर्णाः, परन्तु नादगायकतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं सुरभिशीतलयुक्तत्वात् लक्ष्मीनिवासयुक्तभगवत्सेवोपयोग्यं, तथैतेषां भावोपि । सौरभवत् प्रसररूपः परतः पावनो हृत्कमले व्रजसीमन्तिनीभावस्थितिसहितभगवत्सेवोपयोग्यो भगवच्चरणाब्जमकरन्दपानमत्तमधुपायितचित्रकुन्तलालिश्वेति भावः ॥ ६ ॥

नवमं भावमाहुः अल्पश्रुता इति ।

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥

अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशन्ताः सरस्तद्वत् परिकीर्तिताः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं वर्षाशरत्काले निर्मलं घर्मकाले पश्चात्प्रसङ्गाच्च कलिलं भवति, तथैतेषां भावोपि भगवत्सेवादिषु प्रेमयुक्तत्वान्निर्मलो भवति, परमल्पाध्ययनत्वात् असकृलौकिकतापादिना कालुष्यादिकमाप्नोति इत्यर्थः । दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्मत्वेन ये भगवत्परिचर्यां कुर्वन्ति ते कर्मशुद्धाः, अत एव भगवतोक्तं 'मत्कर्मपरमो भवे'त्यादि । अन्यथा कर्मणा न शुद्धत्वकारणं स्यात् । अत एव 'यस्य स्पृत्या'दि स्मर्यते । तस्मात् सर्वोत्कृष्टत्वयज्ञकर्मात्मकत्वमेव सेवायज्ञत्वात् सेवन्ते, ते कर्मशुद्धास्तेषां भावः पल्वलमल्पसरोविशेषस्तुल्य इत्यर्थः । यथाल्पसरोजलं पानयोग्यं भवति, न तु स्नानावगाहनयोग्यं, तथैतेषां भावोपि भगवत्पूजाकर्मत्वाद्यत्किञ्चित् फलदो, न तु भगवदवगाहनयोग्य इति भावः । तथैवाल्पश्रुतिभक्तयः अल्पं श्रुतिः श्रवणं भागवतादिषु भगवन्माहात्म्यस्य, तथा भक्तियेषां तेषि तत्तुल्या एवेत्यर्थः । अल्पश्रुत्युत्पन्नभक्तित्वेनाहृत्त्वात् तथेत्यर्थः ॥ ७ ॥

एकादशं भावमाहुः योगध्यानादिना संयुक्ता इति ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्वाः प्रकीर्तिताः ।

तपोज्ञानादिभावेन खेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

योगोऽष्टाङ्गः, ध्यानं प्रादेशाङ्गमात्रादेः । तत्संयुक्ताः गुणाः भावाः वर्ष्वाः तज्जलतुल्याः प्रकीर्तितास्तेषां भावस्तत्तुल्य इत्यर्थः । यथा वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभं परमचिरस्थायि तथैतेषामपि योगादिसमय एव भगवद्भावो, न सर्वदेति भावः । द्वादशं भावमाहुः तपोज्ञानादिभावेनेति । तपः कृच्छ्रादि, ज्ञानं जीवात्मनः । आदिपदेन विद्याविद्याबन्धमोक्षज्ञानं षोडशपदार्थज्ञानं लौकिकैः (कर्म)भिर्यो भावस्तेन संयुक्ताः खेदजास्तु प्रकीर्तिताः खेदजतुल्याः कथिताः इत्यर्थः । तेषां भावः खेदजतुल्य इत्यर्थः । केचित् तपसैव भगवान् प्राप्यत इति ज्ञात्वा तप एव कुर्वन्ति, केचित् ज्ञानेन जीवात्मज्ञानेन मोक्षो भवति, 'ज्ञानादेव हि कैवल्य'मिति ज्ञात्वा ज्ञानार्थमेव यतन्ते । केचित् षोडशपदार्थज्ञानेनैव मोक्ष इति तज्ज्ञानार्थं न्यायादिकं पठन्ति, ते सर्व एवाज्ञाः । यतो भगवत्प्राप्तिस्तु भक्त्यैव, न तैः, अत एव भगवतोक्तं 'नाहं वेदैर्न तपसे'त्यारभ्य 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य' इत्यन्तम् । 'रहूगणैतत्तपसे'ति च । तस्मात् तेषां भावस्तत्तुल्य इत्यर्थः । यथा खेदजं जलं स्नानाद्ययोग्यं, अस्त्राद्, तापकरम् । तथैतेषां भावोपि नात्मशोधकः, नापि भगवत्प्राप्तिकरः, तापक्लेशादिकर एवेत्यर्थः । जलसाम्यत्वेन हेयार्थश्च वर्णित इत्यर्थः ॥ ८ ॥

त्रयोदशं भावमाहुः अलौकिकेन ज्ञानेनेति ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

अलौकिकेन भगवद्भक्तेन महत्तमचरणरजोभिषेकजेन वा ज्ञानेन हरेरकारणसर्वदुःखहर्तुः कादाचित्काः कदाचिदेव स्वीयानां दर्शनतापनिवृत्त्यर्थं प्रकटीकृताः प्रतीयमाना गुणाः शब्दगम्याः वेदादिगम्याः श्रुतिरूपव्रजवरवधूरूपैकगम्याः ये वर्णयन्ति ते पतच्छब्दाः पर्वतशिखराद्वारापतने ये शब्दाः तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः निरूपिताः इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा धाराजलशब्दाः तत्र जलस्थितिज्ञापकास्तथा तद्दर्शनमपि तद्बुद्धि भगवत्स्थिति बोधयतीत्यर्थः । धारा अपि शब्दगम्या भवन्ति, भावा अपि तथैवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

चतुर्दशं भावमाहुः देवाद्युपासनोद्भूता इति ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्भूताः ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

प्रेमपूर्व्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥

स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

देवाः शिवादयः, आदिपदादुमादुर्गाभैरवादयः, तेषां उपासने प्रोद्भूताः तत्र भगवत्त्वेन सर्वेश्वरत्वेन मोक्षसाधकत्वेन ये भावास्ते भूमेः सकाशादुत्पन्नाः तुषारजलकणा इवेत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । तेषां तद्भजनेन किञ्चित्फलं, किन्तु भगवतो-

ऽन्यथा चिन्तितत्त्वान्नरकः । अत एव 'योन्यथा सन्त'मित्युक्तम् । यथा तज्जलं न स्नाना-
दियोग्यं किन्तु स्वाधारमपि पंकिलं करोति, तथैतेषां भावोपि न शुद्धादिकमुत्पादयति,
मोक्षसाधको वा भवति, परं देवानां भक्तत्वात् स्वाधिसाम्यतया भजंस्तमनुकारयति इत्यर्थः ।
पञ्चदशं भावमाहुः । साधनादिप्रकारेणाग्निहोत्रनित्यकर्मादिसहितश्रवणादिनवधाभ-
क्तिरूपो मार्गस्तेनैव प्रेमपूर्व्या ये स्फुरद्दर्मास्ते स्यन्दमानास्ते प्रस्रवणतुल्याः प्रकीर्तिता
इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं पर्वतादिवृष्टिवाहुल्यात् वर्धते, आतपादिषु
च हीयते, तथैतेषां भावोपि साधनसत्सङ्गैर्वर्धते, दुःसङ्गादिभिश्च गौणतां प्राप्नोतीत्यर्थः ।
अत एव कपिलदेवैः साधनत्वेन देवहृतिं प्रति सत्सङ्ग उक्तः 'सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य' इति ।
यद्वा, नवधाश्रवणादिरूपभक्तिमर्यादासार्गीयसाधनादिप्रकारेण स्फुरद्रूपा धर्माः दानव्रतत-
पोहोमेत्यादिरूपाः येषु तेषां भावः स्यन्दमानजलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं वृष्ट्यादिसापेक्षं
तथैतेषां भावोपि धर्मसापेक्षः इति भावः । षोडशं भावमाहुः यादृशाः पूर्वमुक्तास्तादृशाः
सङ्गादिना वृद्धिक्षयविवर्जिताः सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा
नवधाभक्तिमार्गमर्यादायामेव मुख्यतया प्रतिष्ठिताश्चेत् तदा ते स्थावराः समाख्याताः
सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा तज्जलं नातपादिभिर्हासं प्राप्नोति, न वा
वृष्ट्यादिभिर्वर्धितं, न तरङ्गफेनावर्तादिभिः क्षुब्धं भवति तथैतेषां भावोपि दुःसङ्गादिभिर्न
क्षीणतां भजति, न वा भक्तसङ्गेन वर्धते, तद्दर्शनेन न क्षुब्धो भवतीत्यर्थः ॥ ११३ ॥

सप्तदशं भावमाहुः अनेकजन्मसंसिद्धा इति ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

अनेकजन्मभिः कृत्वा सम्यक्प्रकारेण सत्सङ्गादिभिः भगवत्कृपया वा सिद्धाः
साक्षात् सेवायोग्यं जन्म प्राप्तवन्तः जन्मप्रभृति आजन्मतो भगवद्भजनतत्पराः सर्वदा
सर्वजन्मसु एतादृशाः भगवद्भक्ताः समुद्रगामिनदीतुल्याः परिकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां
भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तेषां जलानां वर्षादिजलवृद्धिसापेक्षत्वं, स्वतश्च समुद्रगा-
मित्वं, तथैतेषां भावोपि सापेक्षो भगवद्गामी चेत्यर्थः ॥ १३ ॥

अष्टादशं भावमाहुः एतादृशा इति ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥

जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशाः पूर्वाक्ताः स्वतन्त्राः श्रवणसङ्गाधपेक्षारहिता निरुपाधिकाः । स्वतन्त्रा
एव भगवद्भजनपराः सिन्धवः समुद्रगामिनदीतुल्या इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य

इत्यर्थः । यथैतज्जलं न वृष्ट्यादिजलसापेक्षं स्वतः समुद्रगामि, तथैतेषां भावोपि नान्यसापेक्षो
दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशतीति भावः । एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा भगवदीया इति ।
ये पूर्णा भगवदीया भगवत्तोषं विना नान्यं जानन्ति, येषां सेवयैव तापापगमः, भग-
वदाज्ञाकारिणस्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां भावो रत्नाकरतुल्य इत्यर्थः ।
तानेव वर्णयन्ति शेषव्यासाग्निमारुताः इति । शेषो भगवत्सेवापरः स्वसुखादिक-
मविचार्य शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते, तेनैव चात्मसुखं मन्यते । व्यासः कलावतारः
सर्वोद्धारार्थं भगवद्गुणनिरूपणपरः, यस्य साक्षात् समाधिलब्धभगवद्दर्शनानन्तरं भक्ति-
शास्त्रनिरूपणेनात्मप्रसादः । अग्निर्मेहादेवो यः सर्वविरुद्धमोहशास्त्रमपि सृष्ट्याद्यर्थं भ-
गवदाज्ञया स्वस्य तदीयत्वेन कृतवान् । अत एव 'वैष्णवानां यथा शम्भुः' इति श्रीभाग-
वते । अत्र महादेवस्य नाम विहायाष्टमूर्तिस्थाभित्त्वकथनेन मोहशास्त्रकरणे जयापदहक-
त्वमुक्तम् । मारुतो हनुमान् श्रीकोशलेन्द्रचरणसेवनपरः । जडो जडभरतः भगवद्भ्र-
मानसत्वाज्जडवत् तिष्ठति । नारदः सदा भगवद्गुणगानेन भगवतोप्यानन्दजनकः । अत
एव श्रुतिः 'यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते तदा वीणाऽस्मै वाद्यत' इति । मैत्रो मैत्रेयः
पराशरशिष्यो भगवद्भक्तः । आद्यपदात् प्रह्लादादयः । तेषां भावो समुद्रतुल्यः रत्नाकर-
तुल्य इत्यर्थः । यथा समुद्रोन्तः रत्नमयस्तथा चैतेप्यन्तर्भावयुक्ताः, अत एव कपिलैरुक्तं
'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भूमिनि भाव्यते' इति ।

पूर्णभावान् मार्गस्वरूपज्ञानभेदेन विशेषतो वर्णयन्ति लोकवेदगुणैरिति ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

एके लोकमिश्रभावेन एके वेदमिश्रभावेन हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते यथाक्रमं क्षाराद्याः
क्षार आदियेषां ते षट्संख्याकाः प्रकर्षेण कीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां तेषां भावो भिन्न-
भिन्नतया तत्तत्समुद्रजलतुल्य इत्यर्थः । रामकृष्णौ मनुष्यावेव परं बलतेजोधिकविति देवौ
वेति ज्ञात्वा गुणवर्णनपराः क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षा-
रजलं न तृषानिवर्तकं, नापि स्नानादिसुखकारि, किन्तु गम्भीरं मलादिनिवर्तकं तथैतेषां
भावोपि न संसारतापनिवर्तको, नापि श्रवणेऽन्येषां भक्तिसम्पादकः, किन्तु देवादिज्ञानेन
तत्स्वरूपशोधकः । बलाधिक्यादिगुणश्रवणेनान्येषां मर्यादाभक्तानां यत्किञ्चिदानन्दका-
रीति भावः । ये तु वेदरक्षार्थं भगवदवतारः, नतु भगवानानन्दमयः श्रीकृष्ण एवेति ज्ञात्वा
गुणवर्णनपरास्ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति भावः । यथा दधिमण्ड-
स्यासारत्वात् न प्राणपोषकत्वं न वा चित्तापनिवर्तकत्वं, तथैतेषां भावस्यापि सच्चिदानन्द-
मयज्ञानाभावान्न मोक्षोपयिकत्वं न वा संसारनिवर्तकत्वमिति भावः । भायया सत्त्वा-
दिगुणैर्गुणमयं देहमाश्रित्य भगवान् सृष्ट्यादिकं करोति न स्वत इति ये गुणान् वर्णयन्ति

तेषां भावः सुरोदतुल्य इत्यर्थः । यथा सुरा स्वरूपविस्मरिका पानकर्तुरिन्द्रियदोषजनिका, तथैतेषां भावोपि भगवद्गुणानां सम्बन्धित्वेपि मायामोहनस्वरूपविस्मरणं कारयति, स्वसम्बन्धेनान्यस्यापि तथात्वं सम्पादयतीति भावः । हरिः सर्वदुःखहर्ता 'स सर्वज्ञः सर्वशक्ति'रित्यादिश्रुतिगोचरात् कारणभूतः सर्वं स्वेच्छयैव करोतीति ये गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरे स्वादुत्वं वीर्यजनकत्वमभितप्तत्वे माधुर्याधिक्यं, तथैतेषां भावस्यापि मनोहरत्वमधिकगुणगानार्थं शुद्ध्याधिक्यं तापानन्तरं च रसात्मकलीलाकर्तृत्वज्ञानानन्तरं तन्निरूपणेन माधुर्यत्वमिति भावः । भगवानलौकिकवीर्यवान् स्वीयान् साधनरहितान् अपि स्ववीर्येणैव मोचयतीति ये गुणान् वर्णयन्ति तेषां भावो घृतोदतुल्यः इत्यर्थः । यथा घृतं अन्यसम्बन्धं विनापि स्वपानेन बलवन्तं रोगमुक्तं च करोति, तथैतेषां भावोपि संसारसागरतरणाय योग्यदेहं करोतीति भावः । भगवान् हरिः शिवदुर्गाप्रभृतिभिः प्राप्तस्थानलक्षणस्तैर्मुहुरभिप्रार्थ्यचरणरेणुरिति चतुर्वर्गार्थं स एव सेव्य इति ये गुणगानपरास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः । यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनोदी, तथैतेषां भावोपि सर्वसेव्यत्वज्ञानेन मधुरः सेवनप्रवृत्तौ च त्रिविधतापनिवारकश्चेति भावः । 'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्यादिवाक्येभ्यः पुराणपुरोधत्तमो भगवान् एवाल्पाश्रयरहितोऽसौ भक्त्यर्थं सेव्य इति ये गुणवर्णनपरास्ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदतुल्य इत्यर्थः । यथा शुद्धोदं तृषादिनिवर्तकं स्नानादिना मलनिवर्तकं तापापहारी च, तथैतेषां भावोपि तृष्णादिनिवारकः पापनिवर्तकस्तापनिवर्तक इति भावः ॥ १५३ ॥

पूर्णभगवदीयेषु मुख्यान्निरूपयन्ति गुणातीततयेति ।

गुणातीतया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥

सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।

तेऽमृतोदाः समाख्याताः तदूवाकपानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

ये गुणातीतभावनाशुद्धाः केवलं सच्चिदानन्दरूपिणो भगवद्भ्याः गुणा इति ये सर्वानेव गुणान् न्यूनाधिकाभावेन सर्वान् एव, श्रीयशोदायामाविर्भावमारभ्य रासोत्सवप्रभृत्यान्तपर्यन्तं विष्णोर्व्यापकस्य सर्वत्र तत्तद्रूपस्य ये वर्णयन्ति विचक्षणाः भगवल्लीलादिकरणरसज्ञातारः ते अमृतोदाः समाख्याताः सम्यक् प्रकारेण कथिताः । तेषां भावः सुधासम इति भावः । यथा सुधायाः अमृतसम्पादकत्वं देवभोग्यत्वं तथा एतेषां भावस्यापि भगवत्सेवायोग्यदेहसम्पादकत्वं भगवद्भोग्यत्वं तदितराभोग्यत्वं चेति भावः । एतादृशानां तद्वाकपानं तेषां वचनामृतस्य पानं श्रवणं सादरं मनसा ग्रहणं अन्तर्निवेशनं सुदुर्लभं सुतरां दुष्प्राप्यं, सुदुर्लभत्वोक्त्या तत्सङ्गस्य भगवत्प्रापकत्वमुक्तमिति भावः । अत एव भगवतोक्तं 'सत्सङ्गेनैव'त्यारभ्य 'सिद्धा मामीयुरञ्जसे'त्यन्तेन, 'अधीते'

इत्यारभ्य 'सत्सङ्गान्मासुपागत' इत्यन्तं च । तद्वाक्यमाहात्म्यमाहुः तादृशानामिति ।

तादृशानां कचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।

अजामिलाकर्णनवद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

पूर्णभगवद्भक्तानां वचनामृतपानं दुर्लभम्, ते कचिद् कृपया वाक्यं वदन्ति, तद्वाक्यं दूतानामिव सन्देशहाराणामिव वर्णितं कथितमित्यर्थः । यथा दूतवाक्यं तत्प्रभुवाक्यमेव, तथा तादृशानामपि वाक्यं भगवद्वाक्यमेव । भगवान् उद्दिधीर्षुः स्वीयमुखेन स्वधर्मान् न ज्ञापयतीति भावः । अत एव कपिलदेवेनोक्तं 'सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य' इति तत्सङ्गस्य भगवति प्रार्थनमुक्तं, न तु स्वकरणत्वं, तद्भगवानेव फलं दास्यन् करोतीत्याशयेनान्यथा न कार्यं इत्येवोक्तम् । तस्मात्तु तादृशानां वाक्यश्रवणं सादरं मनसोपदेशवत् ग्रहणं बिन्दुपानममृतबिन्दुपानं प्रकर्षेण कीर्तितमित्यर्थः । यथा मृतपानेनामरत्वं देवत्वं, तथैतत्पानेन नाशाभावपूर्वकभगवत्सेवौपयिकत्वमेवेति भावः । अत एव श्रीभागवते 'परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्मा' इत्युक्तम् । 'महिमा मृतसमुद्रविषुष' इति च । अत्रानुभूतनिदर्शनमाहुः अजामिलाकर्णनवद्विन्दुपानं । यथा विष्णुदूतेभ्यो भगवद्दर्मबलश्रवणेन भगवद्दर्म एव रुचिरभूत्, तदितरेष्वरुचिः, तथैतद्विन्दुपानकर्तुरपि भवति ॥ १८ ॥

लौकिकाद्यासक्तिरहितबिन्दुपानेन रसास्वादो न भवति, तदर्थमाहुः रागाज्ञानादिभावानामिति ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।

तदा लेहनमित्युक्तं खानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

रागः खेहः पुत्रादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिपदेन सर्वविषयाद्यासक्तिः, तद्भावानां यदा नाशनं स्यात्, तदा लेहनमित्युक्तं भवति, रागादिभावानां नाशनं नामादर्शनं सवासनं तत्याग इत्यर्थः । तदेव लेहनं रागाद्यभावपूर्वकबिन्दुपानं खानन्दस्य भगवदानन्दस्योद्गमार्थं कारणं भवतीति भावः । स्वस्य जीवभावेन तिरोहितानन्दस्योद्गमे प्राकट्ये सम्यक् तत्कारणं भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

विंशं भावमाहुः उद्धृतोदकवदिति ।

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

पूर्वोक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथैव तेषां सर्वेषां भावाः भगवद्भाववचनेन गृहीताः । वाक्यानि च तथैवादरेण श्रुतानि उद्धृतोदकवदुपकुर्वन्ति यथा, तथा गृहीतानि प्रासादात् पतितोदकवत् उपकारं कुर्वन्तीत्यर्थः । उद्धृतोदकं यथा स्वस्य खानपानदशासु यत्नगृहीतत्वात् यत्किञ्चित्सङ्कोचेन योग्यं भवति, तथैतेषां भावोपीति भावः । तथैतेषां फलमपि भवति । पतितोदकं यथा मलस्नानादियोग्यं, न तु पानादिषु, तथैतेषां

भावोपीत्यर्थः । उद्धृतोदकं यथा पानादिदशायामेव तृषाशान्तिं करोति, स्रोतस्तिस्थानसदृशान् गुणान् विदधति, स्वस्थितिवशाच्च शीतोष्णभावं भजते, सुधा तु सदैकरूपेति सदैकरूपमेव गुणं विदधातीति भावः ॥ २० ॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इतीति समाप्तौ प्रकारेण वा । जीवे इन्द्रियेषु गताः प्राप्ताः भुवि नानाभावं सात्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणाः स्वरूपतः फलतश्च निरूपिता विवेचिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

इति श्रीबालकृष्णकृतजलभेदविवृतिः समाप्ता ॥

परिशिष्टम् प्रथमम् ।

पूर्णा भगवदीया इत्यत्र । अत्र हि सामान्यतः पुष्टिमर्यादामार्गीयोः पूर्णा ये भगवदीयास्तु उच्यन्ते । अत एव विवृतौ भक्त्या सेवया च पूर्णा इत्युक्तम् । तत्र मर्यादामार्गीयास्तु भक्त्या माहात्म्यज्ञानसहितस्नेहेन पूर्णाः सर्वदा गुणपरा धर्मद्वारैव धर्मिपराः, पुष्टिमार्गीयास्तु धर्मिमात्रपराः, तेषां परोक्षे गुणपरत्वं धर्मिपरतयैव । तद्विरहे स्वरूपं विना स्थातुमशक्त्या तत्परत्वात् । तत्र पुष्टौ गुणा अपि गीयमाना धर्मिरूपा एव । अत एव 'तव कथासुत'मित्यत्र कथाया अपि गुणरूपाया भगवत्समत्वबोधनाय षड्गुणत्वमुक्तम् । तैत् स्वरूपात्मकत्वं एव सम्भवति । अन्यथा गुणे गुणानङ्गीकारेण तेषु षड्गुणस्वोक्तिर्विरुद्धा स्यात् । तत्र शेषः पुष्टिमार्गीय एव, अन्तरङ्गलीलासम्बन्धित्वात् । व्यासस्तु मर्यादामार्गीयः, समाधिरूपसाधनेन भगवद्दर्शनवत्त्वात् । 'अपरयत् पुरुषं पूर्ण'मिति वाक्यात् । अत्रिस्तु प्रभुरस्माकं पुष्टिमार्गीय एव, पुष्टिभक्तिरूपमुखारविन्दरूपत्वात् । भारुतोपि तथा, मर्यादापुरुषोत्तमेषु पुष्टिमार्गीयप्रकारेणान्तरङ्गभक्तत्वात् । अत एव श्रीसीतामनःसमाहितये लङ्कायां दूतिकाया इव तस्य प्रेषणम् । जडो मर्यादामार्गीयः, पूजापरत्वाद्दुःसङ्गसभयत्वात् देहावसानप्रतीक्षकत्वाच्च । नारदोपि तथा, सततं गुणपरतया तावन्मात्रेण स्वस्थत्वाच्च । मैत्रेयोपि मर्यादामार्गीय एव, भगवत्पारोक्ष्येषु विदुरोपदेष्टृत्वेन स्वस्थत्वात् । अन्यथोद्धव इव क्लिष्टेनुभूतान् निजस्वामिगुणानेव स्थातुमशक्ततया नुवदेत् । एवं सति पुष्टिमर्यादामार्गीयत्वाविशेषेण भक्तेषु पूर्णत्वमेवादाय समुद्रत्वमत्रोच्यते, न

तु विशिष्य । तथा च यथा समुद्राः पूर्णाः, तथैतेपि गुणैर्भगवदीयैर्भावैश्च पूर्णाः । यथा वा ते चन्द्रदर्शनेन तरलिततरङ्गाः, तथैतेपि गुणगानावसरे भावमावनावसरे च भगवद्भवनविद्युदर्शनेन भावतरङ्गितान्तःकरणा इति तात्पर्यज्ञानादेव पुष्टिमार्गीयाचार्याणां मर्यादामार्गीयभक्तमङ्गिपाठोनुचित इति मत्सरिकथनं नीरमथनसदृशमेव । अत एवाग्रे 'लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेने'त्यनेन समुद्रसदृशभक्तेष्वेव षड्विधाः भिन्नाः कृताः, एकविधाः पुष्टिमार्गीया गुणातीततया 'शुद्धा' नित्यनेन भिन्नाः कृताः । भगवद्गुणानां षड्विधत्वेन मर्यादामार्गीयाणां षड्विधत्वम्, पुष्टिमार्गीयाणां तु धर्मिस्वरूपमात्रपरत्वेनैकविधत्वम् । पूर्वं हि मिश्रभावाः, तद्भावेषु गुणानां मिश्रणात् । तद्भारैव तेषां प्रभौ भाववत्त्वाच्च । उत्तरे तु शुद्धभावाः केवलस्वरूपेण तन्मात्रपरत्वात् । अत एव तद्रीयमानगुणेष्वपि स्वरूपात्मकत्वमभिप्रेत्याग्रे 'गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिण' इत्यनेन शुद्धत्वमुक्तम् । अत एव विवृतौ 'पूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान् निरूपयन्तीति गुणातीततये'त्यस्याभास उक्तः । तदर्थस्तु पुष्टिमर्यादासाधारण्येनोक्तपूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान् केवलपुष्टिमार्गीयान् निरूपयन्तीति ज्ञेयः । अत एव पूर्णत्वेन समुद्रसदृशत्वस्य सर्वेषु सत्त्वेपि तेष्वमृतोदतुल्यत्वनिरूपणम् । तस्मादेवमभिप्रायमवगत्य नास्मत्पितृचरणविवृतावज्ञमत्सरिभिः संशयलेशोपि विज्ञेयः । ननु तथापि तादृशपंक्तिपाठस्तदीयानां तानेव सर्वोत्तमत्वेन जानतां न मनोरमो भवतीति चेत्? सत्यम् । नेदं तदीयजनवाक्यं, येन संभावितमप्यन्यत्र तत्साम्यमुच्यमानं न सद्देयुः, क पुनर्वदेयुः, किन्तु निजाचार्यचरणानाम् । ते तु कश्चिद् धर्ममादाय बहुषु स्थलेषु तथा वदन्त्येव, अन्यथा 'अर्थं तस्य विवेचितु'मिति वाक्ये 'मां व्यासव'दिति दृष्टान्तेन व्याससाम्यं कथं वदेयुः । न हि भगवता निजाचार्यवत् पुष्टिपथप्रकटनाय व्यास आविर्भावितः, किन्तु कीरवत् तन्मुखतः शब्दात्मकं श्रीभागवतमाविर्भावयितुम् । अर्थस्य भगवद्रूपत्वेन तत्प्रकटनं तु 'स्वयमेवात्मनात्मान'मिति वाक्यरूपेणैव भवतीति तत्प्रकटनाय तदात्मकानाचार्यानेव, तत्रापि भागवतार्थो भक्तिरूप इति भक्तिरूपास्वरूपानेवाविर्भावितवान् । तथा च शब्दात्मकं श्रीभागवतं व्यासात् प्रकटितम्, अर्थात्मकमेतेभ्यः प्रकटितमिति तावद्धर्ममादाय यथा तत्र स्वस्मिन् तददृष्टान्त उक्तः, एवमत्रापि पूर्णभगवदीयत्वमात्रमादाय तन्मध्ये स्वस्यापि गणनेति न दोषः । वस्तुतस्तु पूर्णत्वं भगवदीयत्वं चाचार्येषु भिन्नमेव । भगवदीयत्वं तदास्वरूपत्वेन, तत्त्वेन भक्तिरूपत्वं, प्रभौ रसात्मकत्ववत् । अत एव यथा प्रभौ रसलीलायां तद्भर्माविर्भावो ब्रह्मत्वं च तादृशस्यैव, तथात्रापि भगवदाज्ञया अवतीर्य जनशिक्षार्थं भजने भक्तिधर्माविर्भावो, भगवत्त्वेपीति भगवत्त्वभगवदीयत्वे अपि संभवत इति नानुपपत्तिः काचित् । पूर्णत्वमप्यत्र स्वरूपपूर्णत्वमेव । चेतस्तत्त्ववणसेवायां निरोधे पञ्चात्मकस्वरूपेणैव पूर्णत्वात् । अत एव 'रसस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति प्रभोर्नाम । इतरत्र तु गुणैरेव तथास्वमिति विभेदः । पूर्णभगवदी-

यत्वं तु सामान्यतः सममिति तमादाय तथोक्तिरुचितैव । अन्यथैकादशे प्रभुणा स्वामिनीभावनिरूपणे 'यथा समाधौ मुनयोब्धितोय' इति स्वामिनीषु मुनिदृष्टान्तकथनं न सङ्गच्छेत । स्वामिनीभावयोगयोः सुमेरुसर्षपवन्तारतम्यात् । अत एवात्र स्वस्य श्रीभागवतप्रकटकत्वेन तत्समतया व्याससमीप एव निरूपणम् । नैतावताचार्येष्वंशतोपि तत्स्वरूपसाम्यमायाति । कलावतारपुरुषोत्तमयोः साम्यसम्भावनाया अप्यसम्भवात् । अन्यथा भगवति पुरुषोत्तमे पुरुषरूपत्वसंभावनाऽसंभवेन 'पुरुषः शक्तिभिर्यथे'त्यादिना पुरुषदृष्टान्तकथनं बाध्यते । अतो धर्मेणैव केनचित् सर्वत्र समतोक्तिरिति नात्र दोषलेशोपि । अत एव, आनन्दरूपतया सहजनीले भगवति नीलनीरदृष्टान्तोपि युज्यते । किञ्च, 'अङ्गीकृतौ समर्याद' इति सर्वोत्तमे नामनिरूपणेन प्रादुर्भावदशायां मर्यादापरिग्रहात् तत्पूर्णत्वमपि स्वस्मिन् बोधयितुं तत्पंक्तिपाठो निरूपितः । नैतावता न्यूनत्वमायाति । 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं, न तु तद्धानि'रिति न्यायात् । अपरञ्च, यथा शुकेन सर्वावतारगणनायां श्रीकृष्णमपि निरूप्य 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति तत्र विशेष उक्तः, अवतारकार्यकरणात् पुष्टिकार्यकरणाच्च । तथाचार्येष्वपि यज्ञादिमर्यादाकार्यकरणात् सेवादिपुष्टिकार्यकरणाच्चोभयविधकार्यकर्तृत्वमस्तीति बोधयितुं प्रथमतस्तन्मध्ये निरूपणं विधाय पश्चादाचार्याणां 'गुणातीततये'त्यादिना निरूपणं कृतमित्यस्मत्पितृपदविवृतावन्यथामतयोऽविज्ञातस्वपतय एवेति विद्वद्भिराचार्यचरणाश्रयैरवधेयमिति दिक् ।

अभिज्ञविवृतावज्ञाः पूर्वपक्षं प्रकुर्वते । अशक्ता अपि सुज्ञास्तु विश्वसन्ति तदीरिते ॥ १ ॥ शक्तास्तदाश्रयबलादिमिप्रायं विदन्ति हि । समादधति ते सर्वमतिमूढजनोदितम् ॥ २ ॥ गुरवः पितृपादा मे कथितेन सुते मयि । दासीभूते प्रसीदन्तु यच्छन्तु विमलां मतिम् ॥ ३ ॥

इति श्रीहरिदासविरचितं 'पूर्णा भगवदीया' इत्यस्य संशय-
निराकरणम् ॥

परिशिष्टम् द्वितीयम् ।

अथेदं विचार्यते । श्रीवल्लभैः 'पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्रिमा-
रुताः । जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः' इति जलभेदभावग्रन्थे
चतुर्दिशं सामान्यतः चत्वारः समुद्रा इव शेषाद्या उक्ता भगवदीयाः (त्रुटिपत्रम् ।)
अत्र समुद्रशब्दो यौगिकोऽपि ग्राह्यः । तथा च मुद्रया सहिताः समुद्राः । मुद्राऽत्र वै-
दिकतात्रिकमिश्रमखवैष्णवधर्मप्रवर्तनसम्प्रदायरूपा तत्सशीतलचक्रादिचिह्नधारणरूपापि

ग्राह्या । तेऽत्र चत्वारो वैष्णवधर्ममार्गसम्प्रदायिन आचार्याः परिगृहीताः । तत्र शेषः
श्रीमन्नारायणोपासनमुख्यकवैदिकधर्मपरायणतत्समुद्राङ्कितसात्त्विकाचार्यरामानुजरूपः स-
म्भूत उक्तः । व्यासः श्रीगोपीजनवल्लभोपासनमुख्यकृतात्रिकधर्मपरायणशीतलमुद्राङ्कितर-
जसोपचाराचार्यविष्णुस्वामिस्वरूप उक्तः । अधिः पुन उत्सन्न एव तत्सम्प्रदाये विलक्ष-
णप्रकारतः सर्ववेदेतिहासपुराणादिसारोद्धारसम्मिश्रितश्रीगोपीजनवल्लभसेवनमुख्यकधर्मप-
रायणशीतलमुद्राङ्कितनिर्गुणभक्तिमार्गाचार्यश्रीवल्लभरूपः तत्स्थान उक्तः । भारुतो वायुजो
इन्माम् महाविष्णुपूजनोपचारमुख्यकवैदिकतात्रिकधर्मपरायणतत्सशीतलोमयविधमुद्राङ्कित-
राजसतामसोपचाराचार्यमध्वाख्यरूपः संभूत उक्त इति चत्वारो मुख्यसम्प्रदायिन आ-
चार्या उक्ताः ।

अथ तेषां क्रमेणाग्रिमानुपसम्प्रदायिनो निरूपयन्ति जडनारदमैत्राद्या इति ।
जडनारदमैत्राणामाद्या मूलभूता इति । जडो रामानन्दस्वरूपः सन् सर्ववर्णसंकलितो वै-
ष्णवधर्मप्रवर्तकत्वात् शेषरामानुजस्य उपसम्प्रदायीभूतः । नारदस्तु कृष्णचैतन्यमुनिस्वर-
रूपः । तथैव व्यासविष्णुस्वामिस्वरूपा(चार्या)पसम्प्रदायकप्रवर्तकः सनातनमैत्रो मैत्रेयः
श्रीरूपाख्यः सम्भूतः । उत्सन्ननिम्बार्कमार्गस्योपसम्प्रदायप्रकाशकश्रीभट्टहरिव्यासमतस्य इति
केचित् । वस्तुतस्तु श्रीरूपः सहजीव एव स्वयं मूलभूताचार्यवायुरूपमध्वाख्यस्योपसम्प्र-
दायी जात उक्तः । एतदुपष्टम्भकं श्रीमदाचार्याणामेव स्वेषां वचनं, यथा श्रीभागवते
तृतीयस्कन्धे 'प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधमित्यत्र 'भेदः पारमार्थिक' इति
शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्तः । ते च सम्प्रति विष्णुस्वाम्यनुसारिणः तत्त्व-
वादिनो रामानुजीयाश्चेह तमोरजःसत्त्वैः भिन्नाः (भक्ताः), अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः । एवं
चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादितः, 'अभिसन्धाय योऽर्हिसां' इत्यादिभिरिति । पद्मपुराणे तु
'श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः । चत्वारस्ते कलौ भाव्याः सम्प्रदायप्रव-
र्तकाः । श्रीविष्णुस्वामिनिम्बार्कमध्वरामानुजाख्यया । भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते ह्युत्कले पु-
रुषोत्तमा'दित्युक्तम् । तत्र श्रीसम्प्रदायिकाः शेषरामानुजीयाः, ब्रह्मसम्प्रदायिनो माध्वाः,
रुद्रसम्प्रदायिनो व्यासविष्णुस्वामिसम्प्रदायानुवर्तिनः, सनकसम्प्रदायिनो निम्बार्कश्रीभट्ट-
हरिव्यासीयाः साम्प्रतम् । एतदभिप्रेत्यैवमेव सम्प्रदायप्रदीपे ग्रन्थे गदाधरद्विवेदिनावेदि-
तम् । भारतीये वैशम्पायनोक्तसहस्रनामस्तवेषि 'अहःसंवर्तको वह्निरनिलो धरणीधर'
इत्यत्र पृथक् पृथगेतदाचार्यचतुष्टयस्वरूपनामैवोक्तम् । तदेतत्सहस्रनामटीकायां श्रीवि-
ष्णुवल्लभाख्यायां द्रष्टव्यम् ।

वियदर्थवसुग्लौभिर्मितेऽब्दे मोदनामनि ।

चैत्रे सिते गुरौ द्वैते श्रीशः काश्यामदोऽलिखत् ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीहरिरायकृतविवरणसमेतानि ।

एवं जलभेदे पूर्वश्लोकैर्विशतिधा भिन्ना भक्तास्तद्भावाश्च निरूपिता जलदृष्टान्तेन, तेषामन्यद्दृश्यसार्दीकर्तृत्वज्ञापनाय । तेषां च पुनर्भक्तानामष्टादशविधाप्रतिपादितभगवद्गुणानामष्टादशविधत्वेन तन्मात्रपरतया केवलमर्यादामार्गीयाणामष्टादशविधत्वात्, पुष्टिमार्गीयाणां मिश्रशुद्धभेदेन द्विविधत्वात्सगुणनिर्गुणभेदेन दशविधानां मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधत्वाद्वा विशतिविधत्वम् । तद्भावानामपि तद्वर्तित्वेन तथा संख्यावत्त्वम् । अतः परं तद्वाक्यद्वारा तद्भावग्राहकान् श्रोतृन् पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधान्, पुष्टिमार्गीया एकविधा उत्तमा एव, मर्यादामार्गीयास्तु मध्यमाधमोत्तमभेदैस्त्रिविधा इति चतुर्विधांश्च निरूपयितुं प्रथमं मुख्यत्वेन पुष्टिमार्गीयान्निरूपयन्ति ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसारतिवर्जिताः ।

अनिर्वृता लोकवेदे मुख्यास्ते श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णः श्रिया परमशोभया लक्ष्म्या वा युतः कृष्णः सदानन्दो निर्दोषनित्यगुणपूर्णो रसिकशिरोमणिस्तस्य यो रसो भजनानन्दरूपः, अथवा स एव रसः स्थायिभावात्मा विरहरूपः, तेन परोक्षे हृदयागतेन विक्षिप्तं स्थानात् प्रचलितं यन्मानसमन्तःकरणं तत्र याऽरतिश्चरितश्रवणविषयिणी तथा वर्जिता इत्यर्थः । अथमर्थः । भगवच्चरिताकर्षणविषयिणी अरतिर्द्विधा निवर्तते, मर्यादापुष्टिमार्गीयभेदेन । तत्र मर्यादामार्गीय 'शुश्रूषोः श्रद्धानक्षे'ति वाक्यान्महत्त्वेनापुण्यतीर्थनिषेवणादिभिः रुचिरुदेति, ततोऽरतिर्विवर्तते । पुष्टिमार्गीयं तु तद्रसस्वाभावादेव 'दुस्त्यजस्तत्कार्यार्थ' इति वाक्यान्निवर्तते । तथा च पूर्वोक्तेषु पुष्टिमार्गीयत्वावगतय एवमुक्तम् । एवं चरित्रश्रवणे तेषामरत्वभावं निरूप्य तन्मात्रविषयकरतिं निरूपयितुं लोकवेदानिर्वृतिमाहुः अनिर्वृतां लोकवेद इति । लोकयुक्ते वेदे प्रवृत्तिमार्गीयधर्मबोधके भगवदितरभजनविधायके । अथवा लोके वेदे चानिर्वृता निर्वृतिरहिता अस्वस्था इत्यर्थः । उभयोरपि लोकवेदयोः 'ये त्यक्तलोकधर्माश्चे'ति वाक्यात्याज्यत्वेन तुल्यताबोधनाय समस्तं पदम् । अत एव लोकानिर्वृतिबोधनाय 'पतिसुतादिभिरातिदैः कि'मित्यादिवाक्यान्युक्तानि । वेदानिर्वृतिबोधनाय 'भग्नमुद्धर गोविन्दे'त्युक्तम् । त्वमेव साक्षादतिदुःखसागरे निमग्नं ब्रजमुद्धर, नतुद्धतेन वेदेन वयमुद्धर्तव्यां इत्याशयेन । एवं ये पुष्टिमार्गीयप्रकारेणारत्यभावरतिभावयुक्तास्ते मुख्याः पुष्टिमार्गीयत्वेन श्रेष्ठाः ।

१ विप्रयोगे गुणगानं विना स्थातुमशक्यम् । २ अस्वास्थ्यम् ।

अथवा, मुखं पुष्टिमार्गीया भक्तिस्तत्रभवा भक्तिरूपभगवन्मुखारविन्दसंलमार्ककुलत्वेनोच्यमानाः सम्भूय भक्तिमात्राश्रयेण पुष्टिमार्गीयमुक्ता जीवा मुख्या इत्यर्थः । ननु पूर्वमनिर्वृता लोकवेद इत्यनेन भगवति रतिरुक्ता, न श्रवणादिष्विति तेषु गौण्येव सेति कथं मुख्यश्रोतृत्वमित्याशङ्काहुः श्रवणोत्सुका इति । भगवति रतावपि वियोगे श्रवण एवोत्सुकाः । औत्सुक्यं तत्रैव । प्रियप्रीत्यापि परोक्षे तत्सन्देशहारके प्रीतौ श्रवणौत्सुक्यस्य स्पष्टत्वात् । अत एवोक्तं 'इति स्म सर्वाः परिवव्रुत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदान्भुजाश्रय'मिति । तथा च रसिका रसविक्षिप्तमनसश्चरितसहजभावाः वियोगार्तियुताः प्रियवार्ताश्रवणमात्रैकमतयः पुष्टिमार्गीयाः श्रोतार इति सिद्धम् ॥ १ ॥

एवं पुष्टिमार्गीयान्भक्तान् निरूप्य मर्यादामार्गीयांस्तान्निरूपयितुं तत्रोत्तमा अतिदुर्लभा इति प्रथमं मध्यमान्निरूपयन्ति ।

विक्षिप्तमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।

अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥

विशेषेण क्लिन्नं तदेकपरतया क्रोमलत्वादार्द्रं मनो येषामित्यर्थः । यथार्द्रं वस्तु स्वसम्बद्धमप्यार्द्रयति, तथा येषां मनः स्वसम्बन्धिनामपि रूक्षत्वेन शुष्काणां चेतः सार्द्रं विदधाति, शुकादीनामिव त इत्यर्थः । य इत्यनेन सर्वत्र प्रसिद्धाः मर्यादामार्गीया उक्ताः । तुशब्देन पूर्वोक्ताः पुष्टिमार्गीया व्यावर्तिताः । ननु विक्षिप्तमनस्त्वं पुष्टिमार्गीयेष्वपि तद्गीत्या भवतीति तद्भाववर्तकं धर्ममाहुः भगवत्स्मृतिविह्वला इति । श्रवणावसरे या चरित्रसम्बन्धितया भगवतः षड्गुणपूर्णस्य स्मृतिः स्मरणं तेन, न तु स्थायिभावात्मकेन रसेन विह्वलास्तलीलाविशिष्टप्रसुदर्शनाय व्याकुला इत्यर्थः । ननु पूर्वोक्तधर्मद्वयेनापातत उत्तमत्वमेव तेषु भासत इति व्यक्ततया मध्यमत्वबोधकं धर्ममाहुः अर्थैकनिष्ठा इति । ते पूर्वोक्तधर्मयुग्मेनोत्तमतया भासमाना अपि अर्थः पुरुषार्थो मोक्षादिः, अथवाऽर्थः प्रयोजनं स्वकृतार्थत्वादिः स एवैको मुख्यस्तन्निष्ठाः, न तु मुख्यतया चरित्रनिष्ठाः । फलसापेक्षत्वान्मध्यमा इत्यर्थः । ननु तादृशाः श्रोतार एव न भवन्ति, तत्र तात्पर्याभावादित्याशङ्काहुः श्रवणोत्सुका इति । तत्साध्यफलतात्पर्यवत्त्वेपि श्रवणे भगवच्चरित्रश्रवणे उत्सुका औत्सुक्यवन्त इति तेषां श्रोतृत्वेन मध्यमत्वमित्यर्थः । यथा परीक्षिदादीनाम् । तेषामितरपेक्षया पूर्णवैराग्यवत्त्वेनोत्तमत्वेपि सोपार्थिकप्रवृत्तेर्विदुरोद्धवाद्यपेक्षया मध्यमत्वमेव । अत एव 'प्रायोपविष्टो गङ्गाया'मिति वाक्यात्परीक्षितः स्वकृतार्थताहेतुत्वेन गङ्गाद्यपेक्षा । अन्यथान्यत्रैवोपविष्टः स्यात् । भगवच्चरित्रं तु भगवानिव न स्वफलसाधनेन्यदपेक्षत इति स्वार्थनिष्ठत्वमेव तत्र प्रयोजकमिति तत्र तथात्वम् । विदुरस्य तु 'यत्र मित्रासुतो मुनि'रिति वाक्याद्भक्तसन्निहितस्थलत्वेनैव तत्र गमनं, न गङ्गोद्देशेनेति स्वार्थनिष्ठत्वाभावाच्चरित्रमात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमेवेत्यर्थः । मर्यादामार्गीयत्वं तु परीक्षिद्दि-

१ अलिङ्गलेति पाठः । २ चरित्र । ३ मोक्षादि । ४ मुक्त्यर्थम् । ५ तेषु मध्यमत्वम् ।

दुरयोः समानं शुद्धिसापेक्षफलसिद्धेः । अत एव तीर्थाटनसत्सङ्गाभ्यामेव विदुरे श्रवणा-
धिकारः सिद्धः । परीक्षिति तु स्पष्ट एव । अत एवास्मदाचार्यैरुक्तं 'मर्यादास्थस्तु गङ्गायां
श्रीभागवततत्पर' इत्यन्येषामपि तथाविधानां चित्तचाञ्चल्याभावसाधनत्वाभिप्रायेण ॥२॥

एवं मध्यमान्निरूप्याधमानामप्रयोजकत्वेन भिन्नतयाऽनिरूपणीयत्वादुत्तमनिरूपण-
मध्य एव केनचिद्धर्मेण तान्निरूपयितुमुत्तमानेव प्रथमं निरूपयन्ति ।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।

ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥

कृष्णस्य सदानन्दस्य तत्त्वं वास्तवं रूपं रसात्मकं तादृशकरपादादियुक्तत्वेन सा-
कारं व्यापकं स्वेच्छया मायापसारणेनाविर्भावत् निःसन्दिग्धं शास्त्रस्वानुभवाभ्यां सन्दे-
हरहितं तत्रापि सर्वभावेन 'यावान् यश्चास्मी'ति वाक्याद्रसात्मकः साकार एव सर्वरूप
इति भावेन तात्पर्येण विदुर्जानीयुरित्यर्थः । नन्वेवं दृढज्ञाने श्रवणापेक्षाऽभावात् श्रोतृ-
त्वमुपपद्यत इत्याशङ्क्याहुः ते त्विति । ते पूर्वोक्ता दृढज्ञाना अपि ज्ञानेन हृदये भगव-
दावेशात् तु विकला ज्ञातृत्वेन स्वस्फूर्तिरहिता इति तदुपपद्यत इत्यर्थः । अत एवोक्तं
'हरेर्गुणाक्षिसमतिर्भगवान् बादरायणि'रिति । तुशब्देन रसावेशवन्तो व्यावर्तिताः । तेषां
रसावेशस्य सार्वदिकत्वेन कदापि स्वरूपज्ञानानुदयात् । ज्ञानस्य च रसोदयप्रतिबन्धक-
त्वात् । अत एव सर्वव्यापकस्य स्वान्तःस्थितस्यापि प्रभोरन्वेषणादौ प्रवृत्तिः । (सर्वदा
रसावेशवतामन्वेषणादौ प्रवृत्तिः । रसात्मकस्वरूपव्यापकस्वरूपज्ञानोदये सति अन्वेष-
णादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । गोपिकानां तु सर्वदा रसावेशवत्त्वम् । अतः प्रवृत्तिः ।) तदेवोक्तं
सिद्धज्ञानेन श्रीशुकेन 'प्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्त'मिति प्रभुविशेषणकथनेन ।
अत एवोक्तं प्रभुणापि 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवे'दिति । ननु भगवदावेशे
भगवत इव सर्वज्ञत्वमुचितं, तत्कथमेतेषां वैकल्यं, यतो हेतोरुणश्रवणे प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य
पक्षान्तरमाहुः निरोधाद्देति । तेषां गुणैरेव निरोधात् । प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं भगवदा-
सक्तिसम्पादनात् । गुणानामपि स्वातन्त्र्येण निरोधकत्वं श्रूयते 'मद्गुणश्रुतिमात्रेणेत्यादौ ।
अतो निरोधेन वा वैकल्यमित्यर्थः । नचान्यथेति स्वरूपनिरोधात् तथेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं श्रोतृत्वमुपपाद्य कदाचिन्मोक्षार्थनिष्ठतैतेषामपि भविष्यतीत्याशङ्क्यार्थैकनि-
ष्ठत्वप्रयुक्तं मध्यमत्वं वारयन्त आहुः ।

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।

अन्यासक्तास्तु ये केचिद्धमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

सर्वत्र पूर्णो यो भगवद्भावो ज्ञानेन भगवदावेशाद् निरोधाद्वा सर्वत्र भगवत्स्फुर-
णात्तेनैव पूर्णः अर्थः पुरुषार्थो येषामिति, न तेषामन्यः स्वार्थ इति, तन्निष्ठत्वेन मध्यमत्वं
न, किन्तु भगवन्मात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमित्यर्थः । नन्वेवं पुष्टिमार्गीयेभ्यो न भेद आयाति,
तेषामप्येवंविधत्वादित्याशङ्क्याहुः कदाचिन्न तु सर्वदेति । एतेषां भावनावसरे गुण-

गणाकर्णनावसरे वा तात्कालिकनिरोधात् तथात्वम् । पुष्टिमार्गीयाणां तु सदैव तथात्व-
मित्यर्थः । अत एव शुकादीनां न सर्वदा लीलेतराननुसन्धानम् । अन्यथा 'मथुराया ब्रजं
गता' इति ताटस्थेनोक्तिर्नोपपद्येत । पुष्टिमार्गीयभक्तभावस्य तु सार्वदिकत्वं प्रभुरेवाह
एकादशे 'ता नाविद'त्रिति पद्ये नीरनिधिनीरप्रविष्टनदीदृष्टान्तेन । नहि महाजलधिजल-
प्रविष्टा नद्यः कदापि पूर्वभावं प्राप्नुवन्ति । स्वरूपेण स्थिता अपि न भेदेन व्यपदिश्यन्ते ।
अतः पुष्टिमार्गीयेषु भगवदितरस्फूर्तिरहितभाववद्भगवदीयत्वं भगवत्त्वं च, भगवता सहै-
तप्रोतन्यायेनैक्यात् मर्यादामार्गीयेषु श्रवणादिना भगवदीयत्वमेवेति महानेव भेद इत्य-
लमुक्त्या । एवं बहिःसंवेदनाभावदशायां मर्यादामार्गीयोत्तमान्निरूप्य बहिःसंवेदनद-
शापञ्जांस्तान्निरूपयितुं बहिःसंवेदनप्रसङ्गेन मध्येऽधमान्निरूपयन्ति अन्यासक्ता इति ।
ये केचित् ब्राह्मणत्वशूद्रत्वादिभिस्त्वर्षीपर्वयुक्ता अप्यन्यद्ब्रह्मादिकं तत्रासक्त्या वृत्त्यादि-
सम्पादकत्वेन लोकानामग्रे कथनार्थं भगवद्गुणश्रोतारः 'क्षेत्रप्रविष्टा' इत्यादिनोक्तगुण-
गायकभावग्राहका अधमाः परिकीर्तिता इत्यर्थः । तुशब्देन भगवदर्थकगृहासक्ता व्याव-
र्तिताः । तस्यास्तु पुष्टिमार्गीयमोक्षरूपत्वेन उत्तमत्वसम्पादकत्वात् ॥ ४ ॥

एवं मध्येऽधमान्निरूप्य पुनर्बहिःसंवेदनदशापन्नानुत्तमान्निरूपयन्ति ।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।

देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

बहिःसंवेदनदशायापि न विद्यते अन्यः भगवदतिरिक्तो यत्र एतादृशं मनो
येषामित्यर्थः । ननु को विशेषस्तदान्तःसंवेदन इत्याशङ्क्यानन्यचेतस्त्वे प्रकारभेदमाहुः
देशकालेत्यादि । अन्तःसंवेदने हि देशादयो भगवत्त्वेनैव स्फुरन्ति, न देशत्वादिभिः ।
केवलभगवदाकारान्तःकरणे सर्वत्रावरणनाशात्, बहिःसंवेदने त्वन्तःकरणस्य प्रपञ्चप्रवे-
शेन तदाकारत्वे देशत्वादिप्रकारेण तस्फूर्तौ तत्र भावनामात्रेण भगवद्बुद्धिरिति विशेष
इत्यर्थः । ननु तदानीं कथं भगवत्त्वेन सर्वस्फूर्तिः, नेदानीम्, अन्तःकरणस्य तस्यैव स्वरू-
पतः सत्त्वादित्याशङ्क्याहुः मर्त्या इति । अन्तःसंवेदने हि ते भगवद्गुणा एव, भाव-
नया तदात्मकत्वात्, अतो न तेषामन्यस्फूर्तिस्तदा, बहिःसंवेदने तु मर्त्यत्वादितरस्फूर्ति-
रिति तत्र देशादिषु शास्त्रेणाहार्या भगवद्बुद्धिरित्यर्थः । एतादृशा मर्यादामार्गी श्रवणादिषु,
आदिपदेन कीर्तनप्रभृतिषु चोत्तमा इत्यर्थः ॥ ५ ॥

भाववतस्तद्भावान् निरूप्य पूर्वं ततो भक्ताः ।

मार्गद्वयेन चोक्ताः श्रोतारः श्रीमदाचार्यैः ॥ १ ॥

आचार्या निजकरुणामात्राः कुर्वन्तु सन्तुष्टाः ।

नाम्ना मां हरिदासं रूपेणापि स्वतः प्रभवः ॥ २ ॥

इति श्रीहरिदासीयं श्रोतृचातुर्विध्यकथने निजाचार्यश्लोकपञ्चक-
विवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतानि ।

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिवर्धिन्या बीजभावदाढ्योत्तरं भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणकीर्तने साधनत्वेनोक्तवन्तः, बीजदाढ्यार्थं च पूजां श्रवणादीनि च नवापि साधनत्वेनोक्तवन्तः । तत्र, श्रवणं नाम भगवद्वाचकपदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः । कीर्तनं च तन्निर्धारपूर्वकं मुखादुच्चारणम् । एवं तयोः स्वरूपस्य साधारणत्वे त्यागानन्तरं क्रियमाणयोः कुतो भक्तिहेतुत्वम्, ततः पूर्वं क्रियमाणयोश्च कुतो बीजदाढ्यमात्र एवोपकारकत्वमित्याकांक्षायां निरोधलक्षणे 'महतां कृपया यावत्' 'महतां कृपया यद्'दिति श्लोकाभ्यां यथा कीर्तने विशेष उक्तः, महत्कृपाभिव्यक्तभगवत्कीर्तनस्यानन्दसन्दोहजनकत्वमिति प्रथमाधिकारे महतां कृपया यथा भगवदीयकृतं कीर्तनं सुखदं, तथा लौकिकसम्बन्धकीर्तनं न सुखदं, किन्त्व-रुचिविषय इति, तत उक्त्याधिकारे विशेषः कीर्तनस्याधिकार्यनुभवभेदविचारणोक्तः । तथा श्रवणस्य कुत्रापि नोक्त इति तदर्थं पञ्चश्लोकान् श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसान् हरेर्भक्ता इति निगमनान्तान्वदन्ति । प्रथममुत्कृष्टं भक्तिवृद्धिजनकं त्यागिनां भावमाहुः श्रीकृष्णोत्यादि । किञ्च, ननु यथा स्वस्मिन्भगवद्भावं सम्भवरूपं श्रवणफलसिद्ध्यर्थं श्रवणस्योत्कर्षार्थं च वक्तृभावान् परीक्ष्य तत्सङ्गः श्रवणार्थं विषेय इति जलभेदे प्रतिपादितम्, तथा वक्त्रापि भगवद्भावसम्भवरूपकीर्तनफलसिद्ध्यर्थं श्रोतृभावः परीक्षणीयः, तृतीयस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे विदुरमैत्रेयज्ञानसंक्रमस्य च परस्परसंवादेन प्रतिपादितत्वात् । अतः कीर्तनसिद्ध्यर्थं श्रोतृन् विचारयन्ति श्रीकृष्णोत्यादि ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः ।

अनिर्वृता लोकवेदे ते मुख्याः श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥

अत्र अनिर्वृता लोकवेद इति विशेषणं त्यागवत्त्वबोधकम् । तादृशमेव हि लोके वेदे चानिर्वृतेः । रतिवर्जिता इति विशेषणं तु रती रमणं बहिर्भगवत्प्राकट्येन भगवता सह संलापादिकं, तद्रहिता इत्यर्थकम् । एतेन निरोधलक्षणे 'क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वेति श्लोकद्वयेन यादृशोधिकार उक्तस्तद्राहित्यं सूचितम् । तेन ततः पूर्वं यो गुणगानाधिकारः, यश्चोत्कृष्टः कीर्तनाधिकारस्तदुभयं क्रोडीकृतम् । तदत्र आहुः श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसाः श्रवणोत्सुका इति पदद्वयेन । तथाच श्रीकृष्णस्य भगवतो यो रसो लीलासम्बन्धिभजनानन्ददात्मकः, तेन विक्षिप्तं मानसं येषां ते तथा, एतेन तेषां स्वार्थानुसन्धानं सूचितम् । एते पुष्टिमार्गीया उक्तधर्मेणावगन्तव्याः । किञ्च, श्रवणे

उत्सुका उत्कण्ठायुक्तास्ते भक्ता मुख्याः श्रवणाधिकारिणः । अथ यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध इत्यध्याहारः । एतेन ये कीर्तने द्वितीयाधिकारिणो ये च गुणगाने प्रथमाधिकारिणस्ते तुल्या इत्युक्तम् । कीर्तनगानयोर्ज्ञानपूर्वकत्वात्तस्य च श्रवणपूर्वकत्वादि दृश्यते, श्रवणे तादृशत्वस्यैव सिद्धेरिति । नन्वेकादशस्कन्धे 'अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्' यथाचरति यद्भूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रिय' इति जनकप्रश्ने हरिणा योगीश्वरेण 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मन' इत्यादिभिरेकादशभिः श्लोकैः कर्मज्ञानभक्तिमिश्रा भागवता उक्ताः, सुबोधिण्यां व्याख्याताश्चेति त एवात्र कुतो नोक्ता इति चेत् ? उच्यते । तथाहि, प्रश्ने नृणामिति पदात्साधारणा एव भागवताः पृष्ठाः, नत्वात्यन्तिका इत्यतस्तदनुक्तिः । किञ्च, तत्र तेषां फललक्षणे 'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्भरिवशाभिहितोप्यघौघनाशः, प्रणयरशनया धृतांश्रिपन्नः स भवति भागवतप्रधान उक्त' इत्यनेन भगवतः सर्वदा तद्भूदयस्थितिर्भागवतप्रधानलक्षणत्वेनोक्ता । सा च स्वमात्रगम्यत्वेन तत्र स्फुटति, नत्वन्यगम्यत्वेनेत्यन्यगम्यं लक्षणं तत्सङ्गार्थं वक्तव्यम्, तदत्रोच्यत एवेति पुष्टिमार्गे यादृशा विवक्षिताः तेन लक्ष्यन्त इति तदनुक्तिरिति जानीहि । तत्र प्रथमविशेषणद्वयेन यद्धर्मत्वं, तृतीयेन यादृशत्वं, तुरीयेण यथाचरतीत्यर्थोक्तं सिध्यतीत्यपि बोध्यम् । 'तथा न कामकर्मबीजानामिति श्लोकोक्तलक्षणवत्त्वमपि सिध्यतीति च बोध्यम् ॥ १ ॥

एवं शुद्धपुष्टिमार्गीयान् मुख्यान् श्रवणाधिकारिणो निरूप्य पुष्टिमर्यादामार्गीयान् मध्यमानाहुः विच्छिन्नेत्यादि ।

विच्छिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।

अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥

विशेषणं क्लिन्नं तदेकपरतया कोमलत्वाद्भगवद्रसेनार्द्रं मनो येषां ते तथा । तु पुनर्ये भगवतः स्मृत्या स्मरणेन विह्वला विवशतां प्राप्ताः, च पुनर्ये श्रवणोत्सुकाः श्रवणोत्कण्ठायुक्तास्ते त्रिविधा अपि अर्थैकनिष्ठाः अर्थः प्रयोजनं स्वकृतार्थतारूपं भक्तिबीजदाढ्यरूपं वा, तत्र एका मुख्या निष्ठा नितरां स्थितिर्येषां तादृशाः सन्तः मध्यमा भक्ताः । एवं च ये गृहस्थाः आसक्तैर्व्यसनस्य वा साधनपरास्ते पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि साधनपरत्वात्तेषां भगवन्निष्ठायास्तादृशसाधन एवोपयोगात्पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि मध्यमा एवेत्यर्थः । अत्रापि प्रथमविशेषणेन यद्धर्मत्वं द्वितीयेन च यादृशत्वं बोधितम् । तेनैवाचरणोक्ती अपि सूचितप्राये बोध्ये ॥ २ ॥

एवं पुष्टिमर्यादामार्गीयान् मध्यमानुक्त्वा मर्यादापुष्टिमार्गीयान् जघन्यानाहुः निःसन्दिग्धमिति द्वाभ्याम् ।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।

ते त्वावेशान्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।

अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

कृष्णतत्त्वं भगवतः सर्वकर्तृत्वं षड्गुणवत्त्वं परमकृपालुत्वं दीनबन्धुत्वं भक्तिज्ञाना-
दिजनकत्वं पतितपावनादिकत्वमनारोपितं निःसन्दिग्धं यथा स्यात्तथा सर्वभावेन भगवतः
सर्वत्वेन ये विदुः जानन्ति, तु पुनरावेशाद्भगवदवेशान्निरोधाद्वा ये विकलाः, च पुनर-
न्यथा न । किञ्च, पूर्णभावेनेति श्लोकोक्तकालपरिच्छिन्नधर्मवन्तस्ते ज्ञानप्रधानत्वाद-
न्यावेशेन भक्त्युत्कर्षराहित्याच्च जघन्या इत्यर्थः । तेन तादृशां तादृशां सङ्गे वक्तुरपि ता-
दृशतादृशभावस्य सिद्धिरिति यथासम्भवमुत्कृष्टसङ्ग एव प्रयत्ननीयमिति बोध्यम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

ननु भवत्वेवं तथापीदानीं जघन्यानामपि दुर्मिलत्वात्कीर्तनमुच्छिन्नप्रायं भवेदिति
तदभावार्थं सामान्यतः श्रवणादिभक्त्याधिकारिण आहुः अनन्यमनस इत्यादि ।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।

देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

प्रकारत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च देशादीन् प्रकारान् प्राप्य ये भग-
वदेकमनसस्ते श्रवणादिषु भक्तिषु सङ्गार्थं मृग्याः, यदि पूर्वोक्ता न मिलन्ति । मिलने तु
नैतादृशेषु सङ्गनीयमिति न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः ॥

इति श्रीमद्बल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजश्रीपुरुषोत्तम-

विरचितं श्रीकृष्णरसविक्षिप्त्यादिश्लोकपञ्चकस्य विवरणं

संपूर्णम् ॥

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-बोध-ग्रन्थान्तर्गत :- चतुर्दश :

संन्यासनिर्णयः

अष्टटीकाभिः समलंकृतः

- | | |
|---------------------------|------------------------|
| १. श्रीगोकुलनाथानाम् | ५. श्रीगोपेश्वरानाम् |
| २. श्रीरघुनाथानाम् | ६. श्रीपुरुषोत्तमानाम् |
| ३. श्रीगोकुलोत्सवानाम् | ७. फाका श्रीवल्लभानाम् |
| ४. चाचा श्रीगोपेश्वरानाम् | ८. चाचा श्रीगोपेशानाम् |

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-नित्य-लीला-स्थित-
गोस्वामिश्री-१००८- श्रीद्वारकेश्वरलाल-महाराजश्री-
त्येतेषां-स्मृतौ-तदात्मजैः- गोस्वामिश्री-१००८
श्री किशोरचन्द्र-महाराजैः
प्रकाशितः

प्रकाशक :

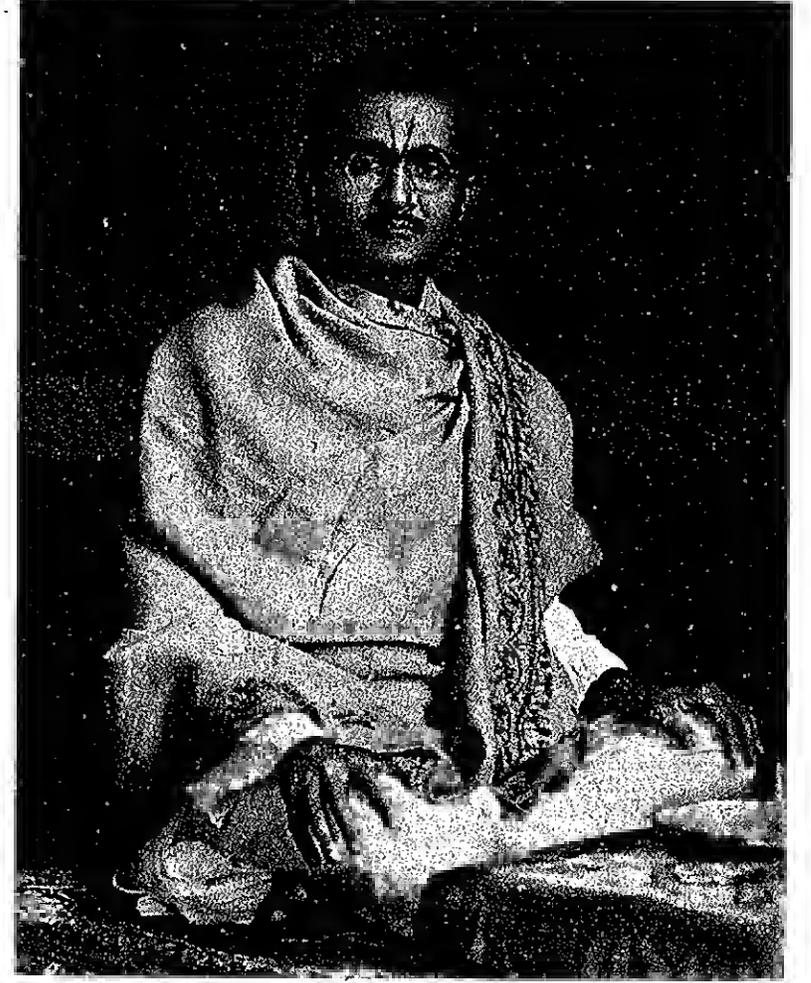
गोस्वामिश्री १००८ श्रीकिशोरचन्द्रजी महाराज
मोटी हवेली, मांडवी, कच्छ, ३७०४६५ भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति
राज संस्करण १००० प्रति
श्रीवल्लभाब्द ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :

स्टुडिओ बहार, २३-ए, सेन्द्रल चौपाटी बिल्डिंग चौपाटी, बम्बई-४०० ००७



गोस्वामिश्री १००८ श्रीद्वारकेशलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रंथ-परिचय

संन्यासनिर्णयको रचना वि. सं. १५५१ में बदरिकाश्रमकी यात्राके अवसरपर नरहरि संन्यासीके लिए की गई ऐसी एक किंवदन्ती मिलती है।

श्रीयदुनाथजी-विरचित श्रीवल्लभ-दिग्विजयके अनुसार श्रीमहाप्रभुने बदरिकाश्रमकी यात्रा तीन बार की थी. द्वितीय यात्रामें कृष्णदास मेघनके आपके साथ होनेका उल्लेख तथा व्यासाश्रम पधारनेका उल्लेख भी मिलता है. इस प्रसंगको सूचना वहांके तीर्थपुरोहितको दिये गये वृत्तिपत्रमें भी मिलती है. इस वृत्तिपत्रमें यात्राकाल "देवाम्भपतिभू (१४३३) मिते" तदनुसार वि. सं. १५६८ उल्लिखित है. अतः यदि वि. सं. १५५१ वाली किंवदन्ती प्रामाणिक हो ती उसे प्रथम यात्राका काल मानना पड़ेगा. इसकी पुष्टि चौरासी वैष्णवन्की वातसे भी होती है :

"सो एक समय नरहर संन्यासी बदरिकाश्रम फिरते-फिरते आये. तहां श्रीआचार्यजी महाप्रभु पधारे सो नरहर संन्यासीको दरसन भये. तब नरहर संन्यासी श्रीआचार्यजी महाप्रभुनसों चिन्ती किये- 'महाराज मैं पहिले संन्यास ग्रहण कियो हतो. पाछे आपकी कृपाते भक्तिमारगमें आयो सो संन्यासके प्रकार हैं सो तो मैं जानत हों और भक्तिमारगको कहा प्रकार है सो मैं जानत नाहि. सो मोकों कृपा करि कहिये' तब श्रीआचार्यजी कहे— 'तीसों भक्तिमारगके संन्यासको प्रकार कहत हों., तब श्रीआचार्यजी 'संन्यास निर्णय' ग्रन्थ करि नरहर संन्यासीको पढाय भाव कहि सुनायो. तब नरहर संन्यासीके हृदयमें पुष्टिमारगको सिद्धान्त स्थिर भयो, तब श्रीठाकुरजीको लीलाको अनुभव भयों सो मग्न होय गये. पाछे श्रीआचार्यजी आये पवारे. नरहर संन्यासी स्वरूपानन्दमें मग्न होय फिरिबो करते."

श्रीमहाप्रभुके चरित्रवर्णनोंमें सर्वाधिक प्राचीन (वि. सं. १६१० में) गदाधर द्विवेदी लिखित सम्प्रदाय-प्रदीपमें भी एक 'संन्यासनिर्णय' का उल्लेख मिलता है. "... श्रीवल्लभः निर्गत्य गंगातीरे उपविष्टाः तत्र त्रिदण्डविधिना संन्यासनिर्णय उक्तः यथा त्रिष्णुस्वामी तथा यतिभूत्वा काश्यां गताः" (चतुर्थ प्रकरण) किन्तु यहां 'संन्यासनिर्णय' ग्रन्थवाचक है अथवा ग्रन्थरूपेण निबद्ध न किये गये किसी मौखिक उपदेशका वाचक है, यह निश्चित नहीं हो पाता है. इसके अलावा—'त्रिदण्डविधिना' पदपर भी ध्यान देना चाहिये. क्योंकि षोडश-ग्रन्थान्तर्गत प्रस्तुत संन्यासनिर्णय ग्रन्थमें कहीं भी त्रिदण्डविधिसे संन्यास ग्रहण करने या न करने का कोई भी विचार उपलब्ध नहीं होता है.

षष्ठात्मज श्रीयदुनाथजी-विरचित श्रीवल्लभदिविजयमें, काशीमें आसुरव्यामोह-लीला करनेसे पूर्व दामोदरदास प्रभृति वैष्णवोंद्वारा संन्यासकी अभ्यर्थना करनेपर उनके लिए संन्यासकी अनावश्यकता दिखलानेके लिए एक मौखिक उपदेशका वर्णन मिलता है। उस संन्यासनिर्णयके उपदेशसारको भी वहां संकलित किया गया है, जिसे ध्यानसे पढ़नेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत षोडशग्रन्थान्तर्गत संन्यासनिर्णय और उक्त संन्यासनिर्णय में उपदिष्ट विषय भिन्न-भिन्न हैं।

कुल मिलाकर दो सम्भावना सामने आती हैं :

१) बदरिकाश्रमकी प्रथम यात्रा—संभवतः वि. सं. १५५१—में नरहरि संन्यासीके लिए प्रस्तुत षोडशग्रन्थान्तर्गत संन्यासनिर्णय लिखा गया था।

२) लोकगोचर देहदेशत्याग अर्थात् आसुरव्यामोह-लीला करनेकी तृतीय भगवदाज्ञाके पश्चात् अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थकी रचना जैसे श्रीमहाप्रभुने स्वयम्के लिए की, वैसे ही संन्यास लेनेसे पूर्व इस संन्यासनिर्णय ग्रन्थकी रचना भी आपने स्वयम्के लिए ही की है। अर्थात् वि. सं. १५८७ में।

इनमें प्रथमका समर्थन तो पूर्वोक्त चरित्रग्रन्थोंकी एकराव्यतासे स्पष्ट होता ही है। द्वितीय सम्भावनाका भी समर्थन हमें श्रीपुरुषोत्तमजीकी प्रस्तुत संन्यासनिर्णय ग्रन्थकी व्याख्यामें मिलता है। श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार क्योंकि प्रस्तुत संन्यासनिर्णय ग्रन्थका प्रणयन तृतीय भगवदाज्ञाके बाद हुए पश्चात्तापको दूर करनेके लिए ही हुआ है। अतः वि. सं. १५८७ रचनाकाल ही श्रीपुरुषोत्तमजीको मान्यतया सिद्ध होता है।

श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार इसका आधार वे स्वयम् इन शब्दोंमें देते हैं—“मया तु तेषां परस्परविसम्भ्रमतिमवलोक्य अन्तःकरणप्रबोधग्रन्थस्य ‘पश्चात्ताप’—‘परित्याग’ पदयोः अत्र प्रत्य-मिज्ञानात् स एव पश्चतापो अत्र निवर्त्यत्वेनादृतः”। परन्तु केवल दो समान पद ‘पश्चात्ताप’ तथा ‘परित्याग’ के पुनरावर्तनको परम्पराप्राप्त इतिवृत्तसे बलवत्तर नहीं माना जा सकता है। इसके अलावा सर्वोत्तमस्तोत्रमें—“विरहानुभवकार्थं—सर्वत्यागोपदेशकः” नामके द्वारा श्रीप्रभुचरण भी प्रस्तुत संन्यासनिर्णय ग्रन्थके—“विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते” उपदेशका ही परामर्श करतेसे प्रतीत होते हैं। वहां—“विरहानुभवकार्थं सर्वत्यागप्रशंसकः” अथवा “विरहानुभवकार्थं सर्वत्यागपरायणः” न कहकर “उपदेशकः” कहना इस बातका द्योतक लगता है कि प्रस्तुत संन्यासनिर्णय ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने अन्तःकरणप्रबोधकी तरह स्वयम्के लिए नहीं किन्तु अपने अनुयाईओंके लिए उपदेशके रूपमें प्रकट किया है।

इसके अलावा श्रीपुरुषोत्तमजी भाष्यप्रकाश (३।४।४२) में—“बहिस्तु भयथापि स्मृतेराचाराच्च” के भाष्यांशकी तथा प्रस्तुत संन्यासनिर्णय ग्रन्थकी एकवाक्यता स्वीकारते

हैं—“एतस्य प्रपञ्च संन्यासनिर्णयग्रन्थादवगन्तव्यः”। यहां प्रारम्भमें भक्तिमार्गके मध्यम कक्षाके अधिकारीके लिए आवश्यक साधनत्यागका विचार इस अधिकरणका प्रमुख उद्देश्य है ऐसा दिखलाते हैं—“अथ भक्तिमार्गीयमध्यमजघन्ययोः फलविचारोत्तरं मध्यमस्य त्यागरूपं साधनं चिन्त्यते”। भागवतके एकादश स्कन्धके अठाहरवे अध्यायमें—“यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निर-यात्मसु विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः” कारिकासे प्रारम्भ कर सोलह कारिकाओंमें पहले भगवान्ने उद्धवको त्रिदण्ड संन्यासका स्वरूप समझाया है, और इसके बाद—“ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः सर्लिंगानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेद्विधि-गोचरः” कारिकामें चतुर्थ आश्रमरूप संन्याससे भिन्न एक संन्यासकी आज्ञा दी गई है; यह संन्यासकी आज्ञा पूर्वोक्त भाष्य (३।४।४२) तथा संन्यासनिर्णय ग्रन्थ का आधारभूत वाक्य है। उद्धवने भी इस संन्यासकी आज्ञाके बाद सर्व-परित्याग किया था तथा यह परित्याग मध्यमाधिकाररूप था, यह त्रिविधनामात्रलोके—“उद्धवादिमध्यमभावबोधकाय नमः”से स्पष्ट होता है। ऐसा श्रीपुरुषोत्तमजी स्वीकारते हैं।

ऐसी स्थितिमें संन्यासनिर्णय ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने स्वयम्के लिए लिखा यह कहना कुछ असमञ्जस सा लगता है। क्योंकि सर्वप्रथम तो संन्यासनिर्णय ग्रन्थमें मध्यामविकारीके त्यागके प्रकारको प्रतिपाद्य विषय माना गया है; और व्यर्थ ही श्रीमहाप्रभुस्वयम्के वारेमें मध्यमाधि-कारिताका निर्णय ले यह संगत नहीं लगता। श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार तृतीय भगवदाज्ञा भी “लोकपरित्यागविषयिणी” थी। इस आज्ञाका तात्पर्य मध्यमाधिकारवाले संन्यासग्रहणार्थ लेनेमें कोई विशेष हेतु दृष्टिगत नहीं होता है। “स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेशः सोपि न चान्यथा” में संन्यासचिन्होंको अनिप्रतता या उपेक्षा का जो बोध होता है, वह भी श्रीमहाप्रभुके सर्वथा आग्रहपूर्वक यथाक्रम कुटिचक बहूदक हंस तथा परमहंस के क्रमनिर्वाहसे उतना संगत नहीं होता।

इन बातोंकी दृष्टिगत रखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि लोकगोचर देहदेशत्यागकी तृतीय भगवदाज्ञाके परिपालनार्थ श्रीमहाप्रभुने संन्यासनिर्णय ग्रन्थमें वर्णित मध्यमाधिकार-वाला संन्यास नहीं किन्तु चतुर्थश्रमरूप नित्यसंन्यास ही आपने लिया था: “... आश्रमचतुष्ट-यपक्षे नित्यसंन्यासो भवति। तत्र ब्राह्मण्यं, वयः पूर्वाश्रमानन्तरं च प्रयोजकं न जानादि” (सुबो. ३।१२।४२)। संन्यासनिर्णयमें “कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः” वचन द्वारा जिस चतुर्थाश्रमरूप संन्यासकी भक्तिमार्गीय जीवोंके लिए अनुपादेयता, तथा सर्वनिर्णयमें—“त्रिदण्डं परिगृहणीत सर्वशास्त्राविरोधि तत्... प्रतिपत्तिरियं सर्वा देहस्य” वचन द्वारा जिस चतुर्थाश्रमरूप शास्त्रविहित संन्यासकी ब्राह्मणदेहके लिए आवश्यकता शास्त्रसम्मत मानी गई है, वही संन्यासका प्रकार श्रीमहाप्रभुने स्वीकारा था।

पुष्टिमार्गमें फलानुभूति इस भूतलपर ही उत्तम मानी गई है—“भगवानेव हि फलं स यथा-विभवेद् भुवि” (गु. प्र. म.)। आगे चलकर सेवाफलमें भी वर्णित उत्तम फल ‘अलौकिक सामर्थ्य’ सर्वैन्द्रियोंसे भगवान्को रसात्मिका अनुभूति इसी भूतलपर स्वीकारो गई है। पर प्रभु जब आचार्यवरणको लोकगोचर देह-देश-त्यागकी आज्ञा प्रदान कर रहे थे, मर्यादामार्गीय

(१) आज्ञा पूर्व तु या जाता गंगासागरसंगमे । यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद् द्वयं मया ॥

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः । पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ॥

(अन्तःकरण. ५-७)

रीतिसे, तब तदनुरूप पारमहंस्य संन्यास भी आपने ग्रहण किया! "संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम स परमहंसो नाम!" (जाबालोपनिषद्).

अतएव अन्तःकरणप्रबोधके— "प्रोढापि दुहिता यद्वत् स्नेहात् प्रेष्यते वरे तथा देहे न कर्तव्यं" तथा सर्वनिर्णयके— "न्यासे सर्वपरित्यागी ... तादृशस्य बलाद्वापि देहत्यागो विमुक्तिदः" इन दोनों वचनोंकी तुलना करनी चाहिये.

फलतः संन्यासनिर्णय, यह सहज सम्भव है कि, श्रीमहाप्रभुने वदरिकाश्रमकी प्रथम यात्राके समय नरहरि संन्यासीके लिए ही बनाया हो.

भक्तिवर्धनीमें यह दिखलाया गया था कि जिनका बीजभाव दृढ़ हो वे गृहत्याग करके भगवत्कथाके श्रवण—कीर्तन द्वारा भी अपनी भक्तिको विकसित कर सकते हैं. अन्यथा बीजभावके दृढ़ न होनेपर उसे दृढ़ करनेके लिए व्यक्तिको यथावसर भगवत्सेवा और भगतकथा दोनोंको अपनाना चाहिये, यदि वह अव्यावृत्त हो तो. अन्यथा व्यावृत्त होनेकी अवस्थामें अर्थात् निजगृहमें भगवत्सेवाकी शक्यता न होनेपर बीजभावकी दृढ़ताके लिए केवल भगवत्कथाके श्रवणादिसे भी प्रेमासक्तिव्यसनकी उत्तरोत्तर अवस्थाओंमें भक्ति विकसित हो सकती है.

भगवत्कथाके श्रवणादिसे जब स्नेह उत्पन्न होता है तब सांसारिक विषयोंमें अनुराग नष्ट हो जाता है— भगवदासक्ति स्थिर होनेपर भगवत्प्रेरामें अनुपयोगी गृहमें भक्तकी अहचि हो जाती है— भगवत्सेवार्थ उपयोगमें न आनेवाले घर और घरकी सारी वस्तु भक्तकी भक्तिमें बाधक लगने लगती हैं—घोरे-घोरे यों जब कृष्णभक्ति व्यसनदशापर पहुंच जाती है, तब जीव कृतार्थ हो जाता है. ऐसी व्यसनदशापर पहुंचनेवाले व्यक्ति के लिए भी भगवत्सेवार्थ अनुपयोगी घरमें सतत निवास करना, कभी भक्तिमें व्यवधानका हेतु बन सकता है. भक्तिका विनाशक हो सकता है. अतः भक्तिकी दृढ़ताके लिए केवल कृष्णदर्शनकी तीव्र लालसासे जो गृहत्याग कर पाते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट परा-सुदृढ़ भक्तिका लाभ होता है (भक्तिवर्धनी).

इसके बाद भक्तिवर्धनीमें जो इस प्रकारका त्याग नहीं कर पाते उनके कर्तव्य दिखलाये गये हैं, परन्तु जो त्याग करनेमें समर्थ हों उन्हें वह त्याग कैसे किस अवस्थामें, किस भावनाके साथ और किस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए करना चाहिये इत्यादि विषयोंका निरूपण नहीं हो पाया. जिनसे स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभती हो और जो गृहत्यागके लिए भी अपने-अपको समर्थ न पाते हो उन्हें यह सुझाया गया था कि उन्हें ऐसे भगवत्दीव्योंके समीप बसना चाहिये कि जो सेवा-कथा-परायण जीवनयापन करते हों. वे यदि छूट दें तो उनके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें सहयोगी-परिचारक भी बनना चाहिये. अन्यथा कमसे कम उनके द्वारा की जाती भगवत्कथामें श्रोताके रूपमें तो सम्मिलित होना ही चाहिये. इसी सन्दर्भमें भगवत्कथाके लिए आवश्यक योग्य वक्ता एवम् श्रोता का स्वरूप बीजमें जलभेद और पञ्चपद्यानि में समझाया गया था. अतः अवशिष्ट गृहत्यागका विचार आवश्यक था ही, जिसे इस संन्यासनिर्णय ग्रंथ द्वारा पूर्ण किया जा रहा है.

सर्वनिर्णय निबंधमें कारिका १९१ से कारिका २१४ तक संन्यास त्याग भक्ति आदि अनेक विषयोंका निरूपण किया गया है, पर वह मुख्यतया पुष्टिमार्गीयोंके लिए नहीं, अपितु सभी देवी जीवोंको लक्ष्यमें रखकर किया गया उपदेश है. अतएव कारिका १९६ में— "भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति. न सोच्यते" वचन उपलब्ध होता है. अतएव वहां, संन्यासग्रहणके शास्त्रीय प्रकारपर बहुत भार दिया गया है— "त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि तत्" जबकि यहां संन्यासनिर्णयमें सामान्य रूपसे "वेशः सोपि न चान्यथा" कहनेमें वह भार दिखलाई नहीं देता. क्योंकि देवी जीवोंके लिये आवश्यक संन्यासके सामान्य प्रकारसे भिन्न एक विशिष्ट प्रकारके संन्यासकी आज्ञा यहां श्रीमहाप्रभु दे रहे हैं.

सर्वनिर्णयान्तर्गत संन्याससम्बन्धी विचारके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ अथवा संन्यास में से किसी भी एक आश्रममें नैष्ठिक होकर रहा जा सकता है, अथवा क्रमशः उत्तरोत्तर आश्रमोंमें प्रवेश किया जा सकता है, अथवा आयुष्यके चार समान भाग करके एक-एक भागका यापन एक-एक आश्रममें किया जा सकता है. सर्वत्र फल तुल्य ही होता है क्योंकि शास्त्रोंमें सभी आश्रमोंकी प्रशंसा मिलती है. ऐसी स्थितिमें समनन्तरक्रम और आयु-क्रम वाले कल्पमें संन्यास एक शास्त्रीय आवश्यकता प्रतीत होती है.

जबकि षोडशग्रन्थान्तर्गत संन्यासनिर्णयमें, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग या अदृढ़ बीजभावकी अवस्थामें भक्तिमार्ग में भी श्रीमहाप्रभु संन्यासको अनुमोदनीय नहीं मानते.

इन दोनों दृष्टिकोणोंको एकवाक्यता इस तरह घटित हो जाती है कि पुष्टिमार्गीयतर देवी जीवोंके लिए आश्रमक्रम अथवा आयु-क्रम कल्पमें, चतुर्थाश्रमरूप संन्यास वर्णाश्रमधर्मके रूपमें शास्त्रविहित होनेके कारण, ज्ञानमार्गीय साधक एवम् मर्यादाभक्तिमार्गीय साधक के लिए अनुष्ठेय ही है, भगवत्साक्षात्कार के न होने पर्यन्त. भगवत्साक्षात्कार होनेके बाद उसकी तन्मयतामें आश्रमधर्मोंका त्याग निन्दनीय नहीं रह जाता. यह नियम किन्तु पुष्टिमार्गमें अनिवार्य नहीं है— "अन्तःकरणे संस्कारविशेषाधायकत्वं च प्रतीयते संन्यासस्य. स च संस्कारः फलोपकार्यगमित्यावश्यकः संन्यासो मर्यादायाम्. पुष्टिमार्गे त्वन्यैव व्यवस्था- 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह' इति वाक्यात्". (अणु. ३।४।१७)."

अतः पुष्टिमार्गीय साधक यदि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें भगवत्सेवाको निभा पाता है तो गृहत्याग या संन्यास अनावश्यक है— "त्यागे वाङ्मनसोरेव भगवति विनियोगो न सर्वेन्द्रियाणाम् गृह्णस्तु सर्वैः प्रकारैर्भजनं भवति इति परिजनश्च कृतार्थो भवतीति भजने कृस्तता" (अणु. ३।४।४७). अन्यथा स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभनेपर अर्थात् किसी पुष्टिभक्तके व्यावृत्त होनेपर सर्वप्रथम उसे स्ववर्णाश्रमोचित धर्मोंका पालन करते हुए भगवत्कथाके श्रवण-मनन-कीर्तन द्वारा भक्तिके बीजभावको दृढ़ बनाना चाहिये. बीजभावके दृढ़ होनेपर अपने घरमें भगवत्स्वरूपके सेवा-दर्शन-स्पर्शन आदिके संयोगमुखके न मिलनेके कारण तथा पारिवारिक झंझटोंमें भगवद्विप्रयोगजन्य दुःखानुभूतिमें भी व्यवधानोंको देखते हुए गृहत्याग

कर देना उचित होता है—“विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते.”

बीजभावके दृढ़ होनेपर भक्तकी यह स्वतएव समझमें आने लगता है कि—गृहस्थिते-रुक्मिण्यत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण किन्तु भगवता सह स्थित्या भगवत्कार्यार्थं वा अन्यथा न स्थातव्यम्” (सुबो. ३।१।२).

पुनश्च यहां यह अवचेय हो जाता है कि श्रीमहाप्रभुके समक्ष न तो भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेकी कोई समस्या थी और न स्वगृहमें भगवत्सेवाके अनिर्वाहकी ही. न सतत गृहस्थितिसे भक्तिके बीजभावके विनाशकी ही और न विरहानुभवार्थं परित्यागकी भी. क्योंकी संन्यासमें मुक्तिसे अधिक अव्यग्रता तो सम्भव नहीं, जबकि मुक्तिके बारेमें आपका स्पष्ट अभिप्राय है कि—“स्वतन्त्रभक्तानां तु गोपिकादितुल्यानां सर्वेन्द्रियैस्तथान्तःकरणैः स्वरूपेण चानन्दानुभवः अतो भक्तानां जीवनमुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहितगृहाश्रम एव विशिष्यते” (शास्त्रार्थप्रकरण). इसी तरह सर्वोत्तममें आपको—“रासलीलैकतात्पर्यं” कहा गया होनेसे विरहानुभवार्थं भी संन्यासमें आपका प्रवृत्त होना बहुत अर्थपूर्ण नहीं रह जाता. स्वगृहमें भगवत्सेवा-कथामय जीवनयापन उत्तमाधिकारका द्योतक है तथा वह सम्भव न होनेपर भगवद्विरहानुभवार्थं संन्यासग्रहण करना भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारका द्योतक है

यद्यपि “कृत्स्नभावात् गृहिणीपसंहार” (ब्रह्मसूत्र ३।४।४७) के भाष्यके उपसंहारमें, “कुछ दुर्लभ प्रकार के— राजा आशकरणदास जैसे— भक्त भगवत्सेवा करते हुए भी गृहत्याग कर देते हैं.” ऐसा उल्लेख मिलता है. परन्तु उस गृहत्यागके जो कारण वहां दिखलाये गये हैं, वे यों हैं— “केचन भक्ता भाषणादिलीलादर्शनं विना स्थातुमशक्ता प्रचुरभावविवशाशयाः गृहांस्त्यक्त्वा वनं गच्छति.” स्पष्ट है यह बात श्रीमहाप्रभुपर लागू नहीं होती. अतएव भाष्यकार यहीं कहते हैं— “तेन भगवद्भजन एव तत्रापि पुष्टिमार्ग एव श्रुतेभ्यः इति ज्ञायते.” अतः जिन्हें भगवत्सेवाका सौभाग्य नहीं प्राप्त होता उनके लिए विरहानुभवार्थं संन्यासका कल्प है. इससे यह सुदृढ़ होता है कि श्रीमहाप्रभुके संन्यासके स्वरूप एवम् प्रयोजन इस संन्यासनिर्णयमें निरूपित भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारके द्योतक संन्यासके स्वरूप एवम् प्रयोजन से भिन्न ही थे.

अतएव दामोदरदास प्रभृति वेणवोंकी संन्यासमें भी आपके अनुवर्तनकी प्रार्थनाकी श्रीमहाप्रभुने अस्वीकार कर दिया था, श्रीयदुनाथजीके शब्दोंमें, “ततो दामोदरादीनां सहयानार्थं संन्यासग्रहणार्थं चार्थना जाता. अथाचार्यैः युष्माकं भागवतसंन्यासोऽस्थेव. मत्कार्यार्थम् उद्धवादिबद्धैव स्थातव्यमित्युक्त्वा संन्यासनिर्णयः श्रावितः”. ‘भागवत संन्यास’ से आपका तात्पर्य ब्रह्मसम्बन्धगद्यद्वारा आत्मनिवेदनके बारेमें ही प्रतीत होता है. स्वयम् श्रीमहाप्रभुके त्रिदण्डविधिसे संन्यासग्रहणका प्रयोजन भगवदाज्ञाका पालन ही था अतः वैसी आज्ञाके अभावमें अन्य अनुयाईओंके लिए संन्यासमें आपका अनुवर्तन सर्वथा अनावश्यक था.

नरहरि तो पहले ही संन्यास ले चुके थे. और एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें एक बार पहुंचनेके बाद पुनरावर्तन सर्वथा शास्त्रनिषिद्ध है, अतएव वृन्दावनमें पहले नरहरिकी त्रिदण्ड-

विधिसे अर्थात् शास्त्रसम्मत रीतिसे संन्यास लिवाया गया और बादमें बदरिकाश्रममें उन्हें इस संन्यासनिर्णय ग्रन्थके उपदेश द्वारा भगवद्विरहानुभवमें दीक्षित किया गया !

संन्यासका विधान पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठनेवालोंके लिए शास्त्रमें मिलता है. परन्तु शिष्यैषणामें ये तीनों वासनार्थें छद्म रूपसे त्रिगुणित हो जाती हैं. पुत्र तो दोचार पंदा हो जायें तो लालसा सन्तुष्ट ही जाती है, परन्तु शिष्यैषणा तो दोचार हजार चेलोंके जुट जानेपर भी सन्तोषका नाम नहीं लेती ! अतएव अपने सहज परिवारके पोषणके लिए वित्तकी अपेक्षा उतनी नहीं होती जितनी कि मठ या आश्रमों में जुटे चेलोंके पोषणके लिए होती है. एक सांसारिक व्यक्ति अपने गुणोंकी कीर्तिकी लालसा से उतना ग्रस्त नहीं होता जितना कि एक आधुनिक परमहंस अपने त्यागकी कीर्तिकी लालसासे ग्रस्त होता है !

वस्तुतः विरक्तकी त्यागसाधना और त्यागीकी वैराग्यसाधना में बड़ा अन्तर पड़ा जाता है !

वास्तविक वैराग्य व्यक्तिको किसी सीमा तक ऊपर उठा सकता है परन्तु वैराग्यहीन त्याग हमें और नीचे धकेल देता है. श्रीमहाप्रभुका सिद्धान्त है कि किसी वस्तुके व्यर्थ त्यागकी अपेक्षा उसे भगवान्को समर्पित कर देना उचित बात है. अतएव जब हम समर्पित नहीं कर पाते तब केवल विरक्तिके आधार पर प्राप्त वस्तुके त्यागके तज्जाय भगवदनुरक्तिकी तन्मयतामें उसका त्याग किया जाये तो बात बन सकती है !

त्याग अपने-आपमें एक स्वतंत्र मार्ग होनेकी महत्ता नहीं रखता है. मार्ग तो तीन ही होते हैं: (१) कर्ममार्ग (२) ज्ञानमार्ग (३) भक्तिमार्ग. कर्म ज्ञान या भक्तिके अंगरूपेण त्यागकी महत्ता अवश्य मान्य हो सकती हैं, किन्तु इनसे रहित केवलत्याग तो मनुष्यको केवल परिव्राजक ही बना पाता है—कहीं पहुंचाता नहीं !

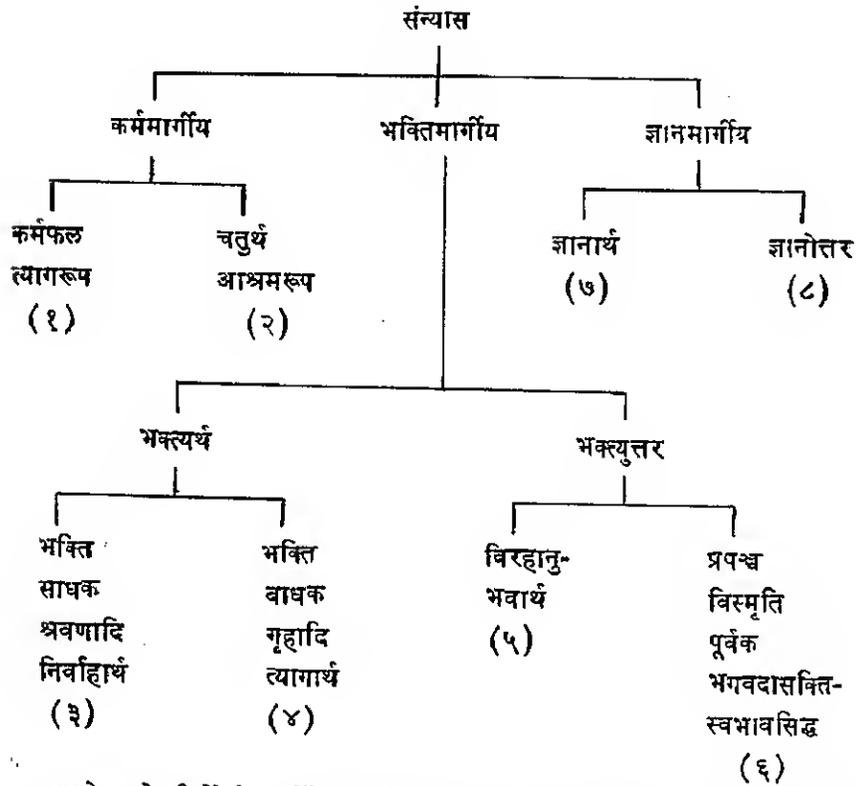
श्रीमहाप्रभु संन्यासका निर्णय केवल वैराग्यके सन्दर्भमें देना पसन्द नहीं करते हैं. कर्म ज्ञान या भक्ति में से किसी एकके साथ वैराग्यके प्रकट होनेपर संन्यास या त्याग का विचार प्रासंगिक बनता है. भागवत (११।२०।७-८) में आता है कि—“योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्तया ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च तोषायोन्योस्ति कुत्रचित्, निर्विण्णनां ज्ञानयोग... कर्मयोगस्तु कामिनां... न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः.” अर्थात् विरक्ति-प्रधान साधकके लिए ज्ञानयोग, सकाम साधकोंके लिए कर्मयोग; एवम् न विरक्त और न अतिसकाम ऐसे साधकके लिए भक्तियोग सिद्धिप्रद होता है. इन कर्म ज्ञान या भक्ति के मार्गपर आगे बढ़नेपर अर्थात् वैराग्यके दृढ़ होनेपर संन्यासका विचार प्रासंगिक बनता है.

इस विषयमें सुबोधिनी (३।१२।४२) में एक विस्तृत स्पष्टीकरण श्रीमहाप्रभुने दिया है. उसका अनुवाद देख लें :

“ब्राह्मणके लिए यह आवश्यक है कि वह चारों आश्रमोंमें क्रमशः प्रविष्ट हो... किसी एक आश्रममें स्थिर होना भी, वैसी कामना होनेपर, शास्त्रानुमत है... जो ऊर्ध्वरेतस भक्त

होते हैं वे चाहें तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आश्रममें स्थिर हो सकते हैं. सर्वथा वैराग्यरहित अर्थात् उत्कट कामनावालेके लिए गार्हस्थ्य ही ठीक रहता है. उसे वेदोंके यथाशक्ति अध्ययन करने के बाद, शास्त्रीय विधिके अनुसार विवाह करके, यावद्जीवन अग्निहोत्रादि कर्मोंके अनुष्ठानमें तत्पर होना चाहिये... अतएव आपस्तम्बकारने सभी आश्रमोंको तुल्य माना है. किसी भी आश्रमके कर्तव्योंका यथावत् पालन करनेपर सिद्धि मिलती है. कहीं-कहीं एक आश्रमकी प्रशंसा करनेके लिए अन्य आश्रमोंकी निन्दा भी दिखलाई देती है. पर वास्तविक तात्पर्य उसका किसी आश्रम-विशेषकी प्रशंसाके रूपमें ही लेना चाहिये. अन्यथा श्रुतिवचनोंमें परस्पर विरोधाभास होने लगेगा, जबकि ब्राह्मणोंका यह कर्तव्य है कि किसी भी श्रुतिवचनको अप्रामाणिक न माने."

कर्म ज्ञान और भक्तिके तीन प्रमुख भेद और तदन्तर्गत अन्य भी उपभेदोंको दृष्टिगत रखनेपर इस प्रस्तुत संन्यासनिर्णय ग्रन्थमें कुल आठ प्रकारके संन्यासोंके बारेमें हमें निर्णय मिलना है. बोधसौकर्यके लिए उन्हें इस वर्गतालिका द्वारा समझा जा सकता है :



आत्मोद्धारके तीनों ही मार्गमें सांसारिक अहन्ता-ममताको बाधक माना गया है. सांसारिक अहन्ता-ममतासे ऊपर उठनेके सच्चे उपाय वैराग्यसहित कर्म ज्ञान अथवा भक्ति तो

हो सकते हैं, पर केवल त्याग या संन्यास नहीं. फिरभी भ्रामक उत्साहवश बहुधा लोग स्वमार्गमें पूर्ण निष्ठा तथा वैराग्य के अभावमें ही त्याग या संन्यास की उतावल कर बैठते हैं और स्वमार्ग तथा सन्मार्ग से भटक जाते हैं !

पुष्टिमार्गीय जीव भी यदा-कदा ऐसे मिथ्याचारवाले त्याग या संन्यास के फेरमें पड़ सकते हैं. विशेषतः स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभा पानेवाले दूढ़ बीजभाववाले भक्तोंके लिए श्रीमहाप्रभुने भी गृहत्यागका जो उपदेश भक्तिवर्धिनीमें दिया है, उसका तात्पर्य भलीभांति न समझ पानेके कारण, पुष्टिमार्गीय विवेकके बिना उतावलमें कोई त्याग या संन्यास की गलती कर सकता है. ऐसोंके परले पछतावेके अलावा और कुछ नहीं पड़ता !

अपने पुष्टिमार्गीय जीव ऐसे मिथ्याचारके फेरमें पड़ कर अपने पुष्टिमार्गीय फलसे भी वञ्चित न रह जाये— सारे जीवनको ही एक महापाषण्डका नाटक न बना लें एतदर्थ श्रीमहाप्रभु त्याग संन्यास सम्बन्धी अपने विचारोंको स्पष्ट करते हैं. ताकि त्याग या संन्यास के चक्करमें फंसनेवाले सम्भावित पश्चात्तापसे बच पायें; और जो नरहरि संन्यासीकी तरह संन्यास ले ही चुकें हों उन्हें पुनः भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेकी दिशा सूझ पाये— पश्चात्तापसे उभर कर !

(१) कर्मफल-त्यागरूप कर्ममार्गीय संन्यास

तत्तद् वर्ण या आश्रम आदिकी दृष्टिसे जो कर्म नियत होते हैं उनका परित्याग उचित नहीं होता. (दृ. गीता ३/८). सर्वनिर्णयके प्रारम्भमें यह कह दिया गया है कि केवल नित्य-कर्मका फल आत्मसुखरूप होता है तथा उसके त्याग करनेपर प्रत्यवाय-अपराध लगता है. यही नित्यकर्म ब्रह्मविद्याके सहित हो तो ब्रह्मानन्दका दान भी करता है— "भगवदानन्दरूपं फलं ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य यथोक्तकर्मकर्तुरेव" (सर्वनि. ४). हर सूरतमें वर्णाश्रमाचारादि शास्त्र-विहित नित्य कर्तव्योंका त्याग देहाभिमानके बने रहनेतक शास्त्रनुमोदित नहीं है (यावद् देहाभिमानः तावद् वर्णाश्रमधर्म एव स्वधर्म. सुबो. ३।२।१२).

निष्काम कर्मानुष्ठान करनेवाला भी ब्रह्मसंस्थ हो सकता है, ऐसा श्रीशंकराचार्य नहीं मानते— "तस्माद् य एव ब्रह्मसंस्थः स्वाश्रमविहितकर्मवता सोऽभूत्त्वमेति. न. कर्मनिमित्तविद्या-प्रत्ययोविरोधात्" (छां. भा. २।२।११). किन्तु गीता (३।५-८) के अनुसार श्रीमहाप्रभुके मतमें नियत कर्मका त्याग उचित नहीं होता. अतः ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य या वानप्रस्थ में से किसी भी एक आश्रममें नैष्ठिक व्रत धारण कर स्वाश्रमोचित कर्तव्योंका जो निष्काम अनुष्ठान करता है उसे आत्मसुखरूप कर्ममार्गीय मोक्षकी प्राप्ति होती है (दृ. गीता २।५०-५१) यदि ब्रह्मविद्याके साथ कोई निष्काम कर्मानुष्ठान करता है तो ज्ञानमार्गीय ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति भी सम्भव है (दृ. गीता ४।२४). भगवद्भक्तिके साथ निष्काम कर्मानुष्ठान करनेवालोंको भजनानन्दकी प्राप्ति भी सम्भव है (गीता ९।३४).

बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२२) में— "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाज्ञाशकेन एतमेव विदित्वा मुनिः भवति" कह कर ब्रह्मचर्य, नैष्ठिक

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ आश्रमके कर्तव्योंके निष्काम अनुष्ठानको भी चित्तकी ब्रह्मज्ञानोपयोगी शुद्धिमें— विविदिषामें साधन माना गया है।

वेदानुवचन यज्ञ और दान का आश्रमधर्म होना छान्दोग्य (२।२३।१) के— “त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोध्ययनं दानमिति. प्रथमस्तप एव. द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी. तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्. सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति.” वचनसे एकवाक्यता करनेपर स्पष्ट होता है. ‘वेदानुवचन’ और ‘अध्ययन’ समानार्थी हैं. ‘यज्ञ’ और ‘दान’ तो बृहदारण्यक एवम् छान्दोग्य दोनोंमें समानरूपमें मिलते ही हैं. छान्दोग्यमें इन अध्ययन दान और यज्ञ के ब्रह्मविद्यारहित अनुष्ठानका फल पुण्यलोककी प्राप्ति माना गया है, तथा ब्रह्मविद्यासहित अनुष्ठानका फल “ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति” कह कर ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति द्वारा मोक्ष भी माना ही है. ‘आचार्यकुलवासी’ पद द्वारा इन कर्तव्योंकी आश्रमधर्मता भी स्पष्ट की गयी है.

गीता (१२।४।७) में भी भगवान्ने अतएव इन कर्मोंके त्यागको अनुचित माना है— “निश्चयं श्रुणु मे तत्र त्यागे. . . यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्, यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणां, एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमं, नियतस्य च संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते मोहात्तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्त्यते.”. कर्मसंन्यास और कर्मयोग में कर्मयोगकी उत्तमता दिखलाते हुए कर्मयोगका भी ब्रह्मसंस्थ होकर अनुष्ठान— “ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा” (गीता ५।१०) भगवान्ने सम्भव माना ही है.

कर्ममार्गमें अतएव काम्यकर्म अथवा कर्मफलाशा का त्याग तो उचित माना है किन्तु नियत कर्मोंके त्यागको उचित नहीं माना गया है. “अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः.” (गीता ६।१) आदि अनेक वचनोंसे काम्यकर्म तथा कर्मफलाशा के त्यागको सच्चा संन्यास माना गया है, नियत कर्मोंके त्यागको नहीं.

सर्वनिर्णय (कारिका २४६ के प्रकाश) में श्रीमहाप्रभुने कहा है— “गृहस्थस्यैतन्मुख्यम्. एवं कुर्वन् सकुटुम्बो भगवत्सायुज्यमश्नुते. ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्तौ एतत्कर्तव्यम्.” इससे सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गमें भी देहाभिमानके बने रहने तक नियत कर्मोंके त्याग किये बिना भक्तिमार्गीय कर्तव्योंका पालन आवश्यक होता है. चतुर्थाश्रममें गृहत्याग विहित होनेसे स्वगृहमें भगवत्सेवाके निर्वाहका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता अतः उसमें कृष्णदर्शनलालसाके साथ निरन्तर तीर्थयात्राका उपदेश दिया गया है, यही सर्वनिर्णयमें.

अतः पुष्टिमार्गीय जीवके लिए कर्ममार्गीय दृष्टिकोणसे यानद्-देहाभिमान स्ववर्णाश्रमधर्मका त्याग उचित नहीं है; तथा साधनदशामें भी गृहत्याग उचित कर्तव्य नहीं रह जाता है— “कर्ममार्गं न कर्तव्यः”. शास्त्रनियत वर्णाश्रमधर्मोंके अनुष्ठानमें काम्यकर्म तथा कर्मफलाशा

तो त्याज्य हैं ही. “वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः (भाग. ११।१८।४७).

(२) चतुर्थाश्रमरूप कर्ममार्गीय त्याग

जैसे नैष्ठिक व्रतके साथ ब्रह्मचर्य गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रमोंका विधान है, वैसे ही क्रमशः चतुर्थाश्रममें प्रवेश करनेका भी विधान मिलता ही है. यथा पूर्वोदाहृत बृहदारण्यकके वचनमें ही यह आता है कि “एतमेव प्रजाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति... पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति... नैनं कृताकृते तपतः.” अर्थात् वेदाध्ययन दान यज्ञ तप रूप कर्मवाले ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमोंके द्वारा ब्राह्मण जिस ब्रह्मके ज्ञानकी प्राप्ति करना चाहते हैं, संन्यास-आश्रम द्वारा भी उसी ब्रह्मकी प्राप्ति चाही जाती है. पुत्र धन या लोकके बारेमें सभी तरहकी कामनाओंको छोड़कर जो भिक्षाचर्या करते हैं... उन्हें कृताकृत कर्मोंके फल भुगतनेका संताप नहीं होता.

जाबालोपनिषद्में भी— “ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रव्रजेद्” यों क्रमशः एक आश्रमके अनन्तर दूसरे आश्रममें प्रवेश करनेका क्रमपक्ष दिखलाया ही गया है.

मनुस्मृति (६।८६-८७) के भी— “ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यत्तिस्तथा... चत्वारः पृथगाश्रमाः सर्वेपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रनिषेविता यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्” वचनमें क्रमपक्षका उल्लेख मिलता है.

भागवत (११।१८।११-२७) में वानप्रस्थकी रीति समझाकर चतुर्थाश्रमरूप संन्यासधर्मका निरूपण भी किया गया है. इसके अन्तर्गत त्रिदण्ड-संन्यासकी रीति भी समझायी गयी है: “यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः” आदि वचनों द्वारा.

इससे सिद्ध होता है कि चतुर्थाश्रमरूप संन्यासग्रहण भी एक नियत कर्तव्यसा है.

जो “तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्” वचनके अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत धारण नहीं कर लेते; अथवा “यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति” वचनके अनुसार नैष्ठिक-गार्हस्थ्यका व्रत धारण नहीं कर लेते, अथवा “अरण्यनियात् ततो न पुनरेयात्” वचन के अनुसार नैष्ठिक वानप्रस्थका व्रत धारण नहीं कर लेते, उन्हें क्रमपक्षके अनुसार तीन आश्रमोंके बाद चतुर्थ संन्यासाश्रममें भी प्रवेश अवश्य करना चाहिये.

इसका अपवाद भी यद्यपि जाबालोपनिषद्में दिखलायी देता है— “यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यदिव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा. अथ पुनरवती वा व्रती वा, स्नातको वाऽस्नातको वा, उत्सन्नाग्निरनग्निर्वा. यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्.” किन्तु यह प्रकार सर्वसाधारण नहीं है किन्तु अतिविरक्त ब्रह्मज्ञानियोंके लिए ही है— “एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति संन्यासी ब्रह्मविद् इति एवमेव एष” (वही). साथ ही साथ यह नहीं भूलना चाहिये ब्रह्मज्ञानी भी इस प्रकारका संन्यास अतिवैराग्यके प्रकट होनेपर ही कर सकते हैं, अन्यथा

नहीं. अतः इस वचनमें प्रव्रज्यापर विधिभार नहीं है अपितु वैराग्यकी अनिवार्यतापर विधिभार है— “यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत” अन्यथा वैराग्यके अभावमें संन्यास नहीं लेना चाहिये. इसका वर्णन आगे चलकर ‘ज्ञानोत्तर संन्यास’ के रूपमें किया जायेगा.

चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्डधारणात्मक वैध संन्यास पूर्वोदाहृत अणुभाष्य (३।४।१७) के “सच संस्कारः फलोपकार्यगमित्यावश्यकः संन्यासो मर्यादामार्गो. पुष्टिमार्गो तु अन्यैव व्यवस्था” वचनके अनुसार मर्यादामार्गीय साधकोंके लिए आवश्यक है ही.

भागवत (११।२।३१-३४) के—“तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद्विद्, यत्कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्, योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा, स्वर्गापवर्गमद्भक्तम कश्चिद् यदि वाच्छति. नकिञ्चित्साधवो घोरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम, वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्” इस वचनमें मोक्षकी भी स्पृहा न रखनेवाले भक्तोंके लिए ज्ञान-वैराग्य-तप-दान-धर्म आदिकी अपेक्षा रह नहीं जाती है. अतः ऐसे पुष्टिजीवोंके लिए चतुर्थाश्रमरूप संन्यास भी अनावश्यक हो जाता है.

इसके विपरीत ज्ञान-वैराग्यके बिना चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्ड संन्यास लेकर जीनेवालोंकी भागवतमें निन्दा की गयी है—“यस्त्वसंयतषड्वर्गो प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ज्ञानवैराग्यरहितः त्रिदण्डमुपजीवति, सुरानात्मानमात्मस्थं निन्दते मां च धर्महा, अविपक्वकषयास्मादमुष्माच्च विहीयते.” अतः चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्डधारणात्मक कर्ममार्गीय संन्यास सर्वथा आस्त्रसिद्ध एवम् शुद्ध भी होनेपर कलियुगमें बहोत अनुमोदनीय नहीं है.

पद्मपुराणमें आता ही है कि कलियुगमें भक्ति तरुणी तथा उसके दोनों पुत्र ज्ञान और वैराग्य जराजर्जरित हो गये हैं—“अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयो मतो ज्ञानवैराग्य-नामानौ कालायोगेन जर्जरो.” अतः जीर्ण ज्ञान और जीर्ण वैराग्य वाले साधकोंसे त्रिदण्ड संन्यासके नियम निभ पाने कठिन हैं.

श्रीमहाप्रभु अतएव निषेध करते हैं—“सुतरां कलिकालतः” कलियुगके दुष्प्रभावके कारण ज्ञानवैराग्यरहित अधिकारियोंके लिए चतुर्थाश्रमरूप कर्ममार्गीय संन्यास वैध होनेपर भी असाध्य न सही पर दुःसाध्य तो है ही. अतः सुतरां पुष्टिजीवोंके लिए भी अनुमोदनीय नहीं है.

(३) भक्तिसाधक श्रवणादिके निर्वाह द्वारा भक्तिकी प्राप्तिके लिए संन्यास

भागवत (११।२०।९) के—“तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता मत्कथाश्रवणादी वा श्रद्धा यावन्न जायते” वचनके प्रथमावलोकनसे ऐसा लगता है कि भगवत्कथा-श्रवणके लिए यहाँ संन्यासका विधान किया गया है. वास्तविकता पर यह है कि इस वचनका मुख्य तात्पर्य वैराग्योदय या कथाश्रद्धोदय के बाद कर्मत्यागके विधानमें नहीं अपितु वैराग्योदय या श्रद्धोदय पर्यन्त कर्मत्याग न करनेमें है.

अतः स्नेहात्मिका भक्तिके साधक श्रवण-कीर्तन-स्मरण-पादसेवन-अर्चन-वन्दन-दास्य-सह्य-आत्मनिवेदनरूप नौ अंगोंके निर्विघ्न अनुष्ठानके लिए संन्यास लेनेमें पांच विप्र-तिपत्तियां हैं :

(१) क्योंकि संन्यासधर्मके अनुसार व्यक्तिको निरपेक्ष और एकाकी विचरण करना चाहिये—“एकः चरेन्महीमेतां निःसंगः संयतेन्द्रियः” (भा ११।१८।२०). जबकि भक्तिके नवविध अंग श्रवणादिके अनुष्ठानके लिए किसी भक्तिमान् सहयोगीके सत्संगकी अपेक्षा रहती है

(२) क्योंकि श्रवणके लिए वक्ता, कीर्तन-स्मरणके लिए ग्रन्थ-तुलसीमाला-गोमुखी; और पादसेवन-अर्चन आदिके लिए भगवद्विग्रह, अर्चना सामग्री पुष्प नैवेद्यादि या अर्चनापात्र आदि अनेक साधनोंकी रक्षा करनेमें चित्तके व्यग्र होनेकी सम्भावना रहती है. यह संन्यासके अपरिग्रहके नियमके विपरीत है—“बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परं त्यक्तं न दण्ड-पात्राभ्यामन्यत्किञ्चिदनापदि (भा. ११।१८।१५).

(३) क्योंकि संन्यासके कारण स्वयम्के ज्येष्ठ आश्रममें अवस्थित होनेका अभिमान जगता है— सभी संन्यासी ‘स्वामिजी’ बन जाते हैं ! जबकि भक्तिमें दैन्य अपेक्षित होता है ‘दास’ बनने का. श्रवणमें तत्त्वनिर्धारके लिए कभी वादचर्चा उपयोगी हो सकती है परन्तु संन्यासमें वह वर्जित है—“वेदवादरतो न स्यात्.” (भाग. ११।१२।३०). संन्यासमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच अभेदबुद्धिका अभिमान—‘सोहम्’ जगाना पड़ता है जबकि भक्ति ‘दासोहम्’ की भेदबुद्धिसे घटित होती है. भक्तिके प्रारम्भमें भगवान्के स्वामी होनेका और स्वयम्के सेवक होनेका अभिमान अधिक उपयोगी होता है.

(४) क्योंकि भक्तिके श्रवणादि अंगोंकी पुनः पुनः आवृत्ति विहित है—“तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्” (भाग. २।१।५). इसकी सुबोधिनीमें कहा गया है कि “विहिते श्रवणकीर्तने सदा भवतः..त्रयाणां देहपातपर्यन्तमावृत्तानामेवाभयसाधकत्वम्. उत्तरावधिर्देहपातः एव. पूर्वाधिः संसारभयज्ञानम्”. यह किसी भक्तके समीप रुके बिना सम्भव नहीं है. संन्यासके लिए जबकि निरन्तर एकाकी परिश्रमण श्रेष्ठ माना गया है—“वासे बहुनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि एकएव चरेद् भिक्षुः (भा. ११।९।१०).

(५) क्योंकि भक्त्यंगभूत श्रवणादि नवविध धर्मोंका अन्तिम प्रयोजन भगवत्सेवार्थ योग्यता सम्पादित करना है और संन्यासधर्म साधककी सिद्धान्ताभिमत सेवाके स्वरूपके अयोग्य बना देते हैं.

अतः चतुर्थाश्रमरूप संन्यास या स्वतन्त्र संन्यास, वैध या अवैध, किसी भी प्रकारका संन्यास भक्तिसाधक श्रवणादिके निर्वाहार्थ अनुमोदनीय नहीं रह जाता है.

(४) भक्तिवाधक गृहाधिके त्यागद्वारा भक्तिकी प्राप्तिके लिए संन्यास

भक्तिवर्धिनीमें कहा गया था कि "गृहास्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते" अतः जब गृहस्थित सकल सम्बन्धजन और पदार्थ भक्तिमें बाधक होते हैं तो उनका परित्याग करना ही चाहिये. फलतः भक्तिकी निर्विघ्न अभिवृद्धि ही पायेगी. परन्तु भक्तिके बीज भावके दृढ़ न होनेकी स्थितिमें इस तरहके गार्हस्थ्यभीतोंका त्याग अन्तमें निरे पाषण्डमें ही कभी न कभी पर्यवसित होता है. भक्तिवर्धिनीमें भी अतएव कहा गया है कि त्यागमें दुःसंग और अन्नदोष के कारण अधिक अधःपातके भयस्थान हैं. वही बात यहां भी तीन तरहकी विप्रतिपत्तियों द्वारा समझायी जा रही है:

(१) क्योंकि त्याग करने के बाद भी भिक्षाटन के लिए पुनः गृहस्थोंके द्वारपर जाना पड़ता है. ये गृहस्थ-दाता संन्यास लेनेवालेके परिवारसे कोई अलग ढंगके नहीं होते. इनके घरका अन्न भगवान्को निवेदित किया हुआ हो यह जरूरी नहीं. अतः ऐसे अन्नसे मति भ्रष्ट हो सकती है.

(२) क्योंकि कलियुगके प्रभावके कारण सब कुछ बाहरसे छोड़ देनेपर भी यह सहज सम्भव है कि आन्तरिक आसक्ति या वासना न टूटे और व्यक्ति त्यागीके वजाय पाषण्डी बन जाये.

(३) क्योंकि इस तरह त्यागका पाषण्ड करनेवाले विषयाक्रांत व्यक्तिके देहमें कभी हरिका आवेश सम्भव ही नहीं.

अतः पुष्टिमार्गीयोंको इस तरहकी अदृढ़ बीजभाववाली भक्तिकी साधनावस्थामें आश्रम-रूप या स्वतंत्र, वैध या अवैध, किसी भी प्रकारका त्याग या संन्यास नहीं लेना चाहिये, यदि भक्तिसुख लेनेकी कामना हो तो.

(५) भगवत्-विरहानुभावार्थं भक्त्युत्तर संन्यास

भक्तिवर्धिनीमें भक्तिका व्यसनदशा पर्यन्त विकास दिखलाया गया है. उसके सिद्ध होने-पर, स्वगृहमें निश्चयेन भगवत्सेवाके न निम्नेपर, और तीव्र विप्रयोगकी अनुभूतिमें घरबारकी झंझटोंके कारण विघ्नकी सम्भावना दिखलायी देती हो, तब गृहत्यागकी छूट दी जा सकती है. यह संन्यास बीजभावकी दृढताके बाद किया गया होनेसे कभी भी भक्तको पथभ्रष्ट नहीं करता.

भागवत (११।१८।२८-३६) में—“ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः सलिंगानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः....शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत् अन्यासं च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेस्वर.” यहां चतुर्थाश्रमरूप संन्याससे भिन्न एक परित्यागकी आज्ञा स्पष्ट दिखलायी देती है.

इसी स्कन्धके बारहवें अध्यायमें भगवान्ने समझाया है—“केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो खगा मृगा येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः मामीयुरञ्जसा, यं न योगेन सांख्येन दानव्रत-तपोधरैः व्याख्यास्वाधायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि. रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते श्वाफ-

ल्किना मय्यनुरक्तचित्ता. विद्यादभावेन न मे वियोगतीव्राद्येन्यं ददृशुः सुखाय.. ताना-विदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियस्वमात्मानमदस्तधेदं, यथा समाधौ मुनयोऽधितीये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे... तस्मात्त्वमुद्वोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च, मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयम्.” यहां प्रवृत्ति-धर्मकी तरह निवृत्तिधर्मके भी त्यागका विधान किया गया है. भक्तिकी व्यसनदशामें प्रकट होते विगाढ़भाव या सर्वात्मभाव के द्वारा चित्तको निरन्तर भगवदेकतान बनाये रखने और उसमें तीव्र वियोगजन्य तापको सहायक माननेकी इस भगवदनुरक्तिप्रधान वैराग्यमूलक संन्यासकी रीतिका ही—“मद्भक्तो... संलिंगानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेद्” में विधान किया गया है.

गीता (१२।६-८)में इसी संन्यासका निरूपण है—“ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः अन्यनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् भवामि न चिरात्पार्थ मयावेशितचेतसां, मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय, निवसिष्यसि मय्येव अत अर्ध्वं न संशयः.”

वेश

इस प्रकारके परित्याग करते समय यदि परिवारके लोगोंका मोह अपने वारेमें टूटता न हो तो संन्यासका वेश धारण कर लेना चाहिये. अन्यथा वह अनिवार्य नहीं है.

गुरु

परित्यागके इस प्रकारमें प्रेषोच्चार आदिके लिए किसी गुरुकी अपेक्षा नहीं है. पूर्वो-दाहृत उद्धवोपदेशमें भगवान्ने गोपिकाओंके भगवदनुरागमूलक वैराग्यके वर्णनद्वारा जैसे उद्धवको भक्तिमार्गीय संन्यासकी प्रेरणा दी, तदनुसार इस प्रकारके संन्यासमें गुरु ब्रजकी गोपिकाओंको ही मानना चाहिये. कौण्डिन्य ऋषिके चरित्र (भविष्योत्तर) में भी इस प्रकारके परित्यागका उदाहरण मिलता है. अतः वे भी गुरुतुल्य हैं.

साधन

पूर्वोदाहृत उद्धवोपदेशमें जैसे भगवान्ने गोपिकाओंके सर्वपरित्यागके कारणभूत 'केवल भाव'की प्रशंसा की है, तदनुसार इस विरहानुभावार्थ संन्यासमें केवलभाव ही साधन है.

भावोद्बोधनका उपाय

भगवान्के मथुरा पधारनेपर जैसे गोपिकाओंको तीव्र विरहानुभूतिके कारण चित्तकी निरन्तर भगवदेकतानता सिद्ध हो गयी थी, उसी तरह अपने घरके वज्रमें जब हमें भगवत्सेवाका सुख न मिल पाता हो, तब भगवान्के मथुरागमनकी भावना करना चाहिये. इस भावनाके कारण भक्तके हृदयमें गोपिकाओंकी तरह तीव्र विरहवेदना प्रकट होने लगेगी... और एकदिन अकस्मात् मन इतना विकल हो जायेगा कि भक्त घरके बाहर निकल पड़ेगा अपने भगवान्को खोजने !

यह त्याग प्रपञ्चके दोषदर्शनमूलक केवल शुष्क वैराग्यसे प्रेरित न होकर प्रभुके दिव्य मधुर गुणोंके प्रति पनपे सरस अनुरागसे प्रेरित होता है. अतः परित्यागका यह प्रकार भक्तिमार्गमें प्रशंसनीय है.

त्यागके इस प्रकारको कोई अनुचित न मान बैठे इसीलिए भगवान्ने—“चरेद् अविधि-गोचरः” कहकर उत्तमाधिकारियोंके लिए इस प्रकारके त्यागकी अनुज्ञा तथा मध्यमाधिकारियोंके लिए आज्ञा दे दी है. अतएव यथाधिकार ‘चरेद्’ के ‘अनुज्ञा’ और ‘आज्ञा’ दोनों ही अर्थ स्वीकारनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है. “सूर्य अस्त हो रहा है” जैसे एक ही वाक्यके दो तात्पर्य : ब्राह्मणके सायंसन्ध्यार्थ उद्यत होनेके रूपमें; और गृहिणीके सायंकालके खाना पकानेको उद्यत होनेके रूपमें, अधिकारिभेदसे ले सकते हैं.

गोपालतापिनी उपनिषद्में—“भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनेराश्येनैव अमुष्मिन् मनःकल्पनम् एतदेव च नैष्कर्म्यम्” कह कर इसी भक्तिमार्गीय संन्यासका रूप ‘नैष्कर्म्य’ पदसे चोतित किया गया है.

परिणाम

इस विरहानुभवार्थ परित्यागका परिणाम किन्तु अच्छा नहीं होता ! वार्ताप्रसंगमें इसके बारेमें एक मजेदार प्रश्न और उत्तर मिलते हैं :

प्रश्न : “तिहारे सेवक ऐसे दुबले क्यों ?”

उत्तर : “बरजे हते पर मारगमें आये ताको फल पाय रहे हैं !”

विरहानुभवार्थ जो परित्याग किया जाता है उसमें तदनु रूप भावनाओंको करनेपर एक दिन विरहवेदनाकी टीस मनमें उठी; अथवा भावनाका प्रवाह बहते हुए कहीं-किसी भावके सागरमें पर्यवसित हुआ कि हृदयमें प्रेमका सागर लहराने लगेगा ! उसकी अनेक लहरें—(चक्षुराग मनःसंग संकल्प निद्राच्छेद तनुता विषयनिवृत्ति त्रपानाश उन्माद मूर्छा और मरण) उठ कर आत्मा और देह के दोनों तटबन्धोंको तोड़ देंगी ! देह इंद्रिय अन्तःकरण प्राण आत्मा सभी कुछ प्रेमके पूरसे प्लावित हो जायेंगे !

यह प्रेमजन्य विकलता और अस्वास्थ्य भक्तिकी चरमप्रकृति या स्वभाव ही है. इसे लौकिक या प्राकृत अस्वास्थ्यकी तरह नहीं समझना चाहिये. यह तो परमानन्दरूप परमात्माका जीवात्माके साथ घनिष्ठ संस्पर्श है ! एक प्रेमाद्वैतसे सारे द्वैतोंके प्लावित होनेपर भी बचा हुआ प्रियतम और प्रेमी का—भगवान् और भक्त का—एक मधुर द्वैत है ! इसे ब्रह्मवादी शुद्धाद्वैतज्ञानकी; अथवा ब्रह्मके ज्ञानमार्गीय गुणों (यथा—ब्रह्मके सर्वव्यापी होने, सर्वत्र विद्यमान होने, सर्वनिरपेक्ष आत्माराम होने, निराकार—व्यापक होने) की चर्चासे स्वयम् या अन्य कोई मिटा न दे इसकी सावधानी बरतनी चाहिये. क्योंकि यह ज्ञान तथा परमात्माके ज्ञानमार्गीय गुण भक्तिमार्गीय भावके बाधक होते हैं.

ज्ञान-वैराग्य-संन्यास आदि विशेषताओंके कारण जैसे ज्ञानमार्गीय साधक सत्यलोकमें

अवस्थित होता है, वैसे ही भक्तिमार्गीय जीव भावनाके बलपर व्यापिवैकुण्ठमें चलती भगवान्की नित्य ब्रजलीलाओंमें अवस्थित हो सकता है. अतः “परमात्मा व्यापक होनेसे मथुरा नहीं जा सकता—वह तो सर्वत्र विद्यमान है” ऐसी ज्ञानमार्गीय वातांसे भावखण्डन नहीं होने देना चाहिये.

स्नेहकी जो दस अवस्थायें चक्षुरागसे मरण पर्यन्त गिनायी, उनमें दसवीं अवस्था मरण तब तक सम्भव नहीं, जब तक विरहदशा सर्वथा असह्य नहीं हो जाती. गाढ़ अनुराग और त्रिभोग के कारण आसक्तिभ्रमन्यायसे भक्तके अन्तरमें भगवान्की सारी लीलार्यें अनुभूत होती रहती हैं. कभी ये लीलार्यें बाहर भी प्रकट हो जाती हैं. एक बार बाहर प्रकट हुई कि फिर इनका अप्रकट होना भक्तके लिए असह्य हो जाता है. वैसे यदि कभी हो जाये तो फिर भक्तके लिए प्राणधारण अशक्य हो जाता है. काष्ठमें अग्नि तिरोहित रहती है परन्तु एकबार यदि पूर्णतया प्रकट हुई तो वह बुझते-बुझते काष्ठको भी पूरी तरहसे जलाकर राख बना देती है. इसी तरह स्थायिभावके रूपमें हमारे अन्तरमें छिपे हुए परमानन्दात्मक श्रीकृष्ण यदि आलम्बन विभावके रूपमें एक बार बाहर प्रकट हो कर तिरोहित हो जायें तो सारे देहादिके बन्धन टूट जाते हैं!

इस स्थितिपर पहुँचनेसे पहले विप्रयोगमें भक्तके प्राणोंको भगवान्के गुण ही टिकाये रखते हैं. भगवान्के भक्तिमार्गीय गुणोंकी स्मृति अथवा कीर्तन में भक्तको जो पुनःपुनः-सन्तोष मिलता रहता है, उसीसे उसके प्राण अपने प्राणप्रिय प्रभुके संगरहित होनेकी स्थितिमें भी टिके रहते हैं.

विप्रयोगानुभूतिकी इस प्रक्रियामें भगवान्के रसात्मक स्वरूपकी अनुभूति पूर्णतापर पहुँच जाती है. क्योंकि रसशास्त्रकारोंने रतिको द्विदलात्मक अर्थात् संयोग और वियोग रूप माना है. तदनुसार यह विरहानुभूति भी भगवान्के रसात्मक अनुभवका एक अंग ही है. फलतः इस अनुभूतिकी अधूर्णतामें भगवान् प्रकट होकर स्वयम् भक्तकी फलप्राप्तिमें बाधा नहीं पहुँचाते हैं.

एक शंका यह उठ सकती है कि फिर उद्धवके द्वारा स्वयम् भगवान्ने ज्ञानमार्गीय सन्देश गोपिकाओंको विरहवेदनासे स्वस्थ करनेके लिए क्यों भेजा ? इसका उत्तर यही है कि भगवान्को यह पता था कि उद्धवके ज्ञानका रंग गोपिकाओंपर नहीं चढ़ेगा प्रत्युत उद्धवपर ही गोपिकाओंके प्रेमका रंग चढ़ जायेगा. अतएव भगवान्के संदेश—स्वास्थ्यवाक्योंको गोपिकाओंने स्वीकारा नहीं.

इसी तरह उनके अनुकरणपर विरहानुभवार्थ परित्याग करनेवालोंको यदि किसी ज्ञानी अथवा मर्यादामार्गीय भक्त द्वारा भावखण्डनकी बातें सुनायी जा रही हों तो उन्हें अनसुनी कर देनी चाहिये. चाहे वे बातें वेदान्तादि शास्त्रोंसे प्रामाणिक ही क्यों न हों.

इन शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी उपेक्षासे भगवान् नाराज हो जायेंगे ऐसे नहीं मान लेना चाहिये.

क्योंकि वे दयालु हैं. अतः जैसे ज्ञानावेशमें शास्त्रीय मर्यादाके उल्लंघनका बुरा नहीं मानते वैसे ही भावावेशमें गोपिकाओं द्वारा की गयी भगवदुपदेशकी उपेक्षाका भी बुरा नहीं माना था.

(६) प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके स्वभावसे प्रयुक्त भक्त्युत्तर संन्यास

भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकाररूप संन्यास, जिन गोपिकाओंकी लोक-वेदत्यागपूर्वक सर्वात्मभाववाली भक्तिकी भावना करते हुए किया जाता है, वह गोपिकाओंका परित्याग न तो आश्रमरूप है और न वैध ही. चतुर्थाश्रमरूप संन्यास केवल ब्राह्मण पुरुषके लिए ही विहित है, अब्राह्मण या स्त्रियोंके लिए नहीं. गोपिकाओंका त्याग अतएव किसी शास्त्रविधिसे प्रेरित न था किन्तु उनके चित्तकी भगवदेकतनतासे प्रयुक्त था. उनकी भगवदासक्तिके स्वभावका सहज अंग था.

स्वयम् भगवान्ने उनके इस अनुरागमूलक परित्यागका वर्णन इन शब्दोंमें किया है—
“ताः मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थं त्यक्तदैहिकाः ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थं” वस्तुतः गोपिकाओंका त्याग केवल प्रेमभावसे विश्वास होकर किया गया त्याग था. त्यागका यह प्रकार बहुत दुर्लभ है !

(७) ज्ञानार्थ संन्यास

पुष्टिमार्गीय जीवके लिए ज्ञानार्थ संन्यास बहुत लाभकारी नहीं होता. ज्ञानार्थ संन्यास लेनेसे पहले पूर्वाश्रमके वेदाध्ययन दान यज्ञ आदि कर्तव्यों द्वारा चित्तको शुद्ध करना आवश्यक होता है. अन्यथा केवल त्याग या वैराग्य से चित्तशुद्धि कलियुगमें शक्य नहीं है. जो लोग इस तरहका विविदिषासंन्यास कलियुगमें लेते हैं, या तो उन्हें वादमें पड़ताना पड़ता है और/अन्यथा वे संन्यासका पाषण्ड करनेमें दक्ष हो जाते हैं. अतएव मनुस्मृति (६।३४-३७) में कहा गया है कि “आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः भिक्षा-वलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्य वर्षते, ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्, अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः, अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य तथा सुतान् अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः.”

कुछ लोग कहते हैं कि यह अविरक्त विविदिषुकी निन्दा है, विरक्त विविदिषुकी नहीं. यहां विचारणीय यही है कि मोक्षेच्छासे संन्यास लेनेका निषेध किया जा रहा है और मोक्षेच्छा वैराग्यके अलावा और क्या हो सकती है ? ऋणत्रयके अपाकरणके बिना चित्तशुद्धि सम्भव नहीं—अशुद्ध चित्तमें ज्ञान वैराग्य स्थिर नहीं हो सकते—अतः ऐसोंके द्वारा लिया गया संन्यास पश्चात्ताप अथवा पाषण्ड में ही पर्यवसित होता है.

यह बात सभी तरहके जीवोंपर लागू होती है, अतः पुष्टिमार्गीय जीवोंपर भी श्रीमहाप्रभु अतएव स्पष्ट निषेध करते हैं— “तस्माद् ज्ञाने न संन्यसेत्” ज्ञानप्राप्तिके निमित्त संन्यास

नहीं लेना चाहिये. १

(८) ज्ञानोत्तर संन्यास

ज्ञानोत्तर संन्यास स्वभावप्राप्त होता है वैराग्य प्रकट होनेपर. अतएव एतदर्थं आज्ञा नहीं किन्तु अनुज्ञा उपनिषद् स्मृति पुराण आदिमें मिलती ही है. जावालोपनिषद्में—“यदि वेतरथा... यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्” वचनमें यही ज्ञानोत्तर संन्यास विवक्षित है.

फिर भी पुष्टिमार्गीय जीवोंके लिए इस प्रकारके ज्ञानोत्तर संन्यासकी, उसके फलकी तथा ज्ञानकी भी विशेष महत्ता नहीं है. अतएव भागवत् (१।५।१२) में आता है कि— “नैष्क-र्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्”. गीता (१२।२-५) में भी ज्ञानमार्गीय अव्यक्तोपासना तथा कृष्णभक्तिके तुलनात्मक महत्वका विचार करते हुए भगवान्ने ज्ञानमार्गीय अव्यक्तोपासनासे कृष्णभक्तिको उपयुक्त माना है—“मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः, ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्, संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः, ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्, अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते.”

हजारों वर्षोंतक ज्ञानमार्गपर यात्रा करनेके बाद कभी-कभीक जीव श्रीकृष्णकी अनन्य-भक्तिकी दिशाकी ओर मुड़ पाता है—“बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते, वासुदेवः सर्व-मिति सं महात्मा सुदुर्लभः (गीता ७।१९). अतः कृष्णाभिमुख सुदुर्लभ महात्माओंको पुनः अधिक क्लेश देनेवाली अव्यक्तोपासनाके ज्ञानमार्गकी ओर ताकना ही नहीं चाहिये. अतएव कहा जाता है कि—“जन्मात्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते” (पाण्डवगीता ४१). अतएव ज्ञानोत्तर संन्यास लेनेवालेको सहस्रजन्मका अन्तराय कृष्णभक्तिके हेतु हो जाता है !

भक्तिमार्गमें भी दोषसम्भावना और उसका निराकरण

जैसे दोष कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग में दिखलाये, यथा पाषण्ड या विषयासक्ति आदि, वे भक्तिमार्ग में भी सम्भव है !

यह आशंका अनुचित है क्योंकि दोषोत्पत्ति तीन तरहसे सम्भव है (१) कालके प्रभावसे (२) जीवात्माके स्वभावसे (३) परमात्माको इच्छासे.

(१) कलियुगका प्रभाव भक्तिमार्गपर नहीं पड़ता है—“पुंसां कलिकृतान् दोषान् ब्रह्मदेशात्मसम्भवान् सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान्पुरुषोत्तमः, विद्यातपःप्राणनिरोधमंत्रो-

१) अतएव मुण्डकोपनिषद्में—“अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः” आदिमें गृहस्थाश्रम आदिके कर्मोंकी निन्दा करके भी विरक्तोंके लिए उपदेश्य वेदान्तज्ञानके अध्यापन तथा अध्ययन का अधिकार पुनः इन्हींका ही मान्य किया है— “क्रियावन्तः श्रोत्रियाः ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुहुवतः एकापि श्रद्धयन्तः तेषामेवैतां ब्रह्माविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिबद्धं यैस्तु चीर्णं, नैतदचीर्णव्रतोधीते.”

तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः नात्यन्तशुद्धिं लभतेन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते" (भाग. १२।३।४५-४८)

स्वयम् भगवान् भी गीता (१।३०-३१) में कहते हैं—“अपि चेतुदुराचारो भजते मामन्यभाक् साधुरेव स मन्तव्यः सम्पद्गं व्यवसितो हि स, क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति, कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति” अतएव उद्धवोपदेशमें भी भगवान्ने कहा है—“बाध्यमानोपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः, प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्ना-भिभूयते” (भाग- ११।१४।१२)।

अतः न भक्तिके प्रारम्भमें और न उसकी प्रगल्भतामें कलिकाल अथवा विषयासक्ति भक्तिमार्गमें दोष उत्पन्न कर सकते हैं. पुराणोंमें भी तपस्वी आदिकी तरह भक्तके भटक जानेके कोई दृष्टान्त दिये नहीं गये हैं.

(२) जीवात्माके स्वभावसे दोषोत्पत्तिकी जहां तक सम्भावना थी तो उस अवस्था तक तो भक्तिमार्गमें भी त्याग न करनेकी बात समझायी ही गयी है. भक्तिकी व्यसनदशाके एकवार विकसित होनेपर यदि गृहत्याग किया जाता है तो भटक जानेका कोई भी भय नहीं रहता. क्योंकि जैसे-जैसे भक्तिका बीजभाव दृढ़ होने लगेगा वैसे-वैसे लौकिक तथा वैदिक दृष्टिसे भक्त अस्वस्थ होने लगेगा—“लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात्” (नवरत्न ६) यह पहले कहा जा चुका है. ऐसे अस्वस्थ भक्तोंमें, लौकिक अथवा वैदिक दृष्टिसे पुनः स्वस्थ बनानेवाले लौकिक कर्म या वैदिक कर्मों का त्याग एकवार कर देनेपर, जीवके स्वभाववश भी भगवद्भावमें बाधा उपस्थित होनेकी सम्भावना नहीं रह जाती है.

(३) गोपिकाओंको ज्ञानोपदेशद्वारा स्वयम् भगवान्ने विरहव्याधिसे उवारना चाहा था. उद्धवजीको इसी हेतुसे ब्रज भेजा गया था. अतः इस अवस्थामें स्वयम् भगवान् बाधा पहुंचा सकते हैं पर ऐसी आशंकाका निराकरण पहले ही कर दिया गया है कि भगवान्को पता था कि उद्धवके ज्ञानोपदेशसे ब्रजभक्तोंके भावखण्डन होनेके वजाय स्वयम् उद्धवका ज्ञानाभिमान खण्डित हो जायेगा. अतः इस विरहव्याकुलताकी भावतन्मयतामें परमात्मा बाधा पहुंचाता है ऐसा नहीं मानना चाहिये.

भक्तिके बीजभावको आत्मामें रोपित कर—सत्संगादिके अवसर द्वारा उसे सिञ्चित कर—प्रेमात्मना अंकुरित कर—आसक्तिके रूपमें पल्लवित कर—व्यसनके रूपमें जब फल परिपक्व होने जा रहा हो तब इस भक्त-मनोरथपूरक भक्तिके कल्पद्रुमको काट देना—स्वयम् हरिके भी वसकी बात नहीं है ! फिर काल-कर्म-स्वभावकी तो क्या विसात ?

अपने स्तनका दूध पिला-पिलाकर जिस बच्चेको पाल-पोसकर बड़ा किया हो उसे कौन मां खतम होने देगी !

अतः ज्ञानियोंके वाक्यसे भगवान् भक्तोंमें मोह उत्पन्न करते हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये. क्योंकि भागवत् (४।३।११२-१३) में—“किंवा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि, किंवा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः, श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः, सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मात्मदः प्रियः” अर्थात् योग सांख्य संन्यास स्वाध्याय या अन्य भी सारे श्रेयःसाधनोंको करनेसे कोई लाभ नहीं, जिनके करनेपर भी हरि आत्मप्रद नहीं होते हैं. क्योंकि सारे श्रेयकी अवधि आत्मा होती है और प्राणियोंके लिए हरि आत्मरूप आत्मप्रद तथा प्रिय हैं. ऐसी स्थितिमें सर्वदा भक्तपराधीनः रहनेवाले प्रभु—“अहं भक्तपराधीनः ह्यस्वतन्त्र इव द्विजः... नाहंमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना” (भाग. ९।४।६३-६४), अपने भक्तोंको न तो स्वयम् मोहित करेंगे और न ज्ञानियोंके वचनसे मोहित होने देंगे.

अतः बीजभावके दृढ़ होनेपर—भक्तिकी व्यसनदशामें—स्वगृहमें भगवत्सेवा जो न निभ पाती हो—तो ऐसी स्थितिमें गृहका परित्याग कर देना चाहिये. अन्यथा ऐसे घरमें रहनेसे कभी भावका उपशमन भी हो सकता है. भक्त अपने स्वार्थ—अपने प्रभुके रसात्मक अनुभवके लाभ—से वञ्चित हो सकता है. यह श्रीमहाप्रभुका दृढतर अभिप्राय है.

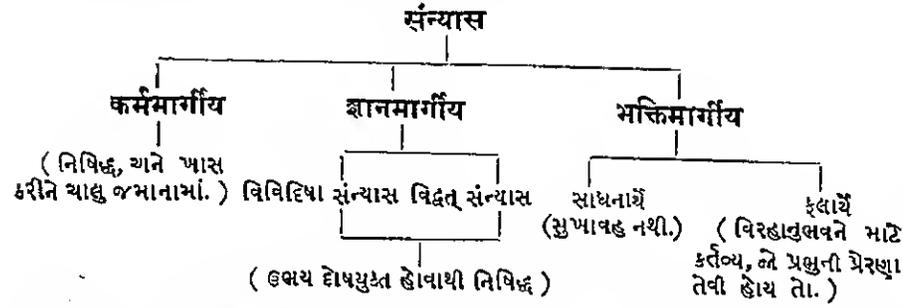
उपसंहार

इस तरह श्रीकृष्णके प्रसादसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा किया गया संन्यासनिर्णय कि वह भक्तिके दृढ़ होनेपर ही लिया जा सकता है—अन्यथा ज्ञानमार्गीय या कर्ममार्गीय रीतिसे पुष्टिमार्गमें संन्यास लेना, पुष्टिसोपानोंपर आरोहण करते हुए अव्यवहित होनेका कारण बनेगा, पूर्ण हुआ.

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९७४ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उस संस्करणके सम्पादक थे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल ब्रजदास सांकलिया. पोरबन्दरके गोस्वामी १००८ श्रीजीवनलालजी महाराजके आर्थिक सहयोगसे वह संस्करण प्रकाशित हुआ था. इन सभी महानुभावका हम इस पुनः प्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

સંન્યાસનિર્ણયના સમ્બન્ધી કાંઠક.

પાઠશ્ય ગ્રન્થમાંના સેવાકલ અને નિરોધલક્ષણ સુદ્રિત કરીને વૈષ્ણવોને નિવેદન કર્યો છે. હવે સંન્યાસનિર્ણય તેવી જ રીતે અષ્ટ વિવરણસહિત અને ગુર્જરાતુવાદસહિત પ્રકટ થાય છે. સંન્યાસનિર્ણય ગ્રન્થ શ્રીમદ્વાચાર્યજીએ નિવસેવક નરહરિ સંન્યાસીને સંન્યાસતું શુદ્ધ સ્વરૂપ ઉપદેશવાને પ્રકટ કર્યો છે. આ સંન્યાસતું સ્વરૂપ નીચે પ્રકારે સ્પષ્ટ થાય છે.



અર્થાત્, કર્મમાર્ગી વા જ્ઞાનમાર્ગીમાં સંન્યાસ લેવો અયુક્ત છે, જ્યારે ભક્તિમાર્ગીમાં સાધનસિદ્ધિયર્થે પણ સુખદાયક નથી. અનન્ત વર્ષથી પ્રભુનો આપણને જે વિયોગ થયો છે, તે વિરહના ક્લેશાનન્દના અનુભવને માટે જે પ્રભુપ્રેરણા થાય તે તેવો સંન્યાસ ઇષ્ટ છે; નહિ તે આચાર્યજીએ દર્શાવેલી પ્રભુલિલકાથી તનુવિત્તની સેવા જ કરીને સ્વમર્ચાદામાં રહેવું. આતું આ ગ્રન્થતું સૂક્ષ્મ તાત્પર્ય છે.

આ ગ્રન્થમાં આઠ ટીકાનો સંગ્રહ કર્યો છે:— ૧ શ્રીગોકુલનાથજી, ૨ શ્રીરઘુનાથજી, ૩ શ્રીગોકુલોત્સવજી, ૪ ચાચાશ્રીગોપેશ્વરજી, ૫ શ્રીગોપેશ્વરજી, ૬ શ્રીપુરુષોત્તમજી, ૭ શ્રીવલ્લભજી, અને ૮ ચાચાશ્રીગોપેશ્વરજી. આ સર્વ ટીકાઓ સંસ્કૃતમાં છે. પ્રત્યેક ટીકાની અનેક પ્રતિઓ પ્રભુકૃપાથી પ્રાપ્ત થઈ, તદનુસાર યથાશક્તિ યથામતિ શોધીને તે સર્વ સુદ્રિત કરી છે. સંસ્કૃત નહિ બલુનારા વૈષ્ણવોને માટે શ્રીપુરુષોત્તમજીની ટીકાનું ગુર્જર ભાષાનન્તર પણ આપ્યું છે. અમને આશા છે કે આથી સંસ્કૃતજ્ઞ કે સંસ્કૃતાભિજ્ઞ સર્વ વૈષ્ણવો આ ગ્રન્થનો આદર કરીને આમારા સ્વરૂપ પ્રયત્નને સફલ કરશે.

પંડિત ગદ્દલાલનો પુસ્તકસંગ્રહ, નડીયાદની ડાહીલક્ષ્મી પુસ્તકાલયસ્ય શાસ્ત્રી બાઇલાલનો સંગ્રહ, ડેકનકોલેજમાંનો સરકારી સંગ્રહ, ગુર્જરાતી પ્રેસનો સંગ્રહ, શ્રીમદ્વૈષ્ણવ પરિષતસંગ્રહ, શ્રીવલ્લભલાલજી, શ્રીજીવનલાલજી, શ્રીગોવર્ધનલાલજી, શ્રીમજરજી, ગોસ્વામિની શ્રીકૃષ્ણપ્રિયાજી, શાસ્ત્રી વસન્તરામ, શાસ્ત્રી ભદ્રશંકર, શાસ્ત્રી કલ્યાણજી, અને શીર્વનકાર બલદેવદાસ તરફથી આ ગ્રન્થતું સાહિત્ય અમને મળ્યું છે. આ સર્વનો તેમની નિરપેક્ષ સાહાય્યમાટે અમે અંતઃકરણથી આભાર માનીએ છીએ.

પુસ્તક તથા ટીકાઓ વિખનમાં ઉત્સવલાલ રામકૃષ્ણ પંચ્યા, ચંદલાલ ગુનીલાલ શાહ, મળચરીદાસ મગનલાલ શાહ, ધીરજલાલ કાશીનાથ પંચ્યા, કુલચંદ વિઠ્ઠલદાસ શાહ, મોહનલાલ નરોત્તમદાસ શાહ ખી. એ. વગેરેનો ઉત્સાહપૂર્વક નિરૂપણિ પરિશ્રમ પણ ધન્યવાદને પાત્ર છે. આણંદના આમારા મિત્ર ઉત્સવલાલ રામકૃષ્ણ પંચ્યાએ અમને કાર્ય કરવાને સર્વ પ્રકારની અનુકૂલતા પોતાને લ્યાં કરી આપી તેથી તેમનો તથા ભગવદીય મોતીબાઇનો ઉપકાર વિસ્મરણીય નથી. આ ગ્રન્થ આટલા સ્વરૂપ સમયમાં, પ્રતિબંધો હોવા છતાં, શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રચરણકમલમાં અર્પવાને અમે શક્તિમાન થયા છીએ, તેનું મુખ્ય કારણ ગોસ્વામિશ્રીજીવનલાલજીનું નિઃસંકોચ દ્રવ્યાદિતું સાહાય્ય, અને નિલક્ષીલાલ મહાનુભાવીઓનો કરુણાકટાક્ષ, તથા વિદ્યમાન મહાનુભાવીઓનો સહુભાવ જ છે.

સુંબઈ,
વસન્તોત્સવ.
૧૯૭૪.

મુલચન્દ્ર તેલીવાલા,
ધૈર્યલાલ સાંકલીયા.

ગ્રન્થસંગ્રહપરિચય: ।

૧. સર્વવિવરણાધારતઃ સંન્યાસનિર્ણયો સુદ્રિતોસ્માભિઃ, તત્ર વિદ્યમાનાઃ પાઠભેદા અપિ દર્શિતાઃ ।
૨. શ્રીમદ્ગોકુલનાથપ્રકટિતવિવરણસ્ય દશપુસ્તકાન્યુપલબ્ધાનિ । તત્ર એકં શ્રીવલ્લભલાલાનાં શુદ્ધં પ્રાચીનં સં૦ ૧૭૩૫ આશ્વિનશુક્રપૂજ્યાં લિખિતમ્ । દ્વિતીયં શ્રીમજરજાનામ્, નૂતનમ્ । તૃતીયં શ્રીજીવનલાલાનાં નૂતનં પ્રાયઃ શુદ્ધમ્ । ચતુર્થં શ્રીનૃસિંહલાલતનયશ્રીગોવર્ધનલાલાનાં પ્રાચીનં, પ્રાયઃ શુદ્ધમ્ । પચ્ચમં ગોસ્વામિનીશ્રીકૃષ્ણપ્રિયામિર્દત્તમ્ । પષ્ટં પં૦ ગદ્દલાલસંગ્રહતઃ પ્રાપ્તં, પ્રાચીનં પ્રાયઃ શુદ્ધમ્ । સપ્તમં 'ગુજરાતીપ્રેસ'સંગ્રહતઃ પ્રાપ્તમ્ । દ્વયં સ્તમ્ભતીર્થસ્થશાસ્ત્રિમદ્દશરૂપસ્ય । દશમં શ્રીમદ્વૈષ્ણવપરિષત્સંગ્રહતઃ પ્રાપ્તમ્ ।
૩. શ્રીમદ્ગુનાથપ્રકટિતવિવરણસ્ય પુસ્તકદ્વયમુપલબ્ધમ્ । એકં પં૦ ગદ્દલાલસંગ્રહતઃ પ્રાપ્તમ્, પ્રાચીનં શુદ્ધં ચ । દ્વિતીયં શ્રીજીવનલાલાનામ્, નૂતનં પ્રાયઃ શુદ્ધમ્ ।
૪. શ્રીમદ્ગોકુલોત્સવપ્રકટિતવિવરણસ્ય પુસ્તકત્રયં પ્રાપ્તમ્ । દ્વયં પં૦ ગદ્દલાલસંગ્રહસ્યમ્, એકં પ્રાચીનં, શુદ્ધં ચ । દ્વિતીયં નૂતનમશુદ્ધં ચ । તૃતીયં 'ગુજરાતી પ્રેસ' સંગ્રહતઃ પ્રાપ્તમ્, પ્રાયઃ શુદ્ધમ્ ।
૫. ચાચાશ્રીગોપેશ્વરકૃતટીકાયાઃ પુસ્તકમેકમેયોપલબ્ધમ્ । પ્રાયઃશુદ્ધં, પરન્તુ ક્વચિત્ સન્દિગ્ધમ્ । હૃદં પુસ્તકં શ્રીદ્વારકેશ્વરાણાં, સંવત્ ૧૮૧૦ વર્ષે લિખિતં, પં૦ ગદ્દલાલસંગ્રહતઃ પ્રાપ્તમ્ । નૈવેયં ટીકા શ્રીઘનશ્યામતનયચાચાશ્રીગોપેશાનામ્ ।
૬. શ્રીગોપેશ્વરકૃતવિવૃત્તેઃ પુસ્તકત્રયં પ્રાપ્તમ્ । એકં શાસ્ત્રિવસન્તરામતઃ પ્રાપ્તમ્, સંવત્ ૧૭૨૩ આશ્વિનામાવાસ્યાયાં લિખિતમ્, શુદ્ધમ્ । દ્વિતીયં પં૦ ગદ્દલાલસંગ્રહતઃ પ્રાપ્તમ્, પ્રાચીનં પ્રાયઃ શુદ્ધમ્ । તૃતીયં શ્રીમદ્વૈષ્ણવપરિષત્સંગ્રહતઃ પ્રાપ્તમ્, નૂતનમ્ ।
૭. શ્રીમત્પુરુષોત્તમપ્રકટિતવિવરણસ્ય પુસ્તકચતુષ્ટયં પ્રાપ્તમ્ । એકં 'ડક્કન કોલેજ' હસ્તાલિખિતસંગ્રહસ્યમ્, પ્રાચીનમતીવશુદ્ધમ્ । હૃદં પુસ્તકં શ્રીમત્પુરુષોત્તમૈનિજહસ્તાશ્વરૈઃ શોધિતમિત્યસ્માકં પ્રતિભાતિ, ક્વચિત્ ક્વચિત્ વિવરણે શુદ્ધલિખિતાઃ ફક્કિકા હરિતાલેન લુહવા, નૂતના અધિકાઃ શુદ્ધાઃ ફક્કિકાઃ નિવેશિતાઃ । અત્ર પત્રદ્વયં ત્રુટિતમ્ । દ્વિતીયં પુસ્તકં શ્રીજીવનલાલાનામ્, નૂતનં, પ્રાયઃ શુદ્ધમ્ । તૃતીયં શ્રીમદ્વૈષ્ણવપરિષત્સંગ્રહતઃ પ્રાપ્તમ્, નૂતનં, ન કેનાપિ વાચિતં શોધિતં વા । ચતુર્થં શ્રીવલ્લભલાલાનામ્, નૂતનં, અશુદ્ધં ચ । અસ્મિન્ પુસ્તકે ક્વચિત્ કલિપતાઃ પાઠા નિવેશિતા દષ્ટાઃ । શ્રીપુરુષોત્તમકૃતૈતદ્વિવરણે અન્તે 'યથાવિધિ સંન્યાસં ગૃહીત્વા, અરેલગ્રામાત્ કાશ્યામાગતા' इति त्रिघमानेषु अवस्थदृष्टेषु पुस्तकेषु वर्तते । શ્રીવલ્લભલાલતઃ પ્રાપ્તે પુસ્તકે 'યથાવિધિ નારાયણેન્દ્રતીર્થતઃ સંન્યાસં ગૃહીત્વે'ત્યાદિ વર્તેતે । અત્ર 'નારાયણેન્દ્રતીર્થત' इत्यधिकं केन कृतं, कुतः कथमागतम्, तत्र निश्चीयतेऽस्माभिः । एतद्रीत्या विष्णुस्वामिपरम्परासमर्थनं तु तस्या याथातथ्यं शिथिलीकरोतीत्यविवादम् । श्रीमत्पुरुषोत्तमकृताचार्यचरित्रोपन्यासः श्रीद्वारकेश्वर-कृतशिक्षाश्लोकविवरणेष्यस्ति, तत्रापि 'नारायणेन्द्रतीर्थत' इति न विद्यते । एतेन येन केनचिद-यमशुद्धः पाठः श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणे निक्षिप्तः, तेन साहसमेव कृतमिति मन्यामहे ।
૮. શ્રીવલ્લભકૃતટીકાયા એકમેવ પુસ્તકમુપલબ્ધમ્ । પ્રાચીનમતીવશુદ્ધમ્, શ્રીવલ્લભલાલાનામ્ ।
૯. શ્રીઘનશ્યામતનયચાચાશ્રીગોપેશ્વરકૃતટીકાયાઃ પુસ્તકચતુષ્ટયમુપલબ્ધમ્ । એકં માઈલાલશાસ્ત્રિણઃ, તનસુસરાર્મૈઃ પ્રદત્તમ્, પ્રાચીનમ્, શુદ્ધમ્ । દ્વિતીયં પં૦ ગદ્દલાલસંગ્રહતઃ પ્રાપ્તમ્, પ્રાયોશુદ્ધમ્ । પુસ્તકદ્વયં શ્રીમજરજાનામ્, અમ્યમપિ નૂતનમ્, એકં શોધિતત્વાનશુદ્ધમ્, દ્વિતીયમશુદ્ધમ્ ।

અસ્ય વિવરણસ્ય યદપિ પુસ્તકચતુષ્ટયમુપલબ્ધમસ્માભિસ્તથાપિ સર્વાણ્યપિ નામરહિતાનિ, જતઃ કૈઃ મહાનુભાવૈરિદં વિવરણં પ્રકટિતમિતિ તન્નિશ્ચેતું પ્રથમં વચમશક્તાઃ । ભાષાસામ્યેનેયં ટીકા ચાચાશ્રીગોપેશાનામેવેત્યસ્માકં હૃદિ પ્રતિક્ષણં સ્ફુરિતમ્; एतद्विवरणभाषायाः साम्यं अस्मन्मुद्रितचाचा-

श्रीगोपेशकृतसेवाफलनिरोधलक्षणविवरणभ्यां सहायन्तं वर्तते । श्रीपुरुषोत्तमकृतैतद्विवरणोपन्यासेन निःसन्दिग्धतयेदं चाचाश्रीगोपेशानामेवेति निश्चीयते । विशेषं तु प्रसंगाद्दृश्यत इति ।

अस्मिन् पुस्तकसञ्चये पं० गदूलालसंस्थायाः 'कार्याध्यक्ष काशीदास नारायणदास दलाल, बी. ए., एल्. एल्. बी., मुख्यत्रयीश्रीश्रीशुभवनदास,' इत्येतेषां महत्युपकृतिः । गोस्वामिश्रीजीवनलालानां, गोस्वामिश्रीसिंहलालतनयश्रीगोवर्धनलालानां कल्याणशास्त्रिणश्च, गोस्वामिश्रीवल्लभलालानां, गोस्वामिश्रीव्रजरत्नानां, गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाणां, बलदेवदासस्यापि महत्युपकृतिः । शास्त्रिवसन्तराम हरिकृष्ण, शास्त्रिभद्रशङ्कर जयशङ्कर, तनसुखराम मनःसुखराम त्रिपाठी बी. ए., नटवरलाल इच्छाराम देसाई. बी. ए., डॉ. एस्. के. बेलवलकर. एम्. ए., पी. एच्. डी., इत्येतैः सहर्षं प्राचीनहस्तलिखितपुस्तकप्रदानेन वयमत्यन्तमनुगृहीताः । श्रीमद्वैष्णवपरिपन्मन्त्रिवाडीलालस्यापि तथैवोपकृतिः । 'चन्दुलाल जुनीलाल शाह, ब्रजचरीदास मगनलाल शाह, उत्सवलाल रामकृष्ण पण्ड्या, धैर्यलाल काशीनाथ पंड्या, कुलचन्द विठ्ठलदास शाह, मोहनलाल नरोत्तमदास शाह. बी. ए.' इत्येतेषां पुस्तकलिखने महत्युपकृतिः । अस्य यावत्प्राप्यविवरणसमेतस्य संन्यासनिर्णयस्य मुद्रणव्ययो गोस्वामिवर्यश्रीजीवनलालैः सहर्षं कृत इति तेषामुपकृतिं वयं सविनयं स्मरामः । प्रार्थयामहे चान्येपि गोस्वामिनः श्रीमन्तो वैष्णवाश्चैताननुकुर्युरिति । एतेषां गोस्वामिवर्याणां कृपयैव संन्यासनिर्णयोष्ट-विवरणसमेतः मुद्रितः साम्प्रदायिकानां सुगमो भविष्यतीति ।

विवरणकृतां परिचयः ।

१. तत्रादौ श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटितः संन्यासनिर्णयोष्टविवरणसमेतः सम्मुद्रते । स्वीयानुग्रहार्थमाचार्यैः स प्रकटीकृत इति । आचार्याणां प्रादुर्भावस्तु १५३५ वर्षे चैत्रकृष्ण एकादश्यां रविसारे । तेषां चरित्रादिकं तु साम्प्रदायिकवार्तादिषु प्रसिद्धमिति नेह विस्तरः । षोडशग्रन्थेष्वयं संन्यासनिर्णयश्चतुर्दशसङ्ख्यां भजते ।

२. प्रथमं मुद्रितं विवरणं श्रीमद्वल्लभानाम्, श्रीमद्गोकुलनाथानाम् । श्रीमद्गोकुलनाथास्तु श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणानां चतुर्थसूनवः मार्गशीर्षशुक्लसप्तम्यां १६०८ वर्षे काशीसमीपस्थारेलग्रामे प्रादुर्भूताः । पौषकृष्णनवम्यां १६९७ वर्षे श्रीमद्गोकुले सिद्धिं गताः । श्रीमत्प्रभुचरणलालेषु इमे अतिप्रसिद्धाः । चिद्रपादीनां संन्यासपापण्डिनां मुखमर्दनं कृत्वा मोगलराजजहांगिरं च वशीकृत्य स्वमार्ग-रक्षामेत एव कृतवन्तः । तिजमहायन्नेन सतां कण्ठे माला च तैरेव सुरक्षिता । ताताञ्जैकपरायणत्वं तु तेषामतीव प्रसिद्धम् । श्रीमदाचार्यप्रकटितश्रीमद्भागवतसुबोधिन्याः विशेषप्रचारस्तु तैरेव कृतः, अतस्तेषां 'श्रीसुबोधिनीप्रवर्तिका' इति नामापि प्रसिद्धम् । तिजश्रीहस्ताक्षरयुतश्रीमत्सुबोधिनी कपडवणजे श्रीबहेनजीराजगुहमधुनाप्यलङ्करोति । साम्प्रदायिकवार्तादीनां प्रकटीकर्तारोपि ते एव । स्वसम्प्रदायस्य प्रचारार्थं प्रवृत्त्यर्थं च गुर्जरभूमिरनेकवारं स्वचरणनलिनरजोभिस्तैः पवित्रीकृता । दक्षिणे पुण्यपत्तनपर्यन्तमेकवारं तदर्थमेव गताः, परन्तु तत्रत्यान् कृष्णप्रेमरसानधिकारिणः दृष्ट्वा ततो न्यवर्तन्त । दक्षिणात्याः 'भैंसा' इत्युपहासस्तैरेव कृतः । तद्वातां प्रसङ्गादिषु च प्रसिद्धः । श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रश्रीवल्लभाष्टकसिद्धान्तमुक्तावलिपुष्टिप्रवाहमर्यादासिद्धान्तरहस्यान्तःकरणप्रबोधचतुःश्लोकीविवेकधैर्याश्रयभक्तिवर्धिनीत्यादीनां ग्रन्थानां विद्युतयः तेषां नयनमोचरीभवन्ति । अस्मन्मुद्रितसेवाफले अन्तिमं नामरहितं विवरणमपि तेषामेवेति तत्कृतश्रीसर्वोत्तमस्तोत्रबृहद्दीकोपन्यासान् ज्ञायते । 'विबुधेश्वरः' इत्यस्य विवरणे एतत्सेवा-फलविवरणस्योपन्यासो वर्तते । श्रीकल्याणभट्टकृतकल्लोले व्यारास्थश्रीगोपालदासकृतमालाप्रसङ्गे च तेषां चरित्रादिकं सुविस्तृतम्, विशेषजिज्ञासुभिस्तत्रैवावलोकनीयम् ।

३. द्वितीयं मुद्रितं विवरणं श्रीमद्गुणानाथानाम् । एते श्रीमद्गुणानाथास्तु श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणानां पञ्चमसूनवः कार्तिकशुक्लद्वादश्यां १६११ वर्षे प्रादुर्भूताः । तेषां विद्यादानं श्रीमद्गोकुलनाथैः कृतमिति परम्परातो ज्ञायते । तद्देशे च रसादिधकाव्यकर्तारः श्रीदेवकीनन्दनाः श्रीसुबोधिनीलेखकृतश्च

श्रीवल्लभाः प्रादुर्भूताः । चतुर्थलालश्रीमद्गोकुलनाथवत् तेषां पितृभक्तिरपि निरूपमा । षोडशग्रन्थोपरि तेषां व्याख्यानानि दृग्गोचरीभवन्ति । श्रीवल्लभाष्टकश्रीमद्गुराष्टकोपरि तेषां व्याख्यानमुपलभ्यते । भक्ति-हंसभक्तिहेतु च तैः स्मृतव्याख्यया समलंकृतौ । श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रमपि तैः नामचन्द्रिकया सर-लीकृतम् । तेषां भाषासारख्यं त्वत्यन्तं वर्तते । रमणीयानि तदप्रकटितस्तोत्राण्यपि दृश्यन्ते ।

४. तृतीयं व्याख्यानं श्रीगोकुलोत्सवानाम् । इमे श्रीगोकुलोत्सवाः श्रीमत्प्रभुचरणद्वितीयकुमार-श्रीगोविन्दरायाणां द्वितीयसूनवः, श्रीमत्कल्याणरायाणामनुजाः, श्रीमद्दरिरारायाणां पितृव्यचरणाः, संवत् १६३४ वर्षे ज्येष्ठकृष्णचतुर्थ्यां प्रादुर्भूताः । षोडशग्रन्थोपरि तेषां व्याख्यानानि मिलन्ति ।

५. चतुर्थं व्याख्यानं चाचाश्रीगोपेशराणाम् । के इमे श्रीगोपेशरास्तन्निश्चतुं नैव शक्यतेऽस्माभिः । यद्यपि ग्रन्थान्ते अस्माभिः श्रीघनश्यामतनयचाचाश्रीगोपेशकृतमिति लिखितम्, तथापि नैतद्युक्तमेवेति प्रतिभाति । एतद्विवरणस्यैकमेव पुस्तकं मिलितम्, तदुपरि एवं लिखितम्—'चाचाजीश्रीगोपेशरजीकृता टीका, संवत् १८१०, श्रीद्वारकेश्वराणामिदम्' । यद्यपि एतद्विवरणं प्राचीनं, तथापि चाचाश्रीगोपेशानां श्रीघनश्यामतनयानां तु नैव । अत्रान्ते मुद्रितं विवरणमेव तेषामिति श्रीपुरुषोत्तमकृततदुपन्यासाद् भाषासान्याच निश्चीयते ।

६. पञ्चमं विवरणं श्रीगोपेशराणाम् । इमे श्रीगोपेशराः श्रीकल्याणरायाणां सूनवः, श्रीमद्दरि-रायाणामनुजाः, संवत् १६४९ ज्येष्ठशुक्लद्वादश्यां प्रादुर्भूताः । शिक्षापत्राणि एतेषु श्रीहरिरायैः प्रेषि-तानि । शिक्षापत्राणां भाषाव्याख्यानं तत्कृतमेव सम्प्रदाये प्रचलति । वादकथानामकोन्यो ग्रन्थोपि तेषां वर्तते, पुष्टिभक्तिसुधायां प्रादुर्मुद्रितश्च । एतेषां भाषा किञ्चिद्विलक्षणा वर्तते । तदग्रन्थान्ते श्लोकोयः—
गीभिर्गोपालदासस्य श्रीगोकुलनिवासिनः । गोपेश्वरेण विवृतिः कृता संन्यासनिर्णये ।

७. षष्ठं विवरणं दशदिगन्तविजयिश्रीमत्पुरुषोत्तमचरणानाम् । श्रीमदाचार्यतः पुरुषगणनया सप्तमी संख्यां विभूषयन्तो भाद्रपदशुक्लदशम्यां १७१४ वर्षे प्रोद्भूताः । तेषां विवरणं शास्त्रार्थरीत्या-बुभुत्सुबोधकमिति प्रतिभाति । विशेषतस्तेषां चरित्रजिज्ञासुभिः पुष्टिभक्तिसुधेति मासिकपत्रिकायाः पञ्चमवर्षस्य तृतीयाङ्को द्रष्टव्यः । यावत्प्राप्यं बाल्यान्तरं वा तेषां चरित्रादिकमस्माभिरत्रैव निवेशित-मिति न पुनरुच्यते ।

८. सप्तमं विवरणं काकाश्रीवल्लभानाम् । इमे श्रीवल्लभाः श्रीमत्प्रभुचरणपञ्चमपुत्रश्रीरघुनाथत-श्रुती संख्यां विभूषयन्तः स० १६२९ वर्षे कार्तिककृष्णद्वादश्यां प्रादुर्भूताः । श्रीविठ्ठलरायाणां कनी-यांसः सूनवः । षोडशग्रन्थोपरि तेषां विवरणानि सुबोधिन्यनुसारीणि दृश्यन्ते । श्रीसुबोधिनीलेखस्यापि प्रणेतास्ते एव । अणुभाष्योपरि व्याख्यानं तैः प्रकटीकृतमिति लालभट्टकृतोपन्यासादवगम्यते । एतैः वर्षस्य विभागत्रयं कृतम् । प्रथमे विभागे श्रीमद्गोकुलचन्द्रं सेवमानाः श्रीगोकुले विराजितवन्तः । द्वितीये विभागे कदम्बखण्ड्यां निवसन्तः ग्रन्थान् विवरणानि च योजितवन्तः । तृतीये विभागे सदुपदेशैः जीवानुद्धर्तुं भारतवर्षं पर्यटन्तः सेवां स्वीकृतवन्तः । विशेषं तु पुष्टिभक्तिसुधायाः सप्तमवर्षस्य नवमाङ्के प्रपञ्चितं, जिज्ञासुभिस्तत्रैवावलोकनीयम् ।

९. अष्टमं विवरणं श्रीघनश्यामतनयचाचाश्रीगोपेशानामेव । इमे श्रीगोपेशाः श्रीमत्प्रभुचरणानां सप्तमपुत्रश्रीघनश्यामानां सूनवः । षोडशग्रन्थोपरि बहवस्तेषां टीका दृश्यन्ते । तत्कृतनिरोधलक्षणविवरणं त्वधुनैवास्माभिः प्रकटितम् । भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६५२ वर्षे प्रादुर्भूताः ।

अत्रास्माभिरुपलब्धानि अष्टविवरणानि प्रकटीक्रियन्ते; एतान्येव प्रसिद्धानि, तथापि एतावन्त्येव विवरणानि, नैवाधिकातीति नैव शक्यते वक्तुमस्माभिः । अतो यदि अत्रामुद्रितं संन्यासनिर्णयव्याख्यानं केषाञ्चिन्महानुभावानां पुस्तकसङ्ग्रहे विद्येत चेत्, तदा ते कृपया यदि तदस्मत्सकाशं प्रेषयिष्यन्ति, तदा तदपि सोपकारं स्वीकृत्य मुद्रयिष्यामः । प्रार्थयामहे च विद्वांसः अस्मदेनां प्रार्थनां कृपया स्वीकृत्य सम्प्रदायसेवां कर्तुं स्वजीवनं च सफलयितुमुद्यता भवन्त्विति ।

નવલ વિશેષ.

ગત ઉચ્ચકાલની રત્નમાં સૌરાષ્ટ્રમાં આવેલા જૂનાગઢમાં શ્રીદામોદરજી તથા શ્રીમદન-મોહનલાલજીના મંદિરસ્થ હસ્તલિખિત પુસ્તક સંગ્રહના દર્શનનો લાલ ભગવદ્ધર્મપરાયણુ રા. રણછોડદાસ વૃન્દાવનદાસ પટવારી તથા રા. રણછોડદાસ શ્યામજીની સહાનુભૂતિથી મળ્યો હતો. મારી સાથે ચાર પાંચ સન્મિત્રો હતા જેથી ત્યાંના મંદિરમાં વિદ્યમાન સર્વ સાંપ્રદાયિક બંધોમાંના હસ્તલિખિત પુસ્તકોનું નિરીક્ષણ કરવાનો અર્પણ લાલ પ્રભુકૃપાથી મળ્યો. ઘણી વાર મેં શ્રવણ કર્યું હતું કે જૂનાગઢમાં દેવકીનન્દનલાલાને ત્યાં શ્રીમહાપ્રભુજીની શ્રીમહાગવત ઉપર પ્રકટ કરેલી સૂક્ષ્મ ટીકા છે. એ સૂક્ષ્મ ટીકાના દર્શનનું અહોભાગ્ય પ્રાપ્ત કરવાની ઉત્કંઠા મને અહીં વાર થતી; પરંતુ એ ઉત્કંઠા શાંત કરવાનો પ્રસંગ અઘાપિ પર્યન્ત મળેલો નહિ. આ સમય ભગવદ્દીય રણછોડદાસ શ્યામજી તથા ભગવદ્ધર્મપરાયણુ રા. રણછોડદાસ પટવારીએ સર્વ પ્રકારની અનુકૂળતા કરી આપી જેથી ઉક્ત પુસ્તકસંગ્રહનું યથેચ્છ નિરીક્ષણ થયું. શ્રીમહાપ્રભુજીની શ્રીમહાગવતના સમગ્ર સૂક્ષ્મ ટીકાના દર્શનનું સૌભાગ્ય તો અમને પ્રાપ્ત ન થયું, પરંતુ શ્રીદશમસ્કંધના આરંભના વિશેષક પત્રનું દર્શન થયું. પરંતુ ઉક્ત પુસ્તકસંગ્રહનું સાંગીપાંગ નિરીક્ષણ કરવામાં અને તેની સૂચિ તૈયાર કરવામાં અન્ય નવલ વિશેષ પણ જાણવામાં આવ્યું. ઉક્ત સંગ્રહમાં શ્રીસુભોધિનીની જુની સુન્દર પ્રતો વિરાળ છે, તથા તે ઉપરનો પ્રકાશ શ્રીપુરુષોત્તમજીનો સારો છે. પરંતુ ત્યાં પણ દશમસ્કંધનો માત્ર લેખ છે, પ્રકાશ નથી. નિબંધ ઉપર પણ આવરણલંગાદિની પ્રતિઓ છે. શ્રીમદ્ભુલાલ્ય ઉપર કાશીસ્થ શ્રીગિરિધરજીનું વિવરણ તથા મરીચિકાવૃત્તિ વિના અન્ય કાંઈ નથી. ષોડશ અન્થનું સાહિત્ય સારા પ્રમાણમાં છે. અમે પ્રકટ કરેલાં દ્વાદશવિવરણસહિત સેવાકલમાં એ વિવરણ નામરહિત હતા. તેમાં અન્તિમ નામરહિત વિવરણ શ્રીમદ્વિદ્યુલેશ્વરપ્રભુચરણના ચતુર્થ પુત્ર શ્રીગોકુલનાથજીનું છે એમ મને એઓશ્રીની શ્રીસર્વોત્તમજીની બી ટીકા વાચતાં માલૂમ પડ્યું હતું. પરંતુ શ્રીપુરુષોત્તમજીની પછી સુદ્રિત કરેલું વિવરણ કોનું તે જૂનાગઢના પુસ્તકસંગ્રહથી માલૂમ પડે છે. ઉક્ત વિવરણના કર્તા શ્રીમથુરાનાથાત્મજી શ્રીદ્વારકેશજી મહારાજ છે. એ વિવરણનો અન્તિમ ભાગ કાંઈક ત્રુટિત હતો. તે આ પ્રકારે છે:—'ભગવદ્દીયૈઃ સ્થેન્' ને અદલે આમ વાચવું:—ભગવદ્દિચ્છાભાવનપરેણ સ્થેયમ્ । ભગવદિચ્છાભાવનમાત્રે તુ શ્રીગોપીજનવલ્લભોસ્સ્વપ્નુઃ પુષ્ટાવહ્ની-કૃતાન્મનાં સ્વયમેવોદ્દેગાદિકં નિવાર્યં યથાધિકારમેતદ્વન્થોક્તં ફલં દાસ્યતીતિ સિદ્ધમ્ ।

શ્રીવલ્લભપ્રભોર્નામોચારણાત્ પ્રાસવુદ્ધિના ।

વિચારિતા મયાપ્તેષા પૂર્વદીકાનુસારતઃ ॥ ૧ ॥

હૃતિશ્રીગોસ્વામિમથુરાનાયાત્મજદ્વારિકેશકૃતસેવાફલવિવૃત્તિપ્રકાશઃ સમાપ્તઃ ।

ખીલુ આ શ્રીદ્વારકેશજી મહારાજના અને યોગિશ્રીગોપેશ્વરજીનાં ચિત્રનાં એકજ પત્ર ઉપર દર્શન કર્યાં, અને શ્રીદ્વારકેશજીના અમુક પુસ્તકો ઉપરના હસ્તાક્ષરના પણ દર્શન થયાં. તે ઉપરથી મને હવે લાગે છે કે સંન્યાસનિર્ણયમાં છાપેલી ચોથી ટીકા આચાર્યશ્રીગોપેશ્વરજીના નામથી છાપેલી તે યોગિશ્રીગોપેશ્વરજીની છે. જે પ્રતિ ઉપરથી આ ચતુર્થ ટીકા છાપી તેના ઉપર શ્રીદ્વારકેશજીનામિદમ્ એમ લખેલું હતું, તે અને 'આચાર્યશ્રીગોપેશ્વરજીકૃતટીકા' એમ લખેલું હતું. જે હસ્તાક્ષરમાં આ લખેલું હતું તે અને શ્રીદ્વારકેશજીના હસ્તાક્ષર એક જ હોવાથી, અને ઉભયના ચિત્ર સાથે હોવાથી શ્રીદ્વારકેશજી યોગિશ્રીગોપેશ્વરજીને જ આચાર્યશ્રીગોપેશ્વરજી કહેતા હોય એમ સંભવ હોવાથી ઉક્ત ટીકા યોગિશ્રીગોપેશ્વરજીની છે એમ હવે મારી મતિ છે.

મૂલ્યન્દ્ર તેલીવાલા.

શ્રીકૃષ્ણાય નમઃ ।

શ્રીગોપીજનવલ્લભાય નમઃ

શ્રીમદાચાર્યચરણકમલેભ્યો નમઃ ।

સંન્યાસનિર્ણયઃ ।

પશ્ચાત્તાપનિવૃત્ત્યર્થે પરિત્યાગો વિચાર્યતે ।
 સ માર્ગદ્વિતયે પ્રોક્તો ભક્તૌ જ્ઞાને વિશેષતઃ ॥ ૧ ॥
 કર્મમાર્ગે ન કર્તવ્યઃ સુતરાં કલિકાલતઃ ।
 અત આદૌ ભક્તિમાર્ગે કર્તવ્યત્વાદ્વિચારણા ॥ ૨ ॥
 શ્રવણાદિપ્રસિદ્ધ્યર્થે કર્તવ્યશ્ચેત્ સ નેષ્યતે ।
 સહાયસજ્જસાધ્યત્વાત્ સાધનાનાં ચ રક્ષણાત્ ॥ ૩ ॥
 અભિમાનાન્નિયોગાન્ન તદ્ધર્મૈશ્ચ વિરોધતઃ ।
 ગૃહાદેર્વાધકત્વેન સાધનાર્થે તથા યદિ ॥ ૪ ॥
 અગ્રેપિ તાદૃશૌરેવ સજ્ઞો ભવતિ નાન્યથા ।
 સ્વયં ચ વિષયાક્રાન્તઃ પાષણ્ડી સ્યાત્તુ કાલતઃ ॥ ૫ ॥
 વિષયાક્રાન્તદેહાનાં નાવેશઃ સર્વદાં હરેઃ ।
 અતોત્ર સાધને ભક્તૌ નૈવ ત્યાગઃ સુસ્વાવહઃ ॥ ૬ ॥
 વિરહાનુભવાર્થે તુ પરિત્યાગઃ પ્રદાસ્યતે ।
 સ્વીયબન્ધનિવૃત્ત્યર્થે વેષઃ સોત્ર ન ચાન્યથા ॥ ૭ ॥
 કૌણ્ડિન્યો ગોપિકાઃ પ્રોક્તા ગુરવઃ સાધનં ચ તત્ ।
 ભાવો ભાવનયા સિદ્ધઃ સાધનં નાન્યદિષ્યતે ॥ ૮ ॥
 વિકલત્વં તથાસ્વાસ્થ્યં પ્રકૃતિઃ પ્રાકૃતં ન હિ ।
 જ્ઞાનં ગુણાશ્ચ તસ્યૈવં વર્તમાનસ્ય વાધકાઃ ॥ ૯ ॥
 સત્યલોકે સ્થિતિર્જ્ઞાનાત્ સંન્યાસેન વિશેષિતાત્ ।
 ભાવના સાધનં યત્ર ફલં ચાપિ તથા ભવેત્ ॥ ૧૦ ॥

૧. પ્રવૃત્ત્યર્થમિતિ પાઠઃ । ૨. કામત્વમિતિ પાઠઃ । ૩. સર્વથેતિ પાઠઃ ।

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
 वहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वहिवत् प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
 तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
 गुणास्तु सङ्गराहिल्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥
 भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
 स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥
 दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।
 ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥
 ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
 ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥
 अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
 पाषण्डित्वं भवेत्तपि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
 सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ।
 भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥
 अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
 स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥
 हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपरे ।
 अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥
 ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
 आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥
 तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
 अन्यथा अद्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥
 इति कृष्णप्रसादेन बल्लभेन विनिश्चितम् ।
 संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितः संन्यासनिर्णयः समाप्तः ।

१. तादृश इति पाठः । २. स्थितिरिति पाठः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीमद्गोकुलनाथविरचितविवरणसमेतः ।

नमामि तातचरणान् स्वीयानां सर्वकामदान् ।

यैः कृतः स्वाभिधानार्थः प्रकटः कृपया मयि ॥ १ ॥

स्वमार्गीयपरित्यागं वक्तुं परित्यागविचारं प्रतिजानते, तद्धेतुमाहुः पश्चात्ताप-
निवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गीयपरित्यागेतरसर्वपदार्थान् विचार्य त्यागविचाराभावजनितस्वपश्चात्ताप-
निवृत्त्यर्थं भक्तिमार्गीयपरित्यागविचारमारभन्ते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति । उक्तपश्चात्ताप-
निवृत्त्यर्थं यः परित्यागः स विचार्यते, न तु विधीयते, विधाने विधिशेषत्वमापद्येतेति
सर्वकर्तृकत्वमापद्येत, अत उक्तं विचार्यते । स्वरूपतः साधनतः फलतश्च तस्य विचारे
परित्यागसामान्यादन्यमार्गीयस्य स्वविचार्यमाणस्य च तारतम्यज्ञापनार्थमन्यमार्गीयमप्याहुः
स मार्गद्वितये इति । मार्गद्वयमेवाहुः भक्तौ मर्यादापुष्टिभेदभिन्नभक्तिमार्गे ।
मर्यादाभक्तौ श्रीमदुद्धवष्टेन भगवता 'मदर्थेपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्टं
दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्धतं तपः' इति त्यागो विशेषतः प्रोक्तः । पुष्टिभक्तिमार्गे रास-
मण्डलमण्डनाभिरपि 'सन्त्यज्य सर्वविषया' निति । तल्लीलायामेव चतुर्थाध्याये ताः
प्रत्येव 'एवं मदर्थोऽञ्जिते'त्यत्र विशेषतस्त्यागः प्रोक्तः । (नूनमयत्राप्यविशेषेण त्याग-
कथनादुभयोस्त्यागयोः साम्यमस्तीति चेत्, अत्र वदामः । यद्यपि मर्यादाभक्तिपरित्याग-
कथनेपि 'मदर्थेपरित्याग' इति वाक्ये स्वप्राप्त्यर्थं परित्याग उक्तः, तद्वदेव फल-
प्रकरणचतुर्थाध्याये शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तस्वरूपानिरूपणे 'एवं मदर्थोऽञ्जितलोकेदस्वाना-

१ पश्चात्तापस्वरूपमाहुः भक्तीति । भक्तिमार्गे च पदार्थपरित्यागादितरसर्वपदार्थानां परित्याग
इत्यर्थः । तथा च लौकिकपदार्थपरित्यागो विचार्यते इति निष्कर्षः । २ नन्वित्यारभ्य वेदितव्येत्यन्तं
विवरणं नोपलभ्यते कुत्रचित् ।

मित्युक्तं, तथापि मर्यादाभक्तिमार्गे त्यागस्य मदर्थित्वं यदुक्तं, तत्स्वप्राप्त्यभिप्रायेण, न तु स्वाभिलषितसिद्ध्यभिप्रायेण, तन्मार्गे तस्यासम्भावितत्वात्, पुष्टिमार्गीयभक्तस्वरूपनिरूपणे 'एवं मदर्थोज्झितलोकेदस्वाना'मिति लोकवेदस्वपरित्याग उक्तः । तत्र यद्यपि स्वपदेन ज्ञात्यर्थात्मान उच्यन्ते, तत्रैतासां ज्ञात्यर्थपरित्यागस्य ब्रज एव स्थित्याऽसम्भावितत्वात् स्वपदस्यात्मपर्यवसायित्वमेव सम्भवति । यद्यपि विद्यमाननित्यदेहानामात्मत्यागोऽसम्भावितः, तथाप्यात्मत्यागोक्तेरयमाशयः । यथा श्रुतौ 'आत्मने वै कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति । यत्र प्रियत्वं तत्रात्मौपाधिकमेव, न तु प्रकारान्तरेण । एतासां यदात्मनि प्रियत्वं तन्न स्वात्मत्वेन, किन्तु स्वात्मनो भगवतः प्रीतिजनकहेतुत्वेन । अत एव भगवदमिलनदशायामात्मनोऽनुपयोगं ज्ञात्वा न मण्डनादिपुरस्कारस्तासाम्, उपयोगसमय एवात्मपुरस्कार इति नात्मनः स्वभावतः प्रियत्वम्, किन्तु भगवदुपयोगित्वेनेत्ययमेवात्मनस्त्याग इति शुद्धपुष्टिमार्गीयत्यागस्य मर्यादाभक्तिमार्गीयत्यागस्य च महदेव वैलक्षण्यमित्युभयत्रापि त्यागपदोपादानादुभयोः साम्यमस्त्वित्याशङ्का निरस्ता वेदितव्या ।) ज्ञाने ज्ञानमार्गेऽपि विशेषतः प्रोक्तः । स च विशेषो 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुत्या विविदिषाविद्वेद्वेदाभ्यां च तच्छास्त्रे निरूपित इति विशेषत इत्युक्तम् ॥ १ ॥

कर्ममार्गस्यापि मार्गान्तःपातात् तत्रापि परित्यागप्राप्तिमाशङ्क्य निषेधन्ति कर्ममार्गे न कर्तव्य इति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्भिचारणा ॥ २ ॥

तत्र 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती'ति विधिना संन्यासग्रहणस्यानवसरपराहतत्वात् । यद्यप्यायुषश्चतुर्थो भागश्चतुर्थांशमेण नेय इति कुत्रचिदुक्तं तत्रापि निषेधमाहुः सुतरामिति । असायमर्थः । कलिकाले मनुष्याणामल्पसामर्थ्यत्वादायुषश्चतुर्थभागस्यातिजराव्याप्तत्वादाश्रमधर्मस्य चातिकष्टसाध्यत्वेनानिर्वाहाद्विपरीतफलसाधकत्वं भवेदिति सुतरां कलिकालत इत्युक्तम् । एवं ज्ञानमार्गे परित्यागस्य कर्तव्यत्वं निरूप्य तस्यैव कर्ममार्गे सोपपत्तिकमर्तव्यत्वं च निरूप्य भक्तिमार्गे तस्य कर्तव्यप्रकारविचारमारभन्ते अत इति । यतः प्रकारभेदेन पूर्वं मार्गद्वयेऽपि कर्तव्याकर्तव्यभेदेन परित्यागो यद्यपि निर्दिष्टस्तथापि विचारारम्भे पूर्वं भक्तिमार्गस्योद्दिष्टत्वात्तः कारणादादौ प्रथमतः भक्तिमार्गीयपरित्यागस्य प्राप्तत्वात्तस्य विचारणा विचारः क्रियत इत्यर्थः । विचारणा च कदा कर्तव्यः, कथं कर्तव्यः, किमर्थं कर्तव्य इति ॥ २ ॥

भक्तिमार्गे श्रवणादिसाधनसिद्धयर्थं कर्तव्यपक्षं निराकुर्वन्ति श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थमिति ।

श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यत्वेन नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

श्रवणादीत्यारभ्य नेष्यत इत्यन्तेन । स परित्यागो नेष्यते, इच्छाविषयत्वेनापि नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः । अनङ्गीकारे हेतुमाहुः सहायेति । 'एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिग्म्बर' इत्यादिवाक्यैस्त्यागिन एकाकित्वेनैव स्थितेरुचितत्वाच्छ्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात् सहायाः प्रेरकास्तेषां स्वस्वमतानुसारिश्रवणप्रेरकत्वात्तत्तन्मार्गीयश्रवणानां पुष्टिभक्तिमार्गविरोधित्वात् भक्तिमार्गसाधकत्वम् । तद्यथा । मायावादिनां श्रुतीनामपि कल्पितत्वात्तत्रतिपाद्यब्रह्मधर्माणामपि व्यवहारोपयोगित्वेनापारमार्थिकत्वाद्ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम् । नैयायिकमते तु 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो गन्तव्यश्चोपपत्तिभि'रिति जगत्कर्तृकत्वेनेश्वरसिद्धावपि ज्ञानेच्छाप्रयत्नातिरिक्तधर्माभावाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम् । मीमांसकानां निरीश्वरवादित्वादेव श्रोतव्याभावात् श्रवणार्थिप्रेरणम्, तत्तन्मार्गीयप्रेरकप्रवृत्तौ तत्तन्मार्गीयैरेव सङ्गात्तन्मार्गीयश्रवणस्यैव सिद्धेस्तच्छ्रवणस्य भक्तिमार्गविरोधित्वात् भक्तिमार्गसाधकत्वम् । बाधकान्तराप्यप्याहुः साधनानां च रक्षणादिति । साधनानामाश्रमसाधकधर्माणां स्नानशौचप्रणवजपादीनां रक्षणं यथोक्तप्रकारानुष्ठानम् । तेनैव सर्वकालव्याप्त्या न भक्तिमार्गीयश्रवणादिप्रवृत्त्यवसर इत्यनङ्गीकारः ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्वाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेऽपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तपाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

किञ्च, अभिमानात् सर्वादरणीयत्वेन स्वस्मिन्नाश्रमज्येष्ठत्वाभिमानात्तस्य च भक्तिसाधनविरोधित्वात्तथा । किञ्च, नियोगादुक्तपरित्यागस्य शास्त्राज्ञाधीनत्वाद्ब्रह्मक्षयमाणस्य च तदनधीनत्वात्तथा । किञ्च, तद्धर्मैश्च विरोधतः । तद्धर्मैर्ब्रह्मक्षयमाणभक्तिमार्गीयपरित्यागधर्मैः, चकारात्स्वरूपेण च विरोधात्तथा । ननु श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं त्यागकर्तृभक्तिमार्गीयश्रवणाद्यज्ञानात्तत्तज्ज्ञानहेतुकत्यागस्य तदङ्गत्वेन गौणत्वात्तस्याकर्तव्यत्वमस्तु । भक्तिमार्गीयश्रवणादिस्वरूपज्ञानवतः गृहस्थितौ व्यासङ्गेन तदनिर्वाहं ज्ञात्वा तत्परित्यागस्य मुख्यत्वमस्त्वित्यपि पक्षस्य वक्ष्यमाणत्यागवैजात्यात् सहेतुकमकर्तव्यत्वमाहुः गृहादेरिति । उक्तपरित्यागानन्तरमपि साधनदशायां भक्तिमार्गीयपूर्णभगवद्भावावाङ्मिन्तरनिर्वाहस्याशक्यत्वेन चित्तचाञ्चल्यादेतन्मार्गविजातीयैरेव सङ्गो भवति, नान्यथा । अतादृशैः सङ्गो न भवतीत्यत उक्तमग्रेपीति । विजातीयानां च विषयाक्रान्तचित्तत्वात्तत्सङ्गस्याल्पस्यापि पूर्वभावननिर्वाहनाशकत्वेन स्वस्यापि विषयाक्रान्तिसम्भवात् कालक्रमेण पूर्वभावननिर्वाहभावात्

कृतस्यापि त्यागस्य मुख्यफलासाधकत्वाद्भक्तिमार्गविचारे पाषण्डित्वमेवेत्यत उक्तं स्वयं चेति । विषयाक्रान्तपाषण्डीत्यत्र कर्मधारयः । तुशब्देनापाषण्डित्वपक्षनिरासः ॥ ४ ॥ ५ ॥

यद्यपि दुःसंगो भावस्थितौ बाधकस्तथापि भावस्थित्यर्थमेवोपक्रमाद् दुःसंगेपि कदाचिद्भावस्तिष्ठेदिति पक्षनिराकरणमाहुः विषयाक्रान्तदेहानामिति ।

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

विषयाश्रद्धुरादिसर्वेन्द्रियविषयाः रूपसादयस्तैराक्रान्तः व्यासः देहो येषां तेषां सर्वदा हरेरावेशो न भवति । यत एते प्रकारा बाधका अतः अत्र साधने भक्तौ साधनरूपभक्तिमार्गे भक्तिसाधनार्थं त्यागः सुखावहो न, पुरुषार्थसाधको न भवतीत्यर्थः । एवकारेण सर्वात्मना पुरुषार्थसाधकत्वमुक्तम् ॥ ६ ॥

तर्हि भक्तिमार्गे त्यागकथनस्य प्रयोजनाभावाद्द्वैयर्थ्यमायातीति चेत्तत्र प्रयोजनमाहुः विरहानुभवार्थमिति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

ननु विरहस्य संयोगपूर्वकत्वात् साम्प्रतं तस्याभावात् कथं विरह इति चेत्, सत्यम्, वक्ष्यमाणपरित्यागस्य पूर्णपुष्टिमार्गीयभगवद्भावानन्तरभावित्वेन तत्पूर्वदशायां भगवत्स्वरूपसेवनस्यावश्यकत्वात्तत्र भावपूर्वकश्रीमुखदर्शनतत्तद्दङ्गस्पर्शजनितसङ्गाभिलाषाया अतिप्रचुरत्वेन तच्छान्त्यभावजन्यत्वात् सङ्गपूर्वकत्वं विरहस्य भगवद्विरहस्यानुभवः निरन्तरं तद्भावापत्तिस्तदर्थं तत्सिद्ध्यर्थमित्यर्थः । तेन शुद्धपुष्टिमार्गीयपूर्णभाववानधिकारीति ज्ञापितम् । तादृशस्य सर्वात्मभाववद्भक्तसम्बन्धिरासादिलीलाविचारस्यावश्यकत्वेन तस्याश्च परमफलत्वेन स्वस्यापि तन्मार्गीयत्वेन तत्फलोत्कटाभिलाषया साम्प्रतं तत्पूर्वभावात्तत्पूरकस्याधुना दर्शनाद्यभावाद्द्विरहस्यावश्यकत्वम् । गृहस्थितौ गृहस्थितानां तद्भाववैजाल्यात् तत्सङ्गस्यैतद्भावनाशकत्वेन तदनुभवाभावाद्गृहत्यागस्यावश्यकत्वम्, तस्य परित्यागज्ञापनार्थं वेषकल्पनमाहुः स्वीयेति । स्वीयाः मार्यापुत्रादयस्तत्कृतो बन्धः, त्यागे प्रतिबन्धः, तन्निवृत्त्यर्थं वेषकल्पनम् । स वेषः अत्र अस्मिन्मार्गे प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थमेव । न चान्यथा, अन्यप्रयोजनार्थं न भवतीत्यर्थः । यथा मर्यादामार्गीयचतुर्थश्रमपरिग्रहहेतुत्वेनावश्यकत्वाय वेषकल्पनं तथास्मिन्मार्गे न भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

मार्गद्वये परित्यागाविशेषेपि मार्गभेदनिरूपणार्थं परित्यागनिमित्तं वेषकल्पननिमित्तं चोक्त्वा गुरुन् साधनं च निरूपयन्ति कौण्डिन्यो गोपिका इति ।

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

कौण्डिन्य ऋषिः अनन्तव्रतप्रस्तावे निरूपितः । गोपिकाः प्रसिद्धा इति न प्रकारविशेषोक्तिः । यद्यपि कौण्डिन्यस्य मर्यादामार्गीयत्वेनैतन्मार्गाज्ञानादेतन्मार्गोपदेष्टृत्वासम्भवाद्गुरुत्वं न सम्भवति, तथापि दत्तात्रेयवत्स्ववैराग्योपयोगितत्तद्भर्मशिक्षणेनोपदेष्टृत्वाभावेपि पृथ्व्यादिषु यथा गुरुत्वाङ्गीकारस्तथा कौण्डिन्यस्याप्यनन्तगुणश्रवणेन तन्मिलनार्तिजनितविप्रयोगभावजनितवैकल्येन च प्रश्नायोग्येष्वपि प्रश्नकरणात्सहसा तस्यागस्यैतन्मार्गीयत्यागस्य चैतावद्भर्मसाम्यात्कौण्डिन्येपि गुरुत्वकथनम् । गोपिकानामप्युपदेष्टृत्वाभावेपि तन्मार्गप्रकटनेन तद्भावानुरूपाचरणेन च 'दुहन्त्य' इत्यनेन विरहेण गृहत्यागेनापि गुरुत्वम् । गुरुनुक्त्वा साधनमाहुः साधनमिति । यदग्रे वक्ष्यमाणं तत्साधनमित्यर्थः । तदेवाहुः भाव इति । स्वस्मिन् गोपिकाभावानुरूपभावनया सिद्धभावस्य साधनत्वमिष्टम्, अन्यद् दानव्रतादिकमपि साधनत्वेन नेष्टमित्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्वेतद्भावापत्यनन्तरभाव्यवस्थाया बुद्धिविपर्यासहेतुत्वेन दुःखहेतुत्वेन च प्राकृतत्वमित्याशङ्कां तद्भावस्वरूपनिरूपणेन परिहरन्ति विकलत्वमित्यादिना ।

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

विकलत्वं वैकल्यं तथा तद्देव अस्वास्थ्यं कुत्रापि स्वास्थ्याभावः प्रकृतिर्विप्रयोगभावस्य प्रकृतिः स्वाभाविको धर्मः प्राकृतं लौकिकं न भवतीत्यर्थः । हि युक्तश्रायमर्थः । यत्रैकादशे श्रीमद्बुद्धवपुष्टेन भगवता श्रद्धानिरूपणप्रस्तावे आध्यात्मिकश्रद्धादीनां सगुणत्वं निरूप्य 'सात्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी । तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणे'ति स्वपूजाश्रद्धाया निर्गुणत्वं निरूपितं, ज्ञाननिरूपणप्रस्तावेपि कैवल्यादिज्ञानानां सगुणत्वं निरूप्य 'कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् । प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतमिति स्वविषयकज्ञानस्य निर्गुणत्वं निरूपितम् । यत्र मर्यादामार्गीय स्वसम्बन्धित्वेन वस्तुनो निर्गुणत्वं, तत्र साक्षात्सर्वाधिकभक्तिमार्गीयभगवद्भावजधर्माणां निर्गुणत्वे किं वाच्यमिति हिशब्देनोक्तम् । ननु भगवत्सम्बन्धित्वेनालौकिकत्वात्निर्गुणत्वमस्तु, तथापि दुःखात्मकत्वात् कथं सर्वोत्कृष्टत्वमिति चेत्, सत्यं, दुःखत्वाभावादेवोत्कृष्टत्वं वदामः । तद्यथा पुरुषोत्तमस्वरूपस्य 'रसो वै स'इति श्रुत्या रसात्मकत्वेन प्रतिपादितत्वाद्रसस्य च संयोगविप्रयोगात्मकत्वेन द्विरूपत्वाद्यथा विरोधिकृतक्षतनिष्पीडनताडनकोपादीनां दुःखात्मकत्वं, तथा क्षतत्वादिधर्मसाजात्येपि संयोगरसान्तःपातित्वेन परमानन्दरूपत्वं, तथा विप्रयोगरसजनितवैकल्यादीनामपि विप्रयोगरसात्मकत्वेन कर्मादिजन्यवैकल्यवत्प्रतीयमानत्वेपि रसरूपत्वात् तेषां दुःखत्वम् । यथा आनन्दादप्यश्रूणि, शोकादप्यश्रूणि । न हि तत्राश्रुत्वसाजात्यादुभयोरेकफलत्वं सेत्स्यति, तथात्रापि तत्तद्भर्मसाम्येपि

न तत्तद्रूपत्वमिति सर्वमनवद्यम् । एतादृशवस्थापत्यनन्तरमपि व्यावहारिकज्ञानलौकिक-
विवेकादिगुणसत्त्वेपि को विरोध इति चेत्तत्राहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं मर्यादासिद्धिर्गुण-
गुणास्तन्मार्गीया एव मनःस्वास्थ्यहेतुरूपाः । तस्य पूर्वोक्तभक्तिमार्गीयभाववतः एवं
वर्तमानस्य पूर्वोक्तवैकल्यादिभावपूर्त्यैव स्थितस्य, बाधकाः रसानुभवे फले वा पूर्वोक्त-
भावनाशकत्वात्प्रतिबन्धकाः ॥ ९ ॥

ननु मार्गद्वयेपि त्यागस्याविशेषात्कथं ज्ञानमनःस्वास्थ्यदीनां ज्ञानमार्गे साधकत्वं
भक्तिमार्गे बाधकत्वमिति शङ्कानिरासाय फलभेदेन समाधानमाहुः सत्यलोक इति ।
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

सत्यलोके ब्रह्मलोके 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितायां' इति श्रुतौ ज्ञानयुक्तसंन्यासिन
एव ब्रह्मलोकस्थित्यनन्तरमेव ब्रह्मणा सह मोक्षनिरूपणाद्ब्रह्मलोकगतौ ज्ञानस्यैव मुख्यत्वा-
न्मनःस्वास्थ्यव्यतिरेकेण ज्ञानस्यैर्याभावाज्ज्ञानमनःस्वास्थ्यदीनामेव फलसाधकत्वम् ।
भक्तिमार्गे साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धस्यैव फलत्वात्तस्य 'रसो वै स' इति श्रुत्या रसात्मक-
त्वात् रसस्य च भावात्मकत्वात्सम्बन्धे पूर्वोक्तविप्रयोगरसात्मकभावस्यैव साधनत्वात्
ज्ञानमनःस्वास्थ्यदीनां तद्भावरूपसाधननाशकत्वाद्बाधकत्वमित्यत आहुः भावनेति ।
यत्र भक्तिमार्गे ॥ १० ॥

एवं मार्गद्वयेपि प्रकारभेदेन साधनफले निरूप्य ज्ञानमार्गे फलप्राप्तौ विलम्बहेतुं
भक्तिमार्गे विलम्बाभावहेतुं च ज्ञानमार्गे प्रकारकथनेन भक्तिमार्गे दृष्टान्तकथनेन चाहुः
तादृशा इति ।

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा बहिवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

तादृशाः संन्यासयुक्तज्ञानिनस्ते सकामनिष्कामभेदेन सत्यलोकादौ ब्रह्मलोकादौ ति-
ष्ठन्त्येव । संन्यासाश्रमग्रहणमात्रेणैव सत्यलोकस्थितिपक्षनिराकरणार्थं न संशय इत्युक्तम् ।
सत्यलोकादावित्यत्र तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन निष्कामानामेव सत्यलोकस्थितिः, स-
कामानां लोकान्तरेपि स्थितिरिति ज्ञापितम् । एवकारेण सत्यलोकस्थितौ मुक्तिविलम्बे च हेतु-
रुक्तः । तत्रोपपत्तिः । 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते' इति वाक्याद्ब्रह्मणः द्विपराधीनसायित्वात्तावत्पर्यन्तं
मुक्तेरसम्भवात्स्थितेरावश्यकत्वज्ञापनार्थमेवकारः । ज्ञानमार्गे विलम्बहेतुं निरूप्य भक्तिमार्गे
दृष्टान्तेन विलम्बाभावहेतुं निरूपयन्ति । तत्र दृष्टान्तमेवाहुः बहिरिति । बहिवदिति कथना-
द्वास्त्यितवहिवदृष्टान्तोभिप्रेतः । तत्र प्रकारः । यथा दारुणि विद्यमानस्य बह्नेदारुसंयोगे सत्यपि

न दारुदहनयोग्यत्वं, यदा मथनेन तत एव बहिः प्रकटीभूय पुनस्तेन सह सम्बन्ध्यते, तदा
सम्बन्धमात्रेणैव दारुत्वनिवृत्त्या दारुणोद्यित्वसिद्धिस्तथा भक्तदृष्टये विद्यमानत्वेपि मथने-
नाग्निप्राकट्यवद्विगाढभावेन भावात्मकतया बहिःप्राकट्ये सति पुनरन्तःसम्बन्धः, तदा
सम्बन्ध एव फलसम्बन्धहेतुः प्रतिबन्धं दूरीकरोतीति फलस्य रसात्मकत्वेन तदनुभवहेतु-
रसात्मकतां सम्पादयतीति एतत्प्रकारातिरिक्तस्यैतत्फलसाधकत्वाभावात्समुक्तं न चान्यथे-
ति । एवमस्मिन्मार्गे विलम्बाभावोपि सिद्धः ॥ ११ ॥

ननु पूर्वोक्तविगाढभावस्य साक्षात्सङ्गाभावहेतुत्वेन सङ्गार्थं स्वरूपानुसन्धानस्याव-
श्यकत्ववद्गुणानुसन्धानस्याप्यावश्यकत्वेन साक्षात्स्वरूपेण स्वास्थ्यहेतोरसम्भावितत्वाद्गुणै-
रेव कथं स्वास्थ्यमिति चेत्तत्राहुः गुणास्त्विति ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

गुणानां धर्मरूपत्वाद्भिप्रयोगस्य संयोगाभावहेतुत्वेन तदतिरिक्तस्य स्वास्थ्यहेतोरभा-
वात्कदाचिदतितापेनाश्रयाभावाज्जीवनानुपपत्त्या गुणैरेव जीवनसम्पत्तिरित्यत उक्तं जीव-
नार्थं भवन्तीति । यथा 'तव कथामृत'मित्यत्र । हि युक्तश्रायमर्थः । परमानन्दविरहे जीव-
नानुपपत्तौ परमानन्दगुणानामेव जीवनसम्पादकत्वमुचितमित्यर्थो हि शब्देन द्योत्यते । तेन
गुणानां यथाकथञ्चिज्जीवनमात्रसम्पादकत्वं, न तु स्वास्थ्यहेतुत्वमपि । तुशब्देन सङ्गाति-
रिक्तधर्मैः स्वास्थ्यपक्षो व्यावर्तितः । अथवा, ननु भगवद्भिप्रयोगस्यातिप्रचुरतापात्मकत्वेना-
सङ्घत्वात्क्षणमात्रमपि प्राणस्थित्यसम्भवस्वभाववत्त्वात् कुत्रचित्कालमेव प्राणस्थित्यदर्शनम्
यथा द्विजपत्न्याम् । कञ्चित्कालेपि प्राणस्थितिदर्शनमिति कथमेकस्यैव स्वभावविपर्ययासेन
कार्यद्वयकर्तृत्वमिति चेत्, सत्यम्, तस्य स्वभावविपर्ययासाभाववत्त्वेपि यत्र शीघ्रं मनसो
भगवद्गुणग्रहणेन व्यासङ्गाभावस्तत्र शीघ्रं पूर्वोक्तस्वकार्यकर्तृत्वम् । यत्र भगवदिच्छया
शीघ्रं तद्गुणव्यासङ्गस्तत्र गुणानां तादृशभावेपि जीवनैकस्वभावत्वेन तत्स्वभावत्वादेव प्राण-
स्थितिरित्यभिप्रेत्योक्तं गुणास्त्विति । ननु लोके गुण्यपेक्षया गुणानामल्पसामर्थ्यवत्त्वदर्शनात्
कथं पूर्णानन्दरसात्मकपुरुषोत्तमविरहस्य क्षणमात्रमपि प्राणस्थितिबिलम्बासहिष्णोस्त-
स्मिन्समये तद्गुणानां कथं प्राणस्थितिहेतुत्वमिति चेत्, सत्यम् । यद्यप्यन्यत्र गुण्यपेक्षया
गुणानामल्पसामर्थ्यमस्त्वेव, तथाप्यत्र साक्षात्पुरुषोत्तमस्याचिन्त्यानन्दपूर्णस्य षड्गुणैश्वर्यसम्प-
न्नस्य गुणा अपि तादृशा एवेति मन्तव्यम्, गुणगुणिनोरेकरूपत्वात्, अन्यथा तद्भिप्रयोग-
दशायां गुणानां जीवनसम्पादकत्वं न भवेत् । अत एव ब्रजसीमन्तिनीभि 'स्तव कथामृत'
मित्यस्मिन् श्लोके षड्भिर्विशेषणैः कथायाः भगवत्तुल्यत्वं निरूप्यैव स्वप्राणस्थितिहेतुत्वं
निरूपितम् । यदि स्वरूपतुल्यत्वं गुणानां न भवेत्तर्हि स्वसमाजस्य जीवनमेव न भवेत् । तस्मा-
त्पुरुषोत्तमगुणानां गुणितुल्यत्वमेव, न तु न्यूनत्वमपि । तथापि गुणगुणिनोरेतावान् विशेषः ।

यथा गुणिसम्बन्धेन विप्रयोगजतापनिवृत्तिपूर्वकं सर्वेन्द्रियाप्यायनपूर्वकं च परमानन्दानुभवेन स्वास्थ्यं, तथा गुणैर्न सम्पद्यत इति तेषु गुणत्वकथनम् । एतदेव मनसि कृत्वा श्रीमदाचार्यै-
रुक्तं गुणास्तु सङ्गराहित्यादिति । सङ्गराहित्यं वियोगस्फूर्तिः । ननु कथं कुत्रचिच्छीघ्रं
मनसो जीवनेहेतुगुणग्रहणव्यासङ्गे भगवदिच्छा कुत्रचिन्नेति को हेतुरिति चेत्, सत्यम्, यत्र
पूर्णविप्रयोगानुभवहेतुः पुनः पुनर्मूर्च्छाजागरणतादात्म्यादिसर्वभावानुभावनेच्छा तत्र गुणेषु
शीघ्रं चित्तव्यासङ्गं कारयित्वा पश्चादविलम्बेन स्वप्राप्तिसिद्ध्यर्थं तद्भावस्वभावकार्यकरणम् ।
ये पूर्वमेवानुभूतसर्वविप्रयोगभावास्तेषां स्थितौ प्रयोजनाभावात्तत्कालमेव स्थित्यभाव इति
नानुपपत्तिः काचित् ॥ १२ ॥

ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य भगवदिच्छामात्रेणापि स्वास्थ्यसम्पादकत्वात्कथं
न सम्पादयतीति चेत्, तत्राहुः भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

भगवत्पदेन षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः पुरुषोत्तम उक्तः । अस्मिन्मार्गे स्वस्यैव फलत्वा-
त्स्वप्राप्तावेतद्भावस्यैव फलसाधकत्वाद्भावस्य च तापैकस्वभावत्वात्तदभावे फलप्राप्त्यभावाच्च
स्वस्यैव तदभावसम्पादकत्वकथनेन स्वस्यैव फलप्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वेन च स्वस्य फलत्वमेव
न सिध्येदित्यत उक्तं फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यत इति । ननु स्वस्य फलत्वकत्वा-
त्फलदित्सायाश्च सिद्धत्वात्स्वरूपेण तापापगमं मा करोतु, तथापि यत्किञ्चिदस्वास्थ्यं स्वप्ने
वचनेन कथं न निवारयतीति चेत्, तत्राहुः स्वास्थ्यवाक्यमिति । भगवता तादृशं
प्रति यत्किञ्चित् स्वास्थ्यहेतुकमपि वाक्यं वचनं न कर्तव्यं न वक्तव्यमित्यर्थः । तत्र
हेतुः । वचनेन यावांस्तापो निवर्तिष्यते तावानेव फलप्राप्तौ विलम्बो भविष्यतीति ज्ञात्वा
वचनेनापि स्वास्थ्यं न करोति, यदि कुर्यात्तर्हि फलविलम्बे स्वयमेव हेतुः स्यादिति
स्वस्यैव विरोधित्वं स्यादिति यत्किञ्चित्स्वास्थ्यहेतुभूतस्यापि वाक्यस्याकरणम् । ननु यत्कि-
ञ्चिद्विलम्बहेतुत्वे को दोष इति चेत्तत्राहुः दयालुरिति । दयालुरत्यसाधारणदयासमुद्रः ।
यदि यत्किञ्चिद्विलम्बसहिष्णुत्वमपि चेद्भवेत्, तदा तावदयांशस्य न्यूनत्वात्परमदयालुत्वं
नोपपद्येतेति न तादृशवाक्यकरणम् ॥ १३ ॥

एवं भक्तिमार्गीयसंन्यासस्वरूपं साधनफलप्रकारविचारेणोपपाद्योपसंहरन्ति दुर्ल-
भोयमिति ।

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।

अयमुक्तप्रकारकः परित्यागः दुर्लभः, तपोदानव्रतादिसाधनैरप्यसाध्यः । ननु
वस्तुमात्रस्य दानादिसाधनसाध्यत्वात्कथमस्य दानादिसाधनासाध्यत्वमिति चेत्, सत्यम् ।
यथा तत्तच्छास्त्रे तत्तत्फलसाधकत्वेन तानि तानि साधनानि गणितानि, स्वर्गकामस्य ज्योतिष्ठे-

भवत् । नहि तथा भक्तिमार्गीयपरित्यागसिद्धौ साधनशास्त्रोक्तं किञ्चित्साधनमस्तीत्यस्य दुर्लभ-
त्वम् । ननु वस्तुमात्रस्य साधनसाध्यत्वाद्भक्तिमार्गीयपरित्यागस्यापि वस्तुत्वेन निरूपणात्तस्य
च शास्त्रोक्तदानादिसाधनासाध्यत्वकथनात् केन साधनेनास्य सिद्धिरिति चेत्, तत्र साधन-
माहुः प्रेम्णेति । प्रेम्णा भगवत्परमासक्त्या सिध्यति । अथवा, प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा । ननु
कथं जीवे भगवत्प्रेमेति चेत्, सत्यम् । एतन्मार्गीयप्रवर्तकाचार्यैस्तन्निष्कपटप्रपत्तिसन्तुष्टैः
कृपया अस्यैतन्मार्गीयफलसिद्धिरस्त्वितिच्छया भगवन्निवेदनानन्तरं तस्मिन्नाचार्यैकृपा-
श्लेहं ज्ञात्वा स्वयमपि सन्तुष्टस्तास्मिन्स्तत्फलदित्साया प्रेमयुक्तो भवतीति तेन प्रेम्णास्यापि
तादृशत्वं सिध्यतीत्यत उक्तं प्रेम्णा सिध्यतीति । नान्यथा, अन्यथा एतदति-
रिक्तसाधनैर्न सिध्यतीति सुष्ठुक्तं दुर्लभोयमित्यादि ॥ १३ ॥

एवं भक्तिमार्गीयत्यागविचारं उपसंहृत्य ज्ञानमार्गीयपरित्यागोपसंहारमारभन्ते
ज्ञानमार्गे त्विति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ।

त्विति पूर्वसमुच्चयः । संन्यासः ज्ञानमार्गीयः द्विविधोपि, विविदिषाविद्वेद-
युक्तः । सोपि साधनफलभेदेन विचारितः । द्वैविध्यमेव प्रकटयन्ति ज्ञानार्थमिति ।
ज्ञानार्थं ज्ञानरूपफलसिद्ध्यर्थमेकः । चकारसमुच्चितं द्वितीयमाहुः उत्तराङ्गं चेति ।
'ज्ञानादेव हि कैवल्य'मिति वाक्यान्नुक्तेर्ज्ञानसिद्धयुत्तरफलत्वाद्द्विद्वत्संन्यासस्योत्तराङ्गत्वं
मुक्तयङ्गत्वमित्यर्थः । यद्यपि ज्ञानमार्गीयद्वितीयसंन्यासस्य मुक्तयङ्गत्वं तथापि 'बहूनां जन्म-
नामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति भगवद्वाक्यात्
प्रपत्तेश्च भक्तित्वाद्भक्तिव्यतिरेकेण केवलज्ञानस्य मुक्तयसाधकत्वात् । 'जन्मान्तरसहस्रेषु
तपोज्ञानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इति वाक्याच्च ज्ञानस्य
भक्तिप्रतिबन्धनिवर्तकत्वोक्त्या 'विना महत्पादरजोभिषेक' मिति वचनेन भक्तेश्च महदनुग्र-
हकैलभ्यत्वोक्त्या च यावत्पर्यन्तं न भक्तिसिद्धिस्तावत्पर्यन्तं पूर्णज्ञानस्यापि न मुक्तिरिति
ज्ञापनायोक्तं सिद्धिर्जन्मशतैः परमिति । यथा बहुशब्दस्य सङ्ख्याऽनियमवाचित्वं तथा
शतशब्दस्यापीति ज्ञापनाय जन्मशतैरित्युक्तं । परं निर्धारितमित्यर्थः । एवं ज्ञानिनां
मुक्तिप्रकारमुक्त्वा ज्ञानस्य साधनसाध्यत्वज्ञापनाय साधनानि निरूपयन्ति ज्ञानमिति ।
यज्ञ आदिर्द्वयस्य श्रवणस्य, ज्ञानस्य चित्तशुद्धिहेतुकत्वाच्चज्ञस्य च चित्तशोधकत्वोक्त्या

निष्कामकर्तृत्वमुक्तम् । यतस्तादृश्यज्ञस्यैव चित्तशोधकत्वम् । तदनन्तरश्रवणस्य ज्ञानसाधकत्वं मतं निश्चितमित्यर्थः । अतः कलाविति । यतः स ज्ञानमार्गीयः संन्यासः एतावत्प्रयत्नसाध्यः अतः कलौ तावत्प्रयत्नसिद्धेरसम्भावितत्वात्तद्व्यतिरेकेण संन्यासस्य फलसाधकत्वाभावात् पश्चात्तापहेतुत्वमेवेति ज्ञापनायोक्तं पश्चात्तापायेति । नान्यथा उक्तफलाय नेत्यर्थः । ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्यैतावत्प्रयत्नसाध्यत्वमपि ज्ञात्वा प्रतिष्ठार्थमपि चेत्कुर्यात्तदा यथोक्ताश्रमधर्मानिर्वाहात् संन्यासव्यवहारस्य वेषमात्रपर्यवसायित्वेन पाषण्डित्वमेव भवतीत्यत उक्तं पाषण्डित्वं भवेदिति । चकारः संन्यासाश्रमधर्मानाचरणपापसमुच्चयार्थः । यतः ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्यैतावद्दोषवत्त्वं तस्मात् कारणात् कलौ ज्ञाने ज्ञानमार्गे न संन्यसेत् संन्यासग्रहणं न कुर्यात् । यद्यप्याश्रमधर्मानिर्वाहात् कलौ ज्ञानमार्गीयसंन्यासनिषेधः कृतस्तथापि कश्चिदाश्रमोत्कर्षं श्रुत्वा बलात्कारेणाप्याश्रमधर्मनिर्वाहं करिष्यामीति बुद्ध्या कुर्यादिति तस्यापि निषेधमाहुः सुतरामिति । सुतरामतिशयेन कलिदोषाणां प्रबलत्वात् प्राबल्यात् पूर्वकृतव्यवसायनाशकत्वात्, इति हेतोस्त्वस्याकर्तव्यत्वमेव स्थितं निश्चितमित्यर्थः ॥ १४, १५, १६३ ॥

एवं ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्य बलवद्बाधकप्रतिबन्धकत्वेन सोपपत्तिकमकर्तव्यत्वमुपपाद्यत्यागाविशेषाद्भक्तिमार्गत्यागेपि तेषां बाधकत्वाशङ्कानिरासाय स्वत एव बाधकत्वं सम्भाव्यनिराकुर्वन्ति । तत्र सम्भावनामाह भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अपिशब्दः पूर्वोक्तत्यागसमुच्चयार्थः । भक्तिमार्गेपि चेद्यदि तद्देव दोषसम्भावना तदा तद्दोषनिवृत्त्यर्थं किं कार्यमिति पूर्वपक्षसम्भावनमुक्त्वा तन्निरासं प्रतिजानते उच्यत इति । अथवा यदि भक्तिमार्गेपि दोषसम्भावना तदा तद्दोषनिवृत्त्यर्थं भक्तिमार्गीयेण किं कार्यं किं कर्तव्यं भवता उच्यत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रतिज्ञातं दोषाभावमुपपादयन्ति अत्रेति ।

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

अत्रास्मिन्मार्गे आरम्भे त्यागोपक्रमे इत्यर्थः । आरम्भपदे उद्देश्यस्यानुक्तत्वेपि त्यागस्यैवोपक्रान्तत्वात्तस्यैवोद्देश्यत्वेन तदारम्भ एवेत्यर्थः । अत्रेतिपदात् ज्ञानमार्गीयत्यागारम्भकर्तुरपकत्वात्पूर्वोक्तदुःसङ्गसहायादिना नाशः सम्भवति, भक्तिमार्गे तु त्यागारम्भकर्तुरलौकिकभगवद्भावपूर्णत्वेनातिपकत्वाद् दुःसङ्गसम्भावनाया अप्यसम्भावितत्वात्तदन्यस्य नाशकत्वाभावात् नाश इत्युक्तम् । ननु दुःसङ्गाभावान्नाशस्यासम्भावितत्वेपि कालकर्मस्वभावैर्नाशोस्त्विति चेत्, न । यथा मर्यादामार्गीयत्यागिनामाधीश्रभरतादीनां कालादिभिस्त्यागनाशो दृष्टस्तथा शुद्धपुष्टिमार्गीयत्यागकर्तुः कुत्रापि नाशो न दृष्ट इत्यत उक्तं

दृष्टान्तस्याप्यभावत इति । ननु पूर्वोक्तैः कालादिभिर्नाशसम्भवेपि स्वचन्दनादीनां शीतलत्वेन तापहारकत्वात्तलेपादिना तापनिवृत्त्या स्वास्थ्येन तदितरानुसन्धानात्तद्बाधशैथिल्यात्तापनिवर्तकमस्त्विति चेत्त्राहुः स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादिति । स्वास्थ्यहेतोश्चन्दनादेर्गृहत्यागेन सहैव परित्यागात् तैर्न सम्बन्धसम्भावनेति न तैर्नाशसम्भवः । अथवा, स्रगादीनां धर्मपित्तप्रकोपादिजनिततापनिवृत्तिहेतुत्वात्तन्निवर्त्यतापस्यात्रासम्भवान्न तेषामस्मिन् स्वास्थ्यहेतुत्वमित्यनुसन्धानेनाप्युक्तं स्वास्थ्यहेतोरित्यादि । तस्यायमर्थः । एतत्तापस्य भगवद्भावात्मकत्वाद्दृष्टस्य च तदजनकत्वेन तन्नाशकत्वस्याभाव इत्युक्तं बाधः केनास्य सम्भवेदिति । अस्य तापस्य केनापि बाधो नाश इत्यर्थः ॥ १८ ॥

एवं दृष्टादृष्टोपायानां नाशकत्वाभावमुक्त्वा भगवतोपि नाशहेतुत्वमाशङ्क्य निराकुर्वन्ति हरिरिति ।

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

यद्यपि हरिः सर्वदुःखहर्ता तथाप्यत्रास्मिन्मार्गे ईश्वरत्वाद्बाधां कर्तुं न शक्नोति । अत्रोपपत्तिः । यस्य यथा स्वरूपं तस्य तथात्वेन ज्ञानमीश्वरस्यैव भवति, अतः अस्य भावस्य नाशे हेत्वभावमपि जानाति, स्वस्य भक्तभावाधीनत्वमपि जानातीति स्वस्याशक्यत्वं ज्ञात्वा न प्रवर्तत इत्यत उक्तं हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधामिति । एवं भगवद्देतुकबाधाभावं निरूप्य कैमुतिकन्यायेन तदितरहेतुकबाधाभावमाहुः कुतोऽपर इति । अत्र व्यतिरेके दृष्टान्तमाहुः अन्यथेति । अन्यथा यद्येवं न, तदा मातरोपि स्वबालान्न स्तन्यैः न पुपुषुः, पोषणं न कुर्युः । मातर इति बहुवचनं सर्वजात्युपलक्षकम् । क्वचित्पदेन सर्वदेशकालनियमो ज्ञापितः । (अथवा हरिरत्रेति । अत्र पूर्वं हरिपदमुक्त्वा अत्रे बाधां कर्तुं न शक्नोतीति यदुक्तं तस्यायमाशयः । यद्यपि हरिपदेन सर्वदुःखहरणसामर्थ्यमायाति तथापि दुःखहर्तृत्वमनुक्त्वा यद्बाधाभावकर्तृत्वमुक्तं, तेनास्य विगाढभावस्य स्वरूपात्मकत्वात् स्वरूपस्य च द्विदलरसात्मकत्वात्तस्य भावस्य रसात्मकत्वमेव, न तु दुःखरूपत्वम् । यद्यस्य दुःखरूपत्वं स्यात् तदा हरित्वेन तन्निवृत्तिं कुर्यादेव, अन्यथा नाशार्थस्य यायार्थं न स्यात् । अत एव हरित्वमुक्त्वा फलबाधाभावकथनमेवोक्तं, न तु दुःखहर्तृत्वमुक्तम् । स्वयमेव चेत्स्वास्थ्यं कुर्यात्तदा स्वस्यैव फलप्रतिबन्धकत्वं भवेदित्येतदभिप्रायज्ञापनार्थमप्युक्तं हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे इति ।) यथा मातृणां बालपोषकत्वाभावाशक्यत्वमेवमत्रेश्वरस्य बाधाकरणमिति भावः ॥ १९ ॥

यद्यप्येतन्मार्गीयतापस्य सर्वानाशयत्वं, तथापि ज्ञानमार्गस्तापनाशमात्रे प्रसिद्ध इति तन्मार्गबोधकवचनेस्तापनाशमाशङ्क्य तेषामपि तापनाशकत्वाभावमाहुः ज्ञानिनामपीति ।

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तत्र हेतुः । ज्ञानमार्गस्य भक्तिमार्गपेक्षया दुर्बलत्वेन भक्तिमार्गस्य च प्रबलत्वेन तद्वाक्यानां नैतद्भावाभिभावकत्वम् । ज्ञानभक्तिमार्गयोर्दुर्बलत्वप्रबलत्वविचारः श्रीम-
दाचार्यैर्देशमस्कन्धविवरणे 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीत' इत्यत्र कालनियामकत्वमुक्त्वापि
भक्त्युद्रेकानन्तरं समुद्विजे भवद्धेतोरिति वचनेन ज्ञानमार्गीयमाहात्म्योपमर्दनपूर्वकं भक्ति-
मार्गप्राबल्यमेव निरूपितमिति विस्तरभिया नात्र विचारः । तथापि ज्ञानमार्गस्यापि प्रामा-
णिकत्वात् कदाचित् ज्ञानिवाक्यैश्चित्तव्यासङ्गमात्रत्वमपि भवेदिति तस्याप्यभावार्थं
भगवत्कृतां रक्षामाहुः न भक्तं मोहयिष्यतीति । (जन्मप्रकरणीयतृतीयाध्याये
भगवत्प्रादुर्भावानन्तरं वसुदेवस्तुत्यनन्तरं देवकीमातृचरणैर्मर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञान-
पूर्वकं 'रूपं यत्' दिति स्तुतावन्ते 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीत' इति पद्ये कालनियामकत्वेन
पूर्वं स्तुत्वापि पश्चाद्दुपसंहर विश्वात्म'न्निति प्रार्थनानन्तरं व्यूहरहितशुद्धपुरुषोत्तमप्रा-
कट्यानन्तरं शुद्धभक्तिमार्गीयभावप्राकट्ये सति पूर्वस्तुतिहेतुभूतमर्यादामार्गीयभावत्वेन
पूर्वस्तुत्युक्तमर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञानजनितकालनियन्तृत्वादिज्ञाननिराकरणसामर्थ्यं शुद्ध-
भक्तिमार्गीयभावस्यैव दृष्टम् । न तु पूर्वभावस्यैतद्भावनिराकरणसामर्थ्यम् । यद्येवं न स्या-
त्तद्वैपरीत्यं स्यात् । तस्माद्भक्तिमार्गस्यैव सर्वमार्गाधिकप्राबल्यं विचार्यैवाचार्यैरुक्तं न भक्तं
मोहयिष्यतीति ।) रक्षाकरणे हेतुमाहुः आत्मप्रद इति । आत्मानं स्वरूपानन्दं
प्रकर्षेण ददातीत्यात्मप्रदः । यद्यप्यधुना तत्प्रकारकदानस्याप्रतीतिस्तथापि वर्तमान-
सामीप्ये वर्तमानवद्वेति शास्त्राच्छीघ्रं दास्यतीति सिद्धवदेवोक्तमात्मप्रद इति । हेत्वन्त-
रमप्याहुः प्रियश्चेति । यो यस्य प्रियः स तत्कार्यसिद्धौ यदि विलम्बं सहेत तदा प्रियत्व-
मेव न स्यादिति शीघ्रं तत्कार्यसिद्धयर्थं चित्तव्यासंगमसहमानोऽविलम्बेन रक्षामेव कृतवान्,
न तु विलम्बम्, अतः सम्यगेवोक्तं प्रियश्चापीति । एवं रक्षायामव्यभिचारिहेतुद्वय-
मुक्तम् । ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यतीत्यत्र मोहाभावार्थं रक्षाकरणं
निरूप्य रक्षाकरणस्यावश्यकत्वाय तद्गतधर्मद्वयपूर्वकं रक्षामुक्त्वापि पुनर्यदुक्तं किमर्थं
मोहयिष्यतीति तत्रायमाशयः । भक्तत्वेपि यत्रात्मप्रदानेच्छा तत्रैव ज्ञानिवाक्यजमोह-
निवृत्त्यर्थं रक्षा, यत्र नात्मप्रदानेच्छा तत्र ज्ञानिवाक्यजमोहनिवृत्तिरक्षापि नेत्यर्थः । तत्र
निदर्शनम् । द्विजपत्नीनां ब्रजसीमन्तिनीवद्रसानुभवोपयोगिदेहवत्त्वमत्यार्तिभरेण गत्वा
सेवां करिष्याम इति बुद्ध्या सर्वसामग्रीसम्पादनपूर्वकं पत्यादिसर्वबन्धुनिराकरणपूर्वकं
चागमनम् । आगतासु तास्त्रिव भगवद्भजनं तद्देवोत्तरदानेन सर्वप्रकारसाम्येप्यात्मप्रदाने-
च्छाऽभावात् प्रीतयेनुरागायेत्यादिज्ञानमार्गीयवाक्यैर्जनितमोहस्य निवृत्त्यर्थं न रक्षाक-
रणम् । ब्रजसीमन्तिनीष्वात्मप्रदानेच्छाप्राचुर्यात्तथा रक्षा कृता । यथा 'रजन्येषेत्यादि-
मर्यादाधर्मवाक्यैः 'श्रवणादर्शना'दित्यादिज्ञानमार्गीयवाक्यैश्च मोहसम्भावनापि नाभूत् ।
प्रत्युत स्वविचारितप्रयोजनविरोधित्वेन तन्निराकरणमभूत् । अग्रेपि चतुश्चत्वारिंशाध्याये

भगवत्प्रेषितः श्रीमद्भुवः 'श्रूयतां प्रियसन्देश' इति भगवत्सन्देशव्याजेन तापवैकल्याद्य-
भावार्थमुपदिष्टस्यापि ज्ञानस्य भगवता स्वात्मप्रदानेन रक्षितत्वेन सर्वात्मना स्वोपदिष्टमार्गो-
हाभावदर्शनपूर्वकं 'दृष्ट्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्मविह्व'मिति पूर्वोक्ततापवैकल्यादिदर्शनेन
सर्वात्मना स्वप्रयासनिष्फलत्वं तापादिभावस्यातिप्रबलत्वं दृष्ट्वा तासु सर्वाधिकानिर्वचनी-
योत्कर्षदर्शनेन स्वस्मिन् भगवत्कृपापात्रत्वेप्यत्यपकर्षस्फूर्त्या स्वस्य साक्षात्तच्चरणारविन्देषु
शिरःस्पर्शनेन नमनायोग्यत्वं ज्ञात्वा 'वन्दे नन्दब्रजस्त्रीणां पादरेणु'मित्यनेनैकरेणुमेव यत्र
नमस्कृतवान् । तस्माद्यत्रैवात्मप्रदानं तत्रैव ज्ञानमार्गीयवाक्यमोहाभावः, नान्यत्रेत्येताव-
त्प्रमेयं मनसि कृत्वोक्तं किमर्थं मोहयिष्यतीति ॥ २० ॥

एवं संन्यासनिर्णयमुपपाद्योपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा अद्रयते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

यस्माद्भक्तिमार्गीयः संन्यासप्रकार एतादृशोऽतो यदि तादृक्प्रकारवत्त्वं तदैतदुक्त-
प्रकारेण परित्यागः विरहातुभवैकार्थः परित्यागो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः ।
अन्यथा एतदुक्तप्रकाराकरणे स्वार्थात् स्वस्यात्मनोर्थात् पुरुषार्थसिद्धेः सकाशाद्द्रयते
च्युतो भवतीत्यर्थः । इति एवंप्रकारिका मे मदीया मतिः । मदीयत्वकथनेन
मतेरनुभवरूपत्वं निरूपितम् । निश्चिता निःसन्दिग्धेत्यर्थः ॥ २१ ॥

एवं पूर्वश्लोके मतेर्निश्चितत्वकथनान्निश्चितत्वे हेतुमाहुः इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन बल्लभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतीति समाप्तौ, कृष्णप्रसादेन कृष्णः सदानन्दः पुरुषोत्तमः, तस्य प्रसादः
प्रसन्नता पूर्णकृपेत्यर्थः, तेन साधनेन कृत्वा बल्लभेन श्रीकृष्णबल्लभेनेत्यर्थः । विनिश्चितं
विशेषेण इदमित्यतया निर्णीतम् । निश्चये कृष्णप्रसादस्य साधनत्वोक्त्या तदितरसाधना-
साध्यत्वमुक्तम् । निर्णीतमेवाहुः संन्यासवरणं भक्ताविति । भक्तौ भक्तिमार्गे
संन्यासवरणं संन्यासाङ्गीकारप्रकारः । अथवा भक्तौ भक्तौ सत्यां अथवा भक्तौ
भक्त्यर्थं भजनार्थं इदं संन्यासरूपं भगवतो वरणं वरणमेवेत्यर्थः । विपरीते बाधकमाहुः
अन्यथेति । अन्यथा भक्तिव्यतिरेकेण करणे उक्तप्रकाराभावात् पतितो भवेत्,
तस्मान्मार्गात् च्युतो भवेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

पितृपादाब्जकृपया विवृतोऽस्ति यथामति । संन्यासनिर्णयत्वेन प्रसीदन्तु मयीश्वराः ॥१॥
भक्तिमार्गे पुमर्था ये सिद्धास्ते सर्वथा मयि । तैरेव च कृतार्थोहमिति मे सुदृढा मतिः ॥२॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैकधनेन श्रीबल्लभेन विरचितं

संन्यासनिर्णयविवरणं सम्पूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीमद्रघुनाथविरचितविवरणसमेतः ।

विद्वलेशपदाम्भोजं भक्त्या नत्वा विचार्यते ।

आचार्यप्रोक्तसंन्यासनिर्णये तत्प्रसादतः ॥ १ ॥

अथ कर्ममार्गैकनिष्ठानां भगवत्प्राप्तिलक्षणमुख्यफलासम्बन्धात्क्लेशनैरन्तर्यदर्शनेन जारठेपि तत्क्लेशजनितग्लान्यभावाच्च कदाचित्सङ्गवशाद्भगवदीया अप्येवंविधा मा भूवन्नित्ये-
तदर्थमादावेव सुखोपायं संन्यासं निरूपयन्ति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

शरीरादिवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा मया तदानीमेव भगवदर्थं किमिति न यत्त-
मितीदृशो यस्तापः स पश्चात्तापः । भगवत्तद्भक्तातिरिक्तविषयाणां परितः सर्वतो बाह्याभ्य-
न्तरराहित्येन यस्यागः स परित्याग इत्युच्यते । स पूर्वोक्तपरित्यागो मार्गद्वये कर्तव्यत्वे-
नोपदिष्ट इत्यर्थः ॥ १ ॥

तृतीयमार्गस्यापि सत्त्वात्त्रापि कथं नेत्यत आह कर्ममार्ग इति ।

कर्ममार्गं न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वाद्भिचारणा ॥ २ ॥

अत्र कर्ममार्गपदेन सकामान्तःकरणस्य संन्यासनिषेधो बोध्यते । अन्यथा प्रवृत्ति-
मार्गं संन्यासविधायकवाक्याश्रवणादेवाकरणे सिद्धे तन्निषेधो नोपपद्येत । प्राप्तपूर्वकत्वाद्भि-
षेधस्य । युगान्तरे तु शरीरशोषणव्रतादिनाप्यन्तःकरणस्य विषयपराङ्मुखतोपपद्यते । कलौ तु
तत्साधनव्रतादिकर्मणां साद्गुण्याभावाद्यथोक्तफलानर्हत्वेन संन्यासानुपयुक्तत्वात्सुतरां न
कार्य इत्यर्थः । तदेवं मार्गद्वय एव कर्तव्यत्वेन प्राप्तौ ज्ञानापेक्षया भक्तेरभ्यर्हितत्वात्प्रथमं
भक्तिमार्गं कथं कर्तव्य इत्येतादृशी विचारणा क्रियत इत्यर्थः ॥ २ ॥

श्रीमद्रघुनाथविरचितविवरणसमेतः ।

१५

श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यश्चेत्स नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

श्रवणादीति । वैयर्थ्याभावपूर्वकं भक्तिसाधनश्रवणादिषु प्रवृत्त्यर्थं संन्यासश्चेत्क-
र्तव्यस्तदा स एवंविधः इह भक्तिमार्गं न स्वीक्रियत इत्यर्थः । ननु श्रवणादिसाधनानां
भक्त्यनुकूलत्वाद्भक्तिसाधनश्रवणादिसम्पत्त्यर्थं संन्यासः कुतो नेत्यत आह सहा-
यसङ्गसाध्यत्वादिति । भगवत्तत्त्वं जिज्ञासोरेकाकिनः श्रवणादेः सहायस्य सङ्गः
सम्पत्तिस्तत्साध्यत्वात् । नहि श्रावयितारं विना श्रवणं सम्भवति । नच श्रुतस्यापि
ग्रन्थपर्यालोचनगुरूपसत्यादिना विना स्वैर्यम्, अतस्तदंशस्य त्यक्तस्यापि पुनः स्वीकारे
वान्ताशित्वमेव । इदमेकं बाधकम् । अपरमाह साधनानामिति । अल्पकालपर्यन्तं
श्रवणादिसाधनमादरणीयमित्यपि नास्ति, यतो यावज्जीवमपककषायैर्योगिभिः साधनानि
रक्ष्यन्त एव । इदं द्वितीयम् ॥ ३ ॥

अभिमानादिति ।

अभिमानान्निधोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

विविदिषादशायां सर्वथा कामक्रोधाद्यनपगमाद्ग्रन्थादिपक्षपातेन प्रतिवादिनिरा-
करणाय यत्नोपि सम्भाव्यते, तादृशश्चाभिमानकृतः संन्यासे कृतेऽल्पोपि नोचित इत्यर्थः ।
इदं तृतीयम् । निधोगादिति । गुर्वीज्ञा नियोगः । तदकरणे प्रत्यवायः, तत्करणे व्यासङ्गः,
तथा सति नेष्टसिद्धिरिति भावः । इदं चतुर्थम् । तद्धर्मैरिति । संन्यासे सर्वत्यागस्य मुख्य-
त्वात् श्रवणादीनां ग्रन्थादिस्वीकारसाध्यत्वात् परस्परं धर्मैर्विरोधाद्भक्तिमार्गैर्न्यशेषत्वेन
संन्यासो न प्रशस्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

भगवद्दर्माचरणे अनर्थैर्करगृहादीनां बाधकत्वात् प्रतिबन्धापगमाय संन्यासो यदि
कर्तव्यस्तदापि बाधकत्वमाह अग्रेपीति ।

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्स कामतः ॥ ५ ॥

गृहादिसङ्गाभावाय संन्यासे कृतेपि तदनन्तरं तादृशैः पूर्वोक्तसहायादिभिरेव
सङ्गो भवति । अन्तःकरणस्य सर्वांशे भगवत्परत्वाभावात् । नान्यथा । (न) भगवदेकपर-
तेत्यर्थः । ननु भगवदर्थत्वेनैवमपि क्रियमाणे फलं भविष्यत्येवेति चेत्तत्राह स्वयं चेति ।
भक्तिमार्गविरुद्धमिदमिति ज्ञात्वापि यः संन्यसेत्, स विषयवासनावलितान्तःकरणत्वेन
भगवद्रसाननुभवात्त्यक्तविषयेष्वेवाभिनिविशेत् । स कामतः कामित्वाद्भिषयाक्रान्तः

१ वैराग्यभावपूर्वकमिति पाठः । २ कर्तव्यत्वेन प्राप्तौ ज्ञानापेक्षया भक्तिमार्गं न स्वीक्रियत इति पाठः ।
३ अनर्थकरणेति पाठः ४ असाधकत्वमिति पाठः ।

पाषण्डी च भवेत् । धर्मध्वजित्वात् । दृढतरवैराग्याभावे तादृशधर्माचरणं निष्फलमेव । तदुक्तं भगवता 'दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्यजेत् । स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्' । अन्यदपि, 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रिया-
र्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' इति ॥ ५ ॥

नन्वेतादृशानामपि कदाचिन्महता कालेन फलं भविष्यत्येवेति चेत्तत्राह विषया-
क्रान्तेति ।

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

विषयाभिनविष्टान्तःकरणानां हरेरावेशः चित्ते हरिस्वरूपस्थितिर्न भवतीति शेषः । तच्च सर्वदा, न कालनैयत्येन । अत इति । यतः पूर्वोक्तानां दोषाणां सम्भवः अतः कारणादत्र अस्मिन्विचारे, भक्तौ भक्तिमार्गे, साधन इति निमित्तसप्तमी । तेन साधन-
सम्पत्त्यर्थं यः परित्यागः स सुखं नावहति, न करोतीत्यर्थः । न केवलं सुख्यभावः, किन्तु दुःखमपि इति भावः ॥ ६ ॥

तर्हि किं लिप्सुः प्रवर्ततेत्यपेक्षायामाह विरहेति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

'तन्मनस्कास्तदालापा' इत्यादिषु प्रसिद्धो यो व्रजसुन्दरीणां श्रीकृष्णाङ्गसङ्गवियोगकालीनो भावविशेषः कश्चनानिर्वचनीयः अनुभवैकवेद्यो यः सोऽत्र विरहपदेनोच्यते, तस्यानुभवः साक्षात्कारः, तदर्थं तु संन्यासो भक्तिमार्गीयः प्रशस्त इत्यर्थः । उक्तमपि पुनः शिक्षार्थमाहुः स्वीयेति । स्वस्य बन्धो बन्धनहेतुर्गृहादिः, तन्मात्रैकनिवृत्त्यर्थं चेत्संन्यासः, तदा सोऽत्र भक्तिमार्गे बन्ध एव ज्ञेयः, तस्य स्वमार्गीयथोक्तफलासम्पादकत्वात् । नान्यथा । बन्धातिरिक्तफलासम्पादक इत्यर्थः । अत्र चेदिति पदमध्याहार्यम् ॥ ७ ॥

नन्वाचार्यवान् पुरुषो वेदेत्यादिवाक्यैर्गुर्वनुग्रहलभ्यत्वं संन्यासादेः श्रूयते, तदुक्त-
साधनाचरणं च । तच्च सर्वं प्रकृते कथं सेत्स्यत इत्यत आह कौण्डिन्यगोपिका इति ।

कौण्डिन्यगोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

कौण्डिन्यनामा यो महर्षिः । याश्च रासमण्डलान्तर्वर्तिन्यो गोपिकाः । कौण्डिन्यश्च गोपिकाश्चेति द्वन्द्वः । विरहानुभवार्थं संन्यासे गुरव उपदेशार एताः प्रोक्ताः सम्यगुक्ताः । नहि भक्तिमार्गे एतदतिरिक्तस्यान्यस्यैवंविधत्वं सम्भवति । यद्यपि तासां साक्षादुपदेष्टृत्वं न दृश्यते, तथापि तदाचरणं श्रुत्वा दृष्ट्वा वा यः प्रवर्तते, तं प्रति तादृशलौकिकमार्गप्र-

दर्शकत्वात्तासामेव गुरुत्वं युक्तम् । श्रूयते च भविष्योत्तरे अनन्तव्रतकथायां कौण्डिन्यस्य सर्वत्यागपूर्वकं भगवदेकपरतया स्थितस्य शीघ्रमेव तज्यासिः । तद्यथा 'ततो जगाम कौण्डिन्यो निर्वेदाद्ब्रह्मगह्वरम् । अनन्तं मनसा ध्यायन् कदा द्रक्ष्यामि केशवम् । व्रतं निरशनं कृत्वा ब्रह्मचर्यं जपन् हरिम् । विह्वलः प्रययौ सोऽप्यरण्यं जनविवर्जितं' मित्यादि । व्रजसुन्दरीणां तु 'गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै' रित्यादिषु स्फुटमेवालौकिकतथाविधत्वम् । यद्यप्येतासां साम्यं कर्तुं मनसाप्यशक्यम्, तथापि त्यागस्येतोधिकस्य सर्वथा अभाव एवान्यत्रेति ज्ञापनार्थम् । एतादृशसर्वात्मभावपूर्वकान्यविषयपरित्यागे ज्ञटिति भगवत्प्राप्तिरिति भावः । साधनं च प्रोक्तमित्यर्थः । किं तत्साधनमित्यपेक्षायामाह । तनोति स्वरूपानन्दानुभवं विस्तारयतीति तत् । तादृशो यो यस्य भक्तस्य यादृशी भावना तथा सिद्धः सम्पन्नो भावविशेषः स एव साधनस्थानीयः । एतदतिरिक्तस्यान्यस्य यागादेः साधनत्वं नेष्यत इत्यर्थः । यद्वा तद्गुरुत्वेनोक्तं यत्तत्साधनम् ॥ ८ ॥

एवंविधसंन्यासवतः प्रवृत्तिवैलक्षण्यमन्यापेक्षया ज्ञानादिभिरप्रतीकार्यत्वं चाहुः विकलत्वमिति ।

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

उद्देश्यवस्त्वप्राप्तिदशायां चिन्ताबाहुल्याद्विकलत्वं विक्षिप्तचित्तत्वम् । तथैवा-
स्वास्थ्यं शरीरे तदलाभे वैवर्ण्यपाण्डुरत्वादि । एतद्वयमपि प्रकृतिः स्वभावान्तःपात्येव, नौपाधिकम् । तादृशावस्थस्य उपायान्तराप्रतीकार्यदुःखत्वमाह प्राकृतमिति । भगवल्ली-
लौपयिकस्वरूपज्ञानापेक्ष्यान्यद्वच्छास्त्रजन्यमल्पसारं ज्ञानं तदत्र प्राकृतमुच्यते । गुणा-
श्चाणिमाद्यैश्वर्यादियोगसिद्धयः । तदिदं सर्वमप्येवं वर्तमानस्यैतादृशावस्थस्य न हि बा-
धकाः, न समीहितान्तरायहेतवो भवन्तीत्यर्थः । एवंदशापन्नस्य शास्त्रीयं माहात्म्यादि-
बोधकं ज्ञानं न तच्छोकनिवर्तकम् । यत्र सर्वसम्मतस्वास्थ्यहेतुज्ञानस्याप्यप्रयोजकत्वम्, तत्र किं वाच्यमैश्वर्यादीनामिति भावः । प्रकृतेरिति पाठे वैकल्यं विपर्यासः । अन्यत् समानम् ॥ ९ ॥

ज्ञानमार्गीयसंन्यासापेक्षया यथा भक्तिमार्गीयस्य संन्यासस्योत्तमसाधनत्वं तथैव तत्फलसापीत्याहुः सत्यलोक इति ।

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषतः ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

सत्यलोको ब्रह्मलोकः । तत्र ज्ञानात् संन्यासाश्रमरहितकेवलज्ञानादपि स्थितिर्भवति । संन्यासेन सहिता तु विशेषतः पुनरावृत्तिरहितेत्यर्थः । तथा च नारायणे श्रूयते 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितायाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले

परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' इति । भक्तिमार्गीयमाह भावनेति । यत्र यस्मिन् फले भावनैव साधनं भवति तत्र फलमपि तथा भावनानुरूपमेव भवेत् । यथा ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनानां फलुत्वादल्पफलसम्पादकत्वम्, न पूर्णस्य, एवं भावनानामनन्तत्वात् फलस्याप्यानन्त्यमिति भावः । अत एवाचार्यैरुक्तम् 'प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् । पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्ममे'ति । भगवच्चिन्तनपरस्य ब्रह्मलोको नानुरूपं फलमिति तु श्रीविष्णुपुराणे श्रूयते । तद्यथा, 'यस्मिन् न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोपि यच्चिन्तने विज्ञो यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोपि लोकोऽल्पकः । मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः किं चित्रं यदधं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्तित' इति ॥ १० ॥

तादृशः इति ।

तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्च प्रकटः स्वात्मा बह्विवत् प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

किन्प्रत्ययान्तस्य बहुवचनम् तादृश इति ज्ञेयम् । ये केवलज्ञानमार्गीयास्ते सत्यलोकादावेव तिष्ठन्ति, नतु पुरुषोत्तमे, भक्तिमार्गानन्तःपातित्वात् । आदिपदेन संकर्षणादिस्थानं ज्ञेयम् । यद्यपि 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते' इति वाक्याद्ब्रह्मलोकादप्यग्रे गतिस्तत्रस्थानां श्रूयते, तथापि भजनानन्दानुभवादेतदपेक्षया तुच्छत्वमेवेति भावः । तर्हि ब्रह्मलोकस्थानामपि कुतो न भजनानन्दानुभवः? भजनीयस्वरूपस्यान्तःप्रवेशाभावादित्याह बहिश्च प्रकट इति । आकाशवदन्तर्बहिश्च प्रकटः सिद्धोपि स्वात्मा भगवानन्तःस्थितोपि बहिः प्रकटीभूय खलीलाभिनिविष्टचित्तेषु यदैव प्रविशेत्तत्रैवान्तर्हितो भवेत्, तदैव सकलो बन्धो गृहादिर्नाशमेति, तिरस्कृतं भवति, न त्वन्येनापि प्रकारेणेत्यर्थः । अत एवोक्तम् 'ग्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते'ति । यथा शुष्ककाष्ठस्थितो वह्निः शीतशतनासमर्थः, स एव मन्थनादिना बहिर्भूतो ज्वालादिरूपेण तत्रैव काष्ठं प्रविष्टः काष्ठं स्वात्मसात्कृत्वा शीतं निवर्तयति, एवं वह्निःस्थितमानन्दधनस्वरूपमपि भक्तभावनाभावितं यावन्न पुनः प्रविशति, तावन्न तत्स्वरूपप्राप्तिरिति भावः । ज्ञानमार्गीयाणां तद्गन्धलेशाभावान्न तत्प्राप्तिशङ्कापि ॥ ११ ॥

ननु विरहावस्थाया किमवलम्बनं जीवनमित्यत आह गुणास्त्विति ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनाय भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवत्सङ्गस्य राहित्यात् । अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी । तेन सङ्गराहित्यं प्राप्य स्थिते सति गुणास्तस्यैवानुक्रियमाणा लीलास्तदीयगुणानुवादो वा । तदुक्तम् 'तत्र कथामृतं तसजीवन'मिति । त एव जीवनाय भवन्ति । हिशब्दः प्रसिद्धौ ॥ १२ ॥

भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दद्यालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

अत्रास्मिन् जीवने अन्तर्हितो भगवानेव बाधकश्चेत्सोपि फलरूपत्वान्नैवंविधो भवतीत्यर्थः । ननु गुणानां जीवनहेतुत्वोक्तावपि यावन्न द्यगोचरत्वं स्वरूपस्य भवेत्, तावत्तापापायोपि नेति तदर्थं स्वास्थ्यजनकं प्रकारान्तरेण बोधकवाक्यं कर्तव्यं चेत्तत्राह स्वास्थ्यवाक्यमिति । न कर्तव्यं न स्वयमन्यस्माच्छ्रोतव्यम् । न चान्यस्मै श्राव्यमित्यर्थः । तथाच स्वास्थ्यं भगवानेव करिष्यतीत्याह दद्यालुरिति । यतो निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छुः, अतो भक्तानामेताद्यवस्थां ज्ञात्वा विलम्बं न करिष्यति, अतो न विरुध्यते, न प्रतिकूलमाचरिष्यति । प्रत्युत परोक्षभजनानन्ददानेपि भक्तकृत्यं प्रति स्वस्य ऋणित्वमेवाङ्गीकरोति । तच्च भगवतैवोक्तम् 'न पारयेहं निरवद्यसंयुजा'मित्यादि । एवंविधानां स्वास्थ्यवाक्यसहस्रैरपि नेष्टसिद्धिरिति परमार्थः ॥ १३ ॥

दुर्लभोयमिति ।

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेरणा सिध्यति नान्यथा ।

अयं भक्तिमार्गीयो यः परित्यागः स प्रेरणा निरुपधिलेहादेव सिध्यति, अतो दुर्लभः, अन्यैः साधारणैः कर्तुमशक्य इत्यर्थः ॥ १३ ॥

भक्तिमार्गीयं निरूप्य ज्ञानमार्गीयमाह ज्ञानमार्ग इति ।

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ।

विचारोत्रोपपत्तिस्तस्मादित्यर्थः । स द्विप्रकारकोऽपि ज्ञेयः । अपिशब्दोऽत्र गर्हायाम् । द्वैविध्यमाह ज्ञानार्थमिति । ज्ञानोत्पत्त्यर्थमेकः । उत्तरस्य मोक्षसाङ्गं तदर्थमिति यावत् । यद्यपि ज्ञानार्थस्यापि मोक्षाङ्गत्वमेव, तथापि प्रयोजनवशाद्द्वैविध्यम् । अन्यथा कर्मणोपि द्वैविध्यं न स्यात् । परन्तूभाभ्यामपि जन्मशतैर्बहुजन्मभिरन्यासेन सिद्धिर्माँक्षो भवति । न भक्तिमार्गीयवज्जटिति । अत एव भगवताप्युक्तम् 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति । व्यवहारेपि विद्वत्संन्यासो विविदिषासंन्यास इति श्रूयते द्वैविध्यम् । भक्तिं विहाय केवलज्ञानार्थमेव यः संन्यासः स दोषग्रस्तत्वान्न कर्तव्य इत्याहुः ज्ञानं चेति । चकारान्मोक्षोपि साधनसापेक्ष एव । तत्र हेतुः ।

यज्ञादिश्रवणात् । यज्ञादिकं साधनत्वेन श्रूयत इत्यर्थः । इदं तु गीतायाम् 'द्रव्य-
यज्ञास्तपोयज्ञा' इत्यादिषु स्फुटम् । यज्ञादीनां साङ्गानामेव फलसम्पादनक्षमत्वात्, तच्च
कलौ सर्वथैव न सम्भवतीत्यतस्तत्करणं पश्चात्फलदशायां तापायैव, न सुखाय । पूर्वोक्त-
धर्मध्वजित्वेन पाषण्डित्वमेव स्यात् । अपिशब्दादपि फलाभावः । अत एव श्रीमद्भाग-
वते 'श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्ये' त्यादिनोक्तम् । यत एवंप्रकरणे पश्चात्तापः फलासम्बन्धश्च ।
तस्मात् ज्ञाने न, ज्ञानमार्गे न संन्यसेत्, कलौ साधनबलसाल्पत्वात्कालकृतदोषाणां
प्राबल्यात्सुतरामेव न कार्यं इति वस्तुस्थितिरित्यर्थः ॥ १४, १५, १६ ॥

एवं भक्तिमार्गेपि दोषमाशङ्क्य समाधत्ते भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

अत्रारम्भ इति । अस्मिन्भक्तिमार्गीयसंन्यासस्योपक्रममात्रेपि कृते न नाशः, न
कृतोपक्रमवैयर्थ्यं, नापि विघ्नो भवेत्, नापि प्रत्यवायः । तदुक्तं भगवता 'नेहाभिक्रम-
नाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयादि'ति, श्रीभागवतेपि
'तथा न ते माधव तावकाः क्वचि'दित्यादिना । किञ्च, पूर्वमेवं चिकीर्षोः कस्यचिदन्यथाभाव
इत्यर्थे सर्वसम्मतदृष्टान्तस्याप्यभावात्, अतो ज्ञानमार्गीयवदत्रत्यस्य न पातादिशङ्केत्यर्थः ।
भक्तिरहितज्ञानमार्गीयस्य तु पातः श्रूयते श्रीभागवते 'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विगुक्तमानिनस्त्व-
य्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः । आसृष्ट कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोनादृत्युष्मदङ्गय'इति ।
किञ्च, असिद्धस्य स्वास्थ्यहेतोस्तुच्छविषयादेः परितः सर्वतस्त्यागादेव न बाधः सम्भवति ।
अन्तर्बहिः सिद्धविषयस्य तु स्वेष्टफलत्वादेव न तत्सम्भव इत्यर्थः । यदि तदेकाश्रिताना-
मपि तस्मादेव बाधः स्यात्तदा मातृमात्रैकजीवनान् बालान्मातरोपि न क्वचित्पुपुषुर्न
स्तन्यैः पुष्णीयुः, पुष्टाः न कुर्युः, प्रत्युतानिष्टं च कुर्युः, न त्वेवं कुत्रचिदस्तीत्यतो न बाध-
शङ्कालेशोपीति भावः ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

अल्पज्ञं प्रत्याहुः ज्ञानिनामिति ।

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

ज्ञानमार्गप्रशंसावाक्यैरपि तद्वारा स्वभजने प्रवृत्तं न मोहं प्रापयिष्यति । इदमुत्कृष्ट-
मिदं वेत्सेवंविधम् । ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य स्वतन्त्रस्य कदाचिदेवमपि करणं

स्यादिति चेत्तत्राह आत्मप्रद इति । स्वस्वरूपं भक्त्यो दत्तवान्, तदधीनत्वेन स्थापित-
वान्, यश्च स्वात्मत्वेन प्रियश्च । अत एवोक्तम् 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे'ति ।
अपिशब्दादेवमजानतामभक्तानामप्रियश्च । चकारात् स्वस्य भक्तस्य कृत्यनुबुभूषुत्वमपि ।
एतादृशस्यापि मोहकत्वे न किञ्चित्कारणमस्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

उपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चितमिति ॥ २१ ॥

उक्तप्रकारेण भक्तिमार्गे स्थित्वा विरहानुभवार्थमेव क्रियताम्, अन्यथा इमं
प्रकारान्तरं त्यक्त्वा प्रकारान्तरेण तदाचरणे स्वार्थात् स्वस्मिन्नेवार्थ्यते अन्विष्यत इति
स्वार्थो भगवान् तस्माद्भ्रश्यते दूरे पततीत्यर्थः । इति एवंप्रकारिका मे निश्चिता
बुद्धिरित्यर्थः । यद्वा, स्वार्थात् समीहितफलादित्यर्थः ॥ २१ ॥

इति कृष्णप्रसादेन बल्लभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतीति । कृष्णः प्रसाद्यते येन, कृष्णस्य प्रसादोन्नेषां यस्मादिति वा । तत्प्रसाद-
रूप एवेति वा । ईदृशेन बल्लभेन भक्तौ भक्तिमार्गे संन्यासस्य वरणं चरतीति स्वीकर-
णम् । इति उक्तप्रकारेण विशेषतो निश्चितं निर्धारितम् । भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्येदं विहाया-
न्यथा अन्येन ज्ञानमार्गाद्युक्तप्रकारेण स्वीकरणे पातित्यमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

आचार्यचरणाम्भोजरजोरञ्जितवागहम् ॥

कृतवान् भक्तिसंन्यासविचारे सुविचारणाम् ॥ १ ॥

कर्मणा मनसा वाचा प्राणैर्दरैर्धनैरपि ॥

विद्वलेश त्वदीयोस्मि नान्यथा ज्ञातुमर्हसि ॥ २ ॥

इतिश्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ

संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोकुलोत्सवविरचितविवरणसमेतः ।

यत्पदाब्जरसास्वादविस्मृतान्यसुखा मुहुः ।

रमन्ते तद्गुणालापैस्तं वन्दे गोकुलेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ सकलश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायादिप्रमाणसम्मत्या भगवदानन्दानुभव एव सर्वेषां परमफलम् । तत्रापि भजनानन्दानुभवः श्रीगोपीजनवल्लभस्य । तथाहि । 'रसो वै स' इत्यादिभ्यो भगवान् रसरूपः । रसश्च शृंगारः । स च संयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः । तेन तदुभयभावात्मकभगवदानन्दानुभव एव परमफलम् । स च लीलासृष्टौ प्रवेशे सति सम्भवति । ततः पूर्वदशायां तु संयोगाभावात् सर्वपरित्यागपूर्वकं विप्रयोगभावानुभव एव परमफलम् । सर्वपरित्यागं विना लौकिकांशस्य सत्त्वादव्यग्रतया विप्रयोगानुभवासम्भवात् । स च परित्यागः कस्मिन् मार्गे कर्तव्यः, कदा वा कर्तव्यः, कथं वा कर्तव्यः, किमर्थं वा कर्तव्यः, करणानन्तरं च तस्य कीदृशी दशेत्येतत्सर्वनिर्धारार्थं विचारप्रयोजनमनुवदन्त एवञ्चाचार्याः परित्यागविचारं प्रतिजानते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तौ भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च परित्यागः कर्तव्यः, तत्रापि सिद्धदशायामेव, न तु साधनदशायाम् । साधनदशायामत्यन्तवैरग्याभावेन परित्यागानिर्वाहात् पाषण्डित्वप्रसङ्गेन कृतोपि परित्यागः पश्चात्तापय भवति । एतावत्तारतम्यज्ञानाभावे भगवदीया अपि पूर्वमेव परित्यक्तसर्वार्थाः सन्तः पश्चात्ताप भवेयुः, तथा तान् दृष्ट्वा स्वयमपि पश्चात्ताप भवेयुः, तथा चान्येषां स्वस्य च पश्चात्तापस्यानाविर्भावार्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । यद्वा । सकलदेवजीवानां भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदाज्ञया ह्याचार्याणां भूलोकेऽवतारः । सा भगवत्प्राप्तिश्चाचार्यैर्भक्तिमार्गप्राकट्येन क्रियते । तत्र यथा सर्वसिद्धान्तमुक्तवन्तस्तथा अव्यग्रतया निरन्तरं विप्रयोगभावानुभवार्थं परित्यागोपि पूर्वमेव कथनीयः । तथा चैतावत्कालं वृथा विलम्बः कृत इति यः पश्चात्तापः तस्य निवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । अथवा । परित्यागेन पूर्वमहर्निशं

विप्रयोगभावानुभवः, तदनन्तरमलौकिकदेहेन संयोगभावानुभवः । तथा च पश्चात् परित्यागानन्तरं तापश्च निवृत्तिश्च तापनिवृत्ती, तयोर्निमित्तं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । तेनोभयप्रकारकभगवद्भावानुभवे आचार्योद्यम एव हेतुरिति सूचितम् । यच्च 'विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशक' इति सर्वोत्तमे उक्तम् । तदव्यवधानविवक्षया सवासन इति परिशब्दार्थः । ननु परित्यागः कस्मिन्मार्गे कर्तव्य इति चेत् ? तत्राहुः स मार्गद्वितये प्रोक्त इति । विशेष आधिक्यम्, तेन सिद्धदशा विशेषः । विशेषतः इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च भक्तौ ज्ञाने च विशेषं सिद्धदशां प्राप्य मार्गद्वितये भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च स परित्यागः प्रकर्षेण उक्तः, कर्तव्यत्वेन कथित इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

अथ कर्ममार्गे साधनदशायां ज्ञानमार्गे उपासनमार्गे साधनदशायां भक्तिमार्गे च परित्यागः पश्चात्तापायेति तन्नित्यर्थं परित्यागस्य विचारः क्रियते । विशेषतः विशेषं प्राप्य । स च सिद्धदशा उभयोः । यद्वा, बहुजन्मसु परित्यागः कर्तव्य इति आवृत्तिबाहुल्यमेव विशेष इति ज्ञानमार्गे एव विशेषत इत्यन्वेति । निष्कामतया कर्मकरणं चित्तशुद्ध्यर्थम्, कर्ममार्गे पत्नीं विना च यज्ञादिकरणमसम्भवीति न परित्यागः सम्भवति । पत्नीसाहित्येपि निष्कामतया कर्माचरणं संन्यास एवेति चेत् सोपि कलौ देशादिशुद्ध्यभावान्न सम्भवतीत्याहुः सुतरां कलिकालत इति । यद्वा । आयुषश्चतुर्थभागे संन्यास इति यन्मतं तस्मिन्नपि मते भक्तिं ज्ञानं च विना केवलं कर्ममार्गे विरक्तिं विना न कर्तव्यः परित्यागः किन्तु विरक्तावेवेति भक्तेर्ज्ञानस्य वा सिद्धदशां विना न सम्भवतीति कर्ममार्गे न परित्यागः, सुतरां कलिकाले ॥ २ ॥

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत्स नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्दमैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

श्रवणादीनां निरन्तरमव्यग्रतया सिद्ध्यर्थं यदि स नेष्यते भावोद्बोधकत्वाद्भगव-

दीयाः सहायास्तेषां संगेन श्रवणादयः साधनीयाः । पूजादीनां साधनं च रक्ष्यम्, साधन-
दक्षार्या अभिमानश्च विद्यते । 'तावत्कर्माणी'ति वाक्यात् साधनदक्षार्या पूर्णविरक्त्यभावा-
द्देदादिरूपभगवन्नियोगाद्गार्णाश्रमधर्माः कर्तव्या एव । संन्यासधर्मैः सह श्रवणादीनां विरो-
धोऽपि । गृहे भगवदीयैः संगभावात्त्यागः कार्य इति चेत्तत्राहुर्गृहादेरिति । गृहत्यागे
कदाचित्कुत्रचित्सत्संगः स्यादित्याशया कार्य इति चेत्तत्राहुः स्वयं चेति । विषयैरन्तःकरण
आक्रान्ते सत्संगार्थं तस्योद्यम एव न भवतीति भावः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यगोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा बहिवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनाद्य भवन्ति हि ॥ १२ ॥

कौण्डिन्यादावपि भावनयैव भावः सिद्ध इत्याहुर्भावो भावनयेति । ज्ञानं
ब्रह्मज्ञानम्, गुणाः सत्त्वादयश्च, भगवदिच्छया यदि भवन्ति तदा ते बाधकाः । यत्र भावना
साधनं तत्र भावनानुरूपं फलम् । ननु तादृशस्य ज्ञानं गुणाश्च कथं बाधका भवेयुस्तत्राहु-
र्भावना साधनं यत्रेति । तथा च यादृशी भावना तदनुरूपं फलम् । तेन यावत्पर्यन्तं
तल्लीलाभावना तावत्तदनुरूपं फलं, यावद् ब्रह्मज्ञानेन सर्वत्र ब्रह्मभावना तावत्तदनु-
रूपं फलं, यावच्च सत्त्वादिगुणैः कृत्वा विषयेषु भावना तावत्तदनुरूपं फलम् । तथा च
भावभावनानां साधारण्यात् फलेपि तथात्वम् । बाधकत्वं विवृण्वन्ति तादृश इति ।
ब्रह्मभावनादियुक्ताः सत्यलोकादावेव तिष्ठन्तीत्यर्थः । ननु ब्रह्मभावनया किं स्यादित्यत
आहुर्बहिरिति । यदि बहिः प्रकाश एव न स्याद्यदि च पश्चाद्बहिवदन्तर्न प्रविशेत्तदापि
न संसारलयः । यदि गुणेष्वसक्तिः स्यात्तदा ते बाधका भवेयुः, परन्तु तादृशानां पूर्वमेव
गुणेष्वसक्तेर्निवृत्तत्वाद्गुणाः केवलं जीवनाय भवन्ति, न तु बन्धकाः । यद्वा । तादृशानां
सर्वत्यागादन्यैः कैश्चिदपि न सङ्गः, प्रचुरविप्रयोगे च जीवनमशक्यम् । यदि च भगवदीयैः
सङ्गः स्यात्तदा तद्वर्तयामि जीवनं स्यात्, भगवत्तश्च तादृशानामपि जीवनमन्येषामुद्धारार्थं
सम्पादनीयं भवति । तदा भगवांस्तेषां जीवनार्थं प्राकृतेष्वपि गुणेषु तेषां मनो यत्किञ्चित्सं-

योजयति । नन्वेवं गुणेष्वसत्तयभावादत्यन्तवियोगे जीवनं न स्यात्, तथा च जीवनविधा-
तकत्वेन भगवान् बाधकत्वेनाभिमतः स्यादित्याशंक्याहुर्भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वाच्चात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

जीवनविधातकत्वेपि प्रतिक्षणं फलरूपभगवद्भावानुभावकत्वाच्च बाधकः । न हि तदव-
स्थातो जीवनमधिकमस्ति । यद्वा । ननु यदि भगवांस्तेषां मनो गुणेषु किञ्चित्संयोजितवांस्त-
दोत्तरोत्तरं गुणेष्वधिकासत्तया भगवद्भावस्य विधातः स्यात्, तथा च भावविधातकत्वेन भगवान्
बाधकः स्यादित्याशंक्याहुः भगवानिति । नहि भगवान् भावं विहन्तुं गुणेषु तेषां मनः
संयोजयति, किन्तु तेषां जीवनार्थम् । तथा च यावता तेषां जीवनं भवति तावदेव तेषां मनो
गुणेषु योजयति, न तु गुणेष्वधिकामासक्तिं जनयति । कुतः । फलरूपत्वात् । नहि फलं बाधकं
भवति । ननु भगवान् स्वतोऽन्यद्वारा तेषां स्वास्थ्यवाक्यान्वेव कथं न सम्पादयति, येन
स्वस्थतया जीवनं भवेत्, तत्राहुः । स्वास्थ्यवाक्यमिति । विप्रयोगभावं बाधित्वा
जीवनसम्पादनमनुचितं यतः । न हीतोपि जीवनमधिकमस्ति, अहं तव्यः । तथा करणं
चाशक्यम् । न हेतद्भावस्य बाधनं भगवतान्येन वा कर्तुं शक्यम् । वक्ष्यन्ति च 'हरित्र
न शक्नोती'ति । शक्यार्थं तव्यस्तदा । ननु परमदयालुः कथं तेषां जीवने उपेक्षां करोति,
तत्राहुः दयालुरिति । न हेतादृशभावसम्पादकस्य दयालुता विरुध्यते ॥ १३, १३ ॥

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ॥ १६ ॥

ज्ञानमार्गं विविदिषाविद्वत्ताभेदेन द्विविधोपि संन्यासो विचारितः । तद्वयमाहुर्ज्ञा-
नार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञाननिमित्तं यः संन्यासः स एकः, विविदिषासंन्यास इति यावत् ।
उत्तराङ्गं ज्ञानापेक्षया उत्तरं अग्रिमं मुक्तेरङ्गं यः संन्यासः स द्वितीयः, विद्वत्संन्यास इति
यावत् । परन्तु ज्ञानमार्गीयसंन्यासे बहुजन्मभिर्मुक्तिः, न त्वेकजन्मना । 'बहूनां जन्मनामन्त'
इति भगवद्वाक्यात् । तयोर्मध्ये विविदिषासंन्यासस्तु युगान्तरे कर्तव्यः, न तु कलावित्याहुः
ज्ञानमिति श्लोकेन । तमो रजश्च विहाय केवलसत्त्वान्तःकरणः सन् निष्कामतया यदि

यज्ञादिकं करोति तदा ज्ञानमुत्पद्यते । संन्यासे च सामर्थ्यभावाद्यज्ञादिकं न सम्भवति । ज्ञाने च यज्ञादिकं सामर्थ्यत्वेन श्रूयते । सर्वं विहाय वनं गत्वा योगादिना ज्ञानसाधनं च कलौ न सम्भवति । विद्वानां बाहुल्येनान्तःकरणे लौकिकवासनानामनिवृत्तत्वान्मनः-
स्थैर्याभावाद्योगादिकमेव न सिध्यति यतः । अतो विविदिषादशायां संन्यासः कलौ पश्चा-
त्तापायैव भवति, न तु सन्तोषायेत्यर्थः । किञ्च । चित्तस्थैर्याभावे सति ततोधिकं पाषण्डित्वमपि
भवेदित्यपिशब्दः । चकारात्तत्कार्यरूपो नरकश्च । तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं विविदि-
षादशायां न संन्यसेत् । अथवा ज्ञानेन हेतुना संन्यसेत्, ननु ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वम् । युगा-
न्तरे सम्भवेदपि, कलौ तु दोषाणामतिप्रबलत्वात् कथमपि न निर्वहतीत्याहुः सुतरामिति ।
स्थितं पर्यवसन्नम् ॥ १४, १५, १६, १६ ॥

ननु यदि कलौ दोषाः प्रबला एव, तदा भक्तिमार्गेषु कथं फलसिद्धिरित्याशंक्य
भक्तिमार्गे दोषलेशोपि नास्तीत्याहुः भक्तिमार्गेषीति ।

भक्तिमार्गेषु चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

यदि भक्तिमार्गेषु दोषसम्भावना तदा कर्तव्यत्वेन किमुच्यते । एकोपि दोषो
नास्तीति ज्ञापनार्थमेकवचनम् । तमेव दोषाभावप्रकारमाहुः अत्रारम्भ इति । अत्र
भक्तिमार्गे आरम्भे प्रवेशमात्र एव नाशो न भवति । यदि भक्तिमार्गेषु दोषाः स्युः, तदा
कदाचिन्नाशोपि स्यात्, न त्वेवम्, तेन दोषसम्भावना नैव नास्ति । ननु भक्तिमार्गाणांमपि
क्वचित्कामक्रोधादयो दृश्यन्ते, तत्कथं सर्वात्मना दोषाभाव इति चेत् । सत्यम् । (तत्सम्ब-
न्ध्यङ्गीकारो) भगवदङ्गीकारो हि नित्यः । नहि भगवानङ्गीकृतं कदाचिदप्यनङ्गीकरोति । तेन
यत्र क्वचिद्दोषा अपि दृश्यन्ते, तत्रापि क्रमेण दोषानपसार्य भगवान् फलं सम्पादयत्येव ।
अतो यथा यथा भगवान् तेषां हृदि भक्तिमार्गमानयति, तथा तथा दोषापगमः । अतो यदंशे
भक्तिमार्गाप्रवेशस्तदंश एव दोषसत्त्वम्, तेन भक्तिमार्गे दोषाणामसम्बन्ध एव । किञ्च । न वा
क्वचिदिदं दृष्टचरं श्रुतं वा यद्भक्तिमार्गे प्रविष्टस्यापि नाशो जात इति । तेन दृष्टान्त-

स्याप्यभावात् भक्तिमार्गे दोषलेशोऽपि । अत एव भरतस्य जन्मान्तरायेषु फलसिद्धिः ।
अत एव मथुरास्थसत्रिणां मध्ये बहिर्मुखत्वेपि पश्चात् पश्चात्ताप एव । ननु भक्तिमार्गे नाशो
न भवतीति सत्यं, परन्तु यदि भक्तिमार्गं न त्यजेत् । तथा च साधनदशायामत्यागेपि सिद्ध-
दशायामत्यन्तविप्रयोगक्लेशमसहमानः सन् मनःस्वास्थ्यनिमित्तं तन्मार्गं परित्यज्य लौकिकपदा-
र्थमेव यदि किञ्चित्परिगृह्णीयात्तदा नाशो भवत्येवेति चेत्त्राहुः स्वास्थ्यहेतोरिति । यदैव
भगवन्मार्गे प्रवेशस्तदैव लौकिकस्य परित्यागः, तदनन्तरं च यथा यथा भगवद्भाव-
स्तथा तथा लौकिकेष्वधिकाधिकैवाऽरुचिर्जायते । तथा च लौकिकस्य स्वास्थ्यहेतोः
सर्वस्यैव परित्यागात् केन पदार्थेनास्य भगवद्भावस्य बाधः अन्तरायः सम्भवेत्, न केना-
पीत्यर्थः । यदि कदाचिदत्यन्तं विप्रयोगभावेनातिक्लेशादिदमपि मनस्यायाति यत्कथमपि
यद्ययं भावो निवृत्तो भवेत्तदा सम्यगिति तथाप्यशक्यो भावस्य परित्यागः । न ह्येतादृशः क्षण-
मपि भगवन्तं विस्मर्तुं शक्नोति । न वान्येन पदार्थेनैतादृशस्य मनःस्वास्थ्यं सम्भवति । यद्वा,
स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यनिमित्तम् । लौकिकं हि सर्वं तस्योद्देशकारीति स्वास्थ्यनिमित्तं सर्वस्य
लौकिकस्य परित्यागात् केन पदार्थेन अस्य भावस्यान्तरायो भवेत्, न केनापीत्यर्थः । अथवा ।
स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यनिमित्तं परित्यागात् भगवद्भावस्य परित्यागात् । अयं भावः ।
भगवद्भावत्यागो हि स्वास्थ्यनिमित्तं कर्तव्यः, तच्चान्येन न सम्भवति । न ह्येतादृशस्या-
न्येन स्वास्थ्यं सम्भवति । तथा च केनान्तरायः सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । वस्तुतस्तु
भावत्याग एव न सम्भवतीति पूर्वमुक्तमिति निर्गर्वः । नन्वेतादृशस्य स्वयं भावत्यागो न सम्भव-
तीति सत्यम् । परन्तु यदि कालादयः प्रतिबन्धं कुरुः, तदा नाशो भवेदेवेति चेत्, तत्राहु-
र्हरिरिति । अत्र विप्रयोगभावे भगवानपि प्रतिबन्धं कर्तुं न शक्नोति, तत्र के वराकाः
कालादय इत्यर्थः । न चैवमसामर्थ्यं भगवतः । वस्तुन एव तथात्वात् । ननु भक्तिमार्गे प्रवेशे
सति सर्वथा न सम्भवति नाशः, परन्तु भक्तिमार्गप्रवेशे तु केवलं भगवदङ्गीकार एव मूलम् ।
नहि भगवदङ्गीकारं विना भक्तिमार्गंरुचिर्भवति । भगवतश्च किं प्रयोजनं येन प्रवेशयेत्,
तथा च कथं फलसिद्धिरित्याशंक्य भगवान् केवलं कृपयैव प्रवर्तयतीति दृष्टान्तेन बोधयन्ति
अन्यथेति । यदि प्रयोजनं विना कोपि न प्रवर्तदेव, तदैतावत्कालं विश्वस्मिन् बालान्
मातरो न पुपुषुरित्येव त्वयोक्तं स्यात् न त्वेवम् । किन्तु पुपुषुरेव । तथा भगवानपि प्रयोजनं
विनैव केवलं कृपयैव सर्वं सम्पादयतीत्यर्थः । अग्रे बालानां प्रयोजनसहस्रसाधकत्वेपि
मादृणां तदुद्देशेन न प्रवृत्तिः, किन्तु केवलं वात्सल्यादेव सर्वं सम्पादयतीत्याशयः ।
ननु भगवदङ्गीकारात् प्रवृत्तस्यापि यदि ज्ञानमार्गीयैः संसर्गः स्यात्, तदा तद्वाक्यैर्बुद्धि-
विपर्यासे कथं फलसिद्धिरिति चेत्, तत्राहुर्ज्ञानिनामपीति । न हि भगवदङ्गीकारमभिमूय
तद्वाक्यानि बुद्धिं विपर्यासयितुं शक्नुवन्ति । भगवांश्च यं भक्तिमार्गेङ्गीकृतवांस्तं कदापि
ज्ञानिवाक्यैर्नान्यथा करोति । सिद्धदशायां तु न सम्भवत्येव, कदाचित्साधनदशायां

सम्भवेदित्याशङ्क्येदमुक्तम् । यद्वा । ज्ञानिनो विविधबुद्धिप्रकारकुशलाः । तेनात्यन्त-
चतुरेणाप्यन्यथा बोधयितुमशक्यो भक्तः । अग्रेपि कदापि मोहं न जनयतीति भविष्य-
त्ययोगः । ननु कथं ज्ञायते भगवान्नैव मोहयिष्यतीति, न ह्युत्तमपदार्थं कोपि कस्मैचिद्दातुं
समीहत इति चेत्, तत्राहुरात्मप्रद इति । यः स्वात्मानमपि प्रयच्छति तस्य सर्व-
फलदाने कः सङ्कोचः । ते न महोदारत्वात् सर्वस्वमपि ददाति, न तु मोहयति ।
प्रियश्च अतः प्रीतिकर्तृभ्यः सर्वस्वदानमुचितमेव । परमकृतज्ञत्वात् निर्णयमाहुस्तस्मा-
दिति । उक्तप्रकारेण सिद्धदशां प्राप्य स्वार्थात् स्वप्रयोजनात् ॥ १७-२१ ॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

कृष्णः श्रीगोकुले प्रकटः । नहि तत्प्रसादं विनैतद्भावतत्त्वं ज्ञातुं शक्यम् ।
अत एव तद्बल्लभत्वं स्वस्मिन् नाग्नैवाहुः । संन्यासवरणं संन्यासाङ्गीकारः । भक्तौ
भक्तिमार्गं । यद्यपि ज्ञानमार्गेषु संन्यासनिर्णय उक्तः, तथाप्येतद्विचारं मनस्यागते तस्य
पुरुषार्थेष्वेव गणना जायते । अन्यथा सिद्धदशां विना पातः पूर्वस्थितभावात्
प्रच्युतिः ॥ २२ ॥

प्रणम्य च प्रभुं टीका गोकुलोत्सवसूरिणा ।

श्रीगोविन्दसुतेनेयं कृता संन्यासनिर्णये ॥ १ ॥

इति श्रीगोवर्धनधारिचरणकमलैकतानश्रीगोकुलोत्सव-
विरचितं संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवरणसमेतः ।

पदारविन्दद्वन्द्वं तद्वन्देऽहं दिव्यमद्भुतम् ।

हृदि यद्धारणात् कोपि तापः प्रादुर्भवत्यलम् ॥ १ ॥

मुदा तत् श्रीमदाचार्यपदाब्जं दैन्यदायकम् ।

मुहुः प्रणम्य संन्यासनिर्णयो विवरिष्यते ॥ २ ॥

तथाहि । यावत्प्रेम यत् सकलं पुष्टिमार्गीयमस्ति तत् ।

तावद्विचारितं तत्र संन्यासो न विचारितः ॥ ३ ॥

इति तत्स्वरूपविज्ञानाभावेनैव कृते सति ।

तस्मिन् स्वीयो भवेन्मार्गाच्च्युतो हीति सुनिश्चितम् ॥ ४ ॥

तदानिष्टं स्वकीयस्य मार्गं स्यादिति चेतसि ।

पश्चात्तापो महान् श्रीमदाचार्याणामभूत्ततः ॥ ५ ॥

तन्निरवृत्त्यर्थमेतस्य विचारोपेक्षितस्ततः ।

हेतुसाधनतश्चैव फलतश्च स्वरूपतः ॥

अधिकारादपि परस्तादृशः स निरूप्यते ॥ ६ ॥

तत्र प्रथमं स्वमार्गाङ्गीकृतस्य स्वमार्गीयभजने प्रवृत्तस्य भक्तिभावदाब्धेनान्तरासक्ति-
सिद्ध्यर्थं श्रीमदाचार्याः परित्यागविचारोपक्रमं कुर्वन्ति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

पूर्वपीठिकोक्तपश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः । अन्यत्पष्टम् । विचारमेवाहुः स इति ।
परित्यागः, मार्गद्वितये, भक्तौ पुष्टिमार्गीयायां ज्ञाने च विशेषतः कर्तव्यत्वेन
प्रोक्तो, नान्यमार्गं ॥ १ ॥

ननु यथा भक्तिः ज्ञानं च मार्गौ तथा कर्मापि मार्गं इति तत्रापि स कर्तव्य इति
चेत्, तत्र निषेधमाहुः ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाच्चिचारणा ॥ २ ॥

कर्ममार्गे तु न कर्तव्यः । सुतरां कलिकालतः । 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि'ति श्रुतेः अहर्निशं कर्मविधिकृतेरेवावश्यकत्वात् परित्यागानवसर एव । यद्यप्यायुषश्चतुर्थो भागस्तुरीयाश्रमेण नेय इति तत्रापि विधिर्वर्तते, तथापि सुतरां कलिकालदोषेण रोगादिजराजनितपीडया संन्यासाश्रमधर्मनिर्वाहः कर्तुमशक्य इति विपरीतफलकत्वान्न कर्तव्य इति भावः । अतः कारणात् मार्गयोः एव कर्तव्यत्वस्य प्राप्तत्वात् तत्र च स्वोपयोगित्वात् आदौ भक्तिमार्गे तस्य विचारणा विचारकरणम्, तच्च कदा, किमर्थं, कर्तव्यमित्यादिरूपमित्यर्थः ॥ २ ॥

तदेव निरूपयन्ति । यथा ज्ञानमार्गे विविदिधाविद्वद्भेदेन परित्यागस्य द्वैविध्यम्, तथा भक्तिमार्गेपि साधनसिद्ध्यर्थं फलसिद्ध्यर्थं च कर्तव्यत्वे प्राप्ते तत् द्वैविध्यं संभवतीति, तत्र श्रवणादिनवधाभक्तिसाधनार्थं तत्करणे स्वकीयस्य वक्ष्यमाणानिष्टं भविष्यतीति तन्निषेधमाहुः ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यः स च नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

परित्यागं कृत्वा श्रवणादीन्साधयामीति यदि कर्तव्यस्तदा स परित्यागो नेष्यते नाङ्गीक्रियते, इष्टसाधकाभावात् । तत्र हेतूनाहुः । श्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात्, श्रवणकीर्तनादिकर्तारः भगवद्धर्मपरा अपि मार्गस्वरूपज्ञानात् गृहस्थिता एव । तेषां सङ्गेन साध्यत्वम्, नान्यथा । अस्य तु त्यागानन्तरं 'मेकाकी निस्पृहः शान्त' इत्यादिवाक्यादेकाकित्वेनैव स्थितेरावश्यकत्वात् सत्सङ्गाभावेनैव कुतः श्रवणादिसिद्धिरिति तदर्थं न कर्तव्यमेवेति भावः । किञ्च, कदाचित्तत्सङ्गेपि तेषां गृहस्थत्वेन सांसारिकत्वज्ञानात् त्यागिनः तेषु प्रवृत्तिरेव न । प्रवृत्तावपि ते ह्यस्याग्रे किमपि न कथयन्ति, यतस्ते मार्गस्वरूपज्ञातारः, अयं तु मार्गान्युत इत्यतस्तदर्थं सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । यतः स्वमार्गायसङ्गाभावे साधारणसङ्गेन वक्ष्यमाणत्वस्यैव भवेत्, न तु स्वमार्गज्ञानमपि । किञ्च, साधनानां च रक्ष-

णादिति । अहोरात्रिप्रणवप्राणायामादिसाधनविधेरेव रक्षणस्यावश्यकत्वात् श्रवणादिप्रणव-
नवसर एवेति । किञ्च, प्रपन्नत्वसम्भवेपि तस्य साधकत्वाभावमाहुः अभिमानादिति । संन्यासग्रहणानन्तरं तत्त्वमस्यादिवाक्यादात्मनि सोहमित्यभिमानो भवति, भक्तिमार्गे तु समर्पणानन्तरं देहप्राणेन्द्रियादीनां भगवदधीनत्वं भवति, तदा दासत्वान्न ममेत्यभिमान इति । स्वधर्मं विहाय स्वकीयस्य श्रवणार्थं परधर्मरूपत्यागकरणे इष्टप्राप्त्यभावः, प्रत्युत विपरीत-
फलमपि भवेदिति स न कर्तव्य इति भावः । किञ्च, नियोगादिति । स्वमार्गाङ्गीकृत-
स्यान्यत्र विनियोगः सर्वथा ह्यनुचितः । त्यागानन्तरं विहितत्यागसाधनकरणे देहादीना-
मन्यत्रैव विनियोगो भवेत्, न तु साक्षात्पुरुषोत्तम इति । स्वमार्गफलासाधकत्वात्तथेति भावः ।
किञ्च, तद्धर्मैरिति । पुष्टिमार्गधर्मैश्च विरोधतः । अयं परित्यागो विधिप्रयुक्तत्वान्मर्यादा-
मार्गीयो भवितुमर्हति, न पुष्टिमार्गीयः । पुष्टिमार्गो हि समस्तविधिभिरस्पृष्टः, तदा तत्प-
रित्यागः सुतरां तथेति प्रमाणातीत इत्युभयोर्धर्माणामपि भेदाद्विरोधः स्यादिति तथा ।
चकारात् स्वरूपफलयोरपि भेदः । एवं स्वमार्गाङ्गीकृतस्य श्रवणादिभक्तिसिद्ध्यर्थं संन्यास-
निषेधकथनेन 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः । अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभि'रित्युक्त-
प्रकारेण स्वधर्मनिष्ठया सेवैव कर्तव्या, नान्यदिति सूचितम् । ननु गृहमेव बाधकं भवेत्
तदा तु कर्तव्य इत्याशंक्य तस्यापि निषेधमाहुः । गृहमादिपदेन तत्सम्बन्धिनश्च सर्वे
यद्यपि धर्मप्रतिकूला एव, तथापि श्रवणादिसाधनार्थं संन्यासग्रहणं न कार्यम् । किन्तु
तत्परित्यागेन भगवदीयैः सह सेवा कर्तव्येति ज्ञाप्यते । अत एव 'भार्यादिरनुकूलश्च'
दित्यादिषु साधनार्थमनुकूलतद्ग्रहणाभिप्रायेण प्रतिकूलगृहत्याग एवोपदिश्यते, न तु
संन्यासग्रहणम् । तथोक्ते 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः' इति भक्तिवर्धिनीवचनविरोधः
स्यात् । किञ्च, श्रीभागवतेपि भक्तिसाधनार्थं 'मदर्थेऽर्थपरित्याग' इत्यारभ्य 'एवं
धर्मैर्मुन्युद्याणा'मित्यादिभिस्सर्वसमर्पणरूपः त्याग उक्तो, न तु संन्यासः, अन्यथा
'त्वयोपमुक्तस्वगन्ध'इत्यनेन विरोधः स्यात् । यतः सेवाकरण एवोच्छिष्टभोजनम्,
न तु संन्यासे, सेवाऽभावात् । एवं सति साधनार्थमपि त्याग उक्त इति तत्स्व-
रूपज्ञानेन स्वमार्गीयः कश्चित् संन्यासग्रहणं कुर्यादिति प्रकृते तन्निषेध उक्त इति सर्व-
मनवद्यम् । अतः परं गृहादेर्बाधकत्वेन संन्यासग्रहणे तादृशैः सह सङ्ग एव भवेत्,
किन्तु स्वयमपि तादृशो भवतीत्याहुः । स्वयमपि तथा । ते साधनत्यागिनः धर्मध्वजिनः
विषयाक्रान्ता वेशमात्रधारिणः पाषण्डिनः, तथा स्वयमपि तत्सङ्गेन विषयाक्रान्तः पाषण्डी
च स्यात् । तत्र हेतुः कालतः । कलिकालदोषत इत्यर्थः । अथवा कालत इत्युप-
लक्षणम् । कालकर्मस्वभावेभ्य इत्यर्थः । यतः मार्गान्युतजीवस्य कालावधीनत्वमेव, मार्ग-
स्थितस्यैव तदनधीनत्वेन तस्य भगवदधीनत्वेन भगवान् रक्षां करोति । तादृशत्यागिनो
भगवदधीनत्वाभावाद्द्रष्टाऽभावेन तथात्वमेवेति भावः । एवं तत्सङ्गदोषं निरूप्य फलाभाव-

माहुः । यदैवं विषयाक्रान्तो भवेत्तदा विषयाक्रान्तानि, देह इत्युपलक्षणम्, किन्तु, देह-
प्राणेन्द्रियान्तःकरणानि येषाम् । सर्वदा सर्वकालं भवेत्, प्रवेशस्यावकाश एव नास्ति,
तदावेशो न भवतीति सिद्धान्तात् तस्यापि भगवदावेशो न भवेदिति सर्वस्वहानिरेव
भवतीति भावः । अतः कारणादत्र पुष्टिमार्गे पुष्टिमार्गीयस्य साधने भक्तौ
साधनभक्तिसिद्ध्यर्थं त्यागः सुखावहो न भवति, अनिष्टपर्यवसानात् । अतः स
सर्वथा न कर्तव्य इति ज्ञापितम् ॥ ३-६ ॥

ननु तर्हि कदा किमर्थं च कर्तव्यं इत्याकांक्षायां तस्य प्रयोजनकथनेनैवाधि-
कारिणं चाहुः ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावनया साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा बहिवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सङ्गराहिल्याजीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

विरहानुभवार्थं परित्यागोऽस्मिन्मार्गे प्रशस्तो भवति । अन्यथा नेत्यर्थः ।
अत्रेदमाकृतम् । स्वमार्गीयस्याङ्गीकारादारभ्य श्रीकृष्णसेवैव कर्तव्या, नान्यदिति सिद्धान्तः ।
तदुक्तम् 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति । सा सेवा साधनरूपा फलरूपा चेति द्विधा । मानसी
सा सेवा फलरूपा, तत्साधनरूपा तनुजवित्तजात्वेनोक्ता । एवं सति मार्गनिष्ठया सर्व-
समर्पणपूर्वकं सर्वेषां तनुवित्तादीनां भगवत्येव विनियोगकरणेन सेवाकरणे तत्स्वरूपे प्रेम
जायते । एतदेवोक्तम् । 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इत्यारभ्य 'ततः प्रेमे'त्युक्तं भक्तिवर्धिन्याम्,
नो चेदिह स्थानस्य विजातीयत्वेन बाधकत्वात् साम्प्रतं वा स्वानुसन्धानाभावेन पुनर्विजातीय-

सङ्गेपि तस्य न नाश इति तत्रैव 'यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापी'त्युक्तम् । एवं सति अस्य
त्यागस्य पूर्णपुष्टिभाववानेवाधिकारी, नान्यः, तस्य प्रयोजनमपि प्रचुरभावपोषेण विरहा-
नुभव एवेति सुष्टुक्तं तथा । ननु तर्हि परित्याग एव कर्तव्यः, संन्यास एव किमर्थं
कार्यः, तत्र हेतुमाहुः स्वीयेति । स्वीया गृहसम्बन्धिनस्तक्रियमाणो यो बन्धः तन्निवृत्त्यर्थं
वेषः । अन्यथा संन्यासाश्रमो धर्माचरणार्थं न भवतीत्यर्थः । विजातीयमिलनस्य भाव-
घातकत्वात् । तदुक्तं फलप्रकरणे 'असप्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्ष'मित्यत्र । 'यथा व्याघ्राग्रे
देहाभिमानो'ति । ननु तथापि भक्तिमार्गीयभावपोषार्थमपि विहितत्वात् गुरुरूपदेशं विना कथं
तत्सिद्धिरित्याशंक्य गुरून्निरूपयन्ति । कौण्डिन्य ऋषिरनन्तगुणश्रवणेनानन्तस्वरूपा-
सत्तया तत्कालमेव सर्वत्यागं कृतवान्, पुनस्तद्विरेहेण विकलः सन् जडादिष्वपि प्रशं
चक्रे । तथास्यापि स्वरूपसेवाकरणे प्रेमासत्तयनन्तरं पुष्टिमार्गीयभावोदयक्षण एव त्यागः
कर्तव्य इति साम्येन स गुरुरुक्तः । अपरे गुरवो गोपिकाः । यथा पूर्वमप्यासक्तौ
सत्यां वेणुनादश्रवणानन्तरं त्यागे कृते प्रभुसङ्गमस्तासामप्यभूत् । अग्रे पुनरन्तरासक्ति-
दार्ढ्यार्थं विरहानुभवोपि जातः, येन 'तन्मनस्कास्तदालापा नात्मागाराणि सस्मरुः'
इत्यादि विकलत्वास्वास्थ्यादिरूपावस्थाप्यासीदिति साम्येन तासां च गुरुत्वं निरू-
पितम् । एवं सति तद्रीत्या तथा कृते एतस्यापि फलं सेत्स्यतीति भावः । ननु
यथा 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुत्या ज्ञानमार्गीयसंन्यासे वैराग्यं साधनम्,
तथात्र किं साधनम्, तदाहुः साधनं चेति । भावनया सिद्धो यो भावः
तत्साधनम् । पूर्वमपि भावो जायते, परं कृत्रिम इति । तादृशस्य साधनत्वं न, आसत्तय-
नन्तरं 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकमनोरथात्मकभावनया सिद्धिं प्राप्तो
यः पूर्णः पुष्टिमार्गीयो गूढो भावः तत्साधनम् । न अन्यदिति । अतिरिक्तं
साधनं नेष्यते । सापेक्ष्यतत्त्वाभावान्नापेक्षित इत्यर्थः । एवं सति वैराग्यमप्येतदेव, न
ज्ञानमार्गीयम् । यतो भगवत्स्वरूपव्यतिरिक्ते सर्वत्रासुचिरिति भक्तिवर्धिन्यां 'स्नेहाद्राग-
विनाशः स्या'दित्यादिना तथा स्फुटीकृतम् । ननु ज्ञानमार्गे वैराग्येण त्यागे कृते विषया-
द्यभिलाषाभावात् देहेन्द्रियैः प्राकृतधर्मराहित्यं चित्तादिस्वास्थ्यं च भवति, प्रकृते
त्यागादारभ्य प्रतिदिनं तथा भावने वैकल्यमस्वास्थ्यमेव सकलेन्द्रियेषु वर्धत इति
प्राकृतविषयधर्मवत्त्वमेव लक्ष्यते, तत्कथं फलसिद्धिरित्याशंक्य तद्भर्मस्वरूपमाहुः । बाह्यानु-
सन्धानराहित्यपूर्वकमन्तःस्वरूपानुभवसमानाधिकरणचेष्टितं यत्सकलेन्द्रियाणां तद्विकलत्वम्,
बहिरेपेक्षया विपरीतान्तर्भावरूपाः कलाश्चेष्टा येषां तेषां भावस्तत्त्वमित्यर्थः । तथा बहिः प्रिय-
सङ्गाभावजनितात्मा सकलेन्द्रियाणां स्वास्थ्याभावोस्वास्थ्यम् । एतद्वयमपि विप्रयोगभावस्य
प्रकृतिः साहजिको धर्मः । यथा ज्ञानमार्गे वैकल्याभावः स्वास्थ्यं तस्य प्रकृतिः, तथा
पुष्टिमार्गे तद्विपरीतधर्मवत्त्वं तद्भावस्य प्रकृतिः । अनेन यावत्पर्यन्तं विकलत्वास्वास्थादि-

रूपा प्रकृतिः न सिध्यति, तावत्पर्यन्तं तद्भावस्यापि न पूर्णत्वमिति सूचितं भवति । अत एव तद्दृष्टान्तरं पुनर्नाशाभावेन प्रयत्नाभाव उक्तः 'यावज्जीव'मिति भक्तिवर्धिन्याम् । ननु तर्हि विषयसम्बन्धित्वमायातमित्याशंक्य तन्निराकुर्वन्ति प्राकृतं न हीति । प्रकृतिगुणविकारजन्यं तदुभयमपि न भवति । हीति निश्चयः । अयं भावः । पुरुषोत्तमस्वरूपं तु रसात्मकम्, रसो हि द्विविधः, संयोगविप्रयोगभेदेन, इति स्वरूपमपि तथा, तत्र संयोगे स्वरूपं बहिः प्रकटं भवति । विप्रयोगे भावात्मकतया तत्तन्निद्रियेष्वच्छिष्टं सदन्तरेव रसपोषं करोति । परन्तु तापरूपेण स्थितत्वाददर्शने च तां जनयति, इति तज्जनिततीक्ष्णभावभावनया पूर्वोक्त-प्रकारेणान्तःस्वरूपानुभवे तदनुसारिचेष्टाकरणेन विकलत्वं बहिः प्रतीयते । दर्शनाभावेनास्वास्थ्यं चेत्युभयधर्मस्य रसात्मकभगवत्स्वरूपजन्यत्वेन रसात्मकत्वादलौकिकानन्दरूपत्वमेव । न तु प्राकृतत्वमिति सुष्ठुक्तं प्राकृतं न हीति । एतेन यथा यथा विकलत्वमस्वास्थ्यं स्यात्तथा तथा फलविलम्बाभाव इति सूच्यते । एतत्प्रकृतिं निरूप्य यथा (ज्ञान) मार्गं परित्यागानन्तरं सकलपदार्थस्फूर्त्या सर्वं ज्ञानं गुणाश्च भगवद्धर्मरूपात्मानुभवेन साधकास्तथा प्रकृतेषु तेषां साधकत्वमाशंक्य साधकत्वस्य का सम्भावना, प्रत्युत बाधकत्वमित्याहुः ज्ञानमिति । एवं वर्तमानस्य विकलत्वास्वास्थ्यरूपमप्राप्तस्य ज्ञानं बहिरनुसन्धानेन पदार्थस्फूर्त्या सर्वगुणा भगवल्लीलादिधर्मरूपाश्च कदाचित्प्रच्युतास्तेन व्यभिचारिभावानां वैचित्र्याद्वा हृदि स्फुरति, तदा मनस्तदवलम्बनं भवति । यथा महासमुद्रे मज्जतः तृणस्येव । तदा तज्जनितयत्किञ्चिदपि स्वास्थ्ये फले बाधका एव, न तु साधकाः । किञ्च, ये लीलागुणाः पूर्वं भावपोषणे साधकाः जातास्त एव गुणाः साम्प्रतमेतादृशवस्थायां जीवनसम्पादकत्वेन बाधका भवन्ति । एतेन दिरहानुभवस्य पूर्णत्वेन जातत्वात् जीवनस्थितेः प्रयोजनाभावात् । अतः परं मूर्च्छादीनां दशम्येवावस्था फलसाधिकेति तेषां बाधकत्वमुक्तमिति ज्ञापितम् । एवं सति लीलादीनां धर्मरूपत्वेन बाधकत्वकथनात् केवलधर्मिस्फूर्तिरेव फलसाधिकेत्यपि ज्ञापितं भवति । ननु ज्ञानमार्गं ज्ञानगुणमनःस्वास्थ्यदीनां साधकत्वम्, भक्तिमार्गं कथं बाधकत्वमित्याकांक्षायां मार्गभेदेन साधनफलभेदात् तथात्वमाहुः । संन्यासेन विशेषितात् सम्यक् साधितात् ज्ञानात् प्रथमं सत्यलोके स्थितिर्भवति । पश्चाद्ब्रह्मणा सह मुक्तिरुक्तेति ज्ञानानन्तरमेव सत्यलोकस्थितेः कथनात्तत्र मनःस्वास्थ्यगुणादीनामेव साधकत्वम्, तद्व्यतिरेकेण ज्ञानस्यैर्याभाव इति तेषां साधकत्वमुक्तम् । एतेन ज्ञानमार्गस्य साधनं फलमपि चोक्तम् । प्रकृते 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकसाक्षात्स्वरूपसम्बन्धभावनैव साधनम् । तत्र च तत्सम्बन्धव्यतिरेकेण स्वास्थ्यसम्भावने च स्वास्थ्यमेव फलसाधकम्, नो चेत् फलमेव न भवेत् । तत्रापि यादृशी पूर्वोक्तप्रकारिकान्तर्भावना तादृशमेव सर्वेन्द्रियास्वाद्यं बहिरनुभवात्मकं फलमपि भवेत्, न तु ज्ञानमार्गलाभान्मध्ये सत्यलोके स्थितिः, पश्चादन्तरेव केवलमात्मलयमात्रमिति फलं चापि तथा भवेदित्युक्तम् । किञ्च,

लयोप्यक्षर एव, न तु पुरुषोत्तमे । सोपि ब्रह्मणा सहेति फलसिद्धौ महान् विलम्ब उक्तः । तत्रापि साधनफलभेदः । प्रकृते साक्षात्पुरुषोत्तमस्य रसात्मकत्वात् रसस्य संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद्वाह्यान्तरभेदेन संयोगे विप्रयोगे च स्वरूपरसानुभव एव । न तु साधनफलभेदः । एवं सति विकलत्वास्वास्थादिदशायाः पूर्वोक्तरीत्या साधनरूपायामपि साक्षात्स्वरूपानुभव एव भवतीति ज्ञानमार्गफलोपेक्षया एतत्साधनस्यापि सर्वोत्कृष्टत्वं निरूपितम् । ननु ज्ञानस्य फलं मुक्तिः, सत्यलोकस्थितिः किमर्थं भवतीत्याशङ्क्याहुः । तादृशाः संन्यासविशिष्टपूर्णा ज्ञानयुक्ता अपि सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येवेति निश्चयः । अत्र संशयो न । यतस्तेषां तु ब्रह्मणा सहैव मुक्तिसम्भवात्तावत्पर्यन्तं तत्रैव स्थितेर्नियतत्वात् तत्र सा मर्यादास्तीति । आदिपदेन तादृशत्वाभावे लोकान्तर एव स्थितिः । ननु तत्रापि फलसिद्धौ महान् विलम्बो निरूपितः । प्रकृते तादृशवस्थायां यदि गुणाद्यनुसन्धानं न भवेत्तदा तत्कालमेव फलसिद्धिरिति तत्रकारं निरूपयन्ति बहिरिति । पूर्वोक्तभावनया भगवान् एव स्फुरतीत्यर्थः । स चेदतिविगाढभावेन तदात्मकतया गुणगानद्वारा साक्षाद्बहिः प्रकटो भूत्वा रसानुभवं कारयित्वा पुनस्तिरोहितः प्रचुरतापात्मकः सन्नन्तःप्रविशेत्, तदैव तत्क्षणमात्रेणैव सकलो बन्धः प्राकृतदेहरूप एव बहिः साक्षात्फलानुभवे प्रतिबन्धः, स तादृशप्रचुरतापेन मूर्च्छादिदशमावस्थां नाशमेति । तत्र दृष्टान्तः बह्वित् । यथा दार्वन्तर्गतो बहिः सदैव तिष्ठति, परन्तु दारुदहनोपयुक्तो न भवति । यदा पुनर्मथनेन बहिः प्रकटो भवेत्, तदा तत्सम्बन्धः सन् तदन्तःप्रविश्य क्षणेनैव सर्वं दार्वं प्रज्वालयति । न केवलं तावन्मात्रम्, किन्तु तत् स्वसदृशमपि करोति, तथा अयमपि स्वात्मरूपत्वेन तदन्तर्गतो विगाढभावेन मथनेनैव तथा भूत्वा पुनस्तिरोभूयान्तस्तापरूपेण प्रविशेत्तदा तं तथा कृत्वा स्वसदृशीं रसात्मकतामलौकिकवयोगुणादिसम्पत्तिमपि करोतीति दृष्टान्तधर्मसाम्येन सूचितं भवति । एवं सति यथा दारुण्यार्द्रत्वं यदि भवेत्तदा सोप्यसमर्थो धूममेव जनयति, तथा प्रकृते यत्किञ्चित्स्वास्थ्यस्यार्द्रत्वस्थानीयत्वात् धूमवद्गुणगानादिकमेव भवेत्, तदा तत्सम्बन्धः सः, न तु बन्धनिवृत्तिरित्याशयेनोक्तं 'न चान्यथे'ति । एतत्प्रकाराभावे न भवतीत्यर्थः । एतत्सर्वं फलप्रकरणीयद्वितीयाध्याये 'गायन्त्य उच्चै'रित्यस्य विवरणे 'शब्दो हि धूमवद्भोक' इत्यादिना निरूपितम् । एतेनास्वास्थादावेव फलविलम्बाभाव इति तदेव साधकम्, न गुणादिस्फूर्तिरिति पूर्वाशङ्का निरस्तेति भावः । ननु विप्रयोगस्य केवलमस्वास्थ्यैकप्रकृतिकत्वात् तदुत्तरक्षण एव प्रतिबन्धनिवृत्तिं कथं न करोति । मध्ये गुणाद्यवलम्बनं कारयति । अत एवोक्तं 'मन्तर्हिते भगवती'त्यस्य विवरणे 'यावत्स तापोन्तः प्रविशेत् तावता भगवल्लीला प्रविष्टे'ति । तत्रवेशे तस्य तदेकस्वभावात् । तदनुभवाभावो यतः । एवं सति विप्रयोगभावार्थं जीवनसम्पादकत्वेन गुणानां साधकत्वं तस्मिन्जाते प्रयोजनाभावा-

तादृगवस्थायां स्वास्थ्यकारकत्वेन बाधकत्वमिति न कोपि विरोधः । अत एव ज्ञानं गुणाश्चेति पूर्वं बाधकत्वमधुना गुणास्त्वित्यनेन साधकत्वं चोक्तम् । एतेन भगवतोपि बाधकाभावो निरूपितः । एवं गुणानामवस्थाभेदेन बाधकत्वसाधकत्वनिरूपणात् भगवतो बाधकत्वाभावं निरूप्यातः परमपि चेद्गुणाद्यवलम्बं स्थापयेत्, तदा स्वास्थ्ययुक्तत्वात् बाधकत्वं भवेदिति तदभावमाहुः । एवं सम्पूर्णे विरहानुभवे जाते बहिःसाक्षात्फलदानार्थं यतो भगवानलौकिकैश्वर्यवीर्यगुणादिसकलस्वोपयोगशक्तिसहितं स्वरूपं कृत्वा स्थितो भवति । अतः फलरूपत्वात्स्वस्य अत्र दशायां फलबाधको गुणाद्यवलम्बो नेष्यते, भगवता नेष्यत इत्यर्थः । अयं भावः । फलानुभवार्थं भक्तस्य यावती परीक्षा भगवतः कर्तव्या भवति, तावती सर्वा विरहानुभवेन सम्पन्ना जातेत्यतः परमपि फलविलम्बे जाते स्वस्यैव बाधकत्वं भवेत्, तदधिकारस्य जातत्वात् । अतः सुष्ठुक्तं नात्रेति । ननु तादृगवस्थायामपि तादात्म्यकतया यथा प्रियेण सह भाषणादिकं प्रियाया भवति, तथा तादृशभावनया प्रियस्यापि तत्सम्भवतीति तदेव वाक्यं स्वास्थ्यकारकं भविष्यति । अथवा 'हा नाथे'त्यत्र क्रियाशक्त्या तादृगवस्थायां स्वास्थ्यकरणम्, तथा प्रकृते चापि वचनेनापि तत्सम्भवतीत्याशंक्य तत्राहुः स्वास्थ्येति । यद्यपि पूर्वोक्तवस्थायां तथा करोति, तदनन्तरं तदपि स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यमिति न करोति, प्रयोजनस्य जातत्वात् । अत्र हेतुः दयालुरिति । अतो न विरुध्यते । विरोधित्वेन न भूयत इत्यर्थः । विरोधी स एव यः परस्मानिष्टं करोति । अयं परमदयालुरिति सकलेष्टसिद्धिं कृतवानिति भावः । एवं सति तादृशस्य स्वरूपस्थितौ गानम्, लीलाप्रवेशे प्रलाप इति सूच्छा तदवस्थया निरूप्यते । अतः परं दशमावस्थायाः पूर्वोक्तप्रकारेण प्रतिबन्धनिवृत्त्या फलसिद्धिरिति सर्वमवदातम् । एतदेव सर्वं फलप्रकरणेपि निरूपितम्, विरहानुभवेन परीक्षानन्तरं 'रुरुदुः सुस्वर'मित्यारभ्य 'तन्वः प्राणमिवागत'मित्यादिना । एवं स्वमार्गीयपरित्यागस्वरूपं निरूप्य, अस्य दुर्लभत्वमाहुः । अयमिति स्वरूपनिर्देशः । तथा चेद्ग्रूपः परित्यागः, साधनासाध्यत्वादिति दुर्लभः । तर्हि कथं सिध्यति तत्राहुः प्रेम्णेति । श्रीमदाचार्योक्तनिष्ठया साक्षात्स्वरूपसेवाकरणेन तत्स्वरूपे प्रेमासक्तिव्यसने सम्पन्ने चैतत्परित्यागाधिकार इति तदा सिध्यति, नान्यथा । अन्यसाधनप्रकारेण नेत्यर्थः । अत एव दुर्लभप्रेमासक्तिजनितस्वरूपसम्बन्धाभिलाषजन्यदुःखं तेन लाभो यस्येति तथा निरूपितम् । अथवा । प्राकृतस्याप्राकृते प्रेमासम्भव इति तद्धेतुं पक्षान्तरेणाहुः प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा इति । श्रीमदाचार्याङ्गीकारवशेन स्वरूपानन्ददानोपयोगि प्रेम भगवतस्तस्मिन्जायत इति तस्यापि तत्सम्भवतीति तथोक्तम् ॥ ७-१३३ ॥

एवं स्वमार्गीयकर्तव्यविधिं निरूप्य तारतम्यज्ञापनार्थं ज्ञानमार्गीयतद्विधिं निरूपयन्ति ज्ञानमार्ग इति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पाषण्डित्वं भवेचापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ॥ १६ ॥

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो मया द्विविधो विचारितः । तदेव द्वैविध्यं विचारपूर्वकमाहुः ।

एकः संन्यासः ज्ञानसाधनार्थं, अपरः ज्ञानोत्तरं मुक्तयङ्गमित्यर्थः । तत्र संन्याससिद्धिस्तु जन्मशतैः अनेकशतसहस्रजन्मानन्तरं भवति । न तु शीघ्रम् । तत्र हेतुः ज्ञानमिति । ज्ञानोत्तरं संन्यासाधिकारः । तत् ज्ञानं च साधनापेक्षम्, साधनं चित्तशुद्धिः; तदपेक्षा । तत्पुनर्यज्ञादिश्रवणान्मतं सम्मतम्, नान्यथा । आदिपदेन तपआदीन्यन्यान्यपि ज्ञेयानि । तत्रापि निष्कामत्वेन कृते चित्तशुद्धिः । तत्रापि बहुजन्मानन्तरम् । अत एवोक्तं बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् भवतीति । कदाचित् ज्ञाने जातेपि सत्यलोकस्थितेरावश्यकत्वान्मुक्तेर्विलम्बः एवेति सिद्धिर्जन्मशतैरपीत्युक्तम् । एवमुत्तराङ्गसंन्यासं साधनफलसहितं निरूप्य, अत्रापि ज्ञानसाधनार्थं स चेद् भवेत्तदा तस्य फलासाधकत्वं विपरीतफलकत्वं चाहुः । यतः पूर्वोक्तसंन्यासाधिकारो यज्ञादिकरणेन शतसहस्रजन्मानन्तरं चित्तशुद्ध्या ज्ञाने जाते भवति अतः कलौ चित्तशुद्ध्यभावेनैव कृतः संन्यासः पश्चात्तापायैव भवत्, न त्वन्यथा । उक्तफलाय नेत्यर्थः । सकलेन्द्रियाणां कलिकालाधीनत्वे स्वस्वविषयासक्तत्वात्तत्यागे तेषां लोलुपत्वेन स्थैर्यभावात् । मया वृथैव संन्यासः कृत इति पश्चात्तापो भवेदिति भावः । केवलं पश्चात्तापमात्रमेव न भवेत्, किन्तु क्रमेण विषयासक्त्या वेषमात्रपर्यवसायित्वमपि । तदाहुः पाषण्डित्वमिति । अन्तर्विषयासक्तिर्बहिस्तदाश्रमवेषमात्रं पाषण्डस्तद्युक्तत्वं भवेत् । चकारादारूढपतितत्वजनितं पापमपि भवेदित्यर्थः । तस्मादनिष्टपर्यवसानात् ज्ञाने ज्ञानसाधनार्थं न संन्यसेदिति भावः । नन्वेवं निषेधः कथम् । कश्चित्समीचीनः स्वेन्द्रियनिग्रहादिना तमर्थं साधयति चेत्तत्राहुः सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ॥ १४-१६ ॥

भक्तिमार्गेपि तेषां बाधकर्तृत्वं सम्भवेदित्याशङ्कं स्वयमेवोद्घाटयन्ति ।

भक्तिमार्गेपि चेदोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तिमार्गोपि चेत्यागिनः पूर्वोक्तदोषः प्रसज्येत तदा किं कार्यमिति प्रश्नः । तत्रोच्यते, ससाधनमित्यर्थः । तदेवाहुः अत्रारम्भे । भक्तिमार्गीयत्यागारम्भे । यद्यपि आरम्भभेदेन विरहानुभवानन्तरं प्रचुरभाववस्थाभावसमयो ज्ञाप्यते, तथापि पुनर्नाशो न स्यात् । यतस्तस्य पूर्वमेव सकलेन्द्रियाणां भगवदधीनत्वात्, तत्रैव विनियोगकरणेन भगवत्स्वरूपैकनिष्ठविषयव्यसनवत्त्वमेव जातम् । न तु प्राकृतविषयग्रहणस्वभावोपि स्थितः, तत्तदभावे कृतः तत्तद्दोषसङ्गमणावकाश इति भावः । एतेन तादृशभावस्यापि फलान्तःपातित्वमेव, न तु साधनत्वमिति ज्ञापितम् । ननु तथापि विषयभोगपदार्थेषु दृष्टेषु यत्किञ्चित्स्वास्थ्यं भवेदपि दृष्टो योऽन्त नाशकः पदार्थः तस्याप्यभावान्न नाश इत्यर्थः । पदार्थे दृष्टे कदाचित्सम्भवेदपि, प्रकृते व्यसनानन्तरं गृहस्थितेर्वाधकत्वं मत्त्वैव तत्पदार्थानां त्यागः कृत इति दर्शनस्याप्यभावात् तथेति भावः । अत एव 'यदा स्याद्द्वयसं कृष्ण' इत्युक्त्वा 'तादृशस्यापि सतत'मित्यनेन तस्य त्याग उक्तः । ननु तथापि वासना चेत्तिष्ठति, तदपि तथा भवेदिति, तदभावमाहुः स्वास्थ्यहेतोरिति । स्वास्थ्यहेतुपदार्थस्य परित्यागाद्वासनासहितत्यागः परित्यागः, वासनया विषयग्रहणं भवति, तदभावाद्वाधः केन पदार्थेनास्य सम्भवेत् । अपि तु न केनापीति भावः । वासनासहितत्यागकथनेन दृष्टेपि तस्मिन् न तद्ग्रहणमिति सूचितम् । अनेन पदार्थास्तादृशस्य स्वास्थ्यहेतवोपि न भवन्ति, किन्तु भगवत्स्वरूपनिष्ठा एवेति ज्ञापितं भवति । एतदेवोक्तं निरोधवर्णने 'वाधशङ्कापि नास्त्यत्र तद्दध्यासोपि सिध्यतीति' । ननु तर्हि अदृष्टादिना स कदाचित्सम्भवेत् तत्राहुः । यद्यपि हरिः कालकर्मादीनामपि सर्वेषां नियन्ता सर्वेश्वरः, तथापि तादृशवस्थानन्तरं स्वस्य रसात्मकत्वेनैव तादृशस्य विलम्बजनितवाधां कर्तुं न शक्नोति । तत्करणे न रसो न वा कीर्तिः, यतः स्वयं हरिः एतादृशवस्थाजनितदुःखं हन्तुमेव रसात्मकसाक्षात्फलरूपत्वेन प्रकटः । एतदेव 'पीताम्बरधरः स्रग्वी' त्येतस्य विवरणे विवृतमित्यत्रापि हरिपदेन स एव भाव उक्त इति ज्ञापितं भवति । एतेनेदानीं बाधाकरणे स्वस्य फलरूपं हरित्वं च गच्छतीत्यत्रापि हरिपदेन स एव भाव उक्तः । तद्भावोत्कर्षश्च निरूपितः । अत एव 'न पारयेह'मित्यादिवचनम् । एवं सति हरिरेव न शक्नोति तर्हि अपरे कालकर्माद्यदृष्टादयः कुतः शक्ता भवन्तीत्यर्थः । अशक्तौ दृष्टान्तमाहुः अन्यथेति । यद्येतादृशस्यापि हरिर्वाधां करोति, तदा मातरोपि स्वबालान् स्तन्यैः पोषणं न कुर्युः । यथा तासां स्वबालवाधकरणमशक्यम्, किन्तु पोषणमेव कुर्वन्ति, तथा हरिरेपीति भावः । एतेन हरिरपि तत्पोषणमेव करोतीत्यपि सूचितम् । अथवा

हरेर्मातृदृष्टान्तकथनात् युक्तत्वानुपपत्तेः क्रियायाश्च विध्यर्थकस्यापेक्षितत्वात् पुपुषुरिति भूतार्थकतत्प्रयोगानुपपत्तेश्च कश्चन गृह्णाभिसन्धिरस्तीति लक्ष्यत इति पक्षान्तरेण स एवोच्यते । तथाहि । हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधामित्यत्रासाधारणो हेतुः, यतो मातरः पुपुषुः इत्यन्वयसम्बन्धः । अयं भावः । पूर्वं श्रीमद्गोपिकानां गुरुत्वमत्र निरूपितमिति गुरुत्वात्ता एव मातृरूपज्ञेयाः । यथा गुरोर्वरदाने फलसिद्धिः, तथा तासां दान एव तावत्तैव सिद्धिः, नान्यथेति । तास्तादृशे अङ्गीकृते स्वभावपोषणं कृतवत्यः । अतस्तत्कृतौ भ्रमोरपि शक्त्यभावो युक्ततमः, तद्भावाधीनत्वादिति भावः । ननु ता एतावत्किमर्थं कुर्युरिति चेत्तत्राहुः । अन्यथेति । यद्येता एव स्वस्य गुरुत्वात्तस्मिन् पुत्रत्वेपि सिद्धे एव पोषणं न कुर्युस्ततस्ताः अन्याः साधारण्यः सहजकठिनाः स्त्रियः । तास्तु मातरः स्वबालान् स्तन्यैर्न पोषयेयुरित्यर्थः । एतेन यदि ता अप्येवं कुर्वन्ति पुत्ररूपे तस्मिन्, एतासां परमवात्सल्यस्वभावात् पोषणं युक्तमेवेति निरूपितम् । एतदेवोक्तं निरोधवर्णने 'पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः' । एवं सति पूर्वोक्तानुपपत्तिद्वयमपि निरस्तं भवतीति सर्वमनवद्यम् । अत्र दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च मातर इत्यस्यावृत्तिः कर्तव्या । ननु यथा ज्ञाने स्वस्मिन् ब्रह्मभावस्फूर्त्या सर्वत्र ब्रह्मात्मकत्वमानादैक्यमेव भासते, ननु द्वितीयपदार्थभानम्, तेन च तेषां सर्वदा स्वास्थ्यं तिष्ठति, तथा प्रकृतेपि स्वस्मिन् भगवदावेशे नासावहमित्यादिरूपज्ञाने केवलं तदैक्यभानमेव, न द्वितीयपदार्थस्येति ज्ञानमार्गीयैक्यप्रतिपादकवाक्येन ऐक्यसाध्येन कदाचिदैक्यभावजनितमोहेन स्वास्थ्यं सम्भवेदित्याशंक्य तदभावमाहुः । पूर्वोक्तैतावत्प्रत्येकप्रत्युद्देशेषु सत्स्वपि यदि तन्निवारणेनैतावत्पर्यन्तं तद्रक्षामेव कृतवान् प्रभुः, तदा ज्ञानिनामपि वाक्येनैक्यप्रतिरूपेण भक्तं तादृशं न मोहयिष्यति । तथा चोक्तं भ्रमरगीते श्रीमदुद्धवोक्तैः 'श्रूयतां प्रियसन्देशः' 'भवतीनां वियोगः' इत्याद्यैक्यप्रतिपादकज्ञानिवाक्यैस्तासां मोहो न जातः, किन्तु तच्छ्रवणेन प्रत्युत्पातितसत्तैलपतितजलबिन्दुवत् प्रचुरतीव्रविरहाग्निज्वालजालज्वलितास्ता अभवन्निति । प्रकृतेपि तादृशावस्थायां तथा न करिष्यति, प्रत्युत तद्रीतिमेव करिष्यतीति भावः । नन्वेवं सर्वथाऽस्वास्थ्यकारकं तापमेव कथं स्थापयति, तत्र हेतुमाहुः आत्मप्रदः प्रियश्च, अतः किमर्थं मोहयिष्यति । अयं भावः । अत्र भगवान् रसात्मकः साक्षात्स्वरूपानन्ददानार्थम्, मुख्यतस्तत्र प्रीतिरूपो गुणश्च हेतुः । स वै तादृशावस्थाभावे पुष्टो न भवति, किन्तु च्युत एव तिष्ठति, तत्पुष्टत्वाभावे तद्दानमपि न सिध्यति, रसात्मकत्वादेव साम्ये सर्वदा स्थापयति । एवं सति यत्र भगवतः स्वरूपानन्ददानेच्छा प्रियत्वं च, तत्र तद्वाक्यजनितमोहो न भवति । यत्र नैतदुभयम्, तत्र मोहो भवतीति सूच्यते । तथा चोक्तं दशमस्कन्धे 'द्विजपत्नीषु तदानन्ददानेच्छाभावात् पुष्टिमार्गीयप्रियत्वाभावाच्च न प्रीतये अनुरागाये'त्यादिज्ञानिवाक्यजनितमोहो जातः । यतः ताः परावृत्य स्वगृहानगमन् । फलप्रकरणे तु श्रीस्वामिनीनां सर्वत्यागेनागमनपूर्वकमनन्तरमेव पूर्ववदेव 'श्रवणाद् दर्शना'दित्यादिवाक्यैः स्वात्मदानेच्छासद्भावात् पुष्टिमार्गीयप्रियत्वस्यापि विद्यमानत्वान्मोहो न जातः, प्रत्यु-

तेश्वरवाक्यानां सर्वाधिकबलत्वेपि तन्निराकरणं चक्रुरिति सुष्ठूक्तं किमर्थं मोहयिष्यतीति । अतः परमेतावदुक्तस्य निर्गलितार्थमाहुः । यस्मात्साधनार्थपरित्यागो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः । अन्यथा पुष्टिमार्गीयभावाभावे तस्मिन् कृते स्वार्थात् पुष्टिमार्गीयपुरुषार्थाद्भ्रमयते च्युतो भवतीत्यर्थः । अत्र प्रमाणमाहुः इति मे निश्चिता मतिः । इति यस्य धर्मस्य यथा स्वरूपं तत्स्वरूपज्ञानादेव तस्मिन्निश्चयः । स्वमतेरेवेति स्वस्यैव मतिः प्रमाणत्वेनोक्ता ॥१७-२१॥

एवं संन्यासनिर्णयं कृत्वोपसंहरन्ति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इत्येवं प्रकारेण भक्तौ सत्यां एव संन्यासवरणं कर्तव्यत्वेन निश्चितम् । तत्र हेतुभूतं साधनद्वयमाहुः कृष्णप्रसादेन वल्लभेन चेति । कृष्णपदेन रसानन्दात्मक-गूढभावात्मत्वं सूचितम् । तादृशस्य प्रसादेन, प्रसादस्यापि नैकविधत्वं सम्भवतीत्युक्तं वल्लभेनेति, अतिप्रियेणेत्यर्थः । एवं एतेन भावात्मकप्रीतिगुणविशिष्टत्वं प्रसादस्य ज्ञापितम् । तादृशत्वाभावे परित्यागस्वरूपज्ञानमेव न भवेत्, निश्चयः कथं कर्तुं शक्यः । तत्रापि विशेषेणैदमित्यतयेति मनुक्तस्य सन्देहो न कार्य इति निरूपितम् । निश्चयकरणप्रयोजनमाहुः अन्यथेति । एतत्करणाभावे परित्यागस्वरूपज्ञानात् अधिकाराभावे कृते त्यागो स्वाङ्गीकृतोपि पतितो भवेत्, पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तिमार्गाद्ब्रह्मो भवेदित्यर्थः । एवं सति परमकारुणिक-स्वभावात् स्वकीयानां रक्षैव कृतेति भावः ॥ २२ ॥

श्रीमदाचार्यकरुणां वर्णयामि कथं यतः ।

यतः स्वतस्त्यागभावप्रकाशं मादृशेऽकरोत् ॥ १ ॥

यथेमे ज्ञापिता भावाः स्थापयतु स एव तान् ।

यादृशस्तादृशः स्वीयस्त्वदेकशरणं विभो ॥ २ ॥

यदत्र मन्मतेदोषाद्विरुद्धं प्रभवः स्वतः ।

क्षमन्तां तत्र च तवाश्रयणं शरणं मम ॥ ३ ॥

इति श्रीघनश्यामात्मजश्रीगोपेशविरचितं

संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोपेश्वरविरचितविवृतिसमेतः ।

विविधविरहभाववेशजक्लेशभाजामनुभवविषयः सन् गोपिकानां कृपाब्धिः । कलयति निजरूपानन्दपीयूषपानं सकृदपि स कृतार्थं मां प्रसन्नः करोतु ॥ १ ॥

श्रीगोपिकाधीशपथानुगानां सेवाकथासक्तिसमर्थनाय ।

य एक एवास्ति विभुस्तमेव श्रीवल्लभाख्यं मुहुराश्रयेहम् ॥ २ ॥

श्रीमद्वल्लभसूनोः श्रीविठ्ठलनामधेयस्य ।

पदकमलद्वयममलं मनसि मदीये समुल्लसतु ॥ ३ ॥

स्वाचार्यचरणपङ्कजपरामपुरुरागपरभागान् ।

अभिवन्दे पितृचरणानहमतिभक्त्या तदाप्तमतिः ॥ ४ ॥

अथाम्नायाद्यखिलप्रमाणप्रतिपन्नरसात्मकश्रीपुरुषोत्तमविरहानन्दविविधभाववृन्दानुभव-सर्वात्मभावप्रपत्तिमात्रप्राप्यत्वात् सर्वपरित्यागमन्तरेण तदसम्भवादावश्यको भक्तिमार्गो परित्यागः, स च कर्मज्ञानभक्त्यादिमार्गभेदाद्विभिन्नरूप इति स्वमार्गीयपरित्यागमतिविलक्षणमनाकलयतां तत्तत्संशयवशंवदानां निजमार्गाङ्गीकृतजीवानामविचारितः परित्यागः पश्चात्तापायैव भवितेति सकलसंशयापनुत्तिपुरःसरं तदपगमाय स्वभक्तेषु परमानुपमकृपाकिर्मीरितमूर्तयः श्रीमदस्मदाचार्यचरणाः किञ्चित्प्रयोजनं प्रकटमुदीरयन्तस्तद्विचारप्रतिज्ञामाचरन्ति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलमितरत्तत्सम्बन्धित्वेनैव तथात्वेनोच्यत इति राद्धान्तात् तस्य च 'रसो वै स' इत्यादिश्रुतिभ्यो रसत्वेन सिद्धत्वाद्दुभयविधमुत्परसात्मनः स्वमार्गपतेः स्वरूपानन्दं श्रीमदाचार्यवर्षवरणवशात्प्रभुसेवादिपरतया सुखं गृहादिषु सतां संयोगप्रकारेण यथाधिकारमनुभवतामपि विप्रयोगप्रकारेण तदनुभवाभावादान्तरेनोन्मिष-

द्विरनन्तविधैरभिलाषैः सन्ततं दन्तुरितस्वान्तानामस्माकं शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यसम्बन्धिनामपि स्वमार्गमुख्यफलविप्रयोगभावानुभवो न भविष्यति । तस्य सर्वात्मभावान्तर्गतसर्वत्यागसाध्यत्वादस्मासु तज्ज्ञानस्याप्यभावेन क तदाचरणतत्फलादिसम्भावनापीत्येवंरूपो य उत्कटस्तापः स पश्चात्तापपदेनात्रोच्यते । यतोयमुररीकृतमुररिपुमार्गनिपुणतराणामाचार्यवर्यपदपद्मप्रसादजुषामेवाधिहृदयमुदयमासादयति, न पुनः साधारणानाम्, तन्निवृत्तिश्च भक्तिमार्गप्रवर्तकश्रीमदाचार्यचरणैकसाध्येति । तदर्थं **परित्यागः** संन्यासः स्वमार्गीयः श्रीमदाचार्यचरणैर्विचार्यते । स्वरूपतः फलतः सम्यक्तया मार्गान्तरीयतदसङ्कीर्णत्वेन निरूप्यत इत्यर्थः । तथा च वक्ष्यमाणविधया विचारितं स्वमार्गीयसंन्यासस्वरूपादिकं सम्यगवगम्य भगवदङ्गीकाराधिकारतारतम्यभाजस्तत्र प्रवर्तमाना विगलितपश्चात्तापास्तदनु रूपं फलमनुभवविष्यन्तीति भावः । यद्वा । भक्तिज्ञानयोः सिद्धदशायामेव संन्यासः साधीयान्, न साधनदशायां, तदा तादृशवैराग्यविरहेण कृतस्यापि तस्मिन्निर्वाहात् पश्चात्ताप एव पर्यवसित इत्येतत्तारतम्यानवगमे त्यक्ताखिलानामपि भक्तानां पश्चात्तापः, तद्दर्शनेन स्वस्यापि स स्यादिति तदनुत्पत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । अथवा, जीवानां प्रभुप्राप्त्यर्थं भक्तिमार्गमाविष्कृतवद्भिः श्रीमदाचार्यचरणैरवश्यं स्वमार्गीयः परित्यागोपि मुख्यफलसिद्ध्यर्थं प्रागेव निरूपणीयः । स तदैव न कथं निरूपितः । किमिति विलम्बः कृत इति यः पश्चात्तापो भवेत्तदपगमाय परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । ननु विचारविषयः परित्यागः कर्तव्यतया काभिहितस्तदनन्तरं तन्निर्णयवार्तेत्याकांक्षायामाहुः स मार्गद्विन्तय इति । स परित्यागो मार्गद्विन्तये भक्तौ ज्ञाने विशेषतः विलक्षणफलसाधकत्वलक्षणाद्भाववर्तकधर्मतः प्रोक्तः, श्रुतिश्रीभागवतादिष्वभिहित इत्यर्थः । अत एव 'सन्त्यज्य सर्वविषया'नित्यादिषु यः सर्वत्यागः श्रीव्रजस्थभक्तेषु स पर्यवसितविप्रयोगानुभवफल एव, ज्ञानमार्गीयेषु तु स नैवंविधः, किन्त्वपवर्गपर्यवसायी । यद्वा, विशेषः परिपाकदशा भक्तिज्ञानयोस्तदनन्तरमेव परित्यागः प्रोक्तः । अन्यथा तद्वर्त्मनिर्वाहाभावेन दोषविशेषपर्यवसानापातात् । विशेषत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च भक्तौ ज्ञाने च विशेषं सिद्धदशापन्नत्वं प्राप्येति वार्थः । अथवा, विशेषत इत्यस्य प्रत्यासत्तिवशाज्ज्ञान इत्यनेनैवान्वयः । इत्थञ्चैकजन्मनि परित्यागेन ज्ञानमार्गे मुक्त्यभावाद्नेकजन्मसु तत्करणमेव विशेषपदार्थोवसेयः ॥ १ ॥

नन्वेवं कर्ममार्गेपि परित्यागकरणे किं बाधकमित्याशंकायां तन्निषेधमाहुः **कर्ममार्गे** न कर्तव्य इति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

कर्ममार्गे हि सकामनिष्कामभेदेनानेकविधकर्मकरणरूपः, तथाविधश्रुतिनिरूपितः, तस्मिन्परित्यागो निरवकाश इति न कर्तव्यः । न च 'यदहरेव विरजे' दिति श्रुत्या बोधितत्वात्परित्यागः सति निर्वेदे दुर्वार इति वाच्यम् । कर्ममार्गस्य कलत्रादिकलनाकन्दलितका-

मनाकलापस्य निर्वेदोदयनिदानभावायोगात् । न च निष्कामकर्मकरणं मनोमलिनिमानमपनीय विरक्तिमुत्पादयिष्यतीति वाच्यम् । तत्रापि सहधर्मिणीसाहित्यनैयत्येन तत्प्रत्यहानपायात् । न च निष्कामकर्मकरणमेव संन्यास इति वाच्यम् । कर्मत्यागस्यैव तथात्वौचित्यात् । न च काम्यकर्मत्यागमादाय तथात्वं शक्यवचनम् । सङ्कोचे मानाभावात् । कचित्तस्मिन्नपि तत्प्रयोगस्यौपचारिकत्वात् । मुमुक्षूणां सर्वतत्यागदर्शनाच्च । न च मुमुक्षुषु जीवन्मुक्तेषु च तत्तत्कर्मकृतव्यापृतिरुक्तैवेति वाच्यम् । भगवन्नियोगेनैव तेषु लोकसङ्ग्रहाद्यर्थत्वात्तस्याः । किञ्चास्तामन्यद्वाधकम्, काल एव बलवद्वाधकस्तत्रेत्याहुः **सुतरां कलिकालत** इति । कलिकालस्तावद्भगवद्भजनस्यैव साधकस्तदतिरिक्तस्य बाधक एवेति तत्र तत्र सिद्धम् । तथा च तथाभूतात्तस्मादनिर्वीहप्रत्यवायादिकं प्रतीत्य कर्ममार्गे सुतरां संन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन काम्यकर्मत्यागलक्षणो गौणोपि त्यागः प्रत्युक्तः । मुख्याङ्गत्वात्कालो निर्दिष्टः, परमयं देशादीनामप्युपलक्षकः । तेन कलौ देशकर्त्राद्यशुद्ध्यापि न परित्यागः कर्ममार्गे सिध्यति । अत एवायुषस्तुर्यभागे संन्यास इति मतमपि वैराग्ये विना तदसम्भवेन भक्तिज्ञानपरिपाक एव तदाद्येन तत्रैव सावकाशमिति कालादिदोषाच्च कर्ममार्गे निरवकाशमिति ध्येयम् । एवं कर्ममार्गे परित्यागं प्रतिषिध्य भक्तिज्ञानमार्गयोः कर्तव्यतया परिशेषिते तस्मिन् प्रथमं कुत्रत्ये विचारः कार्य इत्यत्राहुः अत आदाविति । यतः कर्ममार्गे बाधध्रौव्यात् परित्यागो न कर्तव्योतो भक्तौ ज्ञाने च कर्तव्यतया तद्विचारस्य प्राप्तौ स्वस्य भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वात् भक्तेः प्राथम्याच्च सिद्धदशायां च तस्य कर्तव्यत्वादादौ भक्तिमार्गे परित्यागस्य विचारणा । भक्तिमार्गे किं साधनदशायामेव परित्यागः कार्यः, किं वा फलदशायामाहोस्विदुभयत्र वेतिरूपा क्रियत इति शेषः ॥ २ ॥

ननु भक्तिमार्गे परित्यागः स्थापितश्चेत्तदा साधनदशायामपि स कर्तव्य इत्याशङ्क्य सहेतुकं तदनङ्गीकारमाहुः श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थमिति ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणत्वात् ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्वर्मेच्च विरोधतः ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अत्रेपि तादृशैरेव सङ्को भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

श्रवणादीनि यानि साधनरूपाणि तेषां प्रकर्षणाव्यग्रतया सिद्धिर्निष्पत्तिर्गृहादिषु व्यासङ्गकेषु न सम्भवतीति तदर्थं स परित्यागः कर्तव्यश्चेत्, नेष्यते नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः ।

श्रवणादीनां प्रसिद्धिरुक्तृष्टफलं तदर्थं परित्यागः कर्तव्यश्चेन्नञ्जीक्रियत इति वार्थः । कुत इत्याकांक्षायांमाहुः सहायसङ्गसाध्यत्वादित्यादि । गृहादिषु तत्कार्यव्यासङ्गस्यानि-
 वार्यत्वदेकान्ततः श्रवणादिसाधननिर्वाहो न भवतीति तत्परित्यागेन काचित्तच्चित्तैकाग्र्येण
 सम्पादनीयमिति मनसिकृत्य यस्यागः स कथमुपपद्यतां, यतः श्रवणादीनि सहायसङ्गसा-
 ध्यानि, सहायाः कथकादयो विविधस्वभावाः, तेषां सङ्गः सद्भावेन तदुपसत्तिरूपः, तेन सम्पा-
 दान्यतस्यागानन्तरमावश्यकस्यासङ्गत्वादेर्भङ्गप्रसङ्गतः प्रशिथिलवैराग्यात् पुनस्तत्तदाकांक्षो-
 न्मज्जनेन च न श्रवणादिसाधनार्थं परित्यागः शक्याभ्युपगमः । किञ्च, त्यागमात्रान्न कार्य-
 सिद्धिरिति श्रवणादिसिषाधयिषोस्तत्साधनानां तत्तदवसरे उपेक्षितानां रक्षणं कर्तव्यं, तत्-
 त्यागः कथं लब्धात्मकः स्यात् । अपि च, साधनमार्गीयस्य कृतेपि त्यागे तत्तत्पदार्थेषु
 श्रवणाद्यर्थमपेक्ष्येषु नाभिमानो निवर्तते, प्रतिक्षणमुदेत्येव, त्यागे च स निवर्तनीयः सर्व-
 धेति तत्सत्त्वे स न युज्यते । साधनदशायां वेदाज्ञारूपभगवन्नियोगाच्च वर्णाश्रमधर्माण-
 मुल्लङ्घनं न शक्यमित्यशक्य एव त्यागः । अन्यच्च, श्रवणादिसाधनानां तद्धर्मैः परित्या-
 गधर्मैः पर्यटनादिभिः समं विरोधो न शक्यविधूनन इति न कथमपि साधनभक्तिरूपश्र-
 वणादिषु परित्यागः सम्भवति । ननु तथापि गृहादिकं सत्सङ्गासम्पादकतया श्रवणादिषु प्रति-
 पक्षभूतमतस्तदर्थं तत्परित्याज्यम्, तथा सति कदाचित् सत्सङ्गोपि स्यादित्याशंक्य समाधान-
 माहुः गृहादेरिति । बाधकत्वेन श्रवणादिविरोधित्वेन । साधनार्थं श्रवणाद्यर्थम् ।
 तथा यदि परित्यागश्चेत् । तदा अत्रेपि त्यागानन्तरमपि तथाविधदार्ढ्याभावात्तादृशैरेव
 परित्यक्तश्रवणादिपरिपन्थिगृहादिसदृशैरेव सङ्गो भवति, अन्यथा प्रकारान्तरेण गृहा-
 दिपरित्यागरूपेण श्रवणादिकं तु न भवतीत्यर्थः । ननु भवतु भवनादिपरित्यागकर्तृस्तादृ-
 गपरसङ्गः, तथाप्यन्तरुद्धतवैराग्यादिनैव श्रवणादिनिर्वाहो भविष्यतीति न तत्त्यागोनुचित
 इति चेत्, तत्राहुः स्वयं चेति । यदि वैराग्यमन्तर्जागरूकं भवेत्, तदा क्रमेण बाधक-
 निवर्हणे निर्वहेदपि श्रवणादिकम्, परन्तु साधनदशायां तादृशं तदेव दुरापम्, अतस्त्यागस्तु
 विरोधिभिर्विधूयेतैव, किन्तु स्वयमपि तु पुनः विषयैरागन्तुकैरेनेकरूपैर्भोग्यैराक्रान्त उपम-
 र्दितः सन् कालतः कलिरूपात् भक्तातिरिक्तपरिपन्थिनः पाषण्डी तत्तद्विरुद्धाचरणवान्
 भवेदित्यर्थः । सक्रामत इति पाठे क्रोधलोभाद्युपलक्षकात् कामतो बलिष्ठदोषात् स
 तथा स्यादित्यर्थः । तेन विना वैराग्यं त्यागोधमः, तत्तद्विषयप्रतिहतः, फलाय नावकल्पते,
 प्रत्युत प्रत्यवायमेव सम्पादयति, प्रमाणाविरुद्धाचरणमुत्पाद्यति भावः । ननु विषयैराक्रमणेपि
 श्रवणादिभिर्भगवदावेशस्यापि सम्भवात्तन्महिम्ना त्यागो निष्प्रत्यूह इति चेत्तत्राहुः विष-
 याक्रान्तदेहानामिति । भगवदावेशे सति त्यागे न कापि क्षतिः । किन्तु विषयैर्देहा-
 दिकं येषामाक्रान्तं तेषां हरेः सर्वदुःखहर्तुर्विषयदोषदवीयसो निर्दोषसेव्यस्यावेशो हृद-
 यादावागमनं तत् सर्वदा कस्मिन्नपि काले न भवति । किन्तु 'विषयान् ध्यायत' इत्युक्तरीत्या
 नाश एव भवतीत्यर्थः । न च विषयाणां श्रवणाद्यनभिभावकत्वाच्च तत्प्रयुक्तभगवदावेशा-

नुपपत्तिरिति वाच्यम् । 'नराणां क्षीणपापाना'मिति वाक्यात्तादृशेष्वेव श्रवणादि प्रयोज्य
 प्रन्वावेशस्योपपत्तेः । न च 'बाध्यमानोपि मद्भक्त' इत्यादिवाक्यैर्विषयसत्त्वेपि का क्षतिरिति
 वाच्यम् । उक्तवाक्यानां विषयसुखवैमुख्येन सेवमानस्य प्रमादात्तत्कृतबाधेपि प्रभुरति-
 कृपार्द्रस्तदोषमपाकरोति, अतो न विषयाभिभव इत्यभिप्रायकत्वात् । अत एव प्रायःपदमु-
 पात्तं तत्र । एतद्वाक्याभिप्रायान्तरमस्मत्पितृव्यचरणकृतौ विवेकधैर्याश्रयविवृतौ विलोकनीयम् ।
 एवं साधनभक्तिमार्गे समर्थितं त्यागाभावमुपसंहरन्ति अतोत्रेति । यतो बहून्वेव
 बाधकान्युक्तान्यतोऽत्र साधने भक्तौ श्रवणादिरूपसाधनभक्तिमार्गे त्यागः संन्यासः सुखावहः
 आनन्दहेतुर्नैव भवतीत्यर्थः । साधनपदमेवकारश्च फलभक्तौ त्यागस्य सुखनैयत्यावगल्यै ॥
 नन्वेवं भक्तिमार्गे न युक्तश्चेत्परित्यागः, तर्हि ज्ञानमार्ग एवास्ताम्, एवञ्च भक्तिमार्गे
 व्यर्थस्तद्विचार इति चेत्तत्राहुः विरहानुभवार्थमिति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा बह्वित्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सङ्गराहिल्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्वात्तत्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं द्यालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

तुशब्दः साधनमार्गीयत्यागव्यावृत्त्यर्थः । साधनभक्तौ परित्यागस्य बहुबाधका-
 स्कन्दितत्वेनासम्भवेपि रसात्मकस्य प्रभोः परमफलरूपद्वितीयदलविविधभावास्वादन-
 लक्षणो यो विरहानुभवस्तदर्थं परित्यागः सर्वात्मभावाङ्गभूतः संन्यासः प्रशस्यते, प्रशस्तो
 भवति, किंवा प्रकल्पेण मोक्षाधिककक्षापन्नत्वेन कथ्यत इत्यर्थः । तेनातिशयितभगवदङ्गी-
 कारात्तथाधिकाराधिगमेन विधीयमानः परित्यागः परमपुमर्थरूपतद्विप्रयोगरसानुभावक-
 तया भक्तिमार्गे भव्यतम एवेत्येतद्विचारः सुचारुतर इति भावः । ननु ज्ञानमार्गीयसंन्यास-

ग्रहणे यथा विहितत्वात् काषायवस्त्रेषु क्रियते, स हि सातिशयो मोक्षार्थः, तथा भक्ति-
मार्गीयसंन्यासग्रहणे स न भवतीति किमर्थं तत्सम्पादनमिति चेत्तत्राहुः स्वीयबन्धनि-
वृत्त्यर्थमिति । अत्र विरहानुभवार्थं भक्तिमार्गीये परित्यागे ज्ञानमार्गीयसंन्यासे प्रसिद्धो
वेषस्तं विना भार्यादिभिः प्रतिबन्धः कार्य इति स्वीयैर्दार्यादिभिर्यो बन्धः प्रतिबन्धः, किंवा स्वीयेषु
बन्ध आसक्तिः प्रतिबन्धरूपा तन्निवृत्त्यर्थं कर्तव्यो, न चान्यथा, प्रकारान्तरेण ज्ञानमार्गीयेण न
कर्तव्य इत्यर्थः । यथा ज्ञानमार्गीयसंन्यासे तादृशेषुसादृष्टविशेषद्वारापवर्गोपयोगित्वम्, न
तथा भक्तिमार्गीयसंन्यासे, तस्य स्वीयबन्धनिवृत्तिमात्रप्रयोजनत्वेनैवात्र कर्तव्यत्वादित-
रथा तदभावादिति भावः । ननु ज्ञानमार्गे गुरुतदुपदिष्टसाधनादेरिष्टसिद्धिः, न पुनः
संन्यासमात्राद्, भक्तिमार्गीयसंन्यासे तु तदप्रसिद्धेः कथं फलसिद्धिरित्याशङ्कायां तत्प्रसि-
द्धिमाहुः कौण्डिन्यो गोपिका इति । कौण्डिन्यो महर्षिः स गुरुः प्रोक्तः, गोपिका
घोषभूषणरूपाः सीमन्तिन्यः, ता भक्तिमार्गीये विरहानुभवपर्यवसायिनि संन्यासे गुरुवः
प्रोक्ताः, श्रीभागवतादिषु सन्त्यक्थिता इत्यर्थः । अत्रायमभिप्रायः । कौण्डिन्यस्यानन्तगुण-
वर्णनाकर्णनोदीर्णतदभ्यर्गमनादिमनोरथार्णवभवदनन्तभावसन्तसाशेषकरणवृत्तेः कृत्स्नप-
रित्यागेन विपिनगह्वरादिषु तद्वेषणविवशस्य सर्वपरित्यागपूर्वकतादृशातिलक्षणविर-
हानुभवहेतुभावप्रकाशकत्वमस्ति । गोपिकानां तु स्वप्राणप्रेष्ठप्रस्फुरत्सर्वात्मभाववत्तया
रासोत्सवादिप्रस्तावे तथात्वं स्फुटतरमेवेति लोकेवेदातीतशुद्धपुष्टिमार्गीयप्रकारस्य प्रभुणा
स्वप्रयोजनार्थं स्वभोग्यभक्तस्थापितस्य प्रथमं तत एव प्राकट्यात्तत्रैव गुरुत्वं समञ्जसतमम् ।
महर्षौ तु तद्दर्शनातिप्रकर्षतौल्यात्तदुक्तिः, प्रमाणमार्गीयस्यात्र मुख्यं गुरुत्वमयुक्तमिवेति ।
तेन गुरुत्वमत्रैतत्परित्यागफलसाधनीभूतभावप्रकाशकत्वं विवक्षितम्, न तूपदेष्टृत्वम्, तस्य
प्रकृतेऽभावात् । एतत्संन्यासस्य ज्ञानमार्गीयतद्विलक्षणत्वेनैतादृशस्यैव तस्य वक्तुमौचित्यात् ।
उपदेष्टृत्वस्यापि तदर्थज्ञापनमात्रोपयिकतया फलतो विशेषाभावात् । अत एव 'एवं सत्यस्मि-
न्मार्गे स्वामिन्य एव गुरुव इति ज्ञापितं भवती'ति निरोधविवृतिप्रकाशे श्रीमदस्मत्प्रभुचरणचा-
रुक्तिश्चकास्ति । 'स्वामिन्य एवे'त्येवकारान्मुख्यं गुरुत्वमेतासामवसेयमित्यन्यदेतत् । किञ्च,
न केवलमेता एतादृशभावमात्रस्य निजमार्गीयस्य प्रकाशिकाः, किन्तु यथा स्वभजनपरा-
णामेतद्भावफलं सिध्यति, तथातु कम्पा सम्पादिका इति विरहानुभवात्मकफलौपयिकधर्म-
वत्त्वलक्षणं साधनत्वं गुरुत्वेपि न विरुद्धं, कर्तुरिव निमित्तकारणत्वमित्याशयेनाहुः
साधनं च तदिति । तत्प्रसिद्धं मुख्यं साधनं गोपिका एवेत्यर्थः । चोप्यर्थः । तेन श्रीम-
दाचार्यचरणानुग्रहभरविजृम्भिततत्प्रकटितैतन्मार्गीयप्रकारपरिकलनावतामेतद्भावसजातीयभाव-
वत्तयैतद्भजनपूर्वकं प्रभुभजने यथोक्तमुख्यफलं भवतितरां निर्विचिकित्समिति भावः ।
अत एव भगवद्भजनापेक्षयाप्येतासां भजनमुत्तममिति सूक्तिः श्रीमदाचार्यचरणानाम् ।
नन्वेवमेतासु गुरुत्वे व्यवस्थापितेषु किमेतत्प्रकाशितं स्वमार्गीयं साधनमित्यत आहुः
भाव इति । सर्वात्मभावयुक्तानां भक्तानां विप्रयुक्तत्वदशावशादुन्मिषतो मनोवागविषयस्य

भावस्य भगवत्स्वरूपात्मकत्वेन रसात्मकत्वात्तस्य भावनया स्वाचार्यानुग्रहभरसमुत्थतथाविध-
भगवदङ्गीकारादेवोदयमानया सिद्धः पर्यवसितो यस्तत्सजातीयोऽनुभवैकगम्यो भावः
स एव तन्मार्गीयतया पूर्वोक्ते परित्यागफले साधनमिष्यते, अन्यत् ज्ञानमार्गीयत्यागे
प्रसिद्धं किमपि साधनत्वेन नेष्यते, नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः । यद्वा । असिद्धस्य भावस्य सा-
धनत्वायोगेन प्रियतमस्य गुप्ततया स्थितस्य विप्रयोगरीत्या तत्तद्भावपोषकस्य तादृशभक्त-
निजविषयकोत्कटातिनिरीक्षणेन प्रतिक्षणविलक्षणरसभावानुभवविचक्षणस्य प्रभोः शुद्धपुष्टि-
भक्तकर्तृकया परमार्तिपूर्वकप्रियान्वेषणतर्वादिप्रश्रुणगानतत्तदवस्थासम्बन्धिभावविषयिण्या
भावनया तेष्वेव सिद्धः फलितो यः कोप्यनिर्वचनीयोनुभवैकविषयवैभवः स्वविषयातिरिक्त-
स्मरणहरणस्वभावः स एवोक्तभक्तानामनुग्रहेणैव कदाचिदन्यत्रापि क्वचिदुदितः परित्याग-
फले साधनमिष्यत इत्यर्थः । एतेनोक्तभक्तानां गुरुत्वं सम्यगुपपादितं भवतीति भावः ।
नन्वहर्निशं विरहभावनामभ्यस्यतस्तत्परिपाकदशायां नियमतो वैकल्यावस्थ्यादिकं
यद्भवति तत् कथं फलरूपरसभावेऽन्तर्भावार्हम्, लौकिकतत्तुल्यरूपत्वदर्शनेन प्राकृतत्वस्य
दुर्वारत्वादिति चेत्तत्राहुः विकलत्वमिति । विकलत्वमनुसन्धेयस्याननुसन्धेयस्य चा-
ननुसन्धानानुसन्धानान्यथानुसन्धानादिजनको व्यभिचारिभावः । तथा तत्सदृशं व्यभिचारि-
भावरूपं प्रथमानुभूतप्रियविषयकतत्तदर्थोत्कटामिलाषजनितमस्वास्थ्यं, येन तदतिरिक्ते वस्तु-
नि रुचिव्याघातः । ईदृशभावानामन्येषामुपलक्षणमेतद्द्वयं फलीभूतस्य विरहभावस्य प्रकृतिः
प्रकारः स्वभावो वा, हि यतः प्राकृतं लौकिकं दुःखादिजन्यं न भवति, अतः फलरूपरसभा-
वान्तर्भावो नैतस्यानुपपन्न इत्यर्थः । नहि यज्ञातीयं कार्यं दुःखादितो जायते, न तज्जातीयं
सुखादित इत्यस्ति नियमः । शोकादिव हर्षादप्यश्रुद्ममादेर्दर्शनात् । अत एवैवमुक्तं श्री-
मदाचार्यचरणैर्देशमस्कन्धविवरणे, 'नहि दोषेणैव कार्यं भवति, गुणेन न भवतीति वक्तुं
शक्यम्, दुःखादप्यश्रुणि आनन्दादप्यश्रुणी'ति । एवं संन्यासफलसाधनाद्यभिधाय,
तत्सम्पत्तिमतो बाधकान्याहुः ज्ञानमिति । एवं विकलत्वास्वाध्यादिना वर्तमानस्य सतस्तस्य
भक्तिमार्गीयपरित्यागवतः । किञ्चैवं परित्यागप्रकारेण वर्तमानस्य भक्तिमार्गीयस्य तस्य
विकलत्वास्वाध्यादिभावस्य ज्ञानमात्माभेदानुभवरूपं बहिःसंवेदनाद्यभावद्वारा तादृ-
क्तीव्रतापोपशमकतया स्वास्थ्यप्रयोजकं, गुणा भगवतो धर्माः, पूर्वं बहुधानुभूता बहव
एवानुभवैकवेद्या ये सजातीयभावैर्भक्तैः सम्भूय भूयः क्रमेण मिथो गीयमानाः स्वास्थ्यमु-
पजनयन्ति, बाधका विरोधिन इत्यर्थः । ननु ज्ञानमार्गे संन्याससहकृतात् ज्ञानाद्यादृशं फलम्,
भक्तिमार्गेपि त्यागात्तादृशमेव भविष्यतीति न फलत कोपि विशेष इति चेत्तत्राहुः सत्य-
लोक इति । फलभेदः सामग्रीभेदप्रयोज्य इति ज्ञानमार्गीयेण संन्यासेन विशेषितात्
ज्ञानात् तत्त्वज्ञानात् सत्यलोके स्थितिर्ब्रह्मलोकप्राप्तिरिति यावत्, सा ज्ञानमार्गीयस्य संन्या-
सिनो भवति, भक्तिमार्गीयस्य तस्य विरहभावानुभावकभावसिद्धिहेतुभूतया भावनया

सहकृतत्वाद्यत्र भक्तिमार्गीयत्यागे, भावना साधनं प्रयोजिका, तत्र फलमपि तथा, तेनैव प्रकारेण विरहानुभवात्मकं भवेत् । नतु सत्यलोकादिसदृशं, कारणानुरूपस्यैव कार्यस्य न्याय्यत्वात् । सत्यलोकाद्येतत्प्रागफलयोस्तारतम्यं तु सुमेरुसर्षपयोरिव सुप्रसिद्धमेवेति क इतोधिको विशेषोभिधेय इति भावः । किञ्च, ज्ञानमार्गीयस्य त्यागिनः फलं यन्मुख्य-तथाभावात्तदपवर्गाख्यम्, तदपि न त्वरितमेव भवति, किन्त्वतिविलम्बेनैवेत्यभिसन्धायाहुः तादृशा इति । तादृशाः संन्यासविशिष्टज्ञानवन्तः सत्यलोकादौ ब्रह्मलोकादाववान्तरफल-तयोपनते तिष्ठन्त्येव, न तु झटिति मुच्यन्त इत्यर्थः । 'ते ब्रह्मलोके त्व'ति श्रुत्या तन्मुक्तिविलम्बावधारणासल्लोकस्थितिरसन्दिग्धेति न संशय इत्युक्तम् । तेन भक्तिमार्गीयत्याग-फलचिन्तायामविचारितरुचिरस्याप्यस्यातिचिरेणैव चेत्यासिः, तदा तदाशामप्यवलम्ब्य स्थितिः श्रेयसी, न पुनरेतद्बुचिलवोप्युचित इति भावः । नन्वेवं भक्तिमार्गीयत्यागेऽपि कुतः शीघ्रं फलसम्भवो यतस्तत्प्रतिबन्धकस्तत्तदहन्ताममतादिरूपो बन्धस्तदवस्थस्तत्राशश्च ज्ञाना-दिकं विना कथमित्याशंक्य तत्प्रकारमाहुः बहिश्चेदिति । सर्वपरित्यागानन्तरं विर-हभावभावनाभ्यासभूयस्त्वादन्तस्तद्भावरूपेण स्थितोऽत एव स्वात्मा निरुपधिप्रियत्वाज्जीवन-हेतुत्वाच्च तत्त्वेन स्फुरितः स कदाचिदत्युत्कटतापवैकल्यादिभावस्वभावाद्यादृशान्तर-नुभूयते तादृशो बहिः प्रकटो दृगादिगोचरश्चेद्भवति, तथाभूतश्च यदि पुनरन्तःप्रविशेत् तत्र दृष्टान्तो बहिवदिति । यथा काष्ठनिष्ठो बहिः कदाचिन्मथनादितो बहिः प्रकटीभूय पुनस्तन्मध्ये प्रविष्टः काष्ठतामपाकृत्य बहिरूपां सम्पादयति, तथा भगवानप्यात्मत्वे-नान्तःस्थितो विरहभावोद्रेकाद्बहिर्गताः पुनः सम्बद्धः सर्वथा प्रतिबन्धकमपनीय निज-भावरूपां सम्पादयतीत्यर्थः । बहिर्दृष्टान्तेन स यथा तापहेतुरुपेणैव सम्बद्धः स्वरूपात्म-कत्वं कुरुते, तथा भगवानपि विप्रयोगभावप्रकारेणैव सम्बद्धस्तद्भावरूपामित्यपि सूचितम् । तदैव पुनः प्रवेशक्षण एव सकलः सर्वोपि तत्तदहन्ताममतारूपो बन्धो नाशमेति प्राप्नोति, न चान्यथा, प्रकारान्तरेणात्र प्रतिबन्धकस्य नाशो न भवतीत्यर्थः । नन्वेवं कार्त्स्न्येऽहन्ता-ममतात्मकस्य बन्धस्य विलये प्रलयानलादप्यतिप्रबले विप्रयोगे च प्राचुर्यमश्नति, जी-वनमेवाशक्यं स्यात्, तत्तद्रसभावानुभवस्तु दूरदूरतर इत्यत आहुः गुणास्त्विति । तुशब्दः प्रकारान्तरव्यावृत्त्यर्थः । गुणाः स्वरूपात्मका भगवद्दर्मात्मकाः ते पूर्वं तथा तथा-नुभूता वियोगदशायां सङ्गरहित्यात् बहिःप्रियदर्शनाद्यभावात् अतिविरहतापविह्वलतया कमपि प्रकारं प्राप्नुवतां भक्तानामग्रिमैवंविधरसानुभवाय भगवता सर्वभावेन रक्षणी-यानां जीवनार्थं भवन्ति । नतु स्वास्थ्यमप्युत्पादयन्ति येन तद्भावान्तरायः स्यात् । हि युक्तोयमर्थः । रसात्मकस्य धर्मिणो विरहेण सन्दिग्धस्थितानां जीवनं स्वरूपात्मकतया तदीयगुणानामेव शक्यं यतः । यद्यपि धर्मिणो विरहस्य सर्वाधिकबलतया सर्वतिरोधाय-कत्वाज्जीवनं कथमपि न जायतीति, तथापि तस्य प्रियगुणगानप्रादुर्भावावकाशप्रदत्वात्तेषां

च पर्यायेण मुद्गरूपगीयमानानां पेपीयमानपीयूषवज्जीवनजननस्वभावस्य जागरूकत्वाच्च काप्यनुपपत्तिः । न चैवं गुणैर्जीवनसम्पत्त्यनन्तरं विरहभावस्य तिरोभावः प्रसज्येतेति वाच्यम् । तेषां जीवनाधिककार्यानुपधायकत्वेन तस्य तादवस्थ्यात् । विरहानुभवार्थं तज्जी-वनमात्रस्य भगवच्चिकीर्षितत्वाच्च । नन्वेवं सति स्वविरहसन्तापभरपीडितस्वान्तानाम-वस्थां विचार्य सर्वसमर्थो भगवानेव यदि कदाचिदपि लोकसिद्धस्वास्थ्यदिना प्रकारा-न्तरेण वा तद्भावमुपशमयेत्, तदा स्वयमेव बाधकः स्यादिति चेत्तत्राहुः भगवानिति । अत्र अस्मिन् स्वविप्रयोगतीव्रतापादिभावानुभवे भगवान् यद्यपि सर्वैश्वर्यसहितः, त-थापि बाधकः केनापि प्रकारेणास्य विघातको नेष्यते, कुतः, फलरूपत्वात्, निरवधानन्द-रसात्मकत्वादित्यर्थः । यदि भगवान्मनागप्येतद्भावमपनयेत्तदा रसस्य संयोगविप्रयोगमे-देनोभयरूपत्वादन्तरभावानुभवाभावे स्वस्य तथात्वमेव न सिध्येत् । सर्वात्मभाव-वस्तु स्वरूपात्मकं रसमविरतं वितरत एव फलरूपत्वाभ्युपगमादिति भावः । एवं च 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति ।' 'एतस्मैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रासुपजी-वन्ती'त्यादिश्रुतिव्याकोपोपि नोपनिपतति । नतु तथापि परमकरुणापरीतो भगवान् भक्तानां भूतिरमात्मविरहकेशमसहमानस्तदुपशमाय सर्वथा स्वास्थ्यप्रतिपादकवाक्यानि करि-ष्यति, अन्यथा स्वदयालुत्वविरोधः स्यादिति चेत्तत्राहुः स्वास्थ्यवाक्यमिति । स्वास्थ्य-मागन्तुक्लेशनिवृत्त्या पूर्ववत्स्थितिः, तत्प्रतिपादकं वाक्यं प्रमुणा न कर्तव्यम् । न चैवं सति सामर्थ्यं दुःखदर्शी कीदृशो दयालुरिति शङ्कनीयम् । एवंविधविरहकेशादि-भावस्य परमपुमर्थरूपत्वेनैतदभावसम्पादन एव दयापचयापातो यतः । अतः स्वत एवै-तादृशभावनिवहान्निजेष्वादिनां विशदयतो निर्व्यूहो दयातिशय इति मनसिक्लुकोक्तं द-यालुर्न विरुध्यत इति । न हेतादृशभावानां प्रतिक्षणं संरक्षणपोषणादितोप्यधिकं कचि-त्किञ्चित्कृपाकार्यमस्ति । क्लेशादित्वेन प्रतीतिमात्रमत्र परं प्राकृतानाम्, वस्तुतस्त्वमी रसात्म-का अनुभवैकवेद्या निरवद्यभगवद्भावा इति सुस्थमखिलम् । स्वास्थ्यवाक्यमित्येकवचनेनै-कमपि तादृगवाक्यं प्रभुर्न करोति, येनैतद्भावबाधः स्याद्, बहूनां तु सम्भावनैव केति भावः । एवं भक्तिमार्गीयं परित्यागमभिधाय तस्य दुरापत्वं वदन्तस्तस्मिन्नुपपायमाहुः दुर्लभोय-मिति । अयं भक्तिमार्गीयपरित्यागो दुर्लभः, शुद्धभगवत्स्नेहातिरिक्तसाधनालभ्यत्वात् । अत एव तथाभूतप्रभुनुग्रहप्रभेदेन प्रेम्णा शुद्धस्नेहेन सिध्यति, तस्य तत्तत्स्वकार्यपरम्परया तन्निर्वाहकत्वात्, नान्यथा, न तु विहितेन केनापि प्रकारेणेत्यर्थः । तेनैतदर्थिनां तदीयानां प्रेम्णि प्रयत्नः प्रतिष्ठितो भवतीति भावः । यत्रैतत्साधनस्य प्रेम्ण एव दुर्लभत्वम्, तत्रै-तत्साध्यपरित्यागस्य दुर्लभत्वं किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायो द्योत्यते ॥ ६-१३३ ॥

एवं स्वमार्गीयं संन्यासं विचार्य ज्ञानमार्गीयसंन्यासविचारमाहुः ज्ञानमार्ग इति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोऽपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पाषण्डित्वं भवेत्तथापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ॥ १६ ॥

तुशब्दो भक्तिमार्गीयत्यागव्यावृत्त्यर्थः । ज्ञानमार्गे मोक्षार्थं विविदिषाविद्वत्ताभेदेन द्विविधोपि संन्यासो विचारितः । तदेवाहुः ज्ञानार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञानप्रयोजनार्थं यः स विविदिषासंन्यासस्तस्य ज्ञानेच्छाप्रयुक्तस्य ज्ञानोत्पादनोपयोगित्वात् । उत्तराङ्गं मुक्त्यङ्गं यः स तु विद्वत्संन्यासस्तस्य ज्ञानोत्तरभाविनो मुक्तावेवोपक्षयत् । चकारेण मुक्तिचरमकारणे ज्ञानेपि तदुपयोगः सूच्यते । तत्र विविदिषासंन्यासः कलौ न सम्भवतीत्यभिधास्यते । विद्वत्संन्यासस्तु यद्यप्यस्ति, परं तस्मिन् सिद्धिर्मुक्तिर्जन्मशतैरनेकजन्मभिर्भवति । 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यत' इति प्रभुवाक्यात् । ज्ञानार्थं संन्यासस्तु कलौ न सिध्यतीत्याहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं च न केवलं संन्यासाद्भवति, किन्तु साधनापेक्षं यज्ञदानाद्यधीनं मतं, साधनत्वेन यज्ञादीनां श्रवणात् । 'तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेने'ति श्रुतेः । तानि च देशकालादिसाध्यानि, तच्छुद्धिः कथमपि कलौ न भवति । यतोतः कलौ स विविदिषासंन्यासः कृतः पश्चात्तापायैव भवति, नान्यथा, यतः फलान्तरमपि शक्येतातः सर्वथैव न कर्तव्य इति भावः । किञ्च, न केवलं पश्चात्तापस्तस्य पर्यवस्यति, किन्त्वन्यदपीत्याहुः पाषण्डित्वमिति । पाषण्डित्वं स्वधर्मविरुद्धाचरणं च भवेत् । अपिशब्दस्तज्जन्यपापसमुच्चयार्थः । यस्मादीदृशोयं संन्यासस्तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं न संन्यसेदित्यर्थः । यद्वा । ज्ञानेन हेतुना संन्यसेत्, नतु तेन विना तथेत्यर्थः । अपिच युगान्तरे यथा कथञ्चिद्विविदिषासंन्यासस्य निर्वाहः शक्येतापि, कलौ तु कलयापि नेत्याहुः सुतरामिति । कलिदोषाणां बहूनां प्रबलत्वादशक्यवाधत्वादिति स्थितं, पर्यवसन्नमित्यर्थः ॥ १४-१६ ॥

ननु यदि कलिदोषप्राबल्याज्ज्ञानमार्गे न संन्यासस्य निर्वाहस्तर्हि तत एव भक्तिमार्गेपि तस्य तथेति तुल्यमित्येवमाशङ्कन्ते भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तिमार्गेपि चेत् कलिसम्बन्धी दोषः प्रबलस्तदा नाश एव स्यात्, नतु त्यागस्य फलपर्यवसानमिति किं कार्यं, स्वीकार्यो वा ज्ञानमार्गीयः परित्यागः, परिहार्यो वा भक्तिमार्गी योपीति महत्सङ्कटमिति प्राप्ते, उच्यते, समाधानमिति शेषः । तदेवाहुः अत्रारम्भ इति । ज्ञानमार्गे संन्यासस्योपक्रमे कलिकालादिदोषैः साधनवैगुण्यात्तदनिर्वाहे नाशः फलाभावो युज्यते । न च तत्र दोषसत्त्वे किं मानमिति वाच्यम् । 'कलेर्दोषनिधे'रिति वाक्येन भगवद्भजनातिरिक्ते तत्सद्भावस्य बोधितत्वात् । दृष्टस्य श्रुतस्य वा नाशस्यैव दोषोन्नायकत्वाच्च । अत्र भक्तिमार्गे आरम्भे उपक्रमे त्यागस्येति शेषः नाशः फलाभावो न स्यात्, कलेरन्यत्र बाधकस्यापि भक्तिमार्गे साधकत्वेन साधनवैगुण्यात्प्रसक्त्या संन्यासस्यानिर्वाहासंभवात् । भक्तिमार्गस्य ज्ञानकर्मादिभ्यो बलवत्त्वस्य बहुलमुपलम्भात् । 'न कर्हिचिन्मत्परा नक्ष्यन्ति' 'न मे भक्तः प्रणश्यती' त्यादिभिर्भक्तस्य नाशाभाववावधारणाच्च । एकादशस्कन्धे 'न ह्यंगोपक्रमे नाशो मद्दर्मस्योद्भवाण्वपी'त्यनेनारम्भदशायामपि तदभावस्य प्रतिज्ञातत्वाच्च । तेन भक्तिमार्गे दोषलेशोपि न शङ्कितुं शक्य इति भावः । किञ्च, भक्तिमार्गे परित्यागवान् कश्चिन्नष्टो दृष्टः श्रुतो वा येन तद्दृष्टान्तेनान्यस्मिन्नप्याधुनिके नाशः शक्यवचनः स्यादतो दृष्टान्तस्याप्यभावतो भक्तिमार्गे न कश्चिदुन्नेतुमपि शक्यते दोष इति न नाशसम्भावनालेशोपि । ननु तथापि विरहव्यथाव्याकुलः सन् यदि कोपि कदाचित् स्वास्थ्यसम्पादकं कमपि पदार्थमुपादद्यात्तदा तस्य भावस्य वा बाधः स्यादेवेति चेत्तत्राहुः स्वास्थ्यहेतो रिति । स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यप्रयोजकस्य येनैवैतद्भावविघातकं किञ्चिदपि स्वास्थ्यं भवति तस्य सर्वस्यैव पूर्वमेव सर्वभावेन त्यागादस्य भावस्य त्यागिनो वा बाधः प्रतिघातः केन पदार्थेन सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । ननु लौकिकस्य बाधकस्यासम्भवेप्यलौकिकाः कालादय एव बाधका भविष्यन्तीति चेत्तत्राहुः हरिरिति । यद्यपि हरिः सर्वदुःखहर्ता समर्थः सदयश्च, तेन भक्तकेशलेशमपीक्षितुं न क्षमः, तथाप्यत्र अस्मिन्नतिप्रचुरविप्रयोगभावे बाधां नाशं स्वरूपरसासृतेरेतद्भावरूपैर्भक्तानामपोषणरूपं कर्तुं न शक्नोति, समर्थो न भवति । अपरे कालादयः कुतो बाधां कर्तुं शक्यन्तीत्यर्थः । इहायमभिसन्धिः । भगवान् हि रसत्वेनैव 'रसो वै स' इत्यादिश्रुत्या निरूपितः, तत्त्वं च संयोगविप्रयोगात्मके शृङ्गार एव विश्रान्तमिति तदुभयात्मकः स्वयं स्वस्वरूपात्मकानेव तत्तद्रसभावांस्तत्तद्विहृतिभिरत्यनुगृहीतेष्वविर्भाव्य तदनुभवं विदधत्तदुद्बोधितनिजभावनिचयानां चानुभवमनिर्वचनीयानेकप्रकारैर्भक्तानां सम्पादयन् स्वरूपानन्ददायको महोदारो मुहुर्मुहुर्विप्रयोगादिभावपोषणमेव कर्तुमर्हति, न तु तद्विघातमपि, स्वस्य भावात्मकत्वात्तेषां चातिप्रब-

लत्वाद्भक्तविषयकैर्भावैः स्वस्य तदधीनत्वभावात् निरवधिकृपानिधित्वस्य प्रकटितत्वाच्च ननु तथापीश्वरः स्वतन्त्रः कदाचिद्भावमन्यथयेदेव, न तु नियमेन पोषयेदित्याशङ्क्य तस्य स्वभाव एवेदृशो यदेतद्भावं पोषयत्येव, न तु नाशयतीतीममर्थं व्यतिरेके दृष्टान्तेन समर्थयन्ति अन्यथेति । यदि भगवान् स्वरूपासृतेरुक्तभावैर्भक्तान्न पोषयेत् क्वचित्, किन्त्वेतद्भावबाधनमेव कुर्यादिति तदा लोके मातरो जनयिष्यो बालान् स्तनन्धयान् स्तन्यैः क्वचित् न पुपुषुर्न पोषितवत्य इत्यपि स्यात् । तत्तु तथाभूतस्वभावानां तासां सर्वथैवाप्रसिद्धमसम्भावितमशक्यं च, एवं भगवतोपि स्वस्वरूपासृतेर्भक्तानामपोषणमेतद्भावनाशनरूपमित्यर्थः । तेन स्तन्यादिदानेन बालकानामपोषणे यथा मातृषु वात्सल्यस्वभावस्य तेषां जीवनस्य चान्यथाभावः स्यात्, तथा स्वरूपासृतदानेन भक्तानामपोषणे स्वरूपात्मकानुभूयमानविप्रयोगभावबाधनलक्षणे भगवति तादृक्स्वभावस्य भक्तानां जीवनस्य चान्यथा भावः स्यादिति भावः । ननु यद्यप्ययं भावः सर्वाशक्यबाधस्तथाप्येतद्भावस्य बहिःसंवेदनदशायामेवोद्गमसम्भवेन ज्ञानस्य च तन्नाशकत्वेनैतादृशभाववतो भक्तस्य भगवदिच्छया ज्ञानिभिः संगे सति तद्भावचरैरेतद्भावविपर्यासेन चित्तस्थान्यथावृत्तिरूपो मोहो भविष्यत्येव, तेन च फलप्रतिबन्ध इति चेत्तत्राहुः ज्ञानिनामपीति । यद्यपि 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्यैत्यादिवाक्यैर्ज्ञानस्य तादृशभक्तिपरिपन्थित्वमिति तद्वत्संगे भवति भाववैपरीत्यं, तथापि भगवान् भक्तं तादृशं ज्ञानिनामपि वाक्येन ज्ञानाद्भक्तेराधिक्यज्ञापनाय तन्मार्गीयाणां संसर्गं संपाद्यापि तद्वाक्येन बहिःसंवेदनविघटनद्वारा तद्भावविरोधिना अत्युत्कटभाववन्तं न मोहयिष्यति, तथा सति तद्भावमेव तस्य न सम्पादयेत्, प्रयोजनाभावात् । अग्रे तस्य ज्ञानिवाक्यादिभिर्निरस्यत्वात् । किञ्चैवं सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणसिद्धं ज्ञानमार्गीयभक्तिसंन्यासिध्याधिक्यमुत्सिदेत् । अतो भक्तस्य भावः केनाप्यन्यथा कर्तुमशक्य इति न फलप्रतिबन्धसम्भावनापीति भावः । लट्प्रयोगेणाग्रेपि मोहानुत्पादः सूच्यते । ननु प्रभु-कृतिप्रयोजनमाकलयितुमशक्यं तदिच्छामन्तरेणेति कदाचिद्दत्तमपि भावं प्रत्यादित्सुश्चेत्, तदा ज्ञानिवाक्यैर्भक्तमपि मोहयेदेवेत्याशंकायामाहुः आत्मप्रद इति । यत् आत्मानं रसरूपं भक्त्यैः प्रकर्षेण विमुक्तसंकौचतया ददाति, प्रियः प्रीत्याश्रयश्च, अपिशब्दात्तदधीनश्च भवति, अतो दित्सितस्य स्वरूपस्यैतद्भावातिरिक्तप्रकारेण दानासम्भवादेतद्भाववरहिते तद्दानाभावेनास्यादेयतापत्तेः प्रीत्यन्यथात्वप्रसक्तेः प्रयोजनाभावध्रौव्याच्च किमर्थं मोहयिष्यतीत्यर्थः । एवं स्वमार्गीयं परित्यागं सम्यग्विचार्य तं कर्तुमुपदिशन्ति तस्मादिति । यस्मादुक्तातिरिक्तप्रकारेण कृतः परित्यागः पश्चात्तापैकपर्यवसितस्तस्मादुक्तो यः प्रकारो 'विरहानुभवार्थं त्वि'त्यादिना तेन परित्यागो भक्तिमार्गीयः संन्यासो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः । तथा सति पश्चात्तापनिवृत्तिपूर्वकमुक्तफलमप्रत्यहं भविष्यतीति भावः । ननुक्तपरित्यागफलस्यैतत्प्रकारेणैव सिद्धावपि प्रकारान्तरकृतपरित्यागे किञ्चित्प्रयोजनं भविष्यत्येव, तस्यापि तत्र तत्रोक्तत्वादिति चेत्तत्राहुः अन्यथेति । अन्यथा प्रकारान्तरेण संन्यासे स्वार्थात् स्वप्रयोजनात् अद्भ्यते अद्भ्ये भवति, तेन पश्चात् तस्य एव भवेदिति मे एतद्भावतत्त्वाभिज्ञस्य निश्चिता मतिर्निःसन्दि-

ग्धा बुद्धिरतो मदीयैरेतन्मत्यनुसारिभिः प्रकारान्तरं सर्वथैव नोपादेयमित्यर्थः ॥ १७-२१ ॥
उपसंहरन्ति इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतिशब्दः समाप्तौ । कृष्णप्रसादेन कृष्णः फलात्मा, यशोदाद्युत्सङ्गलालितः, तस्य प्रसादः, परमकाष्ठपन्नोऽनुग्रहः, तेनासाधारणालौकिकहेतुनालौकिकस्यैतन्निश्चयजननासामर्थ्यात् वल्लभेनेति प्रथितेन प्रभोः प्रियेणात् एव रसात्मकतत्स्वरूपस्य संयोगविप्रयोगभावतदवान्तरभेदानुभववता भक्तौ फलरूपायाम् संन्यासवरणं पुष्टिमार्गीयपरित्यागाङ्गीकार इति यावत्, तत् विशेषेण स्फुटतया गुप्ततया वा निश्चितं निर्धारितं, अन्यथा एतन्निश्चयाभावे फलरूपभक्त्यभावे वा प्रकारान्तरेण संन्याससुरीकुर्वन् पतित उक्तस्वमार्गीयसंन्यासफलात् प्रच्युतो दोषवांश्च भवेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

श्रीविठ्ठलेशचरणाञ्जयुगानुगश्रीकल्याणरायतनयेन मुदा विचार्य ।

गोपेश्वरेण विहिता विवृतिर्वितन्यात् संन्यासनिर्णय इयं विदुषां विनोदम् ॥ १ ॥

इति श्रीश्रीगोकुलाधीशपदसरसिजसेवापथप्रवर्तकश्रीवल्लभाचार्य-
चरणाञ्जरजोणुशरणश्रीकल्याणरायात्मजश्रीहरिरायानुज-
श्रीगोपेश्वरविरचिता संन्यासनिर्णयविवृतिः सम्पूर्णा ॥



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतः ।

स्वाचार्यवर्यचरणोदितभक्तिमार्गप्रारम्भकालिकजनत्यजनप्रकारम् ।

संन्यासनिर्णयमयं विवृणोति दासः श्रीबालकृष्णपदपद्मनिवेशितात्मा ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा यदा देहदेशपरित्यागविषयकं भगवदाज्ञाद्वयं पुरःस्फूर्तिक-
विचारेण न कृतवन्तः, तदा सेवकत्वात् पश्चात्तापे जाते, लोकत्यागविषयिण्यां भगवतस्तृती-
याज्ञायां जातायां, विचारितवन्तः, किं भगवान् मनुष्यप्रसन्नोस्ति, नवेति । तत्र यद्यप्रसन्नः
स्यात्, उपेक्षेतैव, न त्वाज्ञापयेद्, अतो द्वितीयैव कोटिः; परं तत्र किं कारणमिति
विचारे सूक्ष्मटीकानिवृत्त्याऽतिसर्जनरूपदेशत्यागस्य, माधवभट्टकाश्मीरिनिवृत्त्योपचयरूपेदह-
त्यागस्य च भगवतैव कारितत्वात् पूर्वाज्ञयोर्देशदेहशब्दौ यौगिकावगताः । ततस्तदाज्ञाद्वयं भग-
वतानेन प्रकारेण साधितमित्येव कारणमिति निश्चित्य पूर्वाज्ञाद्वयवचृतीयस्या अपि दुर्ज्ञेयतां
निश्चित्य, यद्यप्याज्ञाद्वयं सम्पन्नम्, तथापि स्वतस्तु न कृतम् । अतस्तदकरणजः पश्चात्तापः
कथं निवर्तत इति विचारे करिष्यमाणज्ञाविषयविचारादेव भगवान् निवारयिष्यतीति
निश्चित्य स्वावस्थासूचनपूर्वकं परित्यागनिरूपणं प्रतिजानते पश्चात्तापेत्यादि ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये-प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

अत्र केचित् प्राञ्चो भक्तिमार्गीयपरित्यागोत्तरसर्वपदार्थान् विचार्य त्यागविचाराभाव-
जनितस्वपश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागविचारप्रतिज्ञेत्याहुः । अन्ये तु कर्ममार्गीयाणां संसार-
वैराग्यस्य वार्धक्येप्यभावात् तत्सङ्गवशेन कदाचिद्भगवदीया अपि तादृशा मा भूवन्नित्ये-
तदर्थं सुखोपायस्य संन्यासस्य निरूपणप्रतिज्ञेत्युक्त्वा, शरीरवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा, मया
पूर्वमेव भगवदर्थं किमिति न यत्नः कृत इतीदृशो यो भगवदीयानां तापः स पश्चात्ताप इत्याहुः ।
इतरे तु भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च साधनदशायां सिद्धदशायां च परित्यागः कर्तव्यत्वेनोक्तः,

तत्राद्यायां पूर्णवैराग्याभावेन सम्यक्परित्यागासम्भवात् पाषण्डित्वप्रसङ्गेन पश्चात्तापायैव सः
स्यात्, एतत्तारतम्यज्ञानाभावेन भगवदीया अपि पूर्वं परित्यजन्तः पश्चात्तप्ता भवेयुः, तथा
तान् दृष्ट्वा स्वयमाचार्या अपि पश्चात्तापमाप्नुयुरिति तदुभयविधपश्चात्तापानुदयाय प्रतिज्ञेत्याहुः ।
अपरे तु आचार्यैर्निबन्धे 'त्रिदण्डं परिगृहीत सर्वशास्त्राविरोधि त'दित्याज्ञापनात्तद्विषय पुष्टि-
मार्गीयोपि तुरीयाश्रमत्वेन त्रिदण्डं परिगृह्णन् पश्चात्तापमाप्नुयाद्, अतस्तदनुदयाय पुष्टि-
मार्गीयसन्न्यासविचारारम्भ इत्याहुः । अन्ये तु श्रुत्यादिप्रमाणप्रतिपन्नस्य रसात्मकस्य भगवतो
विरहात्मकभावानुभवः सर्वात्मभावप्रपत्येकलभ्यः सर्वपरित्यागं विना न सम्भवतीति तस्य
त्यागस्य स्वरूपादिकमविदुषां ज्ञानादिमार्गेष्वपि परित्यागस्योक्तत्वात् सन्दिहानानां स्वीयानाम-
विचारतः परित्यागः पश्चात्तापायैव भवेदिति तदभावाय विचारारम्भ इत्याहुः । मया तु
तेषां परस्परविसम्मतिमवलोक्यान्तःकरणप्रचोद्यग्रन्थस्थपश्चात्तापपरित्यागपदयोरेव प्रत्यभिज्ञा-
नात् स एव पश्चात्तापोत्र निवर्त्यत्वेनाद्यत इति न दोषः । ननु भगवदाज्ञाया जातत्वात्
तथा तत्कर्तव्यतायाः स्वयं च निश्चितत्वाद्विचारस्य किं प्रयोजनमत आहुः स इत्यादि
विचारेणेत्यन्तम् । स परित्यागः मार्गद्वितये प्रोक्तः, मार्गस्य द्वितयं मार्गद्वितयम् । अत्र
संख्याया अवयवे तयचित्यनेन द्विशब्दादवयवे तयप् । अवयवशब्दश्च 'अङ्गं प्रतीकोवयव'
इति कोशादङ्गाख्य एकदेशे रूढः, सोत्र न सङ्गच्छते, सूङ्ख्याया गुणत्वेन तत्र देशभे-
दस्य वक्तुमशक्यत्वात्, किन्तु 'सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिहे'ति द्वादशस्कन्धे
उपादानकारणेपि प्रयुक्त इति तदत्र ग्राह्यम् । तथा च संख्यायाः कारणं संख्येयं तदत्र
वदति । समासे मार्गस्येत्यभेदे षष्ठी, तेन मार्गभिन्नौ यौ द्वित्वसंख्यासंख्येयौ तयोः
प्रकर्षेणावश्यकर्तव्यत्वेनोक्त इत्यर्थः । तत्र कौ तौ मार्गावित्यपेक्षायां, कुतश्च तत्रोक्त इत्यपे-
क्षायां चाहुः भक्तौ ज्ञाने विशेषत इति । भक्तिमार्गे आरम्भदशायां सिद्धदशायां
च, ज्ञानमार्गे विविदिषादशायां विद्वद्दशायां च वैराग्याद्यतिशयरूपं विशेषमभिप्रेत्योक्त
इत्यर्थः ॥ १ ॥

ननु 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधिस्तथा, ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे'त्येका-
दशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् त्रयोपि योगा नृणां श्रेयःसाधकत्वात्तुल्या इति कर्ममार्गे कुतो
नोक्त इत्यत आहुः कर्ममार्ग इत्यादि ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचाराणा ॥ २ ॥

चातुराश्रम्यपक्षेण यद्यपि कर्ममार्ग उक्तस्तथापि 'कर्मयोगस्तु कामिना'मिति भगवता
तस्य कामाधिकारकत्वेनोक्तत्वात्परित्यागस्य च वैराग्याधिकारकत्वात्तत्र न कर्तव्यः । यद्यपि
'वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाथ दुःखित' इत्यङ्गिरसा आतुरभयभीतयोरप्युक्तस्तथापि कलि-

कालतः कलिकालं प्राप्य सुतरां न कर्तव्यः । कलिवर्ज्येषु संन्यासस्यापि गणनादित्यर्थः । तर्हि मास्तु कर्ममार्गे तस्य कर्तव्यता, तथापि यत्रोक्तस्तेनैव यथा कर्तव्यो, विचारस्य किं प्रयोजनमित्याकांक्षायामाहुः अत इत्यादि । अस्तः तत्तन्मार्गे तत्तद्दशायां परित्यागस्योक्तत्वात् भक्तिमार्गे आदौ आरम्भे कर्तव्यत्वमभिप्रेत्य विचारणा यथा कथञ्चित्संज्ञातभक्तेः पुंसो भक्त्युत्कर्षजनकश्रवणादिनिर्वाहार्था एका आरम्भदशा, तैरभ्यस्तैरासक्तिसिद्धयर्था द्वितीया, तदुत्तरं व्यसनसिद्धयर्था तृतीया, तत्र यस्यां दशायां कलिकालादिकृतदोषसम्बन्धो न भवति तदर्थं तदीयदशाफलस्वरूपप्रकारविचारः क्रियत इत्यर्थः । एवं सार्धेन प्रयोजनमुक्तम् ।

अत्रायमर्थः । एकादशस्कन्धस्य सप्तदशेध्याये, 'यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् । स्वधर्मेणारविन्द्राक्ष तन्मे व्याख्यातुमर्हसी'त्युद्धवप्रश्ने चातुराश्रम्य वदता भगवताष्टा-दशाध्याये 'इष्ट्या यथोपदेशं मा'मित्यादिभिः पञ्चदशभिः संन्यासाश्रमरूपः परित्याग उक्तः । तदनन्तरं भक्तिवैराग्ययोराधिक्ये 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः, सलिङ्गाना-श्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर' इत्यादिभिः सार्धैर्दशभिरवैधश्च परित्याग उक्तः । अत्र च ज्ञानभक्तिमार्गिणोर्धर्माः समाना एव सङ्गीर्योक्ताः । एवं पूर्वोक्तेषु बोध्यम् । तथा 'न्यासे कुटीचकः पूर्वं बहोदो हंसनिष्क्रिया'विति चत्वारो भेदाः संन्यासस्य तृतीयस्कन्ध उक्ताः, तेन मार्गत्रयेषु तस्य कर्तव्यता । यद्यपि कर्ममार्गे तृतीयस्य चतुर्थे पादे 'पुरुषार्थोतःशब्दा'दित्य-धिकरणस्थे 'ध्वाचारदर्शना'दित्यादिषु पञ्चसु सूत्रेषु वशिष्ठादीनां ब्रह्मविदामग्निहोत्रादिकर्म-करणाचारदर्शनात्, 'जनको ह वै बहु दक्षिणेन यज्ञेनेज' इति ब्रह्मविदोपि जनकस्य कर्म-करणश्रुते 'स्तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति श्रुतौ विद्याकर्मभ्यां फलारम्भश्रावणात्, 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा तं दर्शपूर्णभासयोर्वृणीत' इति कल्पश्रुतौ ब्रह्मविदोपि ब्रह्मत्वेनत्विक्त्वश्रावणात्, 'आश्विनं धूम्रललाममालभेत यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेत्, ऐन्द्रायं पुनरुत्सृष्टमालभेत य आतृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबेत्, विच्छिन्नो वा एतस्य सोमपीथो यो ब्राह्मणः सन्नातृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबति । यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुया'दित्यादिश्रुतिभिः कर्मकरणस्य नित्यताश्रा-वणात्, कर्मणश्च दम्पत्यधिकारकत्वाज्जैमिनिमते आश्रमपक्ष एव, यथा कथञ्चित्कर्मकरणाशक्तौ सर्वत्यागकरणम्, 'यदहरेवे'त्यादिश्रुतिस्तु कर्माशक्ततदनधिकार्यन्धपंग्वादिविषयेति न तद्वैयर्थ्य-मिति कर्मविचारकजैमिनिसिद्धान्तात् कर्ममार्गे न कर्तव्यः । अथ 'तुल्यं दर्शन'मित्यादिसूत्रेषु शुकसंवर्तारुणिजडभरतदृष्टान्तेन दर्शनस्य साधारणतया कर्मावश्यकत्वासाधकत्वात्तेनैव च परित्यागस्यान्धपंग्वाधिकारकत्वनिरासेन जैमिनिमते प्रव्राजश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गस्य दुर्वार-त्वात्, 'एतद्भ स्म वै तद्विद्वांस आहुः ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे, एतद्भ स्म वैतत्पूर्वं विद्वांसोग्निहोत्रं न जुहवाञ्चकिरे,' 'एतावदरे स्वत्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राजे'त्यादिभिर्वर्षाभिः श्रुतिभिः प्रव्राजबोधनेन कर्मकरणश्रुतेरसार्ध-त्रिकत्वनिश्चायनात् । 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मे'त्यत्रापि ब्रह्मपदेन वेदस्याभिप्रेततया तद्विद एवात्सिंज्यवो-

धनेन तथा श्रुत्या ज्ञानस्य कर्मशेषताया आपादयितुमशक्यत्वात् । 'आश्विनं धूम्रललाम'-मित्यादिषु कर्मनियमवत् 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु'रित्यादौ त्याग-नियमस्यापि श्रावणेन रागोपाधिक एव कर्मनियम इति निश्चयेनाविशेषात्, उत्तरे वयसि तुरीयाश्रमतया द्रव्ययज्ञत्यागोपि जरामर्याग्निहोत्रश्रुत्या तत्सिद्धौ यावज्जीवाग्निहोत्रादिश्रुतेर-प्यवाधाच्च जैमिन्युक्तदूषणपरिहारे जाते कर्ममार्गीयचातुराश्रम्यपक्षस्याक्षुण्णत्वात् कर्ममार्गे परित्यागः कर्तव्यत्वेनायाति, तथापि 'अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकं, देवराच्च सुतो-त्यत्तिः कलौ पञ्च विर्वजये'दिति वर्जनस्पृत्या कलिकालतस्तत्र न कर्तव्यः । यदि च, 'यावद् वर्णविभागोस्ति यावद्देदः प्रवर्तेते । संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत् कुर्यात् कलौ युगे'इति प्रतिप्रस-वात् कर्ममार्गेपि कर्तव्यत्वं त्यागस्य विभाव्यते, तदापि जावालश्रुतौ चातुराश्रम्यपक्षं पूर्वमुक्त्वा, ततः 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वाथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निरनधिको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति समाप्तौ विरागस्यैव सर्वत्राधिकारत्वेन श्रावणात्, एकादशस्कन्धे 'यदा कर्मसु काम्येषु लोकेषु निरयात्मसु । विरागो जायते सम्यङ्गन्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्तत' इत्यादिना वैराग्य एव तस्य पक्षस्य भगवता कथितत्वात् कलौ च सर्वधर्मशून्ये वैराग्यस्यासम्भवात् सुतरां न कर्तव्यः । अतश्चातुराश्रम्य-पक्षेण प्राप्तस्येदानीमधिकाराभावाद्यदा ज्ञाननिष्ठा भक्तिनिष्ठा वा भवति, तदा तस्मिन्मार्गे कर्तव्यः । तत्र स्वस्य भक्तिमार्गीयत्वेन भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वादादौ पूर्वं विचारणा तत्रकार-चिन्ता क्रियते, तथा च स यद्येकस्मिन्नेव मार्गे उक्तः स्यात्, यदि वा मार्गत्रयेष्वेकविध एवोक्तः स्यात्, तदा भगवदाज्ञावाक्ये सन्देहाभावान्न विचार्यः स्यात्, अस्ति तु सर्वत्रो-क्तः, तत्र कः कीदृशो वा भगवदाज्ञाविषय इति निश्चेतुं विचार्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं प्रयोजनमुक्त्वा विचारमारभन्ते श्रवणादीत्यादि ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

श्रवणादीनां नवविधभक्तीनां प्रकर्षेण अविच्छेदेन सिद्ध्यर्थं परित्यागः कर्त-व्यश्चेत् सः पक्षः नेष्यते नाङ्गीक्रियते । अयमर्थः । भगवता हि नृणां श्रेयोविधि-

त्सया ज्ञानकर्मभक्तिरूपं मार्गत्रयमुक्तम्, निर्विण्णाः, कामिनः, न निर्विण्णा नातिसक्ताश्चेति यथायथं तदधिकारिणश्चोक्ता एकादशे 'योगास्य' इत्यादिना । त्रिष्वपि संन्यासश्च तत्र निरूपितः । तथा 'न कर्मणे'ति श्रुतौ च त्यागस्य अमृतत्वरूपं फलमुक्तम् । तच्च फलं मार्गो-
देव, न तु केवलात् त्यागात्, त्यागस्य तत्तन्मार्गीङ्गत्वेन तत्र फलश्रुतेरर्थवादत्वस्यैव विचारित-
त्वात् । 'यन्न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः, व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपी'ति
वाक्ये त्यागमात्रेण स्वप्राप्त्यभावस्य भगवता कथनाच्च । अतस्तस्य कथञ्चिदुपकारकत्वमेव ।
तत्राधिकारश्च वैराग्यात्, तद्यथा यथोक्तुष्यते तथा तथा त्यागो मार्गस्योपकरोति ।
तस्योत्कर्षश्च कथं स्यादिति विचारे केवलाद्यष्टमात्रेण तदसम्भवान्मार्गानुकूला दृष्टसामग्री
श्रवणाद्यविच्छेदरूपा ग्राह्या । अतस्तत्सिद्ध्यर्थं त्यागः कर्तव्यश्चेत्, स पक्षो नात्रेष्यते, न
भगवन्मतेऽङ्गीक्रियते । अयमर्थः । भगवता हि 'यदा कर्मविपाकेष्वित्यादिभिः साधनदशा-
पन्नस्य परित्यागकथने अटनमेव तस्योक्तम्, न तु क्वचित्स्थित्वा श्रवणादिकरणम्, ततो
'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षक' इत्यादिभिः साधनैर्विभिः परित्यागं सिद्धदशापन्न-
योर्ज्ञानिभक्तयोरुक्त्वा ततो ज्ञाननिष्ठस्यापरोक्षज्ञानाभावे 'दुःखोदकैषु कामेषु जातनिर्वेद आ-
त्मवान्', 'अजिज्ञासितमद्भक्तो गुरुं मुनिमुपव्रजेत् । तावत्परिचरेद्भक्त्या श्रद्धावाननसूयकः,
यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमाहृत' इति द्वाभ्यां विविदिषासंन्यासोपि संगृहीतः । ततो
'यस्त्वसंयतषड्गुर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः, ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति । सुरानात्मान-
मात्मस्थं निहृते मां च धर्महा । अविपक्वकषायोस्मादमुष्माच्च विहीयत' इति द्वाभ्यां
ज्ञानवैराग्यराहित्ये अविपक्वकषायत्वालोकद्वयहानिरुक्ता । भक्तिमार्गीयस्य तु साधनदशायां
संन्यासे किमप्यधिकं नोक्तम्, किन्तु 'भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसे'त्यादिद्वाभ्यां संक्षेपेण चातु-
राश्रम्यधर्ममुक्त्वा 'इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक् । सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं
विन्दते ददा'मिति फलोक्तिपूर्वकं चातुराश्रम्यधर्मनिरूपणमुपसंहृतम् । तेन भक्तिमार्गीयस्यापि
तत्र सन्निहितो भिक्षुधर्म एव मुख्य इति सिध्यति । एवं सति यदि श्रवणाद्यर्थं संन्यासः
क्रियेत, तत्स्वरूपेण तद्धर्मैश्च विरोधः स्यादित्याशयेन प्रथमं संन्यासस्वरूपविरोधात्मकं
दोषं व्युत्पादयन्ति सहायेत्यादि । संन्यासस्वरूपं हि जाबालश्रुतौ 'तद्वैके प्राजापत्या'मि-
त्यारभ्य 'एवमेवैतद्भगव'न्नित्यन्तेनोक्तम्, तदेवैकादशस्कन्धे 'इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा
सर्वस्वमृत्विजे । अग्नीन्स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजे'दित्यनेनोक्तम् । तथा सति 'अग्न्यु-
पचयनं कृत्वा जीवश्राद्धविधानतः' श्राद्धाष्टकं विधाय प्राजापत्यामिष्टिं कृत्वा मन्त्रेणाग्नीन्
स्वप्राण आवेश्य नैरपेक्ष्येण सर्वत्र परिभ्रमणमिति सिध्यति । श्रवणादिकं तु सहायसङ्ग-
साध्यम्, सहायः समानशीलतया सहकारी, तत्सङ्गेन साध्यम् । नहि श्रावयितारं विना
श्रवणं सिध्यति, न वा श्रोतारं विना कीर्तनम् । तौ च नैतेन सह परिभ्रमत इति न श्रवण-
कीर्तनयोः सिद्धिः । प्रवृत्त्यर्थमिति पाठे तु प्रकर्षेण वृत्तिविद्यमानतेति पूर्वोक्त एवार्थः ।

अथैतेन सह परिभ्रमतस्तदा नैरपेक्ष्येण सर्वत्रैकाकिपरिभ्रमणरूपं संन्यासस्वरूपं विरुन्धः (स
नेष्यत इत्यर्थः ।) किञ्चेदानीमुत्कटमेधाविशेषाभावात् श्रुतमपि स्वरूपलीलादिकं न हृदि
तिष्ठतीति तत्स्थित्यर्थं पुस्तकादिकं रक्षणीयम्, अर्चनार्थं तदुपकरणमपि रक्षणीयम्, तदपि
नैरपेक्ष्यं विरुणद्धि । अतः श्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां रक्षणाच्च संन्यास-
स्वरूपविरोधतः स नेष्यत इत्यर्थः । यद्वा, 'यस्त्वसंयतषड्गुर्गः' इति द्वाभ्यामसंयतषड्गुर्गस्य
त्रिदण्डोपजीवने वाधकं कथयता भगवता पूर्वोक्तत्रिदण्डिसाधनरक्षणं सूच्यते, तद्रक्षणं च
'एकश्चरेन्महीमेता'मित्यादिभिर्ये धर्माः पूर्वमुक्तास्ते एव कर्तव्यत्वेन सिध्यन्ति, न तु
श्रवणादिकम्, एकचरणे सहायसङ्गाभावात्, सत्यपि सहायसङ्गे स्थितेः कर्तुमशक्यत्वात् ।
तथा च संन्यास उक्तानां साधनानां संन्यासे अवश्याचरणात् । एवं सत्यत एव परस्पर-
स्वरूपविरोधेन तथेत्यर्थः । यद्यपि मूले स्वरूपविरोधत इति पदं नास्ति, तथाप्यत्रे तद्धर्मैश्च
विरोधत इति चकारदर्शनात् मयैवं व्याख्याने समुचित इति न दोषः । अथ त्रिदण्डिनोपि
चातुर्मास्य एकत्रस्थितेः स्मरणात् भगवतापि 'विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशय' इति
कथनात् साधनरक्षणपूर्वकं स्थित्वा श्रवणादिसाधने को दोष इत्याकांक्षायां परस्परधर्म-
विरोधरूपं दोषान्तरं व्युत्पादयन्ति अभिमानादित्यादि । अभिमानो गर्वः, अहन्ता-
ममतात्मको वा, तस्मात्, स्थितौ हि, तत्र 'भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्हान् वर्जयंश्चेरत्,
सप्तागारानसंकृष्टांस्तुष्येऽल्पेन तावता । बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः । विभज्य
याचितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृत'मिति द्वाभ्यामेको भिक्षाप्रकार उक्तः । तत्र सप्तागारेषु कस्य-
चित् दुष्टान्ने प्राप्ते तद्दोषमज्ञात्वा च तस्य भक्षणे कृते त्रिविदिषादशायामिव श्रवणादि-
साधनदशायामपि ग्रन्थादिपक्षपातेन शरीराभिमत्या च प्रतिवादिनिराकरणार्थं पारुष्याव-
मानयोः सम्भवात् । 'अतिवादांस्तिथिक्षेत नावमन्येत कञ्चने'ति संन्यासधर्मेषु भगवदुक्तस्या-
तिक्रमेण तद्धर्मविरोधः । किञ्च, नियोगात् नितरां योगो नियोगः, 'तस्मात्सर्वात्मना
राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्प्राण'मिति द्वितीय-
स्कन्धवाक्यात्तेषामावर्तनं तस्मात् । न हि सकृत् कृतं श्रवणादिकं प्रेममक्तिं जनयति,
किन्त्वावर्त्यमानम्, आवृत्तिश्च स्थित्या, सा च 'एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।
आत्मन्नीड आत्मरत आत्मवान्समदर्शन' इत्याद्युक्तैः परित्यागधर्मैर्विरुध्यते । अतो हेतुद्व-
योपपादिताद्धर्मविरोधादपि तथेत्यर्थः । ननु मास्तु श्रवणाद्यर्थं संन्यासरूपो वैधः परित्यागः,
तथापि गृहादीनां विषयासक्तिजनकतया भगवदासक्तिबाधकत्वेनावश्यं त्याज्यत्वात् । 'ज्ञान-
निष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः । सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर' इत्युक्त-
रीतिकस्य त्यागान्तरस्य भगवदासक्तिसाधनार्थं करणे को दोषः, तादृशत्यागे च स्वरूपधर्म-
विरोधरूपपूर्वोक्तबाधकाभावात्, वैराग्यस्य ज्ञानाजनकत्वं यदा, तदा गृहत्यागः कर्तव्य
इति पक्षस्य नलकूबरमणिग्रीवस्तुतित्वात्पर्यनिरूपणप्रसङ्गे निर्णीतत्वाच्चेत्याशंकां परिहर्तुं
व्युत्पादयन्ति गृहादेरित्यादि । गृहधनादेर्भगवदासक्तिबाधकत्वेन साधनार्थं भगवदासक्ति-

साधनार्थं, यदि तथा अवैधत्यागः कर्तव्यश्चेत् सोपि नेष्यत इत्यर्थः । नेष्यत इति पदद्वयं अत्राप्यनुषज्यते ।

एवमनूद्य परिहरन्ति अग्रेऽपीत्यादिद्वयभ्याम् । त्यागो हि न स्वतन्त्रं साधनमपि तु मार्गाङ्गतयेति पूर्वं न्युत्पादितम् । तथा सति मार्ग एव स्वतन्त्रः साधकः । स च 'भक्त्या सञ्जातया भक्तये'ति वाक्यात्पूर्वं श्रवणादिकमेवापेक्षते । तच्च श्रावयित्रादिरूपं सहायम् । ते च 'हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्परा' इत्यादिना जलभेदे ये निरूपिताः, तादृशास्त्रिदांनीं दुर्लभा इति 'गायकाः कूपसंकाशा' इत्यादिना य उक्ता गायका वा पौराणिका वा मिलन्ति, ते च यथा स्वयं गृहासक्तो विरजिष्यमाणो वा तादृशा एव, न तु स्वत उत्कृष्टाः, अतोऽपि तादृशैरेव संगो भवति, नान्यथा, नोत्कृष्टप्रकारकः । तथा च संगदोषेण स्वाभिप्रेतफलाभावान्नेष्यत इत्यर्थः । अथ यदि तादृशा मध्यमाधिकारिणो मिलन्ति, तदा गृहपरित्यागे को दोष इत्याशंकायां स्वीयदोषादपि तथात्वमाहुः स्वयं चेत्यादि । चोप्यर्थे । स्वयमपि विषयाक्रान्तः । 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टै'रिति न्यायेन पञ्चेन्द्रियविषयाकृष्टमानसस्तानभिधायान् पाषण्डी स्यात्, 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' इति गीतावाक्यात् तादृशः सन्नपधर्मोत्सर्गधर्मशाखाद्यास्थः पाषण्डी स्यात् । तत्र कालस्यापि सहायतामाहुः तु कालत इति । तु पुनः धर्मप्रतिपक्षरूपात् कलेरपि तथा स्यात् । अतस्तादृशानां संगेपि पाषण्डित्वात् पतितः स्यादतो नेष्यत इत्यर्थः । अथ 'कलिं सभाजयन्त्यार्या' इत्यादिवाक्यैः कलेः (श्रवण) कीर्तनाद्यनुगुणत्वेन गृहत्यागे दोषाभावो विभाव्यते, तदापि दोषमाहुः विषयेत्यादि । सत्यं कालः कीर्तनानुगुणः, तथापि फलांशे एवानुगुणो, न तु साधनस्वरूपांशे, तेषु वाक्येषु तथैवोपलभ्यात् । अतो विषयाक्रान्तदेहानां पूर्वोक्तरीत्या विषयारूढस्थूललिङ्गशरीराणां कालतः कलेः सकाशात् हरेरावेशः सर्वदा न, भगवच्चित्तता सर्वदा न भवति, किन्तु कदाचित् । तथा सति यदा आसुरावेशः स्यात्तदा पूर्वोक्तस्य सर्वस्य प्रतिबन्धात् पाषण्डित्वमेव भवेत् । अतो नेष्यत इत्यर्थः । कामत इति पाठे तु काम इच्छा, तथा च विषयकामनया तथा स्यादित्यर्थो बोध्यः । तदेतन्निगमयन्ति अतोऽत्रेत्यादि । अतः उक्तेभ्यो दोषेभ्यः, अत्र काले, भक्तौ भक्तिमार्गे, साधने साधनदशायाम्, तादर्थ्यसप्तमीपक्षे आसक्तिसाधनार्थं वा, त्यागो गृहपरित्यागः नैव सुखावहः । इदानींतनवीतरागिवत् पाषण्डित्वमापादयन् भगवदासक्तिरूपं सुखं न जनयति, तस्मात् मध्यमायामपि साधनदशायां सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । अत्र भक्तिमार्गे भगवता कर्तव्यत्वेन प्रोक्तस्य परित्यागस्य प्रेमभक्तिसाधनदशायामकर्तव्यत्वे साधिते पारिशेष्यात् तत्सिद्धत्वदशयां फलोपकार्यङ्गत्वेन कर्तव्य इति सिद्धम् ॥ ३-६ ॥

तत्र 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतपे'ति गीतायां भगवद्वाक्यात् फलस्य त्रयी विधा । तत्र कस्मै फलाय कर्तव्य इति

विचारणायां प्रवेशस्य मत्कर्मकृन् मत्परम इति वाक्योक्तसाधनान्तरसापेक्षत्वात्ततः पूर्वमुक्त-योर्ज्ञानदर्शनयोरर्थे कर्तव्य इत्याशयेनाहुः विरहेत्यादि ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेशः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा बह्वित्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

विरहस्यानुभवो विरहानुभवः, विरहसामयिको वानुभवो विरहानुभवः, विरहानन्तरोनुभवो वा विरहानुभव इति त्रिधा सम्भवति, तदर्थं कर्तव्य इति फलति, तत्रापि पक्षे जीवस्य सृष्ट्यादौ व्युत्तरणाज्जातो यो विरहस्तस्योद्बोधन आसक्त्या कृते तस्याभीक्षणमनुभवार्थं, द्वितीयपक्षे तु, भक्तियोगमायाभ्यां सह कृत्यासक्तिप्रमन्यायेनोत्पादितोऽध्यासरूपो यो भगवदनुभवस्तदर्थं, तृतीयपक्षे तु 'तासामाविरभू'दित्यादिनोक्तो यः साक्षात्काररूपोऽनुभवस्तदर्थं, तथा चैवं त्रिविधो विरहानुभवोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तद्विरहानुभवार्थं, क्रियाविशेषणमेतत् । तदर्थं तद्यथा स्यात्तथा परित्यागः प्रशस्यते । एकादशस्कन्धे भगवता 'वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्त'मित्यनेनात्यन्तं स्तूयते, अतस्तदर्थं कर्तव्यः । अत्रायमर्थः । पुष्टिमार्गीयाणां जीवानां भगवद्रूपसेवार्थं कायात् सृष्टिः । ते तु जीवाः शुद्धमिश्रभेदाद् द्विधा । तत्र मिश्राणां कदाचिदन्यासक्त्या बाहंकारेण वा मर्यादास्थापनार्थं वा शापादिना भगवद्वियोग इति पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थितम् । तथा गद्येपि सहस्रपरिवत्सरमितकालाद्बुद्धचरणेन भगवद्वियोगः । स च केनचित्प्रकारेण वाऽनन्यभक्त्या वा भगवता निवार्यते । भक्तिमार्गाश्च बहुविधाः । तत्रास्मिन्मार्गे यदा निवारयितुमिच्छति तदा तस्य केनचित्प्रकारेण विरहोत्कट्यमुत्पादयति ।

किञ्च, माया ह्यन्यत्र स्थितमन्यत्र प्रत्याययतीति 'ऋतेर्यं यत्प्रतीयेते'त्यत्र सुबोधिन्यां स्थितम् । भगवांश्च रसलीलायां योगमायासुपाश्रयतीति पञ्चाध्याय्यारम्भे स्थितम् । सा च न विश्वमायाऽपि तु भगवद्योगार्था माया । एवं सति यदा भगवानेनं जीवं युयुक्षति, तदास्य योगमायया स्वाज्ञानं विरहं चोत्पादयति, अनन्यभक्तिश्च परमा तिरोधाननाशिका । अन्तर्बहिश्च भगवन्तमनुभावयति । भगवांस्तु सर्वमन्तर्बहिव्याप्तुवानोपि विरुद्धधर्माश्रयत्वात् परिछिन्नः । एतन्मार्गे च भगवतो बहिः प्राकट्यमेवाभीष्टं, तदैवेश्वरवादोन्यदा शून्यवादः । एवं सति युयुक्षाविषयस्य भक्तस्नानन्यभक्तिकृतो योन्तःसाक्षात्कारस्तस्य बहिष्प्रमापादयन्ती माया आसक्तिभ्रमन्यायकं करोति । तादृशो यः साक्षात्कारः, सर्वात्मभावजन्यो भूमविद्यायां सर्वविधप्रत्ययविलक्षणतया सिद्धः, स एव विरहानुभवपदेन बोधितः । तदर्थं यः परित्यागः स एकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये भगवता अत्यन्तं स्तूयते । किञ्च, विरहानन्तरभावी अनुभवो बहिः साक्षात्काररूपं सम्यग्दर्शनं, तदर्थं यः परित्यागः स भगवता प्रकर्षेण, 'यथा अधनो लब्धधने विनष्टे' इति सार्धद्वाभ्यां पञ्चाध्याय्यां स्तूयते, अतस्तदर्थं कर्तव्य इत्यायाति । एतयोरौघस्य प्रशंसा व्युत्पाद्यते । तथा हि, 'वदन्ति कृष्ण श्रेयांसी'त्यादिना वैदिकोक्तसाधनानां भगवदुक्तभक्तेश्च तारतम्ये ष्टये, भगवता 'धर्ममेके यशश्चान्य' इत्यादिना भक्तेः फलोत्कर्षं, 'अकिञ्चनस्य दान्तस्ये'त्यनेन स्वरूपोत्कर्षं, 'न पारमेष्ठ्य'मित्यादिभिरनन्यभक्तोत्कर्षं, 'निःकिञ्चना' इत्यनेन स्वसुखोत्कर्षं, 'बाध्यमानोपी'ति द्वाभ्यां स्वभक्तेर्वलवत्त्वं, 'न साधयती' त्यनेन स्ववशीकर्तृत्वं, 'भक्तिः पुनाती'त्यर्थेन भक्तेरत्यन्तपावनत्वं, 'धर्मः सत्ये'त्यनेन धर्मादीनामतादृशत्वं चोक्त्वा, 'कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना । विनानन्दाश्रुकलया शुभ्येद्भक्त्या विनाशय' इत्यनेन ऊर्जितां भक्तिं लक्षणैः परिचाययित्वा, ततो 'वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं, रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च । विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाती'त्यनेन विरहावस्थायव्यञ्जनपूर्वकं तादृशभक्तिमानत्यन्तं स्तूयते । अतस्तस्यां दशायां जातायां तदर्थं कर्तव्य इत्यर्थबलादायाति । तथा तत्रैव द्वितीयाध्याये कविनापि 'मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य' 'यानास्थाय नरो राज'न्नित्यादिभिर्भगवद्भर्मानुपक्रम्य, 'शृण्वन् सुभद्राणि रथांगपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके । गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसंगः । एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः । हसत्यथो रोदिति रौति गायत्यनुमादवञ्चत्यति लोकबाह्यः । खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन् । सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः । भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एव कालः । प्रपद्यमानस्य यथाश्रतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपाभेनुघासं । इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः । भवन्ति वै भागवतस्य राजस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षा'दित्यन्तेनोच्यते । एतत्सुबोधिन्यां च प्रथमस्कन्धीये 'नामान्यनन्तस्ये'ति नारदवाक्ये कर्मज्ञानभक्तीनां त्रयाणां फलसाधकस्तत्रितयानुक्तयो य

उक्तस्तत्स्वरूपमत्र कविनोच्यत इत्येवमवतार्यैते पञ्चश्लोका व्याख्याताः । तत्र प्रथमे 'आदौ गृहान्निर्गत' इति कथनेन त्यागावस्था बोधिता, भगवज्जन्मादिश्रवणं तद्दानं विचरणं लज्जाभावश्च, अनुकल्पस्वरूपत्वेन बोधितः । ततो द्वितीये 'एवं व्रत' इत्याद्युक्तैरष्टधर्मैः प्रकृत्युल्लङ्घनेनालौकिकत्वरूपं लोकबाह्यत्वं बोधितम् । तेन विरहानुसन्धानावस्थैव स्फुटीकृता । ततस्तृतीये एवं विचरणकर्मणा लोकपरित्यागेन ज्ञानभक्ती एकहेलया युगपन्निरूपिते । तत्र खादिषु समुद्रान्तेषु लौकिकप्रत्यक्षविषयेषु प्रणमनक्रियाकर्मत्वं हरिशरीरत्वेनोच्यते । तेन तेषु तथात्वज्ञानमर्थादाक्षिप्यते । अत आक्षिप्तेन 'ज्ञात्वे'त्यन्तेन ज्ञानं 'प्रणमेदनन्य' इत्यनेन साधनभक्तिर्बोध्या । ततश्चतुर्थपञ्चमाभ्यां दृष्टान्तपूर्वकं परमभक्तिभगवज्ज्ञानतदतिरविरक्तीनां युगपद्भवनेन साक्षात्परमशान्तिरूपं फलमुक्तम्, तेनापि कर्मज्ञानभक्तीनां यत्परमं फलं तदनेन मार्गत्रितयानुकल्परूपेण परित्यागेन भवतीति तादृशत्यागप्रशंसैव सुबोधिन्युक्तप्रकारेण सिध्यतीति बोध्यम् । नन्वेवं सत्यत्र संन्यासवेशः कुतो नोक्त इत्यत आहुः स्वीयेत्यादि । स्वीयाः पुत्रदारादयः तत्कृतो यो बन्धः, स्वस्य तेष्व्वासत्त्यभावेपि तेषां स्वस्मिन्याऽऽसक्तिस्तन्नित्यर्थः, अत्र अस्मिन्भक्तिमार्गीये संन्यासे, स वेशः, त्रिदण्डकौपीनधारणादिवेशः । न चान्यथा । चोवधारणे, अन्यथा तत्कृतबन्धाभावे सति, न च नैवापेक्षितः, अतो यस्य बन्धसंभावना तस्य स वेश आवश्यको, नान्यस्येत्यसार्वत्रिकत्वान्नोक्त इत्यर्थः । ननु भगवदुक्तेषु प्रशंसावाक्येषु परित्यागो न प्रकटतया प्रतीयते, कविवाक्येषु च ज्ञानमिश्रभक्तेः प्रशंसा प्रतीयते । खं वायुमग्निमिति वाक्यात् । तथा सति शुद्धभक्तिमार्गीयस्य त्यागस्य प्रशंसा कथं निश्चेतुं शक्या, तत्प्रसिद्ध्यभावादित्याकांक्षायां तत्प्रसिद्ध्यर्थाहाडुः कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरव इति । कौण्डिन्यो ह्यनन्तदोरकस्याग्रौ प्रक्षेपेणोत्पन्नादपराधाद् दारिद्र्यमापन्नः, स्वपत्न्याः शीलाया वाक्यादनन्तापराधजन्यं तद्बुद्ध्वा निर्विण्णोऽनन्तं ध्यायन् कद्रक्ष्यामीत्याशया गृहाद्वनं निर्गतो, निरशनं व्रतं ब्रह्मचर्यं च कृत्वा हरिं जपन् निर्जेनेरप्ये चूतवृक्षं गोप्रभृतींश्चेतनानचेतनांश्च बहून् पप्रच्छ, तैः सर्वैरपि नानन्तोस्माभिर्दृष्ट इत्युक्ते विह्वलीभूतो जीविते निराशो दीर्घमुष्णं च निश्चस्य भूतले पपात, ततः किञ्चित्कालोत्तरं संज्ञां प्राप्यानन्तेति जल्पन् तस्मिन्क्षणे सुनिर्विण्णोऽभूत् । ततः कृपयाऽनन्तदेवोपि वृद्धब्राह्मणरूपेण प्रत्यक्षीभूय 'इत एही' त्युक्त्वा पातालं प्रवेश्य, कौण्डिन्यं दक्षिणे करे गृहीत्वा स्वपुरीं दर्शयामास । तत्र दिव्यसिंहासनस्थितं स्वात्मानं च स्वायुधगरुडाद्युपशोभितं दर्शयामास । ततस्तं दृष्ट्वा परया मुदा प्रसन्नः कौण्डिन्यः 'पापोहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः । त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष शरणं मे भवाच्युत । अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् । यत्तवांग्रियुगांगभोजे मन्मूर्द्धा अमरायत'इत्युक्तवान् । भगवांस्तु तस्मै दारिद्र्यनाशनं धर्मसनातनं विष्णुलोकं च वरं दत्तवानिति भविष्योत्तरे भगवता युधिष्ठिरं प्रत्युक्तम् । तेनायं परित्यागः रूपादिकृतबन्धाभावात् संन्यासवेपरहितः स्वफलसाधने साधनान्तरापेक्षारहितः

प्रसन्नध्येयसाक्षात्कारफलकः अवैधः शुद्धभक्तिमार्गीयश्चेति सिध्यति । अत एव वेदस्तुतौ 'एकदा नारदो लोका' नित्यत्र सुबोधिन्त्यामुक्तम् । 'एवमेव च परिभ्रमणं कर्तव्यं यथा कौण्डिन्येन कृत'मिति । गोपिकानां तु फलप्रकरण एव भगवत्प्राप्त्यर्थं सर्वपरित्यागः पूर्वमुक्तः । ततो मदमानाभ्यां भगवत्तिरोभावे भगवद्विचयनं, ततः प्रसादार्थं गानं, ततो दैन्येन रोदनं, ततो भगवत्प्रादुर्भावः, ततो भगवत्कृता तत्यागप्रशंसा, ततो लीलानुभव उक्तः, तत्रापि पूर्ववदेव वेषराहिल्यादिकं फलपर्यन्तं सिद्धम्, अतस्त एवात्रैतत्परित्यागप्रवर्तकत्वाद्गुरवः, तथा चैवं शास्त्रप्रसिद्धत्वात् । 'एवं मदर्थोज्ज्वले'त्यादिना भगवता ब्रजभक्तकृतत्यागस्य प्रशंसनाच्चैकादशस्कन्धीयप्रशंसावाक्यानामप्येतदारंभावस्थासूचकतयैतत्प्रशंसायामेव तात्पर्यम् । तत्रापि द्वादशाध्याये 'रामेण सार्ध'मित्यादिभिस्तत्कृतसाधनस्यैव प्रशंसनात्, उद्धवस्य तदर्थसन्देह एवाग्रिमग्रन्थाद्यतारात् । उचितं चैतत्, यदारम्भः प्रशस्तस्तस्य परमा काष्ठा प्रशस्तेति । अतस्तत्परैव सा प्रशंसा निश्चयेत्यर्थः । अत्र कौण्डिन्यग्रहणं निरपेक्षभक्तानां बहुविधत्वात्कृतपरित्यागार्थं बोध्यम् । एतत्प्रशंसायास्तद्दर्शनात्, विरहोत्तरभाव्यनुभवार्थमात्रत्वेनैव विवक्षितत्वाच्च । एवं च यो यो यादृग्भक्तिमान् त्यागं चिकीर्षति तस्य तस्य तादृग्भक्ता एवेदगवस्थाका गुरव इत्यपि बोधितम् । भगवदुद्धवसंवादसमाप्तौ अञ्जसा सिद्धिहेतुप्रश्ने 'देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि चे'ति भक्तचरिताश्रयणस्य तथात्वेनोपदेशादिति । एतेषां गुरुत्वं च स्वचरितेनैतन्मार्गप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाद्दत्तात्रेयगुरूणां पृथिव्यादीनामिव बोध्यमित्याशयेनाहुः साधनं च तदिति । एतेनोपदेशानपेक्षायत्र बोधिता । अत्र विरहानन्तरभाविनां तत्कृतानां साधनानां बहुत्वात्तानि सर्वाणि कर्तव्यान्वयुत किञ्चिदेकमित्यपेक्षायां तत्सर्वप्रयोजकमादिभूतं यत्साधनमवश्यं विवक्षितं तदत्र कार्यतयेष्यत इत्याहुः भावो भावनयेत्यादि । भगवति परमा रतिर्भावः । 'रतिर्देवादिष्विषया भाव इत्यभिधीयत' इति वाक्यात् । सोपि न स्वतः सिद्धो विवक्षितः, तस्य स्वाभाविकत्वात्, किन्तु भावनया निरन्तरचिन्तया सिद्धः प्रचितः तादृशस्यैव साक्षात्कारफलकतायाः साधनान्तरसाधकतायाश्च पूर्वोक्तोपाख्यानद्वयेपि सिद्धत्वात् । अतः स एव साधनं, नान्यदिष्यते, अन्यद्विचयनादिकं साधनत्वेन नेष्यत इत्यर्थः । ननु तस्यापि तत्र सत्त्वात् कुतः साधनत्वेन नेष्यते इत्यत आहुः विकलत्वमित्यादि । जडेष्वयोग्येषु च प्रश्नो विकलत्वम् । तथा अस्वास्थ्यं प्रकृत्या स्थिरभावः । एतत् द्वयं प्रकृतिः विरहावस्थास्वभावः । तत्रापि हेतुः प्राकृतं न हीति । प्रकृतिसम्बन्धि प्राकृतं, स्वस्थावस्थाप्राप्तं न दृश्यते, हि यतो हेतोः, तथा च तद्यदि स्वस्थावस्थाहेतुकं स्यात्तदा साधनत्वेनेष्येत । अतस्तदभावान्नेष्यत इत्यर्थः । ननु तर्ह्येकादशस्कन्धे 'शृण्वन् सुभद्राणी'त्यादिश्लोकत्रयोक्तभगवज्जन्मकर्मश्रवणकीर्तनगानादयः सर्वत्र भगवच्छरीरत्वेन ज्ञानं च स्वस्थावस्थाधर्मत्वात् साधनत्वेनेष्येत तत्सजातीयधर्मत्वादित्याकांक्षायामाहुः ज्ञानमित्यादि । ज्ञानं

सर्वस्य भगवच्छरीरत्वेन ज्ञानम् । गुणाश्च श्रवणकीर्तनगानविषया भगवद्गुणा अपि, तस्यैव भावनाप्रचितभावस्यैव, वर्तमानस्य तदन्तःकरणादिषु व्याप्तस्य, बाधकाः वर्तमानतानाशकाः, यथायथं शुकादिषु मथुराप्रयातभगवद्विशुक्तविशोकगोपिकासु च दृष्टाः, अतो नेष्यन्त इत्यर्थः । ननु तादृशज्ञानं साक्षात्कारफलकम्, गुणाश्च शोकाभावफलकाः, 'विशोका अहनी निन्यु'रिति वाक्यात् । अतः विरहानुभवस्वरूपबाधेपि को दोष इत्याकांक्षायां प्रथमतः ज्ञानभावनयोः फलतारतम्यं व्युत्पादयन्ति सत्येत्यादि । संन्यासेन विशेषितात् सहकृतात् सर्वत्र ब्रह्मस्थितिवोधकात् परोक्षज्ञानात्, सत्यलोके चतुर्मुखलोके स्थितिः । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितायाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्व' इति (तैत्तिरीय) श्रुतेः । अस्यां श्रुतौ वेदान्तविषयकनिश्चितपरोक्षज्ञानवतां संन्यासिनां शुद्धसत्त्ववत्त्वेन ब्रह्ममुक्तिकाले परामृतं प्राप्य मुक्तिरुक्ता । छान्दोग्ये तु 'यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती'ति मरणानन्तरमेव भावनानुरूपं पारलौकिकतात्कालिकफलं श्रावितम् । अतो यत्र पुरुषे भावना साधनं तत्र तथा तादृशमेव फलं भवेत् । चोवधारणे । तथा च ज्ञाने फलस्य भेदः कालस्य विलम्बश्च दोष इत्यर्थः ।

ननु 'यथैवांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथे'ति गीतावाक्यात् प्रबले ज्ञाने कर्मणां निःशषनाशात् न कालविलम्बः । 'हरेः शरीर'मित्युक्ततया ज्ञानस्य भगवद्विषयत्वाच्च न फलभेद इत्याशंकायामाहुः तादृश इत्यादिसार्धम् । तादृशः प्रबलज्ञानवान् सत्यलोकादौ विद्युद्रूपेन्द्रप्रजापतिलोकेषु तिष्ठत्येव, तत्रत्यभोगेन स्वप्रारब्धमपनयन्नातिवाहिकवैद्युतपुरुषागमनपर्यन्तं स्वप्रारब्धानुसारेण तिष्ठत्येव न संशयः । परान्तकालप्रतीक्षाऽभावेपि वैद्युतपुरुषप्रतीक्षाया आतिवाहिकाधिकरणे सिद्धत्वात् । ज्ञानप्राबल्येपि तादृशस्य विलम्बे सन्देहो नेत्यर्थः । नन्विदं भावनापक्षेपि तुल्यमित्याशंकायामाहुः बहिरित्यादि । अरणिमथनप्राबल्येन बहिरिव भावनाप्राबल्येन बहिः प्रकटः स्वात्मा पुरुषोत्तमो यदि बहिवद्बहिर्व्याप्य पुनरन्तःप्रविशेत्, तदैव तस्मिन्नेव काले सकलो बन्धो बाह्य आभ्यन्तरश्च नाशमेति, निवर्तते, न चान्यथा अन्यथा न निवर्तते एव । तथा च 'यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामा येस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नत' इति श्रुत्या तदानीमेव बन्धाभावस्य फलाध्यायद्वितीयपादारम्भे 'वाङ्मनसि दर्शना'दिति सूत्रे विचारितत्वात् अन्तर्गृहगतगोपिकासु तथैव दर्शनाच्चेति न भावनापक्षस्य ज्ञानतौल्यम् । अतो विलम्बापादकत्वात् ज्ञानं साधनत्वेन नेष्यत इत्यर्थः । एतेन शुद्धभक्तिमार्गीयत्यागे ज्ञानमिश्रपक्षोपि निवारितः । तर्हि गुणानां तथात्वमस्त्वित्याकांक्षायामाहुः गुणास्त्वित्यादि । तुः शङ्कानिरासे । श्रवणादिविषया गुणाः सङ्गराहिल्यात्, भावनासिद्धस्य भावस्याप्राबल्ये भगवतो बहिः प्राकट्याभावेन तत्सङ्गराहिल्यादुद्धेद्विरहे जीवनार्थं भवन्ति । हि निश्चयेन । विशोकवाक्ये तप्तजीवनवाक्ये च तथैव सिद्धत्वात् । अतो विलम्बापादकत्वेन मध्यमाधिकारे ते उपयुज्यन्ते । अतो मुख्याधिकारे तेषां साधनत्वेन नेष्यन्त इत्यर्थः । ननु यद्येवं गानादिविषयाणां गुणानामपि बाधकत्वम्, तर्हि

भाष्यमानस्य भगवतोपि विलम्बापादकत्वेन बाधकत्वं कुतो न स्यादित्यत आहुः भगवान्-
नित्यादि । स हि फलरूपः, प्राप्तश्चेत् फलमेव जातं साधनस्य, अतः फलरूपत्वात् साध-
नावस्थानिवर्तकत्वेपि बाधकत्वेन नेष्यत इत्यर्थः । एतेन येषु बहिः प्राकट्योत्तरमन्तःप्रवेश-
स्तेषां सद्योमुक्तिः, येषु च बहिः प्राकट्यमेव, नान्तःप्रवेशस्तेषामिहैव लीलानुभव इति मुख्ये-
ष्वपि व्यवस्था सूचिता । तेन न कोपि कापि विरोध इति ध्येयम् । ननु यदि भगवान् फल-
रूपत्वान्न बाधकः, तदा फलरूपत्वादेव यथा विजने दर्शनार्थं यतमानाय नारदाय दर्शनं दत्त्वा
तिरोहितः सन् पुनर्दर्शनार्थं यतमानं तं प्रति 'हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मजनतामसी'ति
स्वास्थ्यार्थं वाक्यमुक्तवान्, तस्य स्वास्थ्यं च कृतवान्, तथा अत्र कुतो न वक्ति? स्वास्थ्यं
च कुतो न करोतीत्यत आहुः स्वास्थ्येत्यादि । स्वास्थ्यं च वाक्यं स्वास्थ्यवाक्यम्,
विभाषैकवद्भावः । स्वास्थ्यसहितं वाक्यं स्वास्थ्यवाक्यं तत्, भगवतः न कर्तव्यम्,
अहं तव्यः, कर्तुं योग्यं न भवति । तत्र हेतुः, दयालुर्न विरुध्यत इति । अयमर्थः ।
नारदो ह्यविपककषायः परं शुद्धभाव इति तस्य स्वास्थ्यार्थं तिरोहित एव वाक्यमुक्तवान्,
स्वास्थ्यं च कृतवान् । प्रकृते त्वन्तर्गृहगतानामिवास्य बन्ध एव तत्कालं नाशनीयः । स
बन्धो यदि प्रारब्धकृतस्तदा भगवद्विरहजतीव्रतापभगवदाविर्भावजाश्लेषसुखाभ्यामेव निव-
र्तनीयः, भावस्यौत्कट्यात् । यदि तादृशेपि वाक्यं वदेत्, स्वास्थ्यं वा कुर्यात्, तदा सद्यो-
मुक्तिं विरुध्यतात् । अतो दयालुत्वात् विरुध्यते । अयं कर्मकर्तृप्रयोगः । तथा च स्वा-
स्थ्यवाक्यकरणमेव दयालुं विरुणद्धि । स्वयं तु दयालुर्न विरुध्यते । अतः परमकृपया स्वय-
मेव शीघ्रं बन्धनिवृत्तिं विधास्यन् तत् द्वयं न करोतीत्यतः स्वास्थ्यवाक्यं कर्तुमनर्हमित्यर्थः ।
ननु यद्येवं तर्हि 'वाग्गद्दे'त्यादिना भुवनपावनत्वेन यः स्वयं प्रशंसितः, तादृशस्य स्वास्थ्य-
दिकमपि न करोतीत्याशंकायामाहुः दुर्लभोयमित्यादि । अयं सद्योमुक्तिसम्पादकः परि-
त्यागः तादृशस्यापि दुःप्रापः । तत्र हेतुः । प्रेम्णा सिध्यति नान्यथेति । तथा च ते
यद्यपि परमभक्ताः, तथापि सर्वज्ञत्वात् केचन पुष्टिमिश्राः, केचन गुणज्ञत्वान्मर्यादामिश्राः,
न तु शुद्धाः सदा प्रेमप्लुताः स्वरूपमात्रपराः । अतस्तादृगधिकाराभावात् करोतीत्यर्थः । एवमत्र
भक्तिमार्गीयत्यागे गुरुद्वयस्य कथनेन फलविलम्बशैश्यताकालिकफलकथनेन चावस्थाभे-
दादिसूचनादधिकारिभेदात् त्रैविध्यं निरूपितम्, स्वरूपं च सपरिकरं विचारितम्, प्रेमभेद एव
तत्र तत्र तादृशाधिकारसम्पादक इति च साधितम् ॥ ७-१३३ ॥

अतः परं नन्वेकादशस्कन्धीयप्रशंसायाः भक्तिपरमकाष्ठारूपेऽस्मिन् दुर्लभे परित्यागे
पर्यवसन्नतायां प्रारम्भदशाकर्तव्यस्य परित्यागस्य विलम्बवत्तया ज्ञानमार्गीयत्यागतौल्येन
विशेषाभावादविचारितत्वाच्चैतं विहाय विचारितो ज्ञानमार्गीय एव कर्तव्यः, किमेतद्विचारेण-
त्याशंकायां भक्तिमार्गीयस्यारम्भदशायां निःप्रत्यूहत्वं वक्तुं ज्ञानमार्गीयस्य सविघ्नतामतिविल-
म्बवत्तां च साधयन्ति ज्ञानमार्गं इत्यादि ।

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ॥ १६ ॥

तुः पूर्वोक्तशङ्कानिरासे । ज्ञानमेव मार्गं ज्ञानमार्गः । तत्र द्विविधोपि संन्यासा
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च यथा स्यात्तथा विचारितः । क्रियाविशेषणद्वयमेतत् । उत्तरतत्रे तृतीयस्य
तुरीये पादे 'ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हीति' सूत्रे विविदिषोर्ज्ञानोत्पत्त्यर्थतया जातज्ञानस्य फला-
नुभवप्रतिबन्धनिवारकत्वेनान्तरङ्गतया च कर्तव्यत्वेन निर्णीतः । परं सिद्धिः साक्षात्काररूपा
जन्मशतैः, न तु शीघ्रम्, 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स
महात्मा सुदुर्लभ' इति गीतावाक्ये परोक्षज्ञानवतो 'वासुदेवः सर्व'मिति स्वप्रपत्तेर्बहुजन्मान्ते
कथनात् । प्रपत्तिरपरोक्षं ज्ञानम्, तस्य विलम्बेन भवने हेतुं व्युत्पादयन्ति ज्ञानं चेत्यादि ।
ज्ञानं गीतावाक्योक्तरीतिकसाक्षात्काररूपं साधनापेक्षम्, कर्मज्ञानभक्तिरूपं साधनं खोत्पत्ताव-
पेक्षते । अत्र प्रमाणम्, यज्ञादिश्रवणात् निष्कामानामपि यज्ञकरणस्य 'अथाकामयमान'
इति श्रुतौ प्रतिपादनात्, तदेतत् 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्व'दिति सूत्रे विचारितम्, ज्ञानं
च न शमदमादिमात्रेण सम्पद्यते, किन्तु यथाश्रममाश्रमकर्मापि शमादिसहकारित्वेनापेक्षत
इति सहकारित्वसूत्रे व्युत्पादितम् । अतः देशद्रव्यादिरूपसाधनवैगुण्येन विहितकर्मात्मक-
सहकारिशून्यैः केवलैः शमादिभिर्ज्ञानानुदयात् स विविदिषादशोक्तः संन्यासः कलौ
पश्चात्तापाय अनन्तरं खेदाय । तर्हि विद्वद्दशोक्तः कर्तव्य इत्यत आहुः नान्यथेति ।
अन्यथा विद्वत्प्रकारकः कलौ तस्साधनासम्भवान्नेत्यर्थः । किञ्च, न खेदमात्रं किन्तु पाष-
ण्डित्वं चापि भवेत् । भिक्षादिशुद्ध्यभावोपधर्मसंसर्गवत्त्वम्, चकारादवकीर्णित्वम्, अ-
पिशब्दात्, 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुष्येत्
स आत्महे'ति वाक्योक्तः पातः संगृह्यते । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । यस्मात् विविदिषा-
संन्यासस्य कलौ खेदादिजनकत्वम्, विद्वत्संन्यासस्य चासम्भवस्तस्मात् ज्ञानमार्गं वैधं
संन्यासं न कुर्यात्, तत्र हेतुः, सुतरामित्यादि इति स्थितमिति । कलौ संन्यासं निषे-
धद्धिः शास्त्रकारैरेव निर्णीतमित्यर्थः । तेन संन्यासप्रतिप्रसवशास्त्रं काचित्कत्वात् सर्वत्रोपयु-
ज्यत इति बोधितम् । एवमत्र भगवदाज्ञया कर्तव्यस्य परित्यागस्य विचारणायामेतावत् सिद्धम् ।

कर्ममार्गं जैमिनिमते परित्यागस्याकर्तव्यता, मतान्तरे चातुराश्रम्यपक्षेण कर्तव्यत्वेपि
कलिकालादकर्तव्यता, भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वेनोक्तत्वेपि श्रवणादिप्रसिद्धार्थं करणे संन्यास-
स्वरूपतद्भर्मयोर्विरोधात् संन्यासत्वेन रूपेणवैधत्यागरूपेण चाकर्तव्यता, तथैव खेदसाधनार्थं

करणेपि प्रेमानन्तरं त्ववैधस्य परित्यागस्य स्वत एव सिद्धिर्मुख्याधिकारिणः । तत्र च नाज्ञापेक्षा, तथैव मध्यमस्यापि । परं तस्य प्रारब्धप्रतिबन्धनेषद्विलम्बः फले । तथैव ज्ञानमिश्रस्यापि । ज्ञानमार्गे तु विविदिषादशायां विचारितोपि कलिकालजदोषसम्भावनात् कर्तव्यः, विद्वत्संन्यासस्य तु कलिदोषेण ज्ञानासम्भवादसम्भव एव ॥ १४-१६३ ॥

अतः परं प्रेमारम्भदशायां परित्यागोवशिष्यते, तं विचारयितुं प्रश्नमुखेनाशङ्कन्ते भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमिति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तेः प्रेमरूपाया यो मार्गः उपायभूतः परित्यागस्तत्रापि कलिप्रभृतिभिः कृतो दोष उत्पद्यते चेत्तदा तत्परिहारार्थं किं कार्यमित्यर्थः । तत्रोत्तरमुखेन समादधते उच्यते । अत्रेत्यादि । अत्र प्रेमभक्तावारम्भे आरम्भदशायां परित्यागे नाशः कलिप्रभृतिभिः कृतेन दोषेण तदवस्थातो हीनत्वसम्भवः स न स्यात् । तत्र हेतुः । दृष्टान्तस्याप्यभावत इति । अत्र नाशपदं सप्तम्या विपरिणतं पुनरन्वेति, तथा च अत्रारम्भे नाशेऽनुमीयमाने दृष्टान्तस्याभावात् अपिना दोषान्तराच्च, तथा हि उक्तारम्भदशायां गृहत्यागकर्ता नश्यति, तदानीं त्यागकर्तृत्वात्, अत्र यदेवं तदेवमित्यन्वयव्याप्तौ दृष्टान्ताभावः, व्यतिरेके तु यत्र यत्र तादृशत्यागकर्तृत्वे सति नाशाभावः, तत्र तत्र त्यागकर्तृत्वाभाव इति व्याप्तेरेव शून्यता, तादृशत्यागकर्तृत्वे सतीति विशेषणानङ्गीकारे तु तादृशव्याप्त्या गृहत्यादिष्वेवानाशसिद्ध्या तादृशत्यागकर्तृत्वस्यैवालाभ इति दृष्टान्ताभावः । यदि तु भक्तिमार्गीधारम्भदशायां तस्यागकर्तृत्वात् अविपक्वकषायत्वाद्वा सङ्गदोषसंभवाद्वा श्रवणादिप्रसिद्धार्थत्यागकर्तृवदित्यनुमातव्यम्, तदाप्यसङ्गतम्, नारदपूर्वजन्मदृष्टान्तेन आद्ययोः साधारणत्वात्, तृतीयस्य तु 'गायन्विलज्जो विचरेदसङ्ग' इति वाक्येन स्वरूपासिद्धत्वात् । पूर्वोक्तदशायां गृहत्यागकर्ता न नश्यति, पूर्वोक्तारम्भदशायां त्यागकर्तृत्वात्, पूर्वजन्मीननारदवदिति प्रत्यनुमानेन निरस्तत्वाच्च । न चेदमप्रयोजकम् । नारदपूर्वजन्मकथासन्दर्भियवाक्यैस्तादृशां नाशस्यैवासिद्धत्वादिति । अनेनैव हेतुना नाशानुमाने तु सिद्ध एव दृष्टान्ताभाव इति सुष्टूक्तं दृष्टान्तस्याप्यभावत

इति । किञ्च, अयं त्यागो हि भगवद्दर्मः । 'धर्मान्भागवतान् ब्रूते'ति निमेषे प्रश्ने कविना 'ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये । अङ्गः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्' इति लक्षयित्वा 'कायेन वाचे'त्यादिभिः कथ्यमानेषु 'गायन् विलज्जो विचरेदसङ्ग' इत्यनेनासङ्ग-विचरणरूपस्य त्यागस्यापि बोधनात् । भगवद्दर्मस्यारम्भेपि न ध्वंस इत्यपि भगवतैवोक्तं 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्दर्मस्योद्भवाण्वपी'ति । तथा चातोपि न नाश इत्यर्थः । न चैवं सति श्रवणादिप्रसिद्धार्थं कृते त्यागे कथं ध्वंस इति शङ्क्यम् । तस्यां दशायामज्ञानात्तत्करणेन उपक्रमत्वाभावात् । 'ज्ञात्वारम्भ उपक्रम' इति कोशेन ज्ञात्वारम्भस्यैवोपक्रमत्वादिति । ननु मास्तु नाशस्तथापि देहरक्षणार्थं भिक्षादेरावश्यकत्वात् फलविलम्बसम्पादको बाधः केन वार्यतेत्यत आहुः स्वास्थ्येत्यादि । त्यागिनः स्वास्थ्यस्य हेतुर्हि विगर्हभिक्षेषु चतुर्षु वर्णेषु भिक्षा तस्यास्यागात् । 'चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोप्यशुष्यन् । रुद्धा गुहाः किमजितोवति नोपपन्नान् कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्' इत्युक्तरित्या त्यागात् । यद्वा, अत्र स्वास्थ्यहेतुपदं परित्यागविशेषणम्, परित्यागादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः स्वरूपावस्थित इति यावत् । तस्य भावः स्वास्थ्यम्, तद्धेतुर्यः परित्यागस्तं प्राप्य जीवन्मुक्त एव जात इति । अस्यैतादृशस्य बाधः केन सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । नन्वेवमविद्याकामादीनां बाधकत्वाभावेपि कालादिभिर्बाधः केन वार्यतेत्याकांक्षायां कैमुतिकन्यायेनाबाधमुपपादयन्ति हरिरित्यादि । हरिः स्मर्तुः सर्वाघदुःखहर्ता सोपि अत्रास्मिन् परित्यागे बाधां कर्तुं न शक्नोति । अस्य भगवद्दर्मस्य स्वयमेवोक्तत्वात्, 'वक्ता कर्ता विना नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवी'ति वाक्येन स्वयमेवानाच्च । तथा सति अपरे कालादयः कुतो हेतोः कर्तुं शक्नुयुः । ते हि भगवदधीना इति न तत्कृतोपि बाधसम्भव इत्यर्थः । अत्र तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । अत्र पुपुषुरिति अत्यन्तापह्वने लिङ्गकत्व इति वार्तिकालिङ्ग । तथा च स्वधर्मोत्पादको रक्षकश्च भगवानेव यदि बाधां कुर्यात्, तदा मातरो जनयिष्यः बालान् स्वोत्पन्नान् यस्तन्त्यैः पुष्णन्ति, तन्न पुपुषुः, ततश्च तत्कृतं पोषणमत्यन्तापह्वतमेव स्यात्, तथा च भगवत्कृतो बाधस्तर्कादपि बाधित इत्यर्थः । ननु भवत्वेवं, तथापि मोहनार्थं नियुक्ता या माया सा तु स्वकार्यं मोहं कुर्यादेव, 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती'ति वाक्ये भगवत्प्रियतमस्य ज्ञानिनोपि तत्कृतमोहसोक्तत्वादित्यत आहुः ज्ञानिनामित्यादि । 'ज्ञानिनामपी'ति वाक्यं ज्ञानिनामपि वाक्यं उत्तरपदलोपी समासः । तथा चानेन मार्कण्डेयवाक्येन ज्ञानिनामेव मायाकृतो मोह उक्तो, न तु भक्तानां, अतः सा भक्तं न मोहयिष्यति । गीतायां 'दैवी ह्येषे'ति वाक्ये भगवता तस्याः प्रपत्तितरणीयत्वकथनात्, उक्तविध-भक्तस्य च प्रपन्नत्वे सन्देहाभावात्, अतो दूरापास्तं मोहनमित्यर्थः । न चेति कारणाभावे ज्ञानिनामिति पदस्य कथं वाक्यबोधकत्वमिति शङ्क्यम्, प्रक्षिप्ताध्यायेषु 'यावद्ब्रह्मके'ति श्लोके 'सर्वं विष्णुमयं गिर'इत्याचार्यैः श्रीवरेण च सर्वं विष्णुमयमिति पदद्वयस्येति कारणाभा-

वेपि 'सर्वं विष्णुमयं जग'दिति वाक्यप्रतीकताया अङ्गीकारेणात्रापि तथोक्तौ दोषाभावा-
दिति । चात्रामतेष्वेवम् । किञ्च, अयं भक्तः आत्मप्रदः आत्मानं भगवते प्रकर्षेण
सर्वसाहित्येन समर्पितवान्, न तु स्वार्थमात्मानमपि स्थापितवान् । तथा प्रियश्चायं भग-
वतः, 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' इति वाक्यात् । माया तु भगवतस्तद्भक्तेभ्यश्च जिह्रेति,
'विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेषुया । विमोहिता विकल्थन्ते ममाहमिति दुर्धिय' इति
द्वितीयस्कन्धवाक्यात् । उक्तभक्तस्य तु न दुर्धीत्वम्, भगवति वदसौहृदत्वात् । नाप्यन्यत्रा-
सक्तिः । अतः किमर्थं मोहयिष्यति । तथा चोक्तैर्हेतुभिः सापि न भक्तं मोहयितुं शक्ते-
त्यर्थः । एवमेतेन विचारणेनास्यामारम्भदशायामपि भक्तिमार्गीये त्यागे न पश्चात्तापादिदोष-
सम्भावनेति सिद्धम् । तद्वदन्त उपसंहरन्ति तस्मादित्यादि । यस्मादन्ये त्यागप्रकाराः
सदोषाः असम्भविन्श्च, मुख्यस्त्वाज्ञां नापेक्षते । तादृशभावपृष्ठलत्वेन स्वाभाविकत्वात् ।
अतोऽयमेवाज्ञाविषयो भवितुमर्हति, तस्मात् उक्तप्रकारेण भगवतोद्धवं प्रत्याज्ञप्तेन प्रका-
रेण भक्तिमार्गीयः परित्यागो विधीयताम्, भक्तैः कर्तव्यः । अन्यथा उक्ताधिकारा-
भावेपि त्यागकरणे अधिकारसद्भावेपि तदकरणे च स्वार्थात् स्वस्य यः अर्थः प्रयोजनं
विरहानुभवो भगवत्प्रसादश्च तस्माद्भ्रश्यते, च्युतो भवतीत्यर्थः । अत्र स्वस्य निश्चय-
माहुः इति मे निश्चिता मतिरिति । एवंप्रकारिका निश्चयवती मम बुद्धिरित्यर्थः ।
श्रीमदुद्धवकर्तृकश्च परित्याग एवंप्रस्तुतीयस्कन्धे चतुर्थाध्याये 'इहागतोहं विरहातुरात्मे'-
ति 'सोहं तदर्शनाह्लादवियोगार्तियुतः प्रभो'रित्येताभ्यां बोधितः । तृतीयस्य चतुर्थे पादे
'बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्चे'त्यधिकरणे विचारितश्च । तत्र हि प्रचुरभगवद्भावमात्रवतः
साक्षात्स्वरूपभोगवतो वा गृहत्यागः कर्तव्यो न वेति संशये फलस्य सिद्धत्वान्नाद्यस्य
कर्तव्यः । 'मद्गतायातयामानां न बन्धाय गृहा मता' इति वाक्यात् गृहाणां बन्धकत्वा-
भावेन द्वितीयस्यापि न कर्तव्य इति प्राप्ते आह 'बहि रित्यादि । उक्तपूर्वपक्षनिरासाय
तुशब्दः । भावमात्रे साक्षाद्भगवत्सम्बन्धे चेत्युभयथापि बहिः गृहाद्बहिर्गमनम् गृहत्याग
इति यावत् । स आवश्यकः । तत्र प्रमाणमाह 'स्मृतेराचाराच्चे'ति । 'त्वं तु सर्वं परित्यज्य
स्नेहं स्वजनबन्धुषु । मथ्यावेश्य मनः सम्यक् समदृक् विचरस्व गा'मित्यादि स्मृतिर्भगव-
द्भाववतस्तत्सङ्गविशिष्टस्यापि बहिर्गमनमाह । तदाचारोपि तथैव श्रूयते, अतस्तथेति निष्कर्ष
उक्तः । अयं च त्यागो नाश्रमधर्मरूपः, तस्य पूर्वं 'उर्ध्वरेतःसु च शब्दे ही'त्यत्र विचारि-
तत्वात् । न चैवमस्यास्मिन्सूत्रे उक्तत्वे विचारितत्वेनेति कुतो नोक्तमिति शङ्क्यम् ।
प्रकारस्यानुल्लेखेन तथात्वाभावात् । शुकसंवर्तादिकर्तृकस्य ज्ञानमार्गीयस्यावैधसञ्चयासस्यापि
तथात्वाच्चेति ॥ १७-२१ ॥

एवं त्यागप्रकारं तत्कर्तव्यताप्रकारं च निरूप्योपसंहरन्ति इति कृष्णप्रसादेनेति ।

इति कृष्णप्रसादेन बल्लभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासचरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

एवं सर्वे प्राञ्च आहुः । मम त्वन्यत् प्रतिभाति, उपक्रमे परित्यागो विचार्यत इति
कथनात्, उक्तश्लोके च परित्यागो विधीयतामिति कथनाच्च तत्रैवोपसंहारप्रत्यभिज्ञानात्,
इति कृष्णप्रसादेनेति श्लोकस्तु तत्रैव विशेषान्तरस्य बोधनाय । तथा हि । आचा-
र्याणां पुरःस्फूर्तिकविचारेण देहदेशपरित्यागविषयकभगवदाज्ञाद्वयाकरणाभिमानजनितस्वेदे
सति यदा लोकपरित्यागविषयिणी तृतीयाज्ञा जाता, तदा तद्वाक्यार्थविचारेऽनेन
प्रकारेण कृते भगवान् विशेषतः प्रसन्नो भूत्वा तस्य संन्यासरूपतामाचार्याणां
मनासि स्फोरितवान्, तदेतदस्मिन् श्लोके बोधयन्ति इति कृष्णप्रसादेनेति । इति
एवं पूर्वोक्तप्रकारेण परित्यागे विचारिते सति यः कृष्णप्रसादः पूर्वस्मादतिरिक्तः तेन कृत्वा
बल्लभेन भगवत्प्रियेण मया भक्तौ भक्तिमार्गे संन्यासचरणं उद्धवत् संन्यासाङ्गी-
करणं विनिश्चितं विशेषतो निश्चितम् । अन्यथा एवमाज्ञाऽभावे तत्करणे पतितो
भवेत् । भक्तिमार्गीयधर्माणां संन्यासधर्माणां चेतरेतरविरुद्धत्वात् भक्तिमार्गतश्च्युतो भवेदि-
त्यर्थः । विशेषनिश्चयस्तु, 'आहितायेस्तु संन्यासो वैराग्यादुत्तरायुषि । यावज्जीवश्च्युतेस्तत्र न
विरोधः कथञ्चन । यजमानोऽश्विचनान्ज्रामर्याग्निहोमता । आत्मयागविधानाच्च द्रव्य-
यागविनिन्दनात् । श्रेयानित्यादिवचनादपुनर्भावाक्यतः । न्यासो विधेयस्तत्रादौ
प्रातर्हुत्वा यथाविधि । भार्यातुज्ञा तु नापेक्ष्या देवादारादिवाक्यतः । त्वं ब्रह्मेति च नापेक्ष्य
पुत्राणां लौकिकत्वतः । आगूपचयनं कृत्वा जीवश्राद्धविधानतः । आभ्युदैवप्रकारेण
श्राद्धान्यष्ट समाचरेत् । वर्गत्रयं प्रसिद्धं हि तत आत्मत्रयं मतम् । देहेन्द्रियप्राणदेवाः
पञ्चमे देवता मताः । शिरःपाण्याद्यङ्गदेवा यन्तुदेवास्तद्गादिकाः । गोलाधिष्ठानदेवाश्च
चक्षुराद्यास्ततः परम् । त्रिधाहङ्कृतिदेवाश्च रुद्रः सङ्कर्षणः शिवः । सक्षमे गुणदेवास्तु ब्रह्माद्या
अष्टमे मताः । ततो दण्डत्रयं शिष्यं पवित्रं जलभाजनम् । पात्रं चेति समादाय तथा
कार्पटिकाकृति'मित्यादिषु श्लोकेषु वर्तते । सर्वो ग्रन्थ उत्सन्नः, पूर्णो न लभ्यत इत्यत एते
श्लोका न विप्रियन्ते । अतस्तदुक्तप्रकारस्तच्छास्त्रीयसंन्यासपद्धतिभ्योवगन्तव्यः । भगवता
संन्यासस्य स्फोरणादेवाचार्यैस्त्रिदण्डसंन्यास एव कृतः । भार्यादिभिराज्ञायाः अदाने स्वर्ण-
शालाज्वालनं प्रदर्श्य तैर्निर्गच्छत शीघ्रं निर्गच्छतेत्युक्ते करकौपीने गृहीत्वा निर्गताः । ततो-
ऽश्विरपि शान्तः । ततो यथाविधि संन्यासं गृहीत्वा अरेलग्रामात् काश्यामागताः । मासमात्रं
चानशनं कृतम्, दिनाष्टकं च मौनव्रतम्, तेन पूर्वाज्ञाद्वयदेशदेशहत्यागौ पाक्षिकदोषप-
रिहारेण कृतौ । तत आपाढशुद्धितीयायां सिद्धिं गता इति प्राचां वाक्यादवगम्यते ।

कर्मोपसंहृतिगतश्रुतिसूत्रं यद्यद्वोधितं भगवता निजभृत्यमुख्ये ।

यच्चैतरत्तदनुसृत्य च वाक्यजातं संन्यासनिर्णयमयं व्यवृणोत्तदीयः ॥ १ ॥

इति श्रीपीलाश्वरात्मजश्रीपुरुषोत्तमविरचितं विवरणं सम्पूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतः ।

विचारितपरित्यागाः पश्चात्तापनिवृत्तये ।

प्रसीदन्तु सदा मह्यमङ्गीकृतपितृत्वकाः ॥ १ ॥

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तानां स्वहिताज्ञानेपि भगवांस्तेषां हितमेव सम्पादयतीति वस्तुस्थितिः । अतः साधनदशायां भक्तेन चिकीर्षितेपि परित्यागे तस्य पतनमाशङ्क्य तत्र विघातं करोति । ततो भक्तस्य तत्स्वरूपज्ञानात् पश्चात् सेवानवसरे भावनादशायां तापो भवति, मया चिकीर्षितेपि महाफले परित्यागे भगवानविघातं करोति, अतो मयि न कृपेति मम फलमुखाधिकाराभावात् सर्वमेव व्यर्थमित्येवं रूपः । तद्विवृत्त्यर्थं परित्यागः केन कर्तव्यः, कदा कर्तव्यः, किं वा तस्य स्वरूपमित्येवं विचार्यते, स्वमनस्येव युक्तिभिः परिशील्यते, तत्स्वरूपं पश्चात्तापय बोध्यते, न तु कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । साधनदशायां निषेधस्य फलदशायां च स्वकृत्य-साध्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । भक्तिमार्गीयेण फलानुभवकाले कृतो देहेन्द्रियादिषु स्वीयत्वत्यागोधिकारिभेदेन पूर्वसिद्धतत्यागो वा परित्याग इति कर्तृकालस्वरूपाणां त्रयाणा-मुत्तरं भविष्यति, तज्ज्ञाने मम साधनदशापन्नत्वाद्भगवांस्तद्विघातं कृपयैव करोतीति स्वस्मिन् कृपाज्ञानेन पश्चात्तापनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः । युक्तिभिः स्वमार्गीयनिर्धारार्थं सामान्यतः सर्वनिर्णयमाहुः स इति । फलरूपभक्त्यनुभावार्थं च मार्गद्वये विशेषतः प्रोक्त इत्यर्थः । यद्यपि कर्ममार्गीय्याश्रमधर्मत्वेनोक्तः, तथापि यावज्जीववाक्यस्यापि विद्यमानत्वात् विशेषतो नोक्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्तव्यताबोधकवाक्येन पाक्षिककर्तव्यत्वमाशङ्क्य तदपि निराकुर्वन्ति कर्मेति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

यावज्जीववाक्येन प्रत्यवायश्रवणात् पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न्यायेन न कर्तव्य इति भावः । वाक्यद्वयस्य रागारागभेदेन व्यवस्थायामपि कलौ तु 'अग्निहोत्रं गवा-लम्भ'मित्यादिवाक्यैः प्रत्यक्षत एव निषेधादेशादीनां दुष्टत्वाच्च न कर्तव्य एवेत्याहुः सुतरा-मिति । स्वस्य भक्तिमार्गीयविचारकत्वात्तन्मार्गीयकर्तव्यतामेव विचारे हेतुत्वेनाहुः अत इति । तत्रापि साधनदशायां निषेधमाहुः श्रवणादीति ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरैः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

एतेषां साधनरूपाणां प्रकर्षेण गेहीयानामनुकूलत्वेपि कदाचित् स्वासक्तिसम्पादनेन प्रति-बन्धकानामसंसर्गेण सिद्ध्यर्थं कर्तव्य इति चेत् ? स परित्यागोस्माभिर्नेष्यते, इष्टफलासाधक-त्वादित्यर्थः । प्रतिकूले तु त्याग उचित एवेति भावः । तद्विशदयन्ति सहायेति । श्रवणे सहायभूतो यस्तादृशानां सङ्गस्तत्साध्यत्वात् श्रवणादीनामिति शेषः । एकाकिनस्तदसम्भवात् ग्रन्थावलोकनादिना स्वत एव शक्तितात्पर्यनिर्धारसम्भवे दोषान्तरमाहुः साधनानामिति । पु-स्तकादीनामित्यर्थः । तावत्स्थापनेपि परित्यागो न सिद्ध इति भावः । अत एव 'ग्रन्थान् नैवाभ्यसेत् बहू'निति वाक्यम् । यत्किञ्चिद्ग्रन्थाभ्यासस्तु पुस्तकं विनापि भवतीति बहूनिस्त्युक्तम् । एवं स्वरू-पासाधकं दोषद्वयमुक्तमित्यनयोः समुच्चयेनैकरूपत्वबोधनार्थं चकारः । फलासाधकं दोषद्वयमाहुः अभिमानादिति । भूयोभ्यासेन प्रतिभोत्पत्तौ पुस्तकादिरूपसाधनत्यागेपि अन्तःकरणाशुद्ध्या अहं ज्ञानीत्यभिमानो भवेत् । ततो मुख्यफलासिद्धिः । तीर्थादिभिरन्तःकरणशुद्ध्यावभिमानाभावे दोषान्तरमाहुः नियोगादिति । नियोगो विधिस्तस्माद्धेतोरित्यर्थः । मुख्यफलस्य विध्यस्पृष्टत्वा-द्विहितत्वेन कृतेन त्यागेन न तत्सिद्धिरिति भावः । एवं फलासाधकं दोषद्वयमुक्तमिति चकारः । मुख्यदोषमाहुः तद्धर्मैरिति । तस्य भगवतो भजनकर्मणो धर्मैस्तनुवित्तजसेवारूपैर्विरोधात् । त्यागे सति तादृशसेवाऽसम्भवादित्यर्थः । तथा च फलरूपाया मानस्याः पूर्वोक्तदोषैरसिद्धिः । तनुवित्तजायाश्च त्याग इत्युभयग्रंथ इति भावः । नन्वेवं सति सेवाश्रवणादिसाधकस्थापनेन भार्यादेरनुकूलत्वेपि स्वासक्तिसम्पादनरूपपाक्षिकदोषसङ्गवेन बाधकत्वात् पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न्यायेन त्यागः कर्तव्य इत्याशङ्क्य निषेधन्ति गृहादेरिति । भार्यादेरित्यर्थः । साधनार्थमिति । अन्यत्रानासक्त्या सेवाश्रवणादिसम्पादनार्थमित्यर्थः । तादृशैरिति । रागिभिः स्वस्मिन्नासक्तिसम्पादकैरित्यर्थः । नान्यथेति । अतिविरक्तैरित्यर्थः । तादृशैरुच्छ्वलैः

सेवाश्रवणादिकमपि न सिध्येदिति भावः । ननु ते कीदृशा अपि भवन्तु, स्वस्य किं दूषणमित्यत आहुः स्वयं चेति । ते विषयाक्रान्तास्तसङ्गात् स्वयं च तदीयैर्विषयै रूपादिभिराक्रान्तो लुब्धः सन् पाखण्डी वेदविरुद्धविषयभोगकर्ता भवेदित्यर्थः । ननु दृढचित्तः कथमेवं भवेदित्यत आहुः कालत इति । कलिकालस्यादार्ष्यसम्पादकत्वादिति भावः । साधनदशायां कालस्य प्रबलत्वान्निश्चितमेव स्यादिति पक्षान्तरनिरासकस्तुशब्दः । भार्यादिसहभावे विषयाक्रमणेपि पाखण्डित्वं तु न भवेदिति भावः । ननु निषिद्धविषयाक्रमणे भवतु नाम वेदमार्गविरोधः, स्वमार्गीयफलस्य तु विध्यस्पृष्टत्वात् तत्र किं बाधकमित्याशङ्क्य स्वमार्गविरोधमप्याहुः विषयेति । स्वकीयैरनिषिद्धैर्विषयैरन्तःकरणमेवाक्रान्तं भवति । तदपि देहेन्द्रियप्राणानामनाक्रान्तत्वात् तैः सेवाश्रवणादिकरणे निवर्तेत । तदा नित्यभगवदावेशो भवेत् । परकीयैर्निषिद्धैस्तु दुर्लभत्वेन निरन्तरभावनया दृढैर्दुर्दृष्टजनकैः प्रातिलोभ्येन देहपर्यन्तमाक्रान्तं भवति । तथा च देहपदेनेन्द्रियप्राणान्तःकरणानामाक्रमणं कैमुत्येन सूचितम् । तादृशानां सर्वस्यापि सङ्गातस्य विषयाक्रान्तत्वेन सेवाद्यसम्भवात् तैर्विषं यान्तीति व्युत्पत्त्या विषयैर्धृत्युरूपं दुःखमेव भवेत्, न तु दुःखहर्तुरावेशेनामृतरूपभगवदानन्द इति भावः । सर्वदेति । एवमपि गुणगानादिना तत्काले कदाचिद्भगवदावेशो भवेदपि, न तु सर्वदा । तादृशस्तु कादाचित्कत्वेनागन्तुकत्वादसमर्थ इति भावः । उपसंहरन्ति अतोऽत्रेति । अतो भगवदानवेशादेव हेतोरत्र मार्गं साधनभक्तिसिद्ध्यर्थं परित्यागो न भगवदानन्दप्रापकः, किन्तु मृत्युरूपदुःखप्रापक इत्यर्थः ॥ ३-६ ॥

द्वितीयदलानुभवाय फलानुभवकाले त्यागान्यनुज्ञामाहुः विरहेति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावनया साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा बहिवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सङ्गराहिल्याजीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

पूर्वसंयोगव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः । सुप्तप्रबुद्धन्यायेन । तदनन्तरं जातस्तु संयोगो विरहामिन्न एव, तदर्थं परितस्त्यागो देहेन्द्रियादीनामप्यननुसन्धानरूपः । प्रकर्षेण गुरुपदेशभार्याभ्यनुज्ञादिव्यतिरेकेणैव फलसाधकत्वेन शस्यते । तर्हि वेषोपि तथा न स्यादित्यतस्तत्प्रयोजनमाहुः स्वीयेति । बहिस्तथावेषाभावे स्वीयानां भार्यादीनामन्तःकरणबन्धो वासनारूप एतस्मिंस्तिष्ठेदेव, वेषे तु कृते अयमस्मदुपयोगानर्ह इति ज्ञानेन स्वीयानां वासना एतस्मात्निवर्तेतेति तदर्थं स त्रिदण्डिवेषोत्र मार्गं शस्यते इति पूर्वेणान्वयः । न चान्यथेति । फलार्थं चकारात् साधनसिद्ध्यर्थं च नेत्यर्थः । ननु गुरुपदेशाभावे 'यस्त्विच्छया कृतः पुम्भि'रिति वाक्याद्धर्माभासत्वेनाधर्मवत्त्वमेतस्य स्यादित्यत आहुः कौण्डिन्य इति । कुण्डिने भवा कौण्डिनी, आद्यमहिषी । तत्प्रधानत्वात् तस्या एव सर्वत्राविष्टत्वात् सर्वा एव महिष्यः कौण्डिन्यः । तथा च कौण्डिन्यो गोपिकाश्चेति वाचिककायिकतिरोधानद्वयजनितद्विविधविरहानुभवविशिष्टं गुरुद्वयमित्यर्थः । तथा च तयोर्नियामकत्वान्न स्वच्छाकृतिरूपो दोषः । ननु तत्कृतोपदेशसम्भवात् कथं गुरुत्वमत आहुः साधनं चेति । तत् एतद्वये निरन्तरभावनया सिद्धं स्थायिभावरतिरूपं क्रमेण तिरोधानद्वये वचनैः स्वरूपेणोत्कटं सत् साधनम् । चकारात् फलमपि तत्र सिद्धो विरहानुभव एव । तथा च साक्षादुपदेशाभावेपि साधनफलबोधकत्वात् गुरुत्वमिति भावः । नन्वेवं साधनसाध्यत्वे 'नायमात्मे'ति वाक्यविरोध इत्यत आहुः भाव इति । भावनया चर्चणया सिद्धं स्थायिभावरतिरूपं विरहानुभवस्य साधनं वरणादन्यत्प्रवचनारिरूपं नेष्यते, किन्त्विदं सर्वं वरणान्तःपालेवेति न पूर्वोक्तवाक्यविरोधः । ननु विरहे विकलत्वास्वास्थ्यार्थां दुःखानुमानात् कथं फलत्वम् ? आनन्दस्यैव फलत्वादित्यत आहुः विकलत्वमिति । एतद्द्वयमन्तःस्थितस्य विरहात्मकस्यानन्दरूपस्य भगवत् एव प्रकृतिः स्वभावो धर्म इति यावत् । न त्वानन्दतिरोभावेन दुःखरूपायाः प्रकृतेर्धर्म इत्यर्थः । तादृशे दुःखधर्मत्वं नोचितमिति हिशब्दः । एवं सर्वदा द्वितीयदलानुभवे पूर्वदलानुभवात् पूर्णरसानुभवो न भवेदतः पूर्वदलानुभवमाहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं 'तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धन'मित्यत्रोक्तं प्रेमबन्धनदर्शनम्, गुणा ऐश्वर्यादयश्च क्रमेण तस्यैवं वर्तमानस्य गुरुद्वयस्य बाधकाः, पूर्वानुभवं बाधित्वा पुनः संयोगरसानुभावका इत्यर्थः । तत्र प्रकारमाहुः सत्येति । ज्ञानात् तत्पूर्वोक्तात् सत्यस्याक्षरब्रह्मणः श्रीवत्सस्य लक्ष्म्याश्च लोके विशाले स्थाने वक्षसि स्थितिः 'आश्लिष्य बाहुना राज'न्नित्यत्रोक्ता भवति । नन्वेवं प्रकारं ज्ञानं तु पूर्वमप्यासीदतः कथं पूर्वं तिरोभावसम्पादनमत आहुः संन्यासेनेति । सम्यक् न्यासेन विरहे देहेन्द्रियाद्यननुसन्धानेन विशेषितं प्रेमबन्धनज्ञानं जातमित्यर्थः । नित्यज्ञानवत्त्वेपि रसमार्गस्थस्य भगवतो रसमर्यादयैव ज्ञानोद्बोध इति सिद्धान्तात् । नन्वेतादृशज्ञानस्य सत्यलोकस्थितिरूपस्य फलस्य चाद्यमहिष्यामेवोक्तत्वात् कथं सर्वासं गुरुत्वमित्यत आहुः भावनेति । पूर्वोक्तं भावसाधकभावनारूपं साधनं तथा आद्यमहिषीसदृशं यत्र भक्तेषु भवेत् फलं चकारात् तत्साधनं भावश्च तथा पूर्वसदृशं विरहानु-

भवरूपं यत्र भक्तेषु भवेत् तादृशा भक्ताः महिषीरूपाः सत्यलोके आदिपदेन 'तामु-
त्थाप्य चतुर्भुज' इत्यत्रोक्तोत्थापनकेशसमूहनवक्रमार्जनादिना भुजादिषु च तिष्ठन्त्येव, ताव-
त्सिद्धौ तावदपि युक्तमेवेत्येवकारः । तत्रैवाधान्यासामपीत्यतिदेशादत्र संशयो न कार्य
इत्याहुः न संशय इति । ननु पूर्वमपि संयोगस्य विद्यमानत्वात् कथं विरहानन्तरं जात-
स्यैव फलत्वमत आहुः बहिरिति । स्वस्य भक्तस्यात्मा भगवान् वाचिकतिरोधानलीलया
बहिः प्रकटो भक्तस्वरूपाद्बहिर्भूतो भिन्नश्चेत् सन् पुनर्भक्तस्वरूपे प्रविशेत्, सत्यलोकादौ
तत्स्थापनेन तत्प्रत्यङ्गेषु संयुज्य स्थितो भवेत्, तदैव सकलो देहेन्द्रियादिषु वासनारूप
आध्यात्मिकोपि बन्धो नाशमेति, नान्यथा तिरोभावातिरिक्तप्रकारेण न भवतीत्यर्थः । विर-
हेतितापेन देहेन्द्रियाननुसन्धाने सर्वाशेन तद्वासनानिवृत्तिः, तदनन्तरं संयोगेप्याध्यात्मिका-
विद्याया निवृत्तत्वाद्देहेन्द्रियादिकमात्मा च भगवदीयत्वेनैव प्रियो भवति, भगवानपि भगवत्त्वे-
नैवेति मुख्यो निरोधो सिद्धो भवतीति पूर्वसंयोगेप्याध्यात्मिकबन्धस्य विद्यमानत्वान्न तस्य
फलत्वम्, किन्त्वस्यैव निरोधस्यैव फलत्वादिति भावः । तत्र दृष्टान्तः बह्विबदिति । यथा बह्वि-
र्मथनेन काष्ठाद्बहिर्भूतः सन् पुनः काष्ठे यदा प्रविशति तदा काष्ठांशं निवर्तयति तथेत्यर्थः ।
एवं वाचिकतिरोभावे वचसोत्कटेन भावेन विरहानुभवः, ज्ञानेन संयोगानुभवः पुनरेवमिति
पौर्वापर्येण दलद्वयानुभव एव, नान्यावस्थेति प्रथमगुरौ साधनं फलं चाभिहितम् ।
द्वितीयगुरौ कायिकतिरोभावे स्वरूपेणोत्कटेन भावेन विरहानुभवः, गुणैः संयोगानुभवः,
संयोगेपि न विरहबाधः, विरहेपि न संयोगबाध इति सार्वदिकशबलितरसानुभव
इति । ततोपि विशिष्टं साधनं फलं चेत्यभिप्रेत्य पुनः पूर्वदलानुभवे साधनं दलस्वरूपं
चाहुः गुणास्त्विति । पूर्व गुरौ ज्ञानं सर्वाशेन विरहं बाधित्वा संयोगानुभावकमुक्तम्, न
तथा गुणा अत्रेति तुशब्दः । किन्त्वेकांशेन विरहं बाधित्वा संयोगानुभावका इति ।
सङ्गराहित्याद्देहेन्द्रियादिभिः सङ्गस्तद्राहित्यात्तिरोभावाद्धेतोः स्वयमेव देहेन्द्रियादिरूपा
भूत्वा फलानुभवाय जीवनसम्पादनार्थं साधनरूपा भवन्ति । न तु सर्वथा विरहबाधिका इत्यर्थः ।
विरहेणात्युपमर्दिना देहेन्द्रियादितिरोभावे भगवद्गुणा एव तद्रूपा भूत्वा तत्र स्थिता इति चतु-
र्थाध्याये निरूपितम् । अत एव पञ्चमाध्यायेपि गुणरूपा एव ता इति निरूपितम् । तथा च
सङ्गमेपि विरहे इवात्युत्कटदिदृक्षासत्त्वेन न सर्वथा विरहबाधः । अत एव सङ्गमेपि 'दिदृक्षितदृशो-
भ्यगम'न्निति वाक्यम् । विरहेप्यानन्तरमणान्न सर्वथा संयोगबाधः । अत एव 'वर्णयन्त्योभिरिरे'
'रेमिरेहस्सु तच्चिताः' । 'विशोका अहनी निन्यु'रित्यादिवाक्यानि । एवं शबलितरसानुभवः सर्वदा,
न त्वेकतरबाधः । अत्र कदाचिद्दिदृक्षापूर्तिप्रलापादिभावा अपि जायन्ते । उद्धवोपदेशानन्तरभावे
तु सर्वदैव तथेति तस्यात्यन्तिकत्वम् । ननु विरहभावस्य प्रबलत्वाद्गुणैर्वाधासम्भवेपि भगवान्
स्वसङ्गेन तद्वाधबाधकः स्यादित्याशङ्काहुः भगवानिति । भगवानुभय फलरूप इति स्वरूपतो
नैकतरबाधक इत्येते, किन्तु वाक्यं स्वास्थयजनकं विरहभावनिवर्तकं 'मया परोक्षं भजता
तिरोहित'मित्यादिरूपं वदति । तादृशं वाक्यं तु एताभिर्न कर्तव्यं न मन्तव्यं, 'स्वागतं व' इत्यादि-

वाक्यवत् । एतासां स्वरूपमात्रनिष्ठत्वाद्वाक्यैः पूर्वभावोपमर्दो न भवतीत्यर्थः । ननु दलयो-
रुभयोर्विरुद्धत्वादेकदैवोभयदलरूपो भगवान्मर्यादया विरुध्यत इत्यत आहुः दयालुरिति ।
भगवानेतासु दयालुरतो दयया शबलितपूर्णरसदित्सया मर्यादामप्यतिक्रम्य लीलां करोति ।
अतो न विरुध्यते, विरोधविषयो न भवतीत्यर्थः । ननु विरहभावात् पूर्वम'प्यात्मारामोप्यरी-
रम'दिति प्रकारकभावस्य जातत्वात्तदैव देहेन्द्रियादितिरोभावरूपः परित्यागः कुतो न सम्पन्न
इत्यत आहुः दुर्लभ इति । अयं पूर्वोक्तः परित्यागो दुर्लभः, दुःखेन वियोगात्मकेन लभो लाभो
यस्य तादृशः । तत्र हेतुः । प्रेम्णा भावनासिद्धेन रत्याख्येन सिध्यति, नान्यथा, प्रकारान्तरेण
न सिध्यति । तादृशप्रेमौत्कथं तु विरहात्मकदुःखे एव भवति । अतो दुर्लभत्वान्न वियोगात्
पूर्वं तत्सिद्धिरित्यर्थः ॥ ७-१३३ ॥

ज्ञानमार्गीयं निरूपयन्ति ज्ञानमार्गे त्विति ॥

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ॥ १६ ॥

भक्तिमार्गीयोस्माभिर्विचारितः, ज्ञानमार्गीयस्तु प्रमाणगम्यत्वात् तैर्विचारित एव ।
अस्माभिस्त्वनूद्यते, परप्रीतिविभेदज्ञापनाय तुशब्दः । विविदिषाविद्वद्भेदेन द्विविधोपि प्रमाणै-
र्विचारितः । साधनमपि विचारितमित्याहुः ज्ञानार्थमिति । भक्तिमार्गीयेण त्यागेन विरहानु-
भवार्थं साधनत्वेन भावः पूर्वमुक्तः । ज्ञानमार्गीयेण 'यदहरेव विरजे'दिति प्रकारेण त्यागेन
आत्मापरोक्षरूपज्ञानार्थं साधनत्वेन उत्तरं मुख्यमङ्गं श्रवणं, तदपि विचारित 'मात्मा वारे द्रष्टव्य'
इति वाक्यादित्यर्थः । पूर्वस्मादेतस्य वैलक्षण्यमाहुः सिद्धिरिति । परमत्र जन्मशतैरनेक-
जन्मभिः सिद्धिर्भवति, तत्र तु न विलम्बः, 'बहूनां जन्मनामन्ते' इति वाक्यादिति
भावः । नन्वायुर्भागप्रकारेण कृते कर्ममार्गीयेपि संन्यासे तुरीयाश्रमे ज्ञानमेवाभिहितम् ।
अतो विशेषाभावात् कर्ममार्गीयोपि कुतो न कर्तव्य इत्याशङ्क्य मार्गद्वयीयज्ञानयोर्भेदार्थं
कर्ममागायज्ञानस्वरूपमाहुः ज्ञानं चेति । ज्ञानमार्गे पश्चात्प्रकारेणाधिकारिदेहस्य सिद्ध-
त्वाज्ज्ञानमस्मिज्जन्मने साधनानपेक्षम्, श्रवणरूपं तु साधनं फलानन्तरीयकत्वात्
फलाङ्गमेव, अत एवोत्तराङ्गमित्युक्तम् । कर्ममार्गीयं तु ज्ञानमस्मिन्नपि जन्मनि साधनापेक्षम्,
गार्हस्थ्ये यज्ञादयः कर्तव्या इति श्रवणाद्धेतोर्भेदं सम्मतमित्यर्थः । चरस्त्वर्थे, पूर्वज्ञानव्यवच्छे-
दाय । अतः साधनाधीनत्वात् साधनानां कलौ देशादिदोषेणासिद्धत्वाच्चित्तशुद्ध्यभावेन
ज्ञानानुदान्मया वृथैव परित्यागः कृत इत्याकारकपश्चात्तापाय स कर्ममार्गीयः संन्यासो

भवेत् । नान्यथेति । ज्ञानभक्तिप्रकारकस्तु साधनानपेक्षत्वात्तथा न भवेदित्यर्थः । न केवलं पश्चात्तापमात्रं किन्तु दोषसम्बन्धोपि भवेदित्याहुः पाषण्डित्वमिति । चित्त-
चाञ्चल्याद्देविरुद्धकार्यकर्तृत्वमपि भवेत् । कदाचिदोषाभावेपि पाक्षिकदोषसम्भावनाया
विद्यमानत्वात् फलसिद्धयभावाच्च न कर्तव्य इति चकारः । पूर्वोक्तपश्चात्तापसमुच्चयार्थमपि-
शब्दः । तस्माद्धेतोर्ज्ञाने साधनापेक्षज्ञानसिद्धयर्थं न संन्यसेत्, संन्यासं न कुर्यादित्यर्थः । ननु
कालदोषा इव कर्मापि प्रमाणसिद्धमतः कालेन कथं कर्मबाध इत्यत आहुः सुतरामिति ।
कालदोषाणां सुतरां कर्मापेक्षयापि प्रबलत्वात् । काले कर्मविधाने कर्मणः कालाधीनत्वात्
कालस्य कर्मापेक्षया प्रबलत्वम् । 'रश्म्यनुसारी'त्यारभ्य 'योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैत'
इति सूत्रेण कर्मणि कालबाधस्य व्यवस्थापितत्वादिति स्थितिरित्युक्तम् ॥ १४-१६ ॥

ननु तत्र तु ज्ञान एव कालानपेक्षोक्ता । अतः कर्मणीव भक्तावपि कालबाधः प्राप्त
इत्याशङ्क्य तत्समाधानमाहुः भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्माद्भक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा अज्ञयते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

किं कार्यं, भक्तिमार्गेणैव स्थेयं, तं मार्गं परित्यज्य ज्ञानमार्गो वा आश्रणीय इत्याश-
ङ्कायां समाधानमुच्यते । व्यासस्य ज्ञानावतारत्वेन ज्ञानरूपत्वात्तन्मार्गसमाधानं व्यासै-
रुक्तम् । अस्माकमास्यत्वेन भक्तिरूपत्वाद्भक्तिमार्गसमाधानमस्माभिरुच्यते इत्यर्थः । तत्र
ज्ञानमार्गे फलदशायामेव बाधाभाव उक्तः । अत्र तु साधनदशायां फलदशायां च तथेति
ततोपि वैशिष्ट्यबोधनार्थं पूर्वं साधनदशायां बाधाभावमाहुः अत्रेति । आरम्भे साधन-
दशायामित्यर्थः । बाधो हि स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेति । तत्र प्रथमं स्वरूपतस्तदभाव-
माहुः न नाशः स्यादिति । भगवतः सर्वतः प्रबलस्य रक्षकत्वान्न भवत्येवेति स्यादिति
विधिरुक्तः । फलतस्तदभावमाहुः दृष्टान्तस्येति । कालदृष्टो यः अन्तः फलं तस्याभावात् ।
स्वदृष्टमेव हि फलं कालेन नाशयते, इदं तु फलं कालातीतम्, अतः कथं फलनाशद्वारा
श्रवणादिसाधननाशः कालेन कर्तुं शक्येतेत्यर्थः । साधनतस्तदभावमाहुः स्वास्थ्येति ।
कालकृतनाशस्य विवक्षितत्वात् स्वं कालस्तत्स्थत्वं श्रवणादीनां नाश इति यावत् । सर्वमेव
नष्टं सत् कालस्थं भवति । तादृशनाशस्य हेतुर्विषयादिः । विषयोपाधिकमेव श्रवणादिकं नाश-

प्रतियोगि भवति, न तु भगवदीयम्, स्वास्थ्यस्य नाशस्य हेतोर्विषयादेः परित्यागात् स्थितस्य
च भगवति समर्पणादित्यर्थः । भगवदीयो विषयस्तु स्थितोपि कालेन नाशयितुमशक्य
इति साधनतोपि नाशाभाव उक्तः । अतः प्रकारत्रयस्याप्यभावादस्य साधनभूतश्रवणादेः
कालकृतो बाधः केन प्रकारेण सम्भवेदित्यर्थः । फलस्य तु बाधः सम्भावयितुमपि न शक्य
इति तत्र कैमुत्यमाहुः हरिरत्रेति । दुःखहर्तृत्वेन सर्वात्मना विरहं बाधितुमुचितोपि तद्भा-
वस्यापि भगवद्रूपत्वेन प्रबलत्वात्तद्बाधां कर्तुं न शक्नोतीत्युक्तम् । अपरे कालादयः कुतो
हेतोः करिष्यन्ति, एकांशेनापि बाधहेतुभूतयोर्ज्ञानगुणयोरपि कालाघतीतत्वात् कुतो हेतोरि-
त्युक्तम् । भगवान् संयोगं पुनरनुभावयितुं तं भावमेकांशेन ज्ञानगुणान्यां बाधयति, सर्वा-
ंशेन तु बाधनेऽशक्तः । कालादयस्तु बाधहेतोः संयोगरूपफलस्य ज्ञानगुणरूपस्य साधनस्य च
स्वाम्यत्वात् कुतो हेतोरेकांशेनापि बाधितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः । एवं भगवतोऽशक्तौ स्वरूपमेव
हेतुरिति दृष्टान्तेन बोधयन्ति अन्यथेति । भगवतो बाधकत्वे मातरो न पुपुषुरित्यपि स्यात् ।
तथा च यथा मातुस्वरूपस्यैव तथात्वान्मातरो बालान् स्तनैर्न पुपुषुरित्यसम्भावितम्,
तथा भगवत्स्वरूपस्यैव तथात्वाद्भगवता सर्वांशेन भावबाधनमप्यसम्भावितमिति विम्ब-
प्रतिविम्बभावसिद्ध्या दृष्टान्तालङ्कारसिद्धिः । ननु 'तर्हि भवतीनां वियोगो मे न ही'त्यादीना
कथं विरहाभावबोधनमित्यत आहुः ज्ञानिनामपीति । ज्ञानिनां ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयाणामपि
सम्बन्धिना तादृशवाक्येन भक्त ज्ञानांशरहितं शुद्धभक्तं न मोहयिष्यति, पूर्वसिद्धविरहानुभव-
रहितं न करिष्यति । ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयाणामेव तादृशैर्वाक्यैर्विरहबाधो भवति । एतासां
तैर्वाक्यैः प्रत्युत स भाव उत्कटो जातः । एतच्च विवृतं तत्रैव । ननु ज्ञानिन इव भक्तमपि कुतो न
मोहयति, अशक्तावपि तुल्यबलत्वादधिकप्रयासेन तत्सम्भवादित्याशङ्क्य तत्र प्रयोजनाभावं हेतु-
त्वेनाहुः आत्मप्रद इति । ज्ञानमिश्राणां विरहे विप्रयोगरसात्मकस्य स्वरूपस्य न प्राकट्यम्,
अत आत्मनः स्वरूपभूतस्थानन्दस्य दानार्थं पूर्वभावं बाधयति । सुखदानुत्वेनैव च प्रियः,
अतो दुःखाबाधे प्रियोपि न स्याद्, अतः पूर्वं बाधयतीत्यात्मदाने प्रीतिरूपप्रयोजनद्वयं भगव-
न्निष्ठं भक्तनिष्ठं च निरूपितम् । एतासां तु विप्रयोगरसात्मकस्वरूपानुभवाद्द्विरहेपि भगवान्
आत्मप्रदः । निरुपाधिकप्रीतिविषयत्वात्तादृशदुःखेपि प्रियः । अतः प्रयोजनद्वयस्य तदापि
सिद्धत्वात् किमर्थं कस्मै प्रयोजनाय मोहयिष्यतीत्यर्थः । तत्र 'नीलाम्बुदश्यामो हृदयाद-
पसरत्वि'त्यादिनोक्तोपि भावो जायते इति चकारः । परं तस्य व्यभिचारिभावत्वान्न स्थायि-
भावरूपप्रीतिर्हीनिः । तादृशस्वरूपदानेपि प्रीतिसूचनायापिशब्दः । एवं गुरुद्वये सिद्धं सर्वं
निरूपितम् । तत्राधुनिकस्य यावत्कर्तव्यं तदाहुः तस्मादिति । यतो भक्तिमार्गीयस्य न
बाधस्तस्माद्धेतोरुक्तेन गुरुद्वये सिद्धेन प्रकारेण परित्यागो विधीयतामित्यभ्यनुज्ञा । गुरौ दल-
द्वयमुक्तम् । तत्रैकदलार्थं तत्सम्पादकः परित्याग आधुनिकेनापि कर्तव्यः । अपरस्य तु दलस्य
तत्र सिद्धस्य नाधिकार इति तदाकाङ्क्षायां बाधकमाहुः अन्यथेति । परित्यागादन्यप्रकार-
करणे इत्यर्थः । अपरदलेच्छायामपि स्वस्मिन् सिद्धादर्थात् फलाद्भश्यते, ततोप्यधः पतती-

त्यर्थः । अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येवेत्यवधारणात् । एतस्य फलावान्तरविचारस्य प्रमाणा-
गम्यत्वात् स्वस्यैवाऽस्यत्वेन भक्तिरूपस्य मतेः सम्मतिमाहुः इति मे निश्चिता मतिरिति ।

उपसंहरन्ति इति कृष्ण इति ।

इति कृष्णप्रसादेन बलभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

कृष्णस्य प्रसादेन करणेन तस्यैव बलभेन कर्त्रा विनिश्चितं, भक्तौ फलरूपभक्तिसिद्धि-
र्थम् । संन्यासो ब्रियते स्वीक्रियते अनेन करणेन तादृशो विचारः संन्यासवरणम् । इति
समाप्तमित्यर्थः । 'अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणे'त्यनेन भक्तिमार्गीयस्यैव तात्पर्य-
विषयत्वेनोपक्रान्तत्वात्तेनैवोपसंहारः । स्वनिश्चितमिदमेव । ज्ञानमार्गीयं तु प्रमाणैर्निश्चितमेव,
स्वयमनुदितं परमिति भावः । अन्यथाकरणे बाधकमाहुः अन्यथेति । स्वयं निश्चितात् फल-
मार्गीयादनूदिताच्च ज्ञानमार्गीयादन्यथा साधनमार्गप्रकारेण कर्ममार्गप्रकारेण वा करणे तस्मात्
साधनात् पतितो भवेत्, विरुद्धाचरणात् स्वयमेव पतितो भवेत् । ननु भगवांस्तत्पातक इति
क्लेशे स्वामिनामग्रहणस्य हेतुत्वेनायुक्तत्वात् कर्मपदमित्यनेन वृत्रवाक्यविवरणे प्रभूक्ता भक्ति-
मार्गमर्यादा सूचिता । स्वस्यैतन्निश्चयस्य सिद्धत्वेपि करणकर्तृकथनेनैवविधानिश्चये कृष्णप्रसाद
एव साधनम्, तत्प्रियत्वमेव च स्वरूपयोग्यतासम्पादकमित्यनुग्रहेतरसाधनासाध्यत्वं सूचितम् ।
नन्वेवं सति स्वस्य दासत्वमायाति, अत एव ग्रन्थान्तरेपि 'इति श्रीकृष्णदासस्ये'त्युक्तम्,
अन्यत्र च 'वैश्वानराद्वाक्यपते'रित्यनेनाधिदैविकास्यत्वं स्वयमेवोक्तम्, अतः कथं विरोधपरिहार
इति चेदुच्यते । यथा भगवतो 'जीवय मृतमिव दास'मित्यादिवाक्यैस्तथात्वमप्युच्यते, तत्र
रसात्मकत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वाद्रसस्य च तावद्विधत्वाद्धर्मिग्राहकमानेनोभयरूपत्वम्, न तु
कस्यचिदारोपितत्वमिति निर्णयः, तथा प्रकृतेपि रसात्मकत्वेन दास्यरसानुभवार्थमाविर्भावा-
त्तद्रसस्यैव तथाविधत्वादुभयरूपत्वम्, न तु किञ्चिदारोपितम्, अतो यथार्थवादित्वेनासत्त्वात्तद्वा-
क्यमखिलप्रमाणमूर्धन्यमिति तदनुग्रहभाजनैरवगन्तव्यम् । एवमेवाधिकुमारचरणेष्वपि भगवत्त्वं
'यावन्ती पदपद्मानी'त्यादिभूक्तं तद्दासीत्वमित्यादिकं यद्यद्रसानुभवे यद्यदुक्तं तत्तत्सर्वमनारोपि-
तमेवेति ज्ञेयम् । एतेन विरुद्धधर्माश्रयत्वकथनेन भक्तेभ्यः स्वस्य भगवत्त्वमेव सूचितं
भवति, मानुषभावस्वीकारादनधिकारिणां परं न तथा प्रतीतिरिति विभावनीयम् । पूर्वप्रणि-
पातादिकरणेपि 'न पारयेद्'मित्यादिवाक्यैः भक्तप्रकारकं दास्यं न सम्पन्नम्, अत एवमाविर्भूय
ग्रन्थद्वयोक्तप्रकारेण स्वामिनीदास्यरसत्वमनुभूतवानिति भावः ॥ २२ ॥

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः । वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात् ॥१॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृता संन्यासनिर्णयस्य

विवृतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिसमेतः ।

निबन्धे 'त्रिदण्डं परिगृहीत सर्वशास्त्रविरोधि तत्' इत्यादिवचनैरुपेत्यात्र त्रिदण्ड-
विषयकेष्टसाधनताभ्रमाद्रभसवशेन पुष्टिमार्गीयोपि तुरीयाश्रमत्वेन त्रिदण्डं गृह्णन् पश्चात्ता-
पमाप्नुयाद्, अतस्तदनुदयाय पुष्टिमार्गसंन्यासस्य विचारमारभन्ते ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

कलिकालजन्यदोषाक्रान्तत्वात् कर्ममार्गीयस्य विलम्बेन फलजनकत्वात् ज्ञानमार्गीयस्य
च परित्यागस्य सदोषत्वमुद्भाव्य पुष्टिमार्गीयपरित्यागस्य किं प्रयोजनं, कोत्र गुरुः, किं वा
साधनं, का च परित्यागिनो व्यवस्थितिरित्यादिविचारः क्रियते इत्यर्थः । तथा चैवं विचारेण
परित्यागे निर्णीते सत्यन्यत्र प्रवृत्त्यनुदयात् पश्चात्तापानुदय इति भावः । स इति । यस्य
विचारः क्रियते स परित्यागो भक्तौ भक्तिमार्गे ज्ञाने ज्ञानमार्गे च कर्तव्यत्वेन प्रोक्त
इत्यर्थः । विशेषत इति । मार्गद्वितयोक्तावपि ज्ञानमार्गे विशेषत उक्त इत्यर्थः ।
तथा च वेदस्मृतिपुराणेतिहासेषु सर्वत्र प्रसिद्धत्वाद्विशेषणोक्तः, भक्तिमार्गे तु भगवदनुग्र-
हैकलभ्यभजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकविरहानुभवार्थं भगवत्कृतवरणरूपस्तद्रसिकेष्वेव प्र-
सिद्धत्वाद्विशेषणं नोक्त इति भावः ॥ १ ॥

ननु मार्गद्वितयप्रोक्त एव विचार्यते, न तु कर्ममार्गीयः, तथा च तस्याविचारे को
हेतुरित्यत आहुः ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

वस्तुतो ज्ञानमार्गेपि न कर्तव्य एव, अनन्तजन्मभिः सिद्धिसम्भवात्, परन्तु ज्ञानमार्गे
दैवात् ज्ञानसिद्धौ पाक्षिक्यपि सिद्धिः, अतः कर्तव्योपि, कर्ममार्गे तु न कर्तव्य एवे-
त्याशयेन सुतरामित्युक्तमिति बोध्यम् । तत्र हेतुः कलिकालत इति । कर्ममार्गस्य देश-
कालद्रव्यकर्तृमन्त्रादिसापेक्षत्वात् कलौ तु देशादीनामशुद्धत्वात् कर्ममार्गीययावत्पदार्थसिद्धिः
कालत्रयेपि बाधितेत्याशयः । तथा च कलिकालजन्यदोषाक्रान्तत्वेनाकर्तव्यत्वात्तद्विचारोपि
न क्रियते इति भावः । अत इति । सत्त्वरसन्दिग्धफलजनको निर्दोषोऽवश्यकर्तव्यश्च,
अतो हेतोः ज्ञानमार्गीयपरित्यागविचारात् प्रथमं भक्तिमार्गीयो विचार्यते इत्यर्थः ॥ २ ॥

तत्र प्रथमं परित्यागप्रयोजनं विचारयन्तः प्रयोजनानन्तरमाशङ्क्य दूषयन्ति ।

श्रवणादिप्रसिद्धार्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।
 सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
 अभिमानाश्रियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
 गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
 अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
 स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
 विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
 अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

प्रेमजनकश्रवणादीनां गार्हस्थ्ये व्यासज्ञान्तरेण सम्यगसिद्धेः, प्रकर्षेण सिद्धार्थं परित्यागः कर्तव्य इति पक्षो नेष्ट इत्यर्थः । अनिष्टत्वे हेतुमाहुः । श्रवणे सहायाः श्रवणकारयितारः तत्सङ्गसाध्यत्वात् श्रवणस्येत्यर्थः । तथा च परित्यागे सर्वसङ्गराहित्येन स्थितिरपेक्षितेति भावः । ननु मास्तु श्रवणार्थं, कीर्तनस्मरणादिनिमित्तपरित्यागे को दोष इत्यत आहुः साधनानामिति । कीर्तनस्मरणादिसाधनानां वाञ्छनसादीनां प्रेमाभावात् स्वतोऽप्रवर्तमानानां प्रयत्नेन कीर्तनस्मरणादिषु रक्षणात् स्थापनात् प्रवर्तनादिति यावत् । तथा च स्वतः प्रवृत्तिरहितानीन्द्रियाणि बलेन प्रवर्तनाद्विक्षेपमासादयन्तीति भावः । एवं पादसेवनादिषु सर्वत्रेन्द्रियप्रवृत्तौ स्वयमूह्यम् । दार्ढ्यार्थं हेत्वन्तराण्याहुः अभिमानादिति । मया सर्वं परित्यक्तं, मत्समः कोपि नास्तीत्येवमादिरूपाद् गर्वादित्यर्थः । तथा चैवं गर्वं सति सर्वेषामुद्वेगजननात् ऐहिको वेदस्मृत्यादिनिन्दनात् पारलौकिकश्रोपद्रव इति भावः । नन्वभिमानत्यागे को दोषोत आहुः नियोगादिति । ईश्वराज्ञातक्षणाद्वेदादेरित्यर्थः । तथा च वेदादिप्रसिद्धयतिधर्मानुष्ठाने सति अनुष्ठानरूपव्यासङ्गात् श्रवणस्य सम्यगसिद्धिः, तदनुष्ठानाभावे त्वारूढपतित एव स्यादिति नियोगादुपद्रव इत्यर्थः । ननु 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायत' इति वाक्याद्भगवदीयैकसङ्गः सन् श्रवणादीनि कुर्वाणः सत्सङ्गवशात् शनैः शनैः स्वतः प्रवर्तमानेन्द्रियो गर्वमप्यकुर्वन् उक्तवाक्याद्यतिधर्मानपि नानुतिष्ठन् सत्सङ्गातिरिक्तं सर्वं परित्यजेत्तदा को दोष इत्याशङ्क्याहुः तद्धर्मैरिति । पुष्टिमार्गीयपरित्यागधर्मैरित्यर्थः । तथा च पुष्टिमार्गीयपरित्यागधर्मैकसाक्षिकभगवद्वरणरूपपरित्यागे भावनासिद्धभावातिरिक्तयावत्साधनानामनभिमत्त्वात् भावपोषकविरहानुभवातिरिक्तयावत्पदार्थस्य व्यासङ्गान्तरजनकत्वेन तत्तदनुभवसाक्षिकभावरूपैः प्रकृतपरित्यागधर्मैः विरोधात् परित्यागकारणीभूतप्रेमजनकश्रवणादिसिद्धार्थं कर्तव्यो नेत्याशयः । तथा च विचारस्वारब्धत्वात् प्रकृतप्रयोजनकातिरिक्तपरित्यागकथनम्, वस्तुतस्तु विरहानुभवातिरिक्तप्रयोजनकः परित्यागः पुष्टिमार्गीयभक्तानां बुद्धिस्थोपि न प्रभवति, कुतोऽस्य कर्तव्यतेति ध्येयम् । ननु भावविरोधित्वान्मास्तु श्रवणाद्यर्थं, परन्तु पुष्टिमार्गीयभक्तोपदिष्टप्रकारेण साध्यमाने भावलक्षणे वरूपानन्दस्य साधने प्रतिबन्धकीभूतभायोदेस्त्यागे को दोष इत्याशङ्क्याहुः गृहादेरिति । सा-

धनार्थं साधनं भावस्तत्सिद्धार्थं यदि चेत्तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । तथा च प्रतिबन्धकनिवृत्तिरवश्यं सम्पादनीयेति गृहादेर्भावोत्पत्तौ प्रतिबन्धकत्वेन चेत् परित्यागो भावरूपसाधनसिद्धार्थमिति भावः । दोषमाहुः अग्रेपीति । तादृशैर्भावसिद्धौ प्रतिबन्धकैरेवेत्यर्थः । तथा च कृतेपि भेषजे न क्षान्तो व्याधिरिति न्यायापात इति भावः । नान्यथेति । ये अन्यथा अतादृशा अबाधकाः साधका इति यावत्तैः सङ्गो न भवतीत्यर्थः । तथोक्तं निबन्धे विवृत्तौ 'सन्ति ब्रह्मभावं प्राप्ता नत्वेतादृशा भक्ता' इति । यद्यपि 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति निबन्धे प्रोक्तं, तथापि स परित्यागः पूजानिर्वाहजनकत्वेनोक्तः, न त्वेतदेहावसान एव भजनानन्दरूपफलार्थमिति पूजानिर्वाहको भिन्नः, अयं च भिन्न इत्यनुसन्धेयम् । तथा च पूजानिर्वाहके तु सहायसङ्गत्यादिनोक्तमेव दूषणमित्यपि ध्येयम् । तर्हि प्रकृतगृहादिपरित्यागस्य का गतिरिति चेत्, न । प्रकृते तु गृह एव तिष्ठन्नविरतमेव तन्मार्गीयोपदिष्टप्रकारेण भावनां कुर्वाणः सिद्धभावलक्षणसाधनः सन् गृहादि सर्वं परित्यजति विरहानुभवार्थं, न तु साधनसिद्धार्थमिति सर्वमवदातम् । ननु बाधकं गृहादि परित्यज्य सर्वसङ्गरहितः सन् भावनया भावलक्षणं साधनं साधयेत्तदा को दोष इति अत आहुः स्वयं चेति । आहारादिविषयाप्राप्त्या क्लिष्टः सन् तदेव ध्यायन् विषयाक्रान्तः स्यात् । ततो मनसेन्द्रियार्थान् स्मरन् मिथ्याचारपदवाच्यः पाषण्डी तु भवेत्, तथा च भावरूपेष्टसिद्धिस्तु दूरे, प्रत्युतानिष्टसिद्धिरिति भावः । नन्विन्द्रियनिग्रहे सर्वमुपपद्यत इत्यत आहुः कालन इति । कलाविन्द्रियनिग्रहस्य दुःसाध्यत्वादित्यर्थः । विषयाक्रान्तत्वे पाषण्डित्वम्, एकमनिष्टमुक्त्वा द्वितीयं बलवदनिष्टमाहुः विषयाक्रान्तेति । देहो लिङ्गशरीरं तस्य मोक्षपर्यन्तमनवरतमुपचीयमानत्वाद्देहपदेनोक्तिः, एवञ्च लिङ्गशरीराध्यक्षत्वेन (अध्यस्तत्वेन) तदभेदं मन्यमान आत्मैव (देह) पदेनोच्यते, तथा च विषयाक्रान्तात्मनां भगवदावेशः कदापि न भवतीत्यर्थः । इत्थं च यदर्थं सर्वोप्युद्यमस्तस्यैवासिद्धेर्महदेवानिष्टमित्यर्थः । उपसंहरन्ति अतोऽत्रेति । यत् उक्तदूषणानि अतो भक्तौ श्रवणादिसिद्धार्थं अत्र साधने अनन्यभावलक्षणसाधनसिद्धार्थं च परित्यागो नैव सुखावह इत्यर्थः ॥ ३-६ ॥

एवं प्रयोजनान्तरेण प्रयोजनान्तरकृतपरित्यागे च दूषणमुक्त्वा प्रकृतप्रयोजनमाहुः ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा बहिवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

निरोधलक्षणे 'हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र ही'त्याद्युक्तप्रकारेणान्तररम-
णान्तःपातिसंयोगविशेषानुभवेनोत्पन्नस्योत्कण्ठाविशेषस्य विषयीभूतानां भगवत्स्वरूपनिष्ठतत्त-
त्पदार्थानामनवाप्तेर्भवति हि विरहस्तदनुभवाय परित्यागः प्रशस्त इत्यर्थः । प्रयोज-
नमुक्त्वा प्रकारमाहुः । अत्रास्मिन् परित्यागे वेदादिषु प्रसिद्धः स वेशो बन्धुजनकृतबन्ध-
नाशनिमित्तत्वेनैव स्वीकार्यः, न तु संस्कारत्वेनेत्यर्थः । काषायदण्डादिधारणं तस्ययोजनं
चोक्त्वा गुरुमाहुः । भगवदर्थमेव सर्वविषयत्यजनात् कौण्डिन्यो गुरुः, गोपिकास्तु
सर्वप्रकारेषु गुरव इत्याशयः । गुरुमुक्त्वा साधनमाहुः साधनं चेति, । तत् पुष्टिमार्गीय-
रसिकेषु प्रसिद्धमित्यर्थः । किं तदत आहुः भाव इति । ननु भावे किं साधनमित्याकां-
क्षायामाहुः भावनमेति । भावे भावनैव साधनम्, अन्यत् साधनान्तरं तद्रसिकसम्मतं
नेत्यर्थः । तथा च ज्ञानमार्गीयपरित्यागे श्रवणमननादिभिरुत्पन्नं ज्ञानं मोक्षे साधनं, तथा
भावनया सिद्धो भावः स्वरूपानन्दे साधनमिति भावः । साधनमुक्त्वेदानीमस्य ज्ञानिस-
दृशी दशान्यादृशी वेत्यत आहुः । विकलत्वमात्माद्यनुसन्धानराहित्यम् । अस्वास्थ्यमभिल-
षितार्थानवाप्तेर्यावद्विषयनिर्वेदादिनिवृत्तिरिति यावत् । तथा च सङ्कल्पप्रतिभाते भगवति
जातासु चक्षुरागचिन्तासङ्गसङ्कल्पनिद्राच्छेदतनुताविषयनिवृत्तिप्रपानाशोन्मादमूर्छान्तासु नव-
स्ववस्थासु विषयनिवृत्तिपर्यन्तानामस्वास्थ्यपदेन त्रपानाशोन्मादमूर्छानां विकलत्वमित्य-
नेनोक्तिरिति ध्येयम् । एवं च अस्वास्थ्यं विकलत्वं च भावनासिद्धभाववतः प्रकृतिः
स्वभावः स्वाभाविकमिति यावत् । हि निश्चयेन प्राकृतं न, प्राकृताः सत्त्वरजस्तमोगुणास्त-
त्सम्बन्धि न भवतीत्यर्थः । ननु गुणजन्यज्ञानेनापि जडोन्मत्तसदृशव्यवस्थाजननात् भवति
विकलत्वं, तथा तमोगुणजन्यप्रमादमोहाज्ञानैरपि तज्जायते । एवं रजोगुणजन्यलौकिकवि-
षयलोभे सति लौकिकविषयानवाप्तेरपि स्यादस्वास्थ्यम् । तथा चैतेपि विकलत्वास्वास्थ्ये प्राकृते
एवेत्याशङ्क्याहुः ज्ञानमिति । एवं वर्तमानस्य विकलत्वास्वास्थ्यसहितैतादृशभाववतो निर्गु-
णमपि ज्ञानं बाधकं, गुणा अपि बाधकाः, तथा च यद्यप्रतिबन्धं निर्गुणं ज्ञानं स्यात्तदैकाल्य-
स्फूर्त्यादयः, यदि च सत्त्वरजस्तमांसि स्युस्तदा सगुणज्ञानलौकिकविषयलोभप्रमादमोहाज्ञा-
नैश्च प्रतिबन्धजननात् अयं भाव एव नोत्पद्येतेत्यन्यथानुपपत्त्या ज्ञानस्य गुणानां चाभाव-
निश्चयाद्विकलत्वास्वास्थ्ययोः प्राकृतत्वं दुर्वचमित्याशयः । न च गतेस्मितप्रेक्षणेत्यादिरूपि-
तैकाल्यस्फूर्तिरपि प्रतिबन्धिकास्त्विति वाच्यम् । तस्यास्तूत्तरसामयिकभावान्तरेण प्रतिबन्ध-

त्वात् । यद्यपि पुष्टिमार्गीयैकाल्यस्फूर्तिलक्षणं रसान्तःपाति निर्गुणं ज्ञानमप्रतिबन्धमप्रसिद्धमेव,
तथापि 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत'मिति भगवद्वाक्याद्भगवद्विषयकं भगवच्चरणारविन्दरूपाक्षरविष-
यकं च ज्ञानं सत्त्वगुणजन्यमपि ज्ञानं निर्गुणमेव, तच्चाप्रतिबन्धं सत् प्रतिबन्धकमिति बो-
ध्यम् । एवं च निर्गुणं ज्ञानं प्रतिबन्धकं यत्र, तत्र गुणानां प्रतिबन्धकत्वे किं वक्तव्यमिति कैमु-
तिकन्यायप्रदर्शनपूर्वकं गुणानां प्रतिबन्धकत्वाय ज्ञानमित्युक्तमिति विभावनीयम् । ननु रज-
स्तमसोरास्तां लौकिकविषयलोभादिजननेन प्रतिबन्धकता, सत्त्वस्य तु ज्ञानमात्रजननेन कथं
प्रतिबन्धकतेत्याशङ्क्य तुरीयाश्रमविहितश्रवणादिना सत्त्वगुणोद्रेकात् जातस्य सगुणज्ञानस्य
मोक्षरूपफलान्तरविषयकेच्छाजननपूर्वकं सत्यलोकलक्षणफलजननात् प्रतिबन्धकत्वमाहुः ।
विशेषितात् सहकृतादित्यर्थः । नन्वत्र ब्रह्मणा सह मोक्षोपि, ततोर्वाक् ब्रह्मलोकीयसुखानुभव
इति फलद्वयजननेन पुष्टिमार्गीयदुःकृष्ट इत्यत आहुः । यत्र भावे यथा भावना कारणं तत्र तथा
फलमपि स्यात्, तथा च भावनया यथा भावो जन्यते, तथा भावेन स्वफलमपि
जन्यत इत्यर्थः । एवं च भावनयास्मिन्नेव जन्मनि भावो जन्यते यथा, तथा भावेन
भजनानन्दलक्षणं स्वफलमपि झटित्येतदेहावसानाव्यवहितोत्तरक्षण एव जन्यत इति भावः ।
एवं भावस्योत्कर्षमुक्त्वा ज्ञानस्यापकर्षमाहुः तादृशा इति । अप्राप्तमोक्षा एवेत्यर्थः ।
इत्थं चानेकजन्मक्रियमाणयोगाभ्यासादिभिर्ज्ञानं विलम्बेन जन्यते यथा, तथा ज्ञानमपि
ब्रह्मस्थितिपर्यन्तं ब्रह्मलोके स्थापयित्वा ब्रह्मणा सह मोक्षजननाद्विलम्बेनैव स्वफलमपि जनय-
तीत्येवमादिरूपाद्भावात् भावसाधनात् भावफलाच्च स्फुटतर एव ज्ञाने ज्ञानसाधने ज्ञानफले
चापकर्ष इति भावः । नन्वास्तां तावत् भावस्त्वरया फलजनकः, परन्तु यदुक्तं स्वसाधनी-
भूतभावनातः सत्त्वरमुत्पन्नत्वात् स्वफलमपि सत्त्वरमेवं जनयति भावस्तत्र साधु । नहि वर्ष-
शतेन पुष्टो दृढदण्डो घटजननेऽचिरयति, नवा सत्त्वरमुत्पन्नं कपालं सति प्रतिबन्धे सञ्जीभवति
घटमुत्पादयितुम्, तथाच को हेतुर्भावस्य सत्त्वरफलोत्पादन इत्याशङ्क्य आहुः । यथा दारुण्य-
भिभूतो वह्निर्मथनेनोद्भूतः सन्नन्तःप्रविष्टः सर्वं भस्मसात्करोति तथाविर्भूतो भगवान् सर्वमप्य-
विधारूपं बन्धं नाशयतीत्यर्थः । तथा च व्यापकत्वात् सर्वत्रैव भगवानस्ति, यदा तु भक्त्या
अन्तःकरणे प्रकटीभूयान्तःकरणे प्रकटो भवति, न कदाचित्तिरोधते इति यावत्, तदा
झटित्यविद्यानाशात् स्वरूपानन्दानुभव इति भावः । न चेति ज्ञानमार्गीयप्रकारेण
नैवमित्यर्थः । ज्ञाने तु स्वापप्रबोधवदुदयानुदयाभ्यां चिरेण ब्रह्मणा सह मुक्तिरिति भावः ।
नन्वविद्याबद्धस्य जीवनं सम्भवति, नत्वबद्धस्य । तथा च बन्धे नष्टे किं प्रयोजनं जीवनस्य,
किं वा जीवनसाधनमिति आशङ्क्याहुः । तुशब्दात् कारणान्तरव्यावृत्तिः । भगवद्गुणा एव
जीवनं सम्पादयन्ति । हि निश्चितोयमर्थ इत्यर्थः । ननु गुणाः किमर्थं जीवयन्तीत्यत आहुः
सङ्गेति । सङ्गराहित्याद्विरहात् प्रयोजनीभूतादित्यर्थः । तथा च भजनानन्दानुभवयोग्यता-
सम्पादकविरहानुभवसिद्धिनिमित्तं गुणा एव जीवनार्थं भवन्तीत्याशयः । ननु सर्वसमर्थो
भगवान् यथा गुणैर्जीवयति, तथा संयोगेनैव कुतो न जीवयति, यतः किञ्चित् स्वास्थ्यमपि

स्यादित्याशङ्काहुः भगवानिति । यदि संयोगं सम्पादयेत्तदा भजनानन्दानुभवयोग्यताजनक-
विरहनाशजननेनास्वास्थ्यपगमात्, स्वयमेव प्रतिबन्धकः स्यात्, तथा च फलरूपस्य स्वस्य स्व-
प्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वं नोचितमित्यर्थः । नन्वतिक्लेशात् कदाचिद्द्वैतैषणास्य मनसि फलप्राप्तिसन्दे-
होदयजन्यमस्वास्थ्यं स्यात्तन्निवृत्त्यर्थं सन्देहनिवारकं वचनं वक्तव्यम्, यथा ब्रह्मानन्ददानार्थं
यतमानं नारदं प्रति 'गन्ता मज्जनतामसी'त्युक्त्वांस्तथेत्याशङ्काहुः स्वास्थ्येति । कर्तुमेव
योग्यं न भवति यतोऽयं दयालुरनुग्रहकर्ता यतश्च स्वयं न विरुध्यते । विरोधी नातो हेतोः,
तथा च खेच्छयानुगृह्य दुर्लभपरित्यागपर्यन्तं सर्वं सम्पादितवान्, अतो दयालुर्यतश्च
स्वप्रापकभावोत्पत्तौ प्रतिबन्धकं न कृतवानतोऽविरोधी, इत्थं चाविरुद्धानुग्राहको भगवां-
स्तथैव मनः प्रेरयति यथा न सन्देहोदयः, न च तज्जन्यमस्वास्थ्यमिति तादृशवाक्यं प्रयो-
जनाभावान्न कर्तुमुचितमिति भावः । इदानीं प्रकृतपरित्यागाधिकारं वदन्त उपसंहरन्ति
दुर्लभोद्यमिति । ज्ञानमार्गीयवैराग्यमिवात्र व्यसनरूपं प्रेम साधकम् । तथा च प्रेमवानधि-
कारीत्यर्थः । नेति । प्रेमाभावेऽयं परित्यागः सिध्यत्येव नेत्यर्थः । दुर्लभो भगवदनुग्रह-
कसाध्यत्वाहुःप्राप इत्यर्थः ॥ ७-१३ ॥

इत्थं प्रकृतमुपसंहृत्य ज्ञानमार्गीयसंन्यासे किञ्चिदाहुः ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ॥ १६ ॥

विचारित इत्यविचारेपि सिद्धवन्निर्देशाद्वस्तुतोत्र न किञ्चिद्विचार्यमस्तीत्यर्थः ।
तथाहि, विद्वत्संन्यासस्य प्रकृतपरित्यागविचार एव प्रसङ्गाद्भवत्येवमेव सत्यलोक इत्यादिना ।
परमवशिष्यते विविदिषासंन्यासः, तस्य तूच्यत एवेति न किञ्चिदपि विचार्यमस्तीत्याशयः ।
अवशिष्टव्यवस्थामाहुः ज्ञानार्थमिति । उत्तरस्य स्वजन्यज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमुत्पत्त्यमानस्य
मोक्षस्य अङ्गपरम्परया प्रयोजकः, न तु साक्षाज्जनकः, तथा चैतादृशपरित्यागो ज्ञानोत्पत्त्यर्थं
चेत्क्रियेतेत्याशयः । दोषमाहुः सिद्धिरिति । परन्तु तत्फलमनेकैर्जन्मभिर्भवतीत्यर्थः । ननु
सत्वरमेव कुतो न भवतीत्यत आहुः ज्ञानं चेति । यज्ञा आदिर्येदृशश्रवणाद्भवति, यतः
साधनापेक्षं मतं कारणसापेक्षं स्वीकृतं सर्वैरित्यर्थः । तथा च यतेर्मानसमखानामावश्यकत्वात्
कृतिपूर्वकमेव श्रवणमुचितम् । इत्थं च मानसमखश्रवणयोस्तत्तिन्द्रियनिग्रहाधीनत्वात् नि-
ग्रहस्य सुतरामशक्यत्वाच्चानेकैरपि जन्मभिः सिद्धिर्दूरतरा ज्ञानस्येति भावः । उक्तं च निबन्धे
'तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात् परमात्मनः । विद्यां प्राप्नोत्युरुक्लेशः क्वचित् सत्ययुगे पुमा'निति
ध्येयम् । इममेवार्थमाहुः अत इति । सत्ययुगे कदाचिदपि सिद्धिः, कलौ तु पश्चात्तापातिरिक्तं

किमपि फलं न भवतीत्याशयः । नेति । अस्मिन्नर्थे न काचिद्विप्रतिपत्तिरित्यर्थः । एवमत्रेष्ट-
सिद्धभावमात्रं न, किन्त्वनिष्टसिद्धिरपि भवतीत्याहुः पाषण्डित्वमिति । यथोक्ताश्रम-
धर्माणामनाचरणाद्देवमार्गीय्युतेः पाषण्डित्वं, चकारान्नरकोपि स्यादित्यर्थः । उपसंहरन्ति
तस्मादिति । ज्ञाने ज्ञानमार्गे संन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः । इत्थमकर्तव्यत्वसाम्यादुपस्थित-
ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्य स्थूणानिखननन्यायेन पुनरकर्तव्यतामाहुः सुतरामिति । कलिदोष-
प्राबल्यात् सुतरां न कर्तव्य इति स्थितं, प्रथममेवोक्तमभून्मयेत्याशयः । तथा चोभावपि न
कर्तव्यौ, समानदोषत्वादिति भावः ॥ १४-१६ ॥

एवं मार्गान्तरीययोः सदोषत्वमुक्त्वा प्रकृतस्य सयुक्तिकं निर्दोषत्वमाहुः ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान् स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रूयते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तिमार्गे परित्यागकृतौ यदि दोषसम्भावना तदा किं कर्तव्यमित्यर्थः । तथा च
परित्यागः कर्तव्यो न कर्तव्यो वेत्याशङ्कायां समाधानमुच्यत इत्यर्थः । समाधानं वदन्तः
प्रथमं प्रवृत्तिप्रतिबन्धकविघ्नरूपं दोषमाशङ्क्य तदभावमाहुः । अत्रास्मिन् परित्यागे आरम्भे
प्रवृत्तौ नाशो विज्ञो न भवेदित्यर्थः । ननु मास्तु प्रवृत्तौ प्रतिबन्धकस्तदभावस्यानुभविक्त्वात्
परन्तु फले प्रतिबन्धकान्तरानुमाने को दोष इत्यत आहुः दृष्टान्तेति । अनुमानस्य दृष्टान्त-
सापेक्षत्वात्तदभावदानुमानुं न शक्यत इत्यर्थः । अपिशब्दात् सद्देतोरप्यभावाच्चानुमानमित्या-
शयः । ननु लौकिकविषयानुरागात् स्वर्गाद्यक्षरानन्दतामुष्मिकफलाभिलाषाच्चास्वास्थ्यनाशेन
फलप्रतिबन्धलक्षणो दोषः प्रकृतपरित्यागेपीत्याशङ्काहुः स्वास्थ्येति । स्वास्थ्यहेतोरस्वास्थ्यना-
शकस्येत्यर्थः । तथा च भजनानन्दातिरिक्तयावदभिलाषविषयाणां प्रथममेव तुच्छीकृत्य परित्यक्त-
त्वात्तदभिलाषाभावेन फलप्रतिबन्धः केन स्यात्, न केनापीत्यर्थः । ननु कालादयश्चेत्प्रतिबन्धकाः
स्युरत आहुः हरिरिति । अपरे कालादय इत्यर्थः । पूर्वपक्षिणं मनसिकृत्याहुः अन्यथेति ।
प्रश्ने चासन्नकाल इति सूत्रेणासन्नकालिक्यां क्रियायां पृच्छमानायां पुपुषुरिति लिट् । अन्यथा
बाधां करोति भगवानिति, यदि त्वं निश्चितोसि तदाहं पृच्छामि, क्वचिदद्य प्रातः सङ्गवे वा
मातरो बालान् स्तन्यैर्न पुपुषुः किमित्यर्थः । तथा चैतावत्कालं तु मातरोर्भक्तपोषणपरा
एव सर्वसंमतास्त्वया त्वद्य किमपुष्णन्त्यो दृष्टा इतीदृशः प्रश्नः पुपुषुरित्यस्य वाच्यः । इत्थं च

यद्यसम्भावितमर्भकपोषाभावमद्राक्षीस्तदा भगवत्कृतवाधामपि मनस्यानयेः । एवं चोभयमपि शशविषाणायमानमिति भावः । ननु दैवात् मिलिता ज्ञानिनः स्वातुभवज्ञापनपूर्वकं स्वमार्गोपदेशं कुर्युस्तदा का गतिरत आहुः । यद्वा, ननु भगवान् स्वयं प्रतिबन्धं न जनयति, परन्तु सर्वमोहिका माया चेन्मोहमुत्पाद्य मार्गान्तररुचिलक्षणं प्रतिबन्धं जनयेदित्याशंक्याहुः । ज्ञानिनामपीति च वाक्यं चेति कर्मधारयः । तथा च 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती'ति वाक्येनेत्यर्थः । एवं चास्मिन् वाक्ये ज्ञानिनामित्युक्तम्, ननु भक्तानामपीत्यतो ज्ञानिमोहजनन एवास्या शक्तिर्न तु भक्तमोहजनन इत्याशयः । मोहेति । अतीतवर्तमानमोहयोरभावस्त्वेतन्मार्गान्यथानुपपत्त्यैव निश्चितः, परमवशिष्यते सन्दिग्धसम्भवो भविष्यमाणः स तु पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न मोहयिष्यतीत्यनेन परिह्रियत इति ध्येयम् । ननु भगवदिच्छया दुरूहतरत्वाद्भगवतः स्वतन्त्रतमत्वात् कदाचित्स्वयमपि मोहयेदत आहुः आत्मप्रद इति । लुब्धो द्वेष्या वाऽभविष्यदमोहयिष्यद्भगवांस्तु जीवकृतिसाध्यसाधननिरपेक्षः सन् स्वात्मानमपि प्रकर्षेण ददद्दुदारः, तथा द्वेष्यापि न भवति, उदासीनोपि न भवति, अपि तु प्रियः, तथा च प्रयोजनयोः लोभद्वेषयोरभावान्नैव मोहयिष्यतीत्यर्थः । अत्रापि अतीतवर्तमानमोहयोरभावस्तु वरणान्यथानुपपत्त्यैव निश्चितः, अवशिष्टस्य तूच्यत एवेति ध्येयम् । एवं प्रकृतपरित्यागे दोषाभावमुपपाद्य प्रवृत्तिं विदधति । यस्मात्सर्वथा निदर्षिस्तस्मादुक्तप्रकारेण 'स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेश' इत्याद्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः । स्वार्थाद्विरहानुभवलक्षणस्वप्रयोजनात् रहितो भवतीत्यर्थः । किमत्र प्रमाणमत आहुः इति मे इति । निश्चिता साक्षात्कृतविषया मतिरेव प्रमाणमित्याशयः ॥ १७-२१ ॥

नन्वयं परित्यागः किं तुरीयाश्रमः, किं वा भक्तिमार्गीयः साधनविशेष इति सन्दिहानं प्रत्याहुः ।

इति कृष्णप्रसादेन बल्लभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इति समाप्तोयं ग्रन्थ इत्यर्थः । भगवत्प्रसन्नतया हेतुभूतया साक्षात्कृतमित्यर्थः । भक्तौ भक्तिमार्गे संन्यासवरणं परित्यागलक्षणो भगवदङ्गीकारः । तथा च नायं तुरीयाश्रमः, न वा भक्तिमार्गीयः स्वकृतिसाध्यः साधनविशेषः, किन्तु भगवत्कृतो जीवसाङ्गीकाररूपोयं परित्याग इत्याशयः । अन्यथाङ्गीकाराभावे पतितोऽस्मान्मार्गात् च्युतो भवेत् । तथा चैतन्मार्गाच्च्युतिः पातित्यमेवेति पतितपदप्रयोग इति बोध्यम् । इत्थं च भगवानेव स्वभिन्नयावल्लौकिकालौकिकविषयेभ्योन्तःकरणं निरुध्य यदि स्वस्मिन् व्यसनं सम्पादयेत्तदायं परित्यागो भजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकविरहानुभवार्थं कर्तव्यः, नो चेत्तनुवित्तजैव सेवा कर्तव्येति श्रीमदाचार्यचरणानामाशयोऽनिशमनुसन्धेयः । तथा चोक्तं विद्वन्मण्डने श्रीमत्प्रसुचरणैः 'तस्माज्जीवानां मर्यादैव हितकारिणी'ति ॥

चाचाश्रीगोपेशकृता संन्यासनिर्णयविवृतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-पञ्चदश-

निरोधलक्षणम्

षड्भिष्टीकाभिस्समलंकृतम्

१. चाचा श्रीगोपेशानाम्
४. श्रीवल्लभानाम्
२. काका श्रीवल्लभानाम्
५. श्रीपुरुषोत्तमानाम्
३. श्रीहरिरायानाम्
६. श्रीब्रजराजानाम्

परिशिष्टत्रयोपेतम्

१. श्रीहरिरायणां प्रथमा असम्पूर्णा टीका

२. श्रीलालूभट्टकृत-निर्णयार्णवान्तर्गत-

एतद्ग्रन्थसंशयनिरासः

३. श्रीलालूभट्टकृत-निरोधस्वरूपनिरूपणम्-

दशमसुबो. योजनान्तर्गतम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-नित्यलीला-स्थित-गोस्वामिश्री-

१००८- श्रीपुरुषोत्तमलालजी-महाराजश्री-स्थितेषां-स्मृतौ-

तदात्मजैः-गोस्वामिश्री-१०००श्रीगोपाललाल-महाराजैः

प्रकाशितम्

वि. सं. २०३७

श्रीवल्लभाब्द : ५०३

प्रकाशक :

गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोपाललालजी महाराज
श्रीमहाप्रभुजीका बड़ा मन्दिर, पाटनपोल, कोटा,
राजस्थान, ३३४००६, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

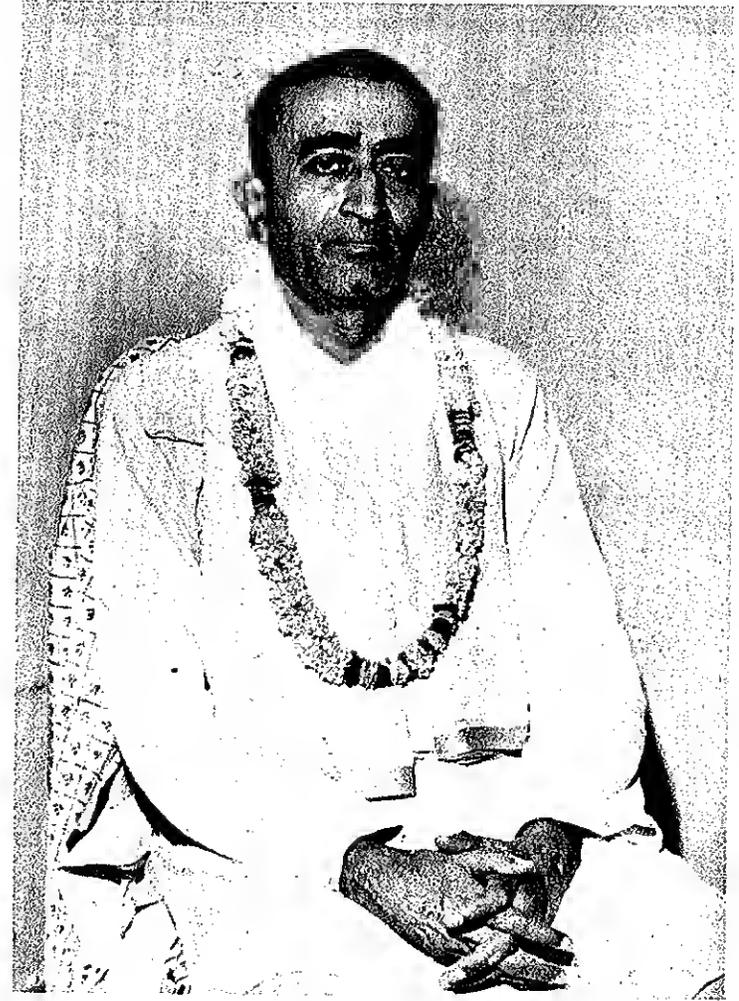
राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवत्सलभाब्दः ५०३

ग्रंथ परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :

स्टुडियो बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी, बम्बई-४००००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीपुरुषोत्तमलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलैर्म्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

निरोधलक्षण ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने गुजरातके आपके शिष्य राजा दवे और माधव दवे के लिए लिखा था. एक किंवदन्तीके अनुसार इसका रचनाकाल वि. सं. १५६६ है.

चौरासी वैष्णवोंकी वार्ताके अन्तर्गत इन दोनों भाईओंकी कथा भावप्रकाशमें यों मिलती है :

“राजा दुबे — माधौ दुबे के माता-पिता मांदे भये तब दोऊ बेटानसों कहें—‘अब हमको या समें श्रीरनछोड़जीके दरसन करावौ तो वहीत आछो.’ तब वे दोऊ डोली भाड़े करि माता-पिताको बैठारि श्रीठाकुरजीकों संग ले चले. सो श्रीरनछोड़जीके दरसन माता-पिताकों कराये. तब तहां कछुक दिनते श्रीआचार्यजी द्वारकामें हते... तब राजा दुबे — माधौ दुबे लोगनसों पूछे—‘इहां कहूं कथावार्ता-भगवत्तर्चा होत होई तो तहां जंये... तब एकने कही—‘श्रीवल्लभाचार्यजी पृथ्वी-परिक्रमा करि इहां पवारे हैं सो कथा वहीत आछी कहत हैं.’ तब दोऊ भाई प्रसन्न होई आगे आई बेंठे. तब श्रीआचार्यजी नन्दमहोत्सवको वर्णन — श्रीभागवत दशमस्कन्धके पांचमे अध्यायको वर्णन किये. सो नन्दालयकी लीलाको प्रकट अनुभव दोऊ भाईनकों कराय दिये...

... श्रीआचार्यजीके पास बड़े सबेरे आई विनती किये— ‘महाराज ! हमको सरनि लीजिये.’ तब श्रीआचार्यजी दोऊ भाईनको फेरि न्हवाईके नाम सुनाये ब्रह्मसम्बन्ध कराये. पाछे श्रीआचार्यजी कहे—‘अब तुम भगवत्सेवा करो !’... सो श्रीआचार्यजी श्रीठाकुरजीकों पञ्चामृत स्नान कराई राजा दुबे — माधौ दुबे के माथे पघराये और आज्ञा किये—‘सब ठोरते मन छुटाई निरोध करि भगवत्सेवा करो.’ तब राजादुबे-माधौदुबे विनतो करि जो—‘महाराज! निरोधको स्वरूप कहा है?’...

या प्रकार दोऊ भाईनकी दीनता सरल स्वभाव देखिके दशमस्कन्ध जाको ‘निरोध-स्कन्ध’ कहे हैं ताको आप ‘निरोधलक्षण’ ग्रन्थ करि दोऊ भाईनको पाठ करायके कहें—‘तुम दोऊ भाईनको निरोध सिद्ध होईगो.’ सो तत्काल दोऊ भाईनको मन अलौकिक है गयो. लीलारसको अनुभव होन लग्यो. तब श्रीआचार्यजी कहे—‘अब अपने घर जाय सेवा करो... देवी जीव आवें तिनकों नाम दीजो. तुमको निरोध सिद्ध भयो और जो तुम्हारो संग मन लगायके करेगो ताहूकों निरोध सिद्ध होयगो?’

सो अपने गाम मण्डमें आये. घरमें दोऊ भाई भगवत्सेवा करना लागे. कछुक द्रव्य घरमें हतो तामें निर्वाह करें. काहूसों वहीत बोले नाहीं. जो आवे तापर दया करिके खानपानको समाधान करे. भगवद्वाता करि दोऊ भाई श्रीठाकुरजीकी लीलाके रसमें मगन रहते !”

भगवान्के भक्तोंमें तथा भक्तोंके भगवान्में तल्लीन ही जानेकी कथा भागवतके दशमस्कन्धमें निरोधलीलाके रूपमें वर्णित हुई है. भगवान्की इस निरोधलीलाके फलस्वरूप, यह वहां कहा गया है कि उन भक्तोंकी ऐसी स्थिति हो गई कि वे सोते-जागते, चलते वार्तालाप करते, क्रीडा या स्नान करते और भोजन करते हुए भी अपनी सारी सुघ-बुध खोकर केवल श्रीकृष्णमें ही तल्लीन रहते थे— “शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानाशानादिषु न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः” (भाग १०-१०:४६) यह निरोधका परिनिष्पन्न स्वरूप है.

योगका लक्षण हमारी केवल चित्तवृत्तियोंका निरोध माना गया है—“योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः”. केवल चित्तवृत्तिका निरोध किन्तु भक्तिमार्गमें अपर्याप्त माना गया है. पुष्टि-भक्तिरूप निरोध श्रीकृष्णके संयोग एवम् वियोग को गहराईसे अनुभूत करना है. केवल चित्तवृत्ति ही नहीं अपितु देह-इन्द्रिय-प्राण-मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त-आत्मा; तथा अन्ध भी आत्मीय वस्तु और परिजनों का कृष्णभजनमें विनियोग या तत्पर हो जाना पुष्टि-मार्गीय निरोध है

इस भक्तियोगके निरोधकी व्याख्या उसके (१) कारणलक्षण (२) स्वरूपलक्षण (३) कार्यलक्षण एवम्; (४) प्रयोजनलक्षण के आधार पर चार तरहसे दी जा सकती है. कारणलक्षण

भागवतके द्वितीयस्कन्धके दसवें अध्यायकी छठी कारिका—“निरोधोस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः” में निरोधके कारणलक्षणका निरूपण हुआ है. श्रीमहाप्रभुने भी भागवतार्थ निबन्ध (१०:१४-१७) में इसका विवेचन किया है. वहां यह समझाया गया है कि अपनी दुर्विभाव्य शक्तियोंके साथ श्रीकृष्णका इस घरातलपर क्रीडार्थ प्रकट होना निरोध है. ‘निरोध’ के इस तरह के लक्षणमें ‘निरोध’ शब्दका रूढार्थ नहीं किन्तु योगिकार्थ विवक्षित होता है. नवमस्कन्धका वर्ण-विषय भक्ति और दशमस्कन्धका वर्ण-विषय निरोध माना गया है. इनके पूर्वापर होनेकी क्रमसंगति यह मानी गयी है कि नवमस्कन्धमें निर्दिष्ट भक्ति जिनमें प्रकट हीती है ऐसे भक्तोंका, उन्हें विमुक्त करनेके लिए भगवान्के द्वारा, जो रोध किया जाता है, उसे ‘निरोध’ कहते हैं. क्योंकि जो श्रीकृष्णके द्वारा निरुद्ध होते हैं वे संसारसे मुक्त हो जाते हैं. संसारावेश भक्तिको अशुद्ध बनाता है अतः भक्तिकी शुद्धताके लिए श्रीकृष्णके द्वारा भक्तोंका निरोध आवश्यक है.

दशमस्कन्धमें वर्णित भगवान्की प्रत्येक लीलाकी चरम परिणति यही दिखलायी गयी है कि कैसे उन-उन लीलाओंसे सम्बद्ध भक्त श्रीकृष्णके प्रति प्रबल आकर्षणके कारण प्रपञ्चको भूल कर श्रीकृष्णमें अनन्यतया आसक्त हो गये थे.

वात्सल्यभाववाले नन्द-यशोदाकी यही गति हुई. सख्यभाववाले गोपावालकोंकी यही गति हुई. माधुर्यभाववाले गोपिकाओंकी भी यही गति हुई. ब्रजके तो पशु-पक्षी-वृक्ष-पर्वत-नदी पर्यन्तकी यही गति वर्णित हुई है. आगे चल कर मथुरालीला या द्वारकालीला से सम्बद्ध भक्तोंकी भी प्रपञ्चविस्मृति और कृष्णासक्ति ही पूरे अवशिष्ट दशमस्कन्धका प्रमुख वर्णनीय विषय है.

इस जगतमें भगवान्की जैसी लीलाके कारण भक्त, प्रपञ्चको भूलकर, भगवान्में अनन्य-तया आसक्त हो पाता हो वह भगवान्की लीला भक्तके भगवान्में निरुद्ध होनेका कारण मानी जाती है. अतः ऐसी भगवल्लीलाके निर्देश द्वारा निरोधकी व्याख्या, निरोधका कारण-लक्षण माना जाता है.

भगवान्की मनोहारी लीलाओंके द्वारा अवतारकालमें तो भक्तोंका निरोध भागवतके दशमस्कन्धमें वर्णित हुआ है, किन्तु आधुनिक भक्तोंके निरोधकी सम्भावना कितनी हो सकती है? इस शंकाका समाधान श्रीमहाप्रभुने भागवतार्थ-निबन्धके गुणप्रकरणमें किया है. वहां यह कहा गया है कि जैसे धर्मरूपमें श्रीकृष्णके स्वयमेव प्रकट होनेपर भक्त उनमें निरुद्ध हो गये, इसी तरह भगवान्के गुण-धर्मोंका निरन्तर श्रवण-स्मरण-कीर्तन करनेसे, आधुनिक भक्त भी भगवान्में निरुद्ध हो सकते हैं. अतएव दशमस्कन्धके अन्तमें छह अध्याय गुणप्रकरणके रूपमें योजित किये गये हैं.

परमात्मा परमार्थतः यदि निर्गुण निर्धर्मक निराकार निर्विशेष हो तो कृष्णावतारकी लीलाको मायाका कपटनाटक मानना पड़ेगा. इसी तरह परमात्माका मूलरूप श्रीकृष्ण न हों तो दशमस्कन्धमें वर्णित लीलाओंकी आधिदैविक महत्ता खण्डित हो जायेगी. अतः परब्रह्मपरमात्मा भगवान् स्वयम् सगुण-साकार श्रीकृष्ण हैं, यह दिखलानेके लिए अन्तिम गुणप्रकरणमें श्रीकृष्णके दिव्य अकुण्ठित एवम् पारमार्थिक, ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य रूप, छह गुणोंका द्योतन छह अध्यायों द्वारा किया गया है (भा. नि. १०:४१८-४२०).

अवतारकालमें अपने स्वरूपगत आकर्षणसे भगवान् भक्तोंको अपनेमें निरुद्ध करते हैं. अतवतारकालमें स्वयम् भगवान्के प्रकट न होनेपर भी भगवद्गुणोंका ऐसा माहात्म्य है कि गुणगानकर्ता भक्त भगवान्में निरुद्ध हो ही जाते हैं. अर्थात् भगवद्गुणोंके संकीर्तन करनेसे भी प्रपञ्चकी विस्मृति और भगवदासक्ति सुलभ हो जाती है—“स्कन्धार्थस्तु” निरोधो हि ततस्तेनोपसंहतिः अग्रेपि ये भविष्यन्ति कीर्तनात्तेपि तादृशाः” (भा. नि. १०:४६६).

इससे सिद्ध होता है कि भगवल्लीलासे प्रत्यक्षसम्बन्धकी तरह परोक्षमें उसका श्रवण-स्मरण-कीर्तन भी प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति रूप निरोधका कारण बनता है.

भक्तिवर्धिनीमें अतएव दोनों कल्प दिखलाये गये हैं : सेवा और कथा; तथा केवल कथा. भागवतार्थ-निबन्धके तामसफल-प्रकरणके उपसंहार (१०:११०-१११) में यह कहा गया है कि “गुणगान-कथा परोक्षमें करनी चाहिये. प्रत्यक्षमें भजन-सेवा श्रेष्ठ होती है. इस

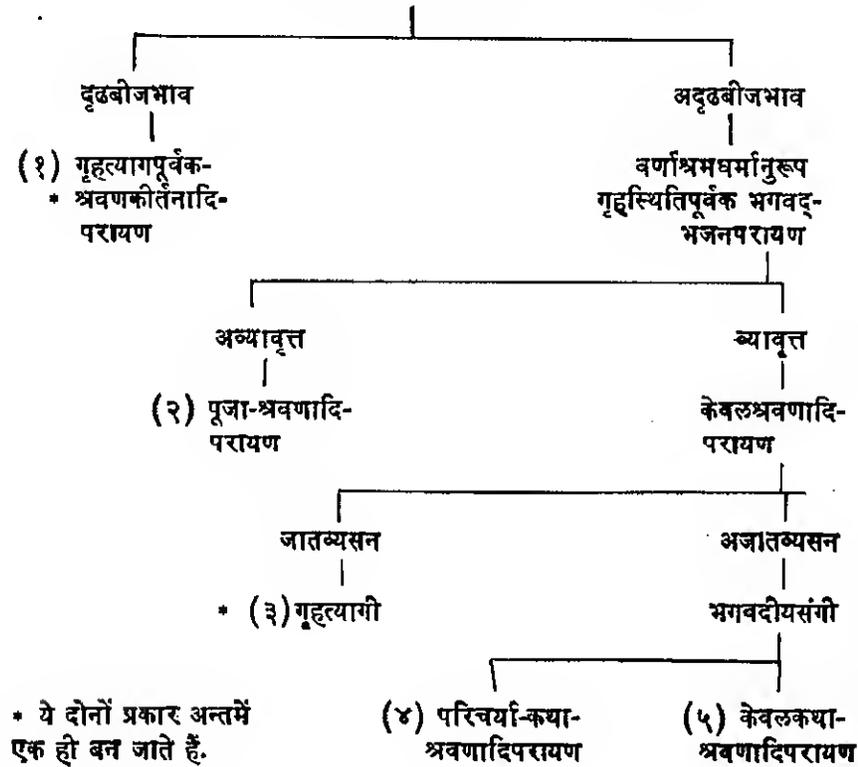
तरह वियोग एवम् संयोग की अनुभूतियोंका चक्रकी तरह आवर्तन निरन्तर चलने लग जाये तो निरोधदशाकी सिद्धि मान लेनी चाहिये." अनवतारकालमें भगवत्सेवा पुष्टिमार्गमें भगव-ल्लीलाकी प्रत्यक्ष अनुभूतिकी तरह मान्य है. अतएव सेवाके अनवसरमें कथाका समाश्रयण आवश्यक है.

स्वरूपलक्षण

निरोधके कारण-लक्षणकी पहचानके बाद स्वरूपलक्षण सुबोध हो जाता है. प्रपञ्चको सर्वथा भूलकर भगवानमें ही अनन्यतया आसक्त हो जाना निरोधका स्वरूपलक्षण है. "प्रपञ्च-विस्मृतिः तस्मात् कृष्णासक्तिश्च वर्ण्यते."

भागवतके नवम स्कंधमें भक्तिका वर्णन अभिप्रेत है. ऐसी भक्तिवाले जीव प्रपञ्चको भूलकर अनन्यतया भगवान्में आसक्त किस तरह हो पाये, यह दिखलाना दशम स्कंधमें अभिलषित है. तदनुसार षोडशग्रन्थमें भी, भक्तिवर्धिनीमें पहले भक्तिके विविध प्रकारोंका वर्णन किया गया है; और बादमें निरोधलक्षण ग्रन्थमें ऐसी भक्तिवाले जीवोंके लिए अनन्यतया भगवान्में निरुद्ध होनेके उपाय समझाये गये हैं. एतदर्थ भक्तिवर्धिनीमें वर्णित भक्तोंके पांचों प्रकारपर शोड़ासा दृष्टिपात उपयोगी होगा :

भक्तिमार्गीय जीव



* ये दोनों प्रकार अन्तमें एक ही बन जाते हैं.

इस तालिकापर दृष्टिपात करनेके बाद यह समझ लेना भी आवश्यक है कि षोडश-ग्रन्थोंमें कौनसा ग्रन्थ किस अधिकारीके लिए मुख्यतया उपदेशार्ह है. इसके अन्तर्गत निरोध-लक्षण ग्रन्थके उपदेशार्थ अपेक्षित अधिकारीके ज्ञानसे इस ग्रन्थकी, अन्य भक्तिवर्धिनी आदि ग्रन्थोंसे, संगति तथा तात्पर्य का निर्धारण सरल हो जाता है :

ग्रन्थ	किस अधिकारीके लिए
१) यमुनाष्टक	भक्तिवर्धिन्युक्त पांचों के लिए
२) बालबोध	" " "
३) सिद्धान्तमुक्तावली	" " "
४) पुष्टिप्रवाहमर्यादा	" " "
५) सिद्धान्तरहस्य	२ तथा ४ के लिए
६) नवरत्न	भक्तिवर्धिन्युक्त पांचोंके लिए
७) अन्तःकरणप्रबोध	" " " "
८) विवेकधर्याश्रय	विशेषतः ४ और ५, सामान्यतया सभीके लिए
९) कृष्णाश्रय	सभीके लिए
१०) चतुश्लोकी	२ तथा ४ के लिए
११) भक्तिवर्धिनी	सभी के लिए
१२) जलभेद	" " "
१३) पञ्चपद्यानि	" " "
१४) संन्यासनिर्णय	१, ३ तथा ५ के लिए
१५) निरोधलक्षण	सभी के लिए
१६) सेवाफल	२ तथा ४ के लिए

इस तालिकापर भी दृष्टिपात कर लेनेसे अब निरोधलक्षण ग्रन्थकी सर्वविध अधिकारियोंके लिए उपयोगिता मान्य करनेपर इसके तात्पर्यनिर्धारणमें क्लेश नहीं रह जाता है.

जो भक्त अपने गार्हस्थ्यके साथ, राजादुवे-माधोदुवेकी तरह, घरमें भगवान्की सेवा और कथा दोनोंको निभा पाते हों, उनके लिए गृहत्याग निरर्थक हो जाता है. क्योंकि पूर्वोक्त रीतिसे सेवा-कथाके सतत आवर्तनसे ही उन्हें प्रपञ्चकी विस्मृति और भगवान्में आसक्ति दृढ हो जाती है. यह मुख्य कल्प है.

स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभानेपर, परगृहमें उस गृहस्वामी भगवदीयके परिचारक बनकर उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें सहयोग देना अर्थात् परिचर्या करना; और जब वह भगवत्कथा करता हो तब श्रोताके रूपमें उसमें सम्मिलित होना, यह भगवदीय पङ्गोसीके निकट रहनेवाले अजातव्यसन भक्तिमार्गीय जीवके लिए आवश्यक माना गया है. निरोधकी सिद्धिके लिए यह भी एक गौणकल्प स्वीकारा गया है, गृहत्यागके विकल्परूपमें.

भक्तिवर्धिनीमें इन दोनों कल्पोंको (अर्थात् स्वगृहमें भगवत्सेवा-कथा-मय जीवनयापन, अन्यथा ऐसे किसी भगवदीयके समीप घर बनाकर रहना और परिचर्याएवं कथा-श्रवणार्थ उस भगवदीयके संग करना, यों दोनों कल्पोंको) लक्ष्यमें रखकर—“सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दुर्द्धा भवेत् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम” आश्वासनद्वारा श्रीमहाप्रभु निरोधसिद्धिकी बात ही समझा रहे हैं. क्योंकि निरोधके अभावमें—“हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यर्हनिशम्” इस निरोधलक्षण ग्रन्थके वचनके अनुसार भवसागरमें मग्न होना निश्चित माना गया है. अतः परगृहमें भी भगवत्परिचर्या तथा भगवत्कथाश्रवण की प्रणालीसे निरोधकी सिद्धि स्वीकारनी ही पड़ती है.

कार्यलक्षण

कारण और स्वरूपके विमर्शके बाद अब निरोधके कार्य अर्थात् इसके कारण पैदा होनेवाले प्रभावोंका विचार आवश्यक हो जाता है.

जो भक्त प्रपञ्चकी विस्मृतिके साथ भगवान्में आसक्ति जोड़ पाता है, उसे भगवान्के संयोग एवम् वियोग की अनुभूति तीव्रतासे होने लगती है. जैसा कि ब्रजभक्तोंके बारेमें वर्णन मिलता है—“गोपीनां परमानन्दः आसीद् गोविन्ददर्शने क्षणं युगशतमिव घासां येन विनाभवत्” (भा. १०।११।१६). भक्तिवर्धिनीमें इस अवस्थाको ‘व्यसनदशा’ कहा गया है. निरोधका स्वरूप निष्पन्न होते ही निरोधका प्रभाव अर्थात् व्यसनदशा व्यक्त होने लग जाती है. भगवत्संयोगमें परमानन्दकी अनुभूति और एक क्षण भी भगवद्-वियोग सह न पाना यह निरोधका कार्य माना गया है—“भगवद्विरहसामयिक—परमदुःखकारणत्वे सति भगवत्संयोग-सामयिकपरमानन्दसाधकत्वं निरोधत्वम्” (निर्णयार्णव).

भगवदनवतार—कालमें भगवत्सेवाका अवसर भगवत्संयोगानुभूति है तथा अनवसर वियोगानुभूति है. अतः कार्यलक्षण भी अवतारकाल और अनवतारकाल दोनों परिस्थितियोंमें उपपन्न हो जाता है.

प्रयोजनलक्षण

भागवतमें तथा भागवतार्थ-निबन्धमें भी निरोधका प्रयोजन मुक्ति एवम् आश्रयभावापत्ति स्वीकारा गया है—“निरोधोस्थानुशयनमात्मनः सह क्षितिभिः मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः, आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्दते” (भा. २।१०।६—७). इसी तरह भागवतार्थ-निबन्धमें भी कहा गया है—“भक्ताः पूर्वत्र निदिष्टाः ते रोद्धव्याः विमुक्तये, कृष्णे निरुद्धकरणात् भक्ताः मुक्ताः भवन्ति हि” (भा. नि. १०।१५—१६) और “हरिराश्रय इत्युक्तो मुक्तानामिति वर्णितम्” (भा. नि. १२।१७).

षोडशग्रन्थकी निरूपणशैलीसे इसमें थोड़ासा यह अन्तर है कि यहां निरोधोत्तर दो अवस्था (१) मुक्ति; और (२) आश्रयभावापत्ति स्वीकारी गई हैं. षोडशग्रन्थमें जबकि निरोध-

लक्षण ग्रन्थके बाद आते सेवाफल ग्रन्थमें सेवाके तीन फल (१) अलौकिक सामर्थ्य (२) सायुज्य; और (३) वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेहो स्वीकारे गये हैं. स्पष्ट है कि इनमें ‘सायुज्य’ और ‘मुक्ति’ समानार्थी पद हैं, इसी तरह ‘वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेह’ और ‘आश्रयभावापत्ति’ भी अन्ततः एक ही अवस्थाके द्योतक है.

जहां तक ‘अलौकिक सामर्थ्य’ के अलग होनेका प्रश्न है तो उसमें यह ज्ञातव्य है कि भागवतके दशमस्कन्धमें तामस राजस एवम् सात्त्विक प्रकारके भक्तोंके भक्तिकी प्रेम आसक्ति एवम् व्यसनदशा का वर्णन क्रमशः प्रमाण प्रमेय और साधन के रूपमें हुआ है. साधनके बाद तीनों ही प्रकारके भक्तोंकी फलावस्थाका भी वर्णन किया गया है. निरोधकी यही फलावस्था सेवाफलमें अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें वर्णित है. इसे ‘व्यसनोत्तर-कृतार्थता’ ‘सर्वात्मभाव’, ‘मानसी सेवा’ अथवा ‘फलनिरोध’ कही बात एक ही बनती है.

षोडशग्रन्थ पुष्टिमार्गीयोंके लिए श्रीमहाप्रभुने प्रकट किया है. पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थकी—“भगवानेव हि फलं स यथाविभवेद् भुवि गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्” (का. १७) कारिकामें यह समझाया ही गया है कि पुष्टिमार्गमें फल स्वयम् भगवान् हैं, वे गुण या स्वरूप के भेदसे जैसे भी इस भूतलपर प्रकट हों, तदनुसार, उन्हें फल माना जाता है. स्वयम् स्वरूपात्मना इस भूतलपर भगवान्का भक्तोंके बीच प्रकट होना पुष्टिमार्गीय फल है. इसी तरह गुणगानकी प्रक्रिया द्वारा भी भक्तके हृदयमें भगवान्का प्रकट होना फल ही है. दोनों ही तरहके भगवत्प्राकट्यके कारण भक्त प्रपञ्चको भूलकर भगवदासक्त हो पाता है. हर सूरतमें इस भूतलपर यदि भगवदनुभव नहीं होता तो इस देहके छूटनेके बाद भगवान्में सायुज्यरूप मोक्ष मिलेगा अथवा वैकुण्ठ आदि लोकमें सेवोपयोगी देह मिलेगा. ये दोनों ही फल इस भूतलपर घटित होनेवाली अनुभूति नहीं हैं, अतः पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें परिभाषित पुष्टिमार्गीय फलानुभूतिकी तुलनामें ये कुछ गौण अनुभूतियां हैं. अतएव इन अनुभवोंके सामर्थ्यको ‘अलौकिक’ नहीं कहा गया है, क्योंकि इनके लौकिक अनुभव होनेकी शंका ही नहीं उठ सकती है. फलनिरोध इस भूतलपर होनेवाली अनुभूति है, मानसीसेवाकी तरह, अतः इसके अनुभवको ‘अलौकिक-सामर्थ्य’ कहा गया है. अन्यथा भूतलपर घटित होती अनुभूतिको कोई लौकिक समझ सकता है. वास्तविकता जबकि यह है कि वह इस लोकमें घटित होनेपर भी अलौकिक घटना ही है.

निरोध अपने दोनों रूप, अर्थात् साधननिरोध एवम् फलनिरोध, में इस लोकमें घटित होनेवाली अलौकिक घटना है. “प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः” बचनमें श्रीमहाप्रभु अतएव भारपूर्वक प्रपञ्च अर्थात् इस लोकका उल्लेख करते हैं. इस भूतलपर भक्तोंके बीच भगवत्क्रीडा साधन-निरोध है. और ऐसी लीलाके कारण जब भक्त जगत्को भूलकर जगदीशमें अनन्यतया आसक्त हो जाता है तो वह फलनिरोध है. इस स्पष्टीकरणके बाद निरोधका प्रयोजन-लक्षण सुगम हो जाता है.

भगवदवतारकालमें भूतलपर प्रकट होनेवाले भगवद्रूपकी वह लीला कि जिसका प्रयोजन जीवात्माको सर्वात्मभावका दान करना हो वह 'निरोध' कहलाती है। अवतारकालमें सायुज्य-मुक्ति या आश्रयभावापत्ति प्रदान करनेके लिए, जो वियोगानुभव भगवान् कराते हैं; और इस तरहके तीव्र वियोगमें, भक्तका निरन्तर भगवान्के गुणगानमें तल्लीन हो जाना भी निरोध ही है। ये दोनों तरहके लक्षण भगवदवतारकालके हैं।

अनवतारकालमें लीलाका स्थान तनु-वित्तजा सेवा ले लेती है और गुणगानका स्थान भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-किर्तन ले लेते हैं। तदनुसार निरोधका प्रयोजन सेवाफलमें वर्णित अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य एवम् वैकुण्ठादिलोकमें सेवोपयोगी देह का लाभ माना जाता है।

अवतारकाल ही या अनवतारकाल सच्चे पुष्टिभक्तकी भक्ति निष्पाधिक-निष्कारण-निष्प्रयोजन ही होती है। भक्त केवल भगवान्की ही चाहता है; मुक्तिकी नहीं, पर भक्ति अवांछित फलप्रदान करती ही है। यह तृतीयस्कन्धमें कहा गया है। अतः प्रयोजनलक्षण भक्तके भाव-अभिप्रायको दृष्टिगत रखकर नहीं दिया गया है किन्तु भक्तिके स्वभावको दृष्टिगत कर दिया गया है।

इसका अलावा एक और दृष्टिसे भी निरोधका लक्षण-व्याख्यान किया जा सकता है वह है:

- १) करण-निरोध
- २) व्यापार-निरोध
- ३) फल-निरोध

१) करण-निरोध

सुबोधिनी तथा भागवतार्थ-निबन्ध के तामसप्रकरणके प्रारम्भमें इस विषयकी विवेचना हुई है कि जीवके स्वभावका बदलना स्वयम् जीवके लिए सर्वथा अशक्य बात है। अतः जीवके सात्त्विक राजस या तामस स्वभावोंके अनुरूप स्वरूप धारण कर भगवान्, जब भूतलपर प्रकट होते हैं और भक्तोंके बीच लीला करते हैं, तब अपने-अपने स्वभावोंके अनुरूप जीव भगवान्के स्वरूप एवम् लीलाओं में आसक्त हो ही जाते हैं। इस लीलाविहारी श्रीकृष्णमें आसक्तिके कारण प्रापञ्चिक विषयोंमें आसक्ति अनायास स्वतएव टूट जाती है। अथवा स्वार्थवृद्धिरहित केवल भगवदुपयोगिताकी भावनामें रूपान्तरित हो जाती है। यह विलक्षण परिवर्तन जिस लीलाके कारण सम्भव होता है, उस भगवल्लीलाको करणात्मक निरोध माना जाता है।

'करण' यानि असाधारण कारण। दशमस्कन्धमें वर्णित भक्तों- विशेषतः व्रजभक्तों-को जो प्रपञ्चविस्मृति और कृष्णासक्ति की सिद्धि मिली, उसका असाधारण कारण भक्त-स्वभावानुरूप भगवद्रूप एवम् भगवल्लीला ही थे। अतएव कहा गया है—“तेनाधीतश्रुतिगणाः नोपासीतमहत्तमाः अन्नतातप्ततपसः सत्संगान्भामुपागताः केवलैर्हि भावेन गोप्यः गावः नगा

मुगाः येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः मामीयुरञ्जसा, यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरेः व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि” (भा. ११।१२।७-९)। यहाँ जिस सत्संग और जिस भाव को स्वप्नप्रतिभे भगवान्ने साधन माना है, वह स्वयम्का लीलात्मक संग तथा लीलासक्तिरूप भाव ही है। अन्य सभी योग सांख्य दान व्रत तप यज्ञ व्याख्यान स्वाध्याय एवम् संन्यास रूप साधनोंकी अकिञ्चित्करता स्वयम् भगवान्ने ही वर्णित कर दी है। इसे 'साधननिरोध' अथवा 'भगवान्का भक्तोंमें निरोध' माना जाता कहा जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि भक्तोंके स्वभावानुरूप भगवान्की लीला, भक्तोंके निरोध अर्थात् प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का असाधारण कारण है।

२) व्यापार-निरोध

कारण दो तरहके होते हैं : (१) उपादान (२) निमित्त। मिट्टी घड़ेका उपादान कारण होती है। चक्का दण्डा आदि उपकरण निमित्त कारण माने जाते हैं। निमित्त कारणके निष्क्रिय होनेपर कार्य उत्पन्न नहीं होता। अतः सक्रिय-क्रियाव्यापार करनेवाले कारणको 'करण' या 'उपकरण' कहा जाता है।

भगवल्लीलाको निरोधकी उत्पत्तिमें करण माना गया है। तदनुसार ही कुछ व्यापार भी होना चाहिये। अतः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति यह भगवल्लीलाका व्यापार है। जैसे चक्केका फिरना या दण्डेसे फिरना, इन व्यापारोंके कारण चक्का-दण्डा आदि उपकरणोंको 'करण' कहा जाता है।

३) फल-निरोध

भक्तके स्वभावानुरूप करण-भगवल्लीला, और उसके व्यापार-प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके फलस्वरूप भक्तके प्रापञ्चिक विषयोंके सारे बन्धन टूट जाते हैं। इनका अभाव हो जाता है। यह दो प्रकारसे होता है। या तो भक्तसे सम्बन्धित सारे लौकिक पदार्थ और भावों में भगवदावेश अलौकिकता अर्थात् सच्चिदानन्दात्मकता प्रकट हो जाती है; या फिर लौकिक पदार्थ और भावों से मुक्त होकर जीव सायुज्य या वैकुण्ठ आदि लोकोंमें सेवोपयोगी देह प्राप्त कर लेता है। अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं—“लौकिकेषु तु भावेषु यत्रैव हरिवेशनं निवर्तते तदेवात्र वहेर्दारुमयं यथा” (सुबो. १०।५।१)। जिन-जिन लौकिक भावोंमें या पदार्थोंमें भगवदासक्तिके कारण भगवदावेश हो जाता है उन सभी पदार्थों और भावों में तिरोहित चिदंश और आनन्दंश पुनः प्रकट हो जाता है। यों सच्चिदानन्दांशके पूर्ण प्राकट्यके कारण वे ब्रह्मात्मक हो जाते हैं। काष्ठमें तिरोहित अग्नि जैसे एक बार प्रकट हो जाती है तो काष्ठ स्वयम् अग्निरूप हो जाता है। ऐसे ही जिस भक्तमें प्रपञ्चविस्मृतिके साथ भगवदासक्ति प्रकट हो जाती है, उसके सभी पदार्थ और भाव अन्ततः सच्चिदानन्द ब्रह्मका रूप धारण कर लेते हैं। वैसे भी जगतकी प्रत्येक वस्तुका वास्तविक या आन्तरिक स्वरूप तो ब्रह्मात्मक ही होता है, पर अज्ञानवश हमें धिपरीत भान होता है, और वह भान निवृत्त हो जाता है।

अद्वैतियोंके मिथ्या-मायिक प्रपञ्चकी तरह यह प्रपञ्चका वाधज्ञान नहीं है. न नैयायिकोंके अनित्य प्रपञ्चकी तरह यह प्रपञ्चका नाश ही है. सांख्यके प्राकृत प्रपञ्चकी तरह इसे विकृतिका प्रकृतिमें पुनः लीन हो जाना भी माना नहीं जा सकता है. प्रपञ्चके ब्रह्मात्मक हो जानेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि दृष्टा-जीवको वह ब्रह्मात्मक होनेपर भी वंसा दिखलाई नहीं देता है, पर निरुद्ध भक्तकी दृष्टिमें अपने प्रियतम परमात्माके अलावा अन्य कुछ आता ही नहीं, फलतः जड़जगतके विभिन्न पदार्थ भी उसे सच्चिदानन्दात्मक दिखलायी पढ़ने लगते हैं. इसी तरह जीवजगत्के भी सभी रूपोंमें ब्रह्मात्मकताका भान होने लगता है. जड़-जीवात्मक जगतकी जड़रूपता एवम् दुःस्वरूपता तिरोहित हो जाती है. इस अर्थमें इस अवस्थाको कभी 'प्रपञ्चप्रलय' या 'प्रपञ्चनाश' कहा जाता है. यह फलनिरोध है अर्थात् भक्तका भगवान्में निरोध है. इसका प्रयोजनलक्षणके अन्तर्गत विचार हुआ है.

दशम स्कन्धमें भगवान्की लीलाका वर्णन चतुर्धा हुआ है :

- (१) प्रमाण-निरोध
- (२) प्रमेय-निरोध
- (३) साधन-निरोध
- (४) फल-निरोध

(१) भगवान्की प्रमाणरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त अपने स्वभावके अनुरूप धारण किये गये भगवद्रूपको जान पाता है. अतः ऐसी लीलाको 'प्रमाणनिरोध' कहा जाता है. प्रमाणलीलाके कारण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें प्रेमके रूपमें प्रकट होता है. इसका फल भक्तके हृदयमें प्रमेयकी स्थिरता होती है.

(२) भगवान्की प्रमेयरूपा निरोधलीलाके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारण किया गया भगवान्का रूप-प्रमेय भक्तके हृदयमें सर्वथा आरूढ हो जाता है. अतः ऐसी लीलाको 'प्रमेयनिरोध' कहा जाता है. प्रमेयलीलाके कारण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें भगवदा-सक्ति-भगवान्से अलावा अन्य सभी विषयोंमें अरुचि-के रूपमें प्रकट होता है. इसके फलस्वरूप भक्त अपने मनोरथोंके अनुरूप भगवान्के रूपकी प्राप्तिके साधनोंमें जुट जाता है.

(३) भगवान्की साधनरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारित भगवान्के रूपकी प्राप्तिके साधनोंमें भक्त तत्पर हो पाता है. अतः ऐसी लीलाको 'साधननिरोध' कहते हैं. साधनलीलाके कारण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें भगवद्व्यसनके रूपमें प्रकट हो जाता है. अब भगवान्के बिना भक्त रह नहीं पाता. फलस्वरूप अपने मनोरथके अनुरूप भगवद्रूप एवम् भगवल्लीलाकी अनुभूति उसे होने लगती है.

(४) भगवान्की फलरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारित भगवद्रूपकी लीलामें भक्त सम्मिलित हो पाता है. अतः ऐसी लीलाको 'फलनिरोध' कहा जाता है. फलात्मिका लीलाके कारण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें मानसी सेवा, सर्वात्मभाव

आदिके रूपमें प्रकट होता है. फलस्वरूप भगवान्के बाह्य-आभ्यन्तर अनुभवोंका चक्र भक्तके हृदयमें निरन्तर चलने लग जाता है. भक्त भगवान्में तन्मनस्क तदालाप तद्विचेष्ट तदात्मक तद्गुणगानपरायण होकर अपने देह-गेहकी सुध-बुध खो देता है ! भजनानन्दकी इस परा-काष्ठाकी तुलनामें भक्तको ब्रह्मानन्द कभी सुहाता नहीं है !! ब्रह्मानन्दमें एकरसता होती है शुद्ध-अद्वैतरूप, जबकि भजनानन्दमें अनेकविध मधुरता रहती है : द्वैतरूप भी और अद्वैतरूप भी !!!

सायुज्यरूप मोक्ष अथवा ब्रह्मभावापत्तिरूप वैकुण्ठादि लोकमें श्रेयोपयोगीदेह भी इस पूर्वोक्त अलौकिक-सामर्थ्यकी तुलनामें भक्तके मनको लुभावने नहीं लगते हैं. भगवत्संयोग-सेवा और भगवद्वियोग-कथा के अहर्निश चलते चक्रसे बढ़कर केवल विप्रयोगको माना नहीं जा सकता है. यही कारण है कि मुक्ति या आश्रयभावापत्ति की ओर ले जानेवाले भ्रमरगीतमें वर्णित वियोगका स्थान फलप्रकरणमें न हो कर प्रमेयप्रकरणमें है.

"मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्, अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मावाप्स्यथ" (भा. १०।४७।३७) की सुबोधनीमें इस अवस्थाकी व्याख्या करते हुए श्रीमहाप्रभु कहते हैं- "अहं हि कृत्स्नः प्रसादेनापि प्राप्तः कृत्स्नेनैव साधनेन प्राप्तुं योग्यः सा च कृत्स्नता अस्या-मेवावस्थायां भवति नाप्यथा." अर्थात् तामसफल-प्रकरणमें भगवान्के रसात्मक रूपका अनुभव यद्यपि पूर्णतया ही गया था, किन्तु वह साधनावस्थाके बाद फलावस्थाके क्रमानुसार न होकर भगवदनुग्रहवश साधनाचरणकी पूर्णतासे पूर्व ही फलानुभूतिके सम्पन्न हो जानेकी लीला थी. अब राजसप्रमेय-प्रकरणमें, अर्थात् जो राजस भक्तोंके लिए प्रमेयरूपा निरोध-लीलाका प्रकरण है, वहां तामसभक्तोंकी तो फलानुभूतिका नहीं किन्तु साधनानुभूतिका ही स्तर है.

"आन्तरं तु परं फलम्" (सुबो. १०।२६।१) अथवा युगलगीतमें वर्णित "द्वित्रिशोऽन्तर्गो-पिकानां स्वानन्दं भगवान् हृदि पूरयामास तेनैव पूर्णानन्द इतीयते" वाला परमफलात्मक वियोग-भ्रमरगीतमें वर्णित वियोग, नहीं है. अतएव श्रीप्रभुचरणने इस वियोगानुभूतिका वास्तविक स्वरूप इन शब्दोंमें समझाया है- "एतासां तु अधुनैव बहिःसंगमो अभिलषितः तदभावादस्मदनभिप्रेतामपि अस्मदधिकारविरुद्धामपि ज्ञात्वा ईश्वरभावेनाज्ञापितवान्, अनभिप्रेतमपि वलाद् ग्राहयितुम् इति अनाकर्णनीम् इदं भवति यद्यपि, तथापि प्रियतमसम्बन्धि-त्वेनैव श्रुतत्वात् तथैव फलिष्यति. नतु उपदेशत्वेनेति ज्ञापनायाप्रे सन्देशपदम्" (टिप्प. १०।४४।२९). प्रमेयस्वभावके विवश ब्रजभक्तोंने वियोग स्वीकारा है-निज भाव या अभिलाषा के वश नहीं. भगवत्कथाके श्रवण या कीर्तन का फल, भगवत्स्वरूप एवम् भगवल्लीला का पहले आन्तर और बादमें बाह्य अनुभव स्वीकारा गया है. बाह्यानुभवके अभावमें केवल आन्तर व्यर्थ होता है- "बाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता" (सुबो. १।६।१).

इस आन्तर अनुभव और बाह्य अनुभव के सूक्ष्म रहस्यको समझनेके लिए निरोधके दो और भी रूपोंको समझना आवश्यक ही जाता है :

(क) स्वरूप-गुण-उभयकृत निरोध

(ख) केवल-गुणकृत निरोध

(क) तामसफल-प्रकरणके विवेचनमें श्रीमहाप्रभुने यह समझाया है कि यहां सात अध्या-
योंमें, अर्थात् २६ वें अध्यायसे लेकर ३२ वें अध्याय तक, क्रमशः (१) ऐश्वर्य (२) वीर्य
(३) यश (४) श्री (५) धर्मी (६) वैराग्य (७) ज्ञान यों छह भगवद्गुण और सातवें स्वयम्
धर्मी भगवान्के स्वरूपका वर्णन अभिप्रेत है।

इस फलरूपा निरोधलीलाके स्वरूपका भलीभांति विमर्श करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है
कि सातों अध्यायोंमें फलरूपलीलाका ही वर्णन अभिप्रेत होनेपर भी धर्मिनिरूपक मांचवे
अध्याय तथा ज्ञाननिरूपक सातवें अध्याय का कुछ विशिष्ट महत्त्व है ही। अतएव प्रारम्भमें
रूपलीलाके —“वाह्याभ्यन्तरभेदेन” —जो दो प्रकार दिखलाये गये हैं, वे इन दो अध्यायोंमें
चरमोत्कर्षके रूपमें वर्णित हुए हैं। धर्मिप्रकरणमें वाह्य संयोगसुखका तथा ज्ञानप्रकरणमें
आन्तर संयोगका वर्णन हुआ है।

“ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत् परिवर्तते” की उक्तिके अनुसार यहां परोक्ष और प्रत्यक्ष
दोनों में संयोगसुखका ही वर्णन अभिप्रेत है। अतएव इसे फलप्रकरण माना गया है।

(ख) इसके विपरीत राजसप्रमेय-प्रकरणमें ब्रजभक्तोंकी अनुभूतिकी स्वरूप श्रीमहाप्रभुने
इन शब्दोंमें दिया है—“अन्तर्निष्ठा वा विरहो वा, द्वयमेव, न तु तासामन्या लौकिकी अवस्था”
(सुबो. १०।४४।४८). यहाँ पूर्वोद्धृत “आन्तरं तु परं फलम्” वचनके आधारपर अन्तर्निष्ठाको
तो परमफलरूप मानना ही पड़ेगा। परन्तु द्वितीयांश विरहकी फलरूप माननेका कोई भी आधार
मिलता नहीं है। यह विरह अतः फलरूप न होकर पूर्ववर्णित ‘साधनकृत्स्नता’ ही है। इसीलिए
श्रीमहाप्रभु इसे ‘फलरूप’ न कहकर ‘फलसाधक’ कहते हैं। — “. . . फलसाधकत्वाद् भक्तिमार्गं
विरह एव पुरुषार्थः.” विरहावस्थामें किये जाते गुणगानके सुख और भगवत्स्वरूपानुभवके
सुख का परस्पर तारतम्य समझाते हुए श्रीमहाप्रभु कहते हैं—“परं विरलममृतम्. केवल
मरणोपस्थितौ तन्निरवर्तकमेवेति, न तु सम्भूयैकत्र रसजनकम्. रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च
विशेषः. अन्यथा कथार्थमेव यत्नः कृतः स्यात्. परं विरहे मरणनिरवर्तकत्वेन तदुपयोग इति
भगवत्त्वेन स्तूयते”. भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनके कारण भक्तके प्राण तीव्र विरह-
वेदनामें भी निकल नहीं जाते— टिके रहते हैं. एतावता भगवान्की तरह भगवद्गुणगानकी भी
प्रशंसा की जाती है. वास्तविकता परन्तु यह है कि भगवत्स्वरूपकी रसानुभूति में सुख घनी-
भूत होता है और भगवत्कथामें वह तरल हो जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि केवल गुणकृत निरोधमें वाह्य एवम् आन्तर संयोग सुखकी
फलानुभूतिकी चक्र सतत नहीं चलता. वहाँ विरहदुःख और अन्तर्निष्ठाके संयोगसुख का चक्र-
वत् आवर्तन चलता है. अतः इसके अर्धांशमें साधनरूपता और अर्धांशमें फलरूपता है.
जबकि रसात्मक होनेके कारण द्विदलात्मक; और द्विदलात्मक होनेके कारण संयोग-विद्यो-
गात्मक या ‘नटवर’ वपु रूप भगवान्का फलरूप होना, वियोगमें अन्तर्निष्ठाके कारण मिलते

आन्तर संयोगसुख और संयोगमें स्वरूपानुभूतिके कारण मिलते वाह्य संयोगसुखको लक्ष्यमें
रखकर स्वीकारा गया है. आन्तरसुख-दान रसनाटन है तथा वाह्यसुख-दान रसरूप प्रत्यक्ष-
भोग है. यह ‘बर्हापीड’ श्लोककी सुबोधिनीसे सिद्ध होता है. अतः उत्तरदलमें अन्तर्निष्ठाके
अंशमें फलरूपता तथा विरहांश या धर्मिविप्रयोग के अंशमें साधनरूपता है. केवल विरहके फलरूप
होनेका उल्लेख श्रीमहाप्रभु अथवा श्रीप्रभुचरण के किसी भी वचनमें मिलता नहीं है. आन्तर-
संयोग-सुख प्रदान करनेवाला विप्रयोग स्वतन्त्र अंगीरूप निरोध है. जबकि केवल विरह
आन्तरसंयोग-सुखके अभावके कारण, मुक्ति या आश्रयभावापत्ति का अंगरूप निरोध
माना जाता है. इसे ‘केवलगुण-कृत निरोध’, ‘धर्मिविप्रयोग’, ‘केवल विरह’, ‘मुक्त्यंग निरोध’
या ‘आश्रयभावापत्त्यंग निरोध’ कुछ भी कहो अर्थ एक ही होता है।

इस तरह निरोधके कारण-स्वरूप-कार्य-प्रयोजन-रूप चतुर्विध लक्षण, त्रिविध स्वरूप
करण-व्यापार-फल-रूप; तथा स्वरूप-गुण-उभयकृत और केवलगुणकृत निरोध के रूपमें अने-
कधा भेद-उपभेदोंके विस्तृत विमर्श करनेपर निरोधलक्षण ग्रन्थको समझना एकदम सरल
हो जाता है. फिरभी ग्रन्थके अनुवादसे पूर्व एक और स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है. उसे
देखनेके बाद ही ग्रन्थानुवाद देखेंगे.

वैसे तो हमने देख ही लिया कि निरोधलक्षण, भक्तिवर्धनी ग्रन्थमें वर्णित पांचों प्रका-
रके अधिकारियोंको लक्ष्यमें रखकर उपदिष्ट हुआ है. फिरभी इसे सोपपत्तिक समझ लेना
अत्यावश्यक है. संन्यासनिर्णय ग्रन्थके—“कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तद्-
भावो भावनाया सिद्धः” वचनमें ब्रजभक्तोंके भावोंका भावनात्मक अनुसरण विरहानुभवार्थ
गृहत्याग करनेवालोंके लिए आवश्यक माना गया था. ब्रजभक्तोंके भावोंकी भावना केवल
गृहत्यागियोंके लिए ही है ऐसा नहीं समझना चाहिये. क्योंकि “भजनीयो ब्रजाधिपः” कहकर
ब्रजभावनाकी उपयोगिता सभी पुष्टिभक्तोंके लिए सर्वदा ही चतुश्लोकीमें आवश्यक मानी
गयी है. इसी तरह पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें पुष्टिजीवोंके फलानुभवके प्रकारमें गुण-स्वरू-
पका प्रभेद मान्य हुआ ही है. “स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्” वचनद्वारा भग-
वत्सेवा-कथाकी आवश्यकता चतुश्लोकीमें प्रतिपादित हुई है. अतः सेवा और कथा दोनोंमें
ही ब्रजभावना आवश्यक है. अतः इस निरोधलक्षण ग्रन्थमें सभीके लिए सर्वप्रथम ब्रज-
भावनाका स्वरूप समझाया जा रहा है :

निरोधकार्यं संयोगसुख-वियोगदुःखकी भावना

जिन भक्तोंसे सेवा और कथा दोनों निभ पाती हों उन्हें अपने भावके अनुरूप सेवा
करते समय गोकुलकी भावना और कथाके समय वृन्दावनकी भावना करनी चाहिये.

गोचारणके लिए प्रतिदिन भगवान् वृन्दावन पधारते हैं. तब गोकुलमें वास्तव्यभाववाले
नन्द-यशोदा आदि भक्तोंको तथा श्रृंगारभाववाली गोपिकाओंको जैसे विप्रयोगदुःखकी अनुभूति
होती है, वैसी दुःखानुभूति-विरहवेदना हमें कथाकालमें कब होगी !

सायंकाल गोचारण कर भगवान् गोकुल लोटते हैं। तब गोकुलमें गोपिकाओंको तथा अन्य भी सभी व्रजवासियोंको अनेक रीतिसे भगवत्सेवाद्वारा जैसा संयोगसुख मिलता है, वैसा सुख सेवाके समय भगवान् मुझे कब प्रदान करेंगे !

इस तरह तामसफल-प्रकरणके "ज्ञानं भक्तिश्चः सततं चक्रवत्परिवर्तते" वचनमें वर्णित संयोग-वियोग-रूप अवस्थामें निरोधके कार्य सुख-दुःखकी भावना करनी चाहिये।

जिन भक्तोंसे सेवा-कथा एक साथ नहीं निभ पाती, ऐसे मध्यमाधिकारियोंको पहले, राजसप्रमेयप्रकरणमें वर्णित तीव्र विप्रयोग-वेदनाकी भावना करनी चाहिये; और बादमें कथाश्रवणकालमें अन्तर्निष्ठाके साथ आन्तरसंयोग-सुखकी भावना करनी चाहिये।

उद्धवके व्रज आनेपर उनके साथ भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें जैसा एक सुमहान् उत्सव प्रकट हुआ, वैसे उत्सवकी अनुभूति कथा-श्रवण करते समय हमारे मनमें कब होगी ! गोकुलमें सख्य-वात्सल्य-भाववाले व्रजभक्तोंको और वृन्दावनमें सख्य-माधुर्य-भाववाले व्रज-भक्तोंको उद्धवके साथ भगवद्गुणगान करते समय जैसा आल्हाद अनुभूत हुआ वह मेरे हृदयमें कब प्रकट होगा !

केवल कथाका समाश्रयण करनेवाले भक्तको ऐसी भावना करनी चाहिये। इस तरह यहां निरोधका कार्यलक्षण श्रीमहाप्रभुने सूचित किया है

निरोधके कारणभूत गुणगानकी आवश्यकता

कार्यलक्षणको सूचित करनेके बाद श्रीमहाप्रभु निरोधके कारणलक्षणको सूचित करना चाहते हैं।

पूर्वोक्त भावनाओंको करते रहनेपर भी हृदयमें भावोंका उदय सहसा नहीं हो पाता है। महान् भक्तोंकी कृपा होनेपर ही भगवान् ऐसी दया हमपर करते हैं कि हमारे हृदयमें भाव अंकुरित हो पाते हैं। इस बीच आनन्दसन्दोह-सुखसिन्धु भगवान् श्रीव्रजाधिपके रूप गुण लीला एवम् नामों का संकीर्तन हमें करना चाहिये। इससे भक्तिमार्गपर हमारी यात्रामें हम सुखपूर्वक आगे बढ़ पायेंगे।

श्रीप्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि "तादृशी भावना कार्या यया भावांकुरोदयः, श्रीमदाचार्यकृपया भवेद् भावो न चान्यथा... भावो भावनया सिद्ध इति वाक्यात्प्रतीयते, तद्वाक्यपरिनिष्ठानां हृदि भावांकुरो भवेत्." अतः श्रीमदाचार्यचरण, श्रीयमुना तथा पुष्टिपथके आद्य-पथिक-गुरुश्रीव्रजभक्तों की कृपा होनेपर भगवत्कृपाभाजन बननेका अधिकार प्राप्त होता है।

वी चुपड़ी हुई गरम रोटी और रूखीसूखी वासी रोटीके स्वादमें बहुत अन्तर पड़ जाता है। इसी तरह स्नेहभावकी ऊष्मावाले पूर्ण भगवदीयोंके मुखसे, उनकी कृपादृष्टिकी स्निग्धताके साथ, भगवत्कीर्तनका श्रवण जितना सुखद होता है, उतना लौकिक प्रयोजनकी पूर्तिके लिए ठंडे दीमागसे जोड़तोड़ बँठाकर, भगवत्कथामें प्रवृत्त होनेवाले व्यक्तिके मुखसे भगवत्कथा सुनना सुखद नहीं होता। वह तो रूक्ष कीर्तन लगता है। भगवान् गोविंदके गुण-

गानमें जैसा सुख श्रीशुकमुनि जैसे निर्ग्रन्थ आत्माराम मुनियोंको मिलता है, वैसा उन्हें अपनी ब्रह्मात्मैक्यकी अनुभूतिमें भी नहीं मिलता है। अतएव श्रीशुकके—“परिनिष्ठतोपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया गृहीतचेता राजर्षे आस्थानं यदधीतवान्” (भा. २।१।९) वचनकी व्याख्यामें श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है “आत्मलाभसे उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है। ऐसे शास्त्रीय वचनोंके अनुसार आत्मपर्यवसायी गुणातीत समाधिमें नित्य स्थित होनेपर भी भागवतके रसकी अनुभूति होनेपर, उसकी अप्राकृतता-दिव्यता समझमें आनेपर, श्रीशुककी यह समझमें आया कि ब्रह्ममें लीन होनेवालेको जब समाधि-अवस्थाकी गरज नहीं रह जाती, तब ब्रह्मानन्दसे भी अधिक रसप्रद भागवतके कथारसको छोड़कर कौन समाधिके चक्करमें पड़े !”

इस भगवद्गुणगानके कारण भक्तके हृदयमें भगवदासक्तिरूप स्थायी भाव, जब भगवद्विरहक्लेशके कारण तापयुक्त हो जाता है, तब हृदयमें छिपे हुए भावात्मा भगवान् संदानन्द श्रीकृष्ण कृपायुक्त होकर बाहर प्रकट हो जाते हैं, आलम्बन-विभावके रूपमें।

भावात्मा हृदयमें विराजे अथवा भावके आलम्बनात्मना बाहर प्रकट हों, भगवान् सर्वतः सर्वथा आनन्दमय ही होते हैं। इस आनन्दमय परमात्माका सर्वात्मभावके रूपमें प्राकट्य उस परमात्माकी परमकृपामयी आनन्दानुभूति है। यह कृपा सुदुर्लभ है। भक्तके हृदयमें भावके रूपमें भरा हुआ सेतु, भगवद्गुणगानके श्रवण-कीर्तनके सतिप्रवाहसे अहर्निश भरे जानेपर एक दिन छलक जाता है ! इस तरह कि भक्तके देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण आत्मा तथा अन्य भी आत्मीय वस्तुओं को वह अपनी अलौकिक रसानुभूतिसे प्लावित कर देता है !!

अतः सदानन्द श्रीकृष्णके द्वारा निरुद्ध अर्थात् पुष्टिमार्गमें अंगीकृत जीवोंको चाहिये कि सारी लौकिक आसक्तियोंको छोड़कर केवल भगवान्के गुणगानमें वे तत्पर हो जायें। गुणगानके कारण अन्ततः सर्वत्र ब्रह्मरूपताकी अनुभूति भक्तको अपने देह-इन्द्रिय-अन्तःकरण तथा आत्मा से भी होने लगेगी। प्रपञ्चकी अनुभूति रह ही नहीं जाती तो स्मृति कहासे होगी ? फलस्वरूप प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति रूप निरोध सिद्ध हो जाता है।

निरोधके वास्तविक स्वरूपके उपदेशक श्रीमहाप्रभु

छान्दोग्योपनिषद्में आता है कि देवता देवविद्या और आत्मविद्या का उपदेश तो कर सकते हैं, पर गति तो आचार्य हो दिखला सकते हैं, आचार्यसे जब विद्या मिलती है तो वह सिद्धतम होती है—“ते होचुरुपकोसल्लेषा सौम्य तेऽस्मद्विद्या आत्मविद्या च, आचार्यस्तु ते गति वक्ता” (४।१।१) “आचार्यद्विद्येव विद्या विदिता साधिष्टं प्रापतीति” (४।१।३)।

भागवत (५।१२।१२) में भी गुरुकृपाकी महत्ता महत्पादरजोभिषेकके रूपमें प्रशंसित हुई है—“रहणैतत् तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा न छन्दसा नैव जलाग्नि-सूर्यविना महत्पादरजोभिषेकम्. यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविधातः निषेव्यमाणानुदिनं मुमुक्षोर्मतीं सतीं यच्छति वासुदेवे.”

इससे सिद्ध होता है कि भगवन्मार्गमें आचार्यकी महत्ता असाधारण है अतः स्वयम् भगवान्ने भी आज्ञा दी है कि "आचार्यं मां विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित् न मर्त्यबुद्ध्या-सूयेत सर्वदेवमयो गुरुः" (भा. १.११.७।२७). अर्थात् आचार्यको साक्षाद् भगवद्रूप ही समझना चाहिये - मर्त्यबुद्धिसे आचार्यको देखना आचार्यके साथ असूयाका व्यवहार है. आचार्यके माध्यमसे ही भगवान् अपनी गति व्यक्त करते हैं- "आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति" (भा. १.१.२९।६).

निरोधके कारणलक्षणमें यह समझाया गया था कि इस भूतलपर भक्तोंके बीच भगवान्का प्रकट होना कारणनिरोध है, अर्थात् भगवान्का भक्तोंमें निरुद्ध होजाना है. अतएव श्रीमदाचार्यचरणका भूतलपर प्रकट होना उनका भक्तोंमें निरुद्ध होना ही है. इसे सर्वोत्तम-स्तोत्रके चार नामों- "श्रीभागवतगूढार्थ-प्रकाशन-परायणः", "जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्" तथा "सर्वासक्तो भक्तमात्रासक्तः" के अवलोकन करनेपर अच्छी तरह समझा जा सकता है.

श्रीप्रभुचरणने अतएव बल्लभाष्टकमें- "घोषाघीशं तदेमे कथमपि मनुजाः प्राप्नुयुः नैव देवीसृष्टिर्व्यर्था च भूयान्निजफलरहिता देव वैश्वानरैषा" कह कर श्रीमदाचार्यचरणके प्राकट्यके कारणनिरोध होनेकी पुष्टि की है. स्वयम् श्रीमदाचार्यचरणने भी- "अर्थं तस्य विवेचितुं नहि विभुः वैश्वानराद्वाक्पतेः अन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवत् श्रीपतिः दत्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुः यस्मादतोहं मुदा गूढार्थं प्रकटीकरोमि" (सुबो. १.१.११) कह कर अपने प्राकट्यकी निरोधरूपता ही ध्वनित की है. वही कारणनिरोधरूपता अपने प्राकट्यकी श्रीमहाप्रभु "अहं निरुद्धो" वचनद्वारा यहां सूचित कर रहे हैं.

पुष्टिमार्गीय जीवोंकी भगवदासक्ति और प्रपञ्चविस्मृति में कहीं कोई बाधा न आ जाये एतदर्थं आपने पृथ्वीपरिक्रमा करके उनके समक्ष स्वयम् भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा के अलावा अन्य सभी वस्तुओंकी विस्मृतिका उदाहरण स्थापित किया. इस व्यापारनिरोधको ही यहां 'रोधेन' पद द्वारा सूचित करते हैं.

इस व्यापारनिरोधके कारण ही फलनिरोध भी आपके अनुयायीओंमें प्रकट हुआ है. इसका सूचन सर्वोत्तमस्तोत्रमें- "सांनिध्यमात्र-दत्त-श्रीकृष्णप्रेमा" द्वारा श्रीप्रभुचरणने भी किया है. यही 'निरोधपदवी' है, जिसे श्रीमहाप्रभुने पुष्टिमार्गमें भगवान्के द्वारा निरुद्ध या अंगीकृत देवो जीवोंके निरोधके लिए धारण की है- "रोधेन निरुद्धः निरुद्धानां तु रोधाय निरोधपदवीं गतो अहं ते निरोधं वर्णयामि".

अथवा वार्तामें हम देख गये हैं कि राजा-माघो दवेको आपने आज्ञा दी थी- "अब अपने घर जाय सेवा करो, दैवी जीव आवें तीनकों नाम दीजो. तुमको निरोध सिद्ध भयो और जो तिहारो संग करेगो ताहूँको निरोध सिद्ध होयगो!" यदि यही भाव यहां भी स्वीकारें तो अन्वय यों होगा- "रोधेन निरुद्धो निरोधपदवीं गतो अहं निरुद्धानां तु रोधाय ते निरोधं वर्णयामि" जैसे श्रीमहाप्रभुकी सेवा-कथामय दिनचर्या - कारणनिरोध तथा व्यापारनिरोध-से राजा-

माघो दवेको फलनिरोध-प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति सिद्ध हुई थी, वैसे ही राजा-माघो दवेके सेवा-कथामय जीवनसे पुष्टिमार्गमें निरुद्ध अनेक जीवोंको प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का लाभ होगा. यह वरदान श्रीमहाप्रभु इस श्लोकमें दे रहे हैं.

निरोधका स्वरूप

मुक्ति और आश्रयभावापत्ति, (अर्थात् सायुज्य और वैकुण्ठादि लोकरुमें सेवोपयोगीदेह) की प्राप्तिकी तुलना में, निरोधकी महत्ता यही है कि वह इस भूतलपर होनेवाली भगवदनुभूति है, जीवन्मुक्तिकी तरह.

सायुज्यमुक्तिमें जीवात्मा परमात्मामें लीन हो जाती है. भक्तके हृदयमें किन्तु ऐसे मनोरथ नहीं चल सकते. भगवान् स्वयम् कहते हैं कि "अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुक्ते" (भाग ३।२.५ । ३६). अतएव वेणुगीतकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने निरोध और मुक्ति की तुलना : नेत्रवान् व्यक्तिको किसी सुरम्य दर्शनीय स्थल दिखाने और उसे निबिड अन्धकारवाले कूपमें बन्द कर देने से की है- "इदमेव इन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा यथान्धकारे नियता स्थितिः नाक्षोः फलं भवेत् एवं मोक्षोपि इन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा नहि".

इसी तरह आश्रयभावापत्तिके भी अनेक प्रकार वर्णित हुए हैं. उनमें, वैकुण्ठादि लोकोंमें नूतन सच्चिदानन्दात्मक दिव्य देह, यदि सेवोपयोगी मिलता हो तो, ऐसे दिव्य देहेन्द्रियोंसे भगवदासक्ति तो सम्भव है ही, अतः उसे भक्त भी स्वीकार सकता है. तात्कालिक आवश्यकता परन्तु भक्तको इस भूतलपर इन देहेन्द्रियोंसे अपने प्रियतम परमात्माके अनुभूतिकी है.

प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिसे जीवके सम्पन्न होनेपर यह अनुभूति सम्भव है. अन्यथा श्रीहरि जिन्हें विनिर्मुक्त करते हैं, अर्थात् जिन्हें निरुद्ध नहीं करते, वे भदसागरमें मग्न हो जाते हैं-डूब जाते हैं. यहां इस भूतलपर भगवान्की आन्तर एवम् बाह्य संयोगानुभूतिके कारण; अथवा सेवा और कथा के कारण अहर्निश मोदप्रमोदका अनुभव तो भगवान्के द्वारा निरुद्ध जीव ही कर पाते हैं.

लौकिक रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दोंमें आसक्त अर्थात् संसारावेशसे दूषित हमारी इन्द्रियोंकी दर्शनरति आस्वादनरति आघ्राणरति स्पर्शनरति श्रवणरति, या अन्य भी कर्मेन्द्रियोंके एवम् अन्तःकरणके व्यापारोंमें रतिओं का अहित दो तरहसे हो सकता है : या तो उन्हें किसी भी प्रकारके निग्रहके बिना लौकिक क्षुद्र सुखोंकी खोजमें निरन्तर भटकते रहने दिया जाये; या फिर उनका पूर्णतया निग्रह करके उन्हें सर्वथा खतम ही कर दिया जाये, विषयव्या-मुखकरनेके बजाय. विषयोंसे व्यामुख करनेकी बात तो समझमें आ सकती है पर नेत्रोंको दर्शनरतिसे वञ्चित करनेमें नेत्रवान्को क्या लाभ हो सकता है? इन्द्रियवृत्तियोंका ऐसा दमन या निरोध 'क्युयो' कहलाता है. श्रीमहाप्रभु कहते हैं- "सर्वेषामेव निरोधने तत्तद-धिष्ठातृदेवद्रोहो भवत्येव" भगवत्सम्पण्णे तु तद्वचनेन तदुक्तमेव कृतमिति न कोपि दोषः सम्भवति" (सुबो. २।४।१७) इन्द्रियोंकी रत्यात्मक वृत्तियोंका दमन उचित नहीं है. इसी

तरह लौकिक विषयोंमें इन्द्रियवृत्तियोंका दुरुपयोग भी उचित नहीं है. अतः इनके दुरुपयोग या अनुपयोग के वजाय कुछ भगवदुपयोग खोज लेनेपर इनका सदुपयोग हो जाता है.

सुबोधिनी (३१४१४६) में श्रीमहाप्रभुने इसका विस्तृत निरूपण किया है—“प्राणियोंमें सतरह तरहकी वृत्तियां होती हैं : दस कर्मज्ञानेन्द्रियोंकी वृत्तियां, चार अन्तःकरणकी वृत्तियां, एक देह सम्बन्धी वृत्ति, एक प्राणसम्बन्धी वृत्ति और एक आत्मसम्बन्धी वृत्ति. इन सभी वृत्तियोंको भगवत्सम्बन्धी-भगवद्विषयक बनानेसे सर्वभवनसमर्थ-सर्वभावापन्न भगवान् प्रसन्न होते हैं.”

यही ‘भूमासुख’ अथवा ‘सर्वात्मभाव’ कहलाता है. “भूमासम्प्रसादादध्युपदेशात्” (११३१८) ब्रह्मसूत्रमें यह निरूपण किया गया है कि सभी वृत्तियोंसे भगवदनुभूति भूमासुख है—“यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति”, “यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छ्रणोति नान्यद्विजानाति स भूमा” (छान्दोग्य. ७।२३।१ और ७।२४।१).

अतः इन्द्रियादिकी वृत्तियोंके सर्वथा अनुपयोग अथवा लौकिक विषयोंमें दुरुपयोग में उनका अहित-अल्पसुख होता है. भूमा-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें उन्हें योजित करना उनका वास्तविक सदुपयोग एवम् हित हैं. इसे ही ‘प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति’ भी कहते हैं. यह भक्तका भगवान्में निरोध है. भगवत्स्वरूपमें यह मुख्य निरोध जिनके लिए शक्य न हो उन्हें भगवान्के गुणोंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें अपना चित्त लगाना चाहिये. मुरवरी भगवान्के गुणोंमें आसक्ति और प्रपञ्चविस्मृति सिद्ध हो जानेपर, न तो सांसारिक क्लेशोंकी अनुभूति होगी और न भगवद्विरहक्लेशकी ही. भगवान्के गुणानुवादमें भी साक्षात् भगवान्की तरह सुखदानका सामर्थ्य है.

केवल गुणकृत निरोध

इस केवलगुणकृत निरोध द्वारा यदि भगवान् सुखदान न करते होते तो उन्हें दयालुके वजाय क्रूर ही मानना पड़ेगा. क्योंकि प्रपञ्चविस्मरणके कारण लौकिक सुखोंके छूट जानेपर, भगवान् यदि भक्तको भगवत्स्मरणकी प्रक्रियामें सुखदान न करते हों तो, भक्त दुःखनिवर्तक ही मानी जायेगी, सुखप्रद नहीं. परन्तु गुणकृत निरोधमें भी इतनी सामर्थ्य है कि भक्त सांसारिक क्लेश और भगवद्विरहजन्य क्लेश, दोनोंसे ही उभर सकता है.

भागवत(१०।८७।२०) में कहा गया है : “अपने दुर्ज्ञेय आत्मस्वरूपका भक्तोंको सुखानुभव करानेके लिए भगवान् अनेक रूप धारण करते हैं. इन रूपोंमें भगवान् अनेकविध लीला भूतलपर प्रकट करते हैं. ऐसे भगवच्चरित्रके सुखसागरमें तैरनेवाले भक्त भगवान्के चरण-सरोजोंके बीच निवास करनेवाले हंस परमहंसोंके कुलमें प्रविष्ट होनेकी कामनासे निजकुल परिवारोंको छोड़ देनेपर भी, अपवर्ग या सायुज्यमुक्ति की कामना नहीं करते हैं.” यहाँकी सुबोधिनीमें कहा गया है—“यतोवतीर्णस्य कृष्णस्य चरित्रमात्रश्रवणेपि तादृश आनन्दो

जायते येन विचारकाः अपवर्गमपि परमानन्दप्रापकं न परिलषान्ति कदाचिदपि न वाञ्छन्ति ... गृहे हि महत्सुखं भवति. तत्सिद्धं विद्यमानं तदपि परित्यजन्ति. यदि भगवति सहस्रांशेनापि आनन्दसन्देहो भवेत् तर्हि विद्यमानं को वा त्यजेत् ... चरणसरोजैकाश्रया ये हंसास्तेषां कुलं समूहः तेषां संगार्थं विसृष्टं स्वगृहं यैस्तैः सह परमानन्दो बहुधा भोक्तव्य इति मोक्षापेक्षयापि भगवत्कथाश्रवणरसोधिको निरूपितः.” अतः केवलगुण-कृत निरोधकी अवस्थामें भी, प्रपञ्च-विस्मृतिके कारण न तो सांसारिक क्लेशकी अनुभूति होती है; और न भगवद्-विरह-जन्य क्लेशकी अनुभूति ही होती है, भगवदासक्तिवश होती आन्तर संयोगानुभूतिके कारण.

इस गुणकृत निरोधकी प्रारम्भिक अवस्थामें केवल मन वाणी और श्रवण इन्द्रियोंका ही भगवान्में विनियोग होता है. सकल इन्द्रियोंका नहीं. ऐसी स्थितिमें अवशिष्ट इन्द्रियां कभी अपने-अपने लौकिक विषयोंमें रही आसक्तिके कारण प्रपञ्चविस्मृति अथवा भगवदासक्ति में बाधा पहुंचा सकती हैं ! ऐसी शंका गुणकृत निरोधके बारेमें नहीं करनी चाहिये. क्योंकि गुणकृत निरोधमें भी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके एक बार सिद्ध होनेपर, सभी इन्द्रियोंसे ‘आसक्तिभ्रमन्याय’ (प्रेमी या प्रेमिका को गाढ़ आसक्तिके कारण एकदूसरेके आगमनकी या उपस्थितिकी आन्ति जैसे होती रहती है) से भगवान्का अध्यास, या भगवान्के गुणोंका अध्यास, लौकिक विषय-व्यक्तियोंमें तथा लौकिक रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द आदि गुणोंमें भी बना ही रहता है. अतः लौकिक विषय इस अध्यासके कारण निरोधमें बाधा उपस्थित नहीं कर सकते.

अतएव छान्दोग्योपनिषद्में इस सर्वात्मभावकी अनुभूतिमें आसक्तिभ्रमन्यायसे होते विभिन्न सञ्चारिभावोंका वर्णन तदादेश अहंकारादेश और आत्मादेश के रूपमें किया है—“स एवाधस्तात् स एवोपरिष्ठात् स पश्चात् स पुरस्तात् ... स एवेदं सर्वमिति अथातो अहंकारादेश एवाहमधस्तादहमुपरिष्ठादहम् ... अहमेवेदं सर्वमिति. अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मैवोपरिष्ठादात्मा पश्चादात्मा पुरस्ताद् ... आत्मैवेदं सर्वमिति. स एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराट् भवति. तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति.” (७।२५।१-२). निरुद्ध भक्तको कभी अपनेसे भिन्न परमात्माकी अनुभूति सर्वत्र होती है — कभी स्वयम्की ही अनुभूति सर्वत्र होने लग जाती है— कभी अपनेसे अभिन्न परमात्माकी अनुभूति सर्वत्र होने लग जाती है! रासपञ्चाध्यायीमें भगवान्के तिरोहित होने-पर “कृष्णोहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मना” (१०।३०।१९) वचनोंमें गोपिकाओंके इसी तरहके अध्यासका उदाहरण मिलता है.

सर्वविषयोंमें भगवान्के अध्यासके कारण पुनः लौकिक विषयासक्तिमें मनके भटक जानेकी आशंका भी नहीं करनी चाहिये. क्योंकि उन लौकिक विषयोंमें लौकिक-विषयत्वेन तो विराग ही रहता है. ऐश्वर्य कीर्त्य यश श्री ज्ञान वैराग्य जैसे भगवद्धर्मोंके भक्तमें भी आवेशके कारण, इन धर्मोंके आवेशसे पूर्व भी परमानन्दरूप भगवान्के धर्मरूप स्थायिभाव-भगवद्गतिके कारण भी लौकिक विषयोंमें विराग स्थिर रह सकता है. सर्वात्मभावकी भी भगवद्धर्मरूप

माना गया है, अतः सर्वात्मभावरूप भगवद्धर्मके कारण भी लौकिक विषमोंमें विराग स्थिर रह सकता है।

इस विषयवैराग्यके साथ भगवान्के गुणोंके अहर्निश श्रवण-स्मरण-कीर्तनके कारण गुणोंके माध्यमसे सर्वदुःखहारी श्रीहरिका आन्तर सुखस्पर्श बना ही रहता है। अतः दुःखी होनेका तो कोई सवाल ही नहीं उठता।

सर्वात्मभावकी अनुभूति ज्ञानमार्गमें भी होती है और भक्तिमार्गमें में भी। ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभाव शान्तरसात्मक होता है; तथा भक्तिमार्गीय सर्वात्मभाव यथायथ श्रृंगार सख्य वात्सल्य या दास्य भावात्मक होता है। ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभावमें केवल आत्मना ब्रह्मानन्दकी अनुभूति होती है पर भक्तिमार्गीय सर्वात्मभावमें सर्वेन्द्रिय अन्तःकरण तथा आत्मा से भी भजनानन्दकी अनुभूति होती है। अतएव भ्रमरगीतकी सुबोधिनीमें यह कहा गया है कि सकल इन्द्रियोंसे अतीत अधोक्षज भगवान्को सकल इन्द्रियोंका विषय बनाना मुनियोंके लिए भी दुर्लभ अनुभव है, जो गोपिकाओंको सर्वात्मभावके कारण सुलभ हुआ (सुबो. १०।४४।२५-२७)। हरिकथा-वर्णनके श्रवण-स्मरण-कीर्तनके कारण पनपे इस सरस निरोधका यह उत्कर्ष, ज्ञानमार्गीय रूक्ष नीरस चित्तवृत्तिके निरोधकी तुलनामें, स्वीकारना ही पड़ता है।

हरिकथाके श्रवण-कीर्तनमें दो सावधानियोंकी अतिशय आवश्यकता है। प्रथम तो यह कि इस हरिकथाको, स्पर्धा-ईर्ष्या-द्वेषकी हमारी तुच्छ मनोवृत्तियोंको सन्तुष्ट करनेका माध्यम न बनाया जाये। दूसरे हरिकथाको उदरपूर्ति यशःकीर्ति अथवा चन्दा एकत्रित करनेके लोभ-वश न किया जाये। अन्यथा यह हरिकथा भक्तिमार्गीय उत्कृष्ट निरोध सिद्ध करनेमें विफल हो जाती है—“अमत्सरैः अलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः”।

गुण-स्वरूप-उभयकृत-निरोध

अवतारकालमें तो स्वेच्छया स्वरूपका प्राकट्य होता है। अनवतारकालमें स्वरूपके प्रकट न होने के कारण स्वरूपकृत निरोध सम्भव है कि नहीं? यह प्रश्न विचारणीय है।

तामसफल-प्रकरण (१०।२६।१३) में इस प्रश्नका खुलासा इस शब्दोंमें दिया गया है—“ज्ञानभक्तयोस्तु आविर्भावार्थमुपयोगः आविर्भावश्चेदन्वथासिद्धः तदा न ज्ञानभक्त्योरुपयोगः.. अत्रतु भगवान् स्वतएव आविर्भूतः, मुक्तिदानार्थं सर्वसाधारण्येन. ईश्वरेच्छया अनियम्यत्वात्. अतः आविर्भावः स्वेच्छया भक्त्या ज्ञानेन वा. भगवदवतारातिरिक्तकाले द्वयमेव हेतुः अवतारदशायां तु न तयोः प्रयोजकत्वम्. वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभमिति न कूपनदीनामनुपयोगः शंकीयः..” अर्थात् भगवदाविर्भावके लिए ज्ञान या भक्ति की आवश्यकता है। अवतारकालमें तो भगवान् स्वेच्छया स्वतएव सभीके समक्ष प्रकट हो जाते हैं। अतः उस समय ज्ञान-भक्ति अनावश्यक हो जाते हैं। एतावता अनवतारकाल में उन्हें अनुपयोगी नहीं मान लेना चाहिये।

सर्वनिर्णय-निबन्ध (का. २२८-२२९) में भगवान्के भक्तिमार्गीय आविर्भावकी प्रक्रिया दिखलायी गयी है : (१) साकारब्रह्मवादके सिद्धांतके अनुसार वस्तुमात्रके ब्रह्मात्मक होनेसे

भगवन्मूर्तिके भगवदात्मक होनेमें किसी प्रकारके सन्देहकी आवश्यकता नहीं है। (२) भक्तिका बीज भगवदनुग्रह ही होता है। अतः भक्तके हृदयमें किसी विशेष भगवन्मूर्तिके प्रति लगाव पैदा होता ही तो उसका बीज, उस मूर्तिरूपद्वारा भक्तोद्धारके, भगवान्के संकल्पमें निहित होता है। (३) भक्तके भक्तिमार्गीय भावनामय संकल्पके कारण भी भक्तके सेव्य-स्वरूपको “भगवान्के एक विशेष-व्यक्तिगत अवतार” के रूपमें मान्य करना चाहिये।

ब्रह्म व्यापक भी है और साकार भी। अतएव भगवन्मूर्तिको मायिक अथवा चित्तको एकाग्र बननेका एक उपकरण माननेकी रीति वाल्लभ सिद्धान्तसे विपरीत है। “ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजाम्यहम्” (गीता) वचनके अनुसार मूर्तिमें साक्षाद् ब्रजाधिपकी सच्चे हृदयसे भावना करनेपर सचमुच ही ब्रजाधिपका उस रूपमें प्राकट्य होता है।

भगवान्के इस कृपामय संकल्प और भक्तके भावनामय संकल्प के वलसे प्रकट हरिमूर्ति-का ध्यान अपने हृदयमें, भक्तको अन्य सभी रूपोंको भूलाकर, सदा-निरन्तर बनाये रखना चाहिये। यह भगवान्के स्वरूपमें अन्तःकरणका निरोध है इसी तरह इसी स्वरूपके नेत्रोंसे दर्शन तथा स्पर्शेन्द्रियसे स्पर्शन के लिए आतुरता होनी चाहिये। हाथोंको इस स्वरूपकी सेवा के लिए उद्यत रखना चाहिये। पैरोंको इस स्वरूपके दर्शनार्थ या भजनार्थ दौड़नेको उद्यत रखना चाहिये। कानोंसे भगवद्गुणगान सुनते समय, वे गुण, इसी भगवत्स्वरूपके गुण हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये। वाणीसे कीर्तन, इस स्वरूपके रूपसौंदर्यका गुणमाधुर्यका और लीलालाप्य का करना चाहिये।

असमर्पित अन्न वस्त्र पुष्प गन्ध आदिका त्याग पहले ही सिद्धान्तरहस्यमें—“असमर्पित-वस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्” द्वारा समझा दिया गया है। अतः पुनश्चित् अनावश्यक है।

यहां यह अवघेय है कि इन्द्रियां तीन तरह की होती हैं : (१) जिनका साक्षात् भगव-द्विनियोग शक्य हो। यथा नेत्र त्वचा कर्ण वाणी हस्त चरण और अन्तःकरण (२) कुछ इन्द्रियोंका विषय भगवत्स्वरूपको साक्षात् नहीं बनाया जा सकता है। जैसे रसना और नासिका। अतः इन्हें भगवत्प्रसादरूप अन्न तथा गन्ध के ग्रहणके व्रतमें दीक्षित करना चाहिये। (३) पूर्वोक्त दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके व्यापार ग्रहणात्मक होते हैं विसर्जनात्मक नहीं। अतः उनका विषय साक्षात् भगवत्स्वरूप अथवा या स्वरूपसम्बन्धी प्रसादी अन्न-गन्धको बनाया जा सकता है, पर पायु और उपस्थ इन्द्रियोंका व्यापार ग्रहणात्मक न होकर विसर्जनात्मक होता है। अतः इनका विनियोग कथमपि साक्षात् भगवत्स्वरूप या तत्सम्बन्धी पदार्थोंके ग्रहण में शक्य नहीं है। फिरभी पायुसे मलांशत्यागके द्वारा शुद्ध देहको भगवत्सेवोपयोगी बनाया जा सकता है। इसी तरह कृष्णसेवामें सहयोगी सन्ततीके जन्मके लिए उपस्थका भी उपयोग सम्भव है—“पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः”।

इस तरह जिस इन्द्रियका, साक्षात् अथवा परम्परया भी भगवत्स्वरूपमें विनियोग अथवा भगवत्कार्यार्थ उपयोग दिखलायी न देता हो, उसका निश्चयेन अच्छी तरह निग्रह करना

चाहिये. इस नियमके पालनसे अनवतारकालमें भी गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोध शक्य बन जाता है.

भक्तको भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा के द्वारा प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति सिद्ध हो जाती हैं.

निरोधकी सिद्धि साधनावस्थाकी अन्तिम अवधि है. कोई भी साधन षोडशग्रन्थमें वर्णित अष्टाक्षरपञ्चाक्षर-मन्त्र (या अन्यत्र वर्णित मन्त्र—'हा हा कृष्ण मुखारविन्दविरहान्ते' भी) उभयकृत निरोधसे अर्थात् कृष्ण-सेवाकथा-मय जीवनसे परतर-उत्कृष्ट साधन नहीं हैं. न इस षोडशग्रन्थमें वर्णित यमुनाष्टक या कृष्णाश्रय जैसे स्तव (या अन्यत्र भी वर्णित सर्वोत्तम आदि स्तोत्र भी) इस निरोधसे परतर-उत्कृष्ट साधन हैं. भाष्य निबन्ध आदि ग्रन्थोंमें वर्णित अनेकविध ब्रह्मविद्यार्यो या सर्वनिर्णय आदि ग्रन्थोंमें प्रशंसित तीर्थाटन भी इस गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोधसे परतर साधन नहीं हैं.

इस निरोधसे परतर यदि कुछ है तो वह है आगे सेवाफलमें वर्णित होनेवाला अलौकिक सामर्थ्य रूप फल, जो इस निरोधका प्रयोजन है. परन्तु उसे तो 'फलनिरोध' ही पुनः कहा-जाता है...

निरोधलक्षण ग्रन्थका प्रस्तुत संस्करण, वि. सं. १९७३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफ-सेट प्रॉसेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. इसमें दिये परिशिष्टोंको हमने यथोचित क्रममें पुनर्योजित किया है. पूर्वसंस्करणके प्रकाशक थे गोस्वामीश्री १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (पोर-बन्दर). सम्पादक थे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल ब्रजदास सांकलिया इन सभी महानुभावोंका हम हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

Editors' Note.

Next after the Sevâphala we have much pleasure in offering to the public the Nirodha-Lakshana with six commentaries. Of the Sixteen Sacred Books, it stands fifteenth, but in importance it is second to none. It purports to give the characteristic indications of different types of devotees who have realised the Nirodha—i. e. complete attachment to Lord preceded by complete forgetfulness of the world.

In order that persons ignorant of Sanskrita may have the benefit of this work, a Gujarati translation of S'ree Purushottamajee's tikâ is also included here—which for its lucidity and practical tone is sure to appeal to all in general.

We have been able to include in this edition six commentaries viz. those of Châchâ Gopes'ajee, Vallabhajee, Harirayajee, Gokulnathajee, Purushottamajee, and Vrajara-rajajee. We are informed by Pandita Bâla S'âstri of Kotah that there are two more commentaries of this work in the Library of S'riman Mathures'ajee at Kotah viz. one of Kalyanarayajee, and the other of Devakinandanajee. For these commentaries we wrote to Pandita Gokuladasajee of Kotah, but he writes to us that the Library being in disorder, it is not possible for him to send us those commentaries, but he promises to assist us to get them when we go there. We ourselves doubt the existence of these tikâs as they are not referred to by Purushottamajee. However, if by going to Kotah we get them, we shall surely offer the same to the public in a new edition.

We have been fortunate in securing more copies than one of each tikâ printed here, and the reader will have the satisfaction to see that the printed texts are much better than the oldest MSS. in his possession. It seems Harirayajee re-wrote his tikâ of the Nirodha-Lakshana. The later edition of it we have printed first, while the previous edition we have printed in appendix to satisfy the curiosity of the antiquarian Pandita.

We gratefully acknowledge the ready and willing support that we have received from all quarters in the loan of MSS. viz. from Goswaminis, S'âstrins, Vaishnavas and other learned men and sympathisers. As before, we got a large collection of MSS. from Pandita Gattulâlâ's Library through S'eth Tribhuvanadas and Mr. Kashidas N. Dalal. Dr. S. K. Belvalkar gave us all the MSS. of the Nirodha-Lakshana available in the Deccan College Government collection. Mr. Tansukharam M. Tripathi gave us the MSS. in his possession. S'ree Jeevanlalajee, S'ree Govardhanlalajee of Bombay, S'ree Vallabhalalajee, S'ree Vrajaramlalajee, and Goswami S'ree Krishna Priyâjee willingly gave us all the MSS. of this work in their possession. Pandita Bâla S'âstri of Kotah, S'âstri Kalyanajee, S'âstri Bhadrans'amkara, S'âstri Madhavajee, S'âstri Bâni Narayana, Messrs. Manilal and Natavaralal, sons of the late Mr. Itcharam Suryarnm Desai, the proprietor of the Gujarati Press, Kirtania Baldevadas, Mr. Sundralal Manekchandra, gave us their MSS. We take this opportunity to thank all the above-named gentlemen, and request them to continue their support in this very important and useful work. Like Sevâphala this work is also printed from the funds supplied by Goswami S'ree Jeevanlalajee of Porebundar, and our sincere thanks are due to His Holiness.

With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus-feet of Lord S'ree Krishna.

Bombay, }
September 1917. }

Mûlachandra T. Telivâlâ,
Dhirajal V. Sankalia.

ग्रन्थसङ्ग्रहपरिचयः ।



१. सर्वा मुद्रितटीका अन्यपुस्तकद्वयं च दृष्ट्वा श्रीमदाचार्यप्रकटितं निरोधलक्षणं मुद्रितमस्माभिः । तत्र विद्यमानाः पाठभेदाः श्लोकक्रमभेदाश्च जिज्ञासुभिर्विवरणेषु मुद्रितेषु द्रष्टव्याः । मूलमात्रस्य पुस्तकद्वयं ढक्कनकॉलेजहस्तलिखितसंग्रहस्थं, प्रायः शुद्धं प्राचीनं च ।

२. चाचाश्रीगोपेशकृतविवरणस्य पुस्तकपञ्चकमुपलब्धम् । तत्र पुस्तकद्वयं पं० गट्टलालहस्तलिखितसंग्रहस्थम्, एकं प्राचीनं किन्तु अशुद्धं, अन्यत् नूतनं, प्रायः शुद्धम् । तृतीयं शुद्धं नूतनं च श्रीवल्लभलालानाम् । चतुर्थं प्रायः शुद्धं, प्राचीनं च रा० तनसुखरामसकाशादुपलब्धम् । पञ्चमं श्रीजीवनलालानाम्, शुद्धं टिप्पणयुतं च ।

३. श्रीविठ्ठलेशारमजश्रीवल्लभकृतटीकायाः पुस्तकद्वयमुपलब्धम् । एकं पं० गट्टलालसंग्रहस्थम्, अन्यत् श्रीव्रजरत्नानाम् । प्रथमं प्राचीनं प्रायः शुद्धं, द्वितीयं नूतनं, परन्तु क्वचित् शोषितम् ।

४. श्रीहरिधनचरणकृतविवृतेः द्वादशपुस्तकानि प्राप्तानि । तत्र पुस्तकत्रयं पं० गट्टलालसंग्रहस्थं, अन्यत् पुस्तकत्रयं ढक्कनकॉलेजसंग्रहस्थं, द्वयं श्रीजीवनलालानां, एकं श्रीनृसिंहलालतनयश्रीगोवर्धनलालानां, एकं गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाणां, एकं रा० तनसुखरामसकाशादुपलब्धम् । एकं भाईनारायणशास्त्रिणः । सर्वान्येतानि प्राचीनानि प्रायः शुद्धानि । एकं तु श्रीहरिरायहस्ताक्षरयुतमिति प्रतिभाति । श्रीहरिरायैर्निरोधलक्षणविवरणं चारद्वयं लिखितमिति प्रतिभाति । पश्चाच्छोधित्वा विस्तृत्य लिखितं विवरणमत्र मुद्रितम् । पूर्वं लिखितं तु जिज्ञासुतृप्त्यर्थं परिशिष्टे निवेशितम् । पूर्वं लिखितविवरणस्य पुस्तकद्वयं मिलितम् । एकं श्रीवल्लभलालानाम्, अन्यत् रा० तनसुखरामसकाशादुपलब्धम् । उभयमपि प्राचीनं प्रायः शुद्धं, परन्तु नूतितम् । यथादृष्टमेव परिशिष्टे मुद्रितमस्माभिः । रा० तनसुखरामत उपलब्धे पुस्तके एवमपि भाषायां लिखितं 'निरोधलक्षणकी टीका प्रथम श्रीहरिरायजुने कीनीथी पत्र २२' इति । एतेनास्सदुक्तं समर्थते ।

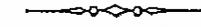
५. चतुर्थं मुद्रितं व्याख्यानं श्रीवल्लभानाम्, श्रीगोकुलनाथानाम् । एतद्विवरणस्य पञ्च पुस्तकान्युपलब्धानि । एकं पं० गट्टलालसंग्रहस्थम् । द्वितीयं ढक्कनकॉलेजसंग्रहस्थम् । तृतीयं श्रीजीवनलालानाम् । चतुर्थं सुरतिस्थगोस्वामिश्रीगिरिधराणां गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाभिः कृपया प्रदत्तम् । पञ्चमं सुन्दरलाल माणिक्यचन्द्र बी. ए. इत्येतेन प्रापितम् । इदं नूतनमशुद्धं च । श्रीजीवनलालानां तत्सदृशं नूतनं, प्रायः शुद्धम् । ढक्कनकॉलेजसंग्रहस्थं प्राचीनं प्रायः शुद्धम् । अन्यद्वयं प्रायः शुद्धम् ।

६. पञ्चमं श्रीपुरुषोत्तमानाम् । अस्यापि षट् पुस्तकानि मिलितानि । एकं योगेश्वरगोपेश्वरानां हस्ताक्षरैर्लिखितटिप्पणयुतं शुद्धं प्राचीनं च, पं० गट्टलालसंग्रहस्थम् । द्वितीयं गोस्वामिश्रीनृसिंहलालतनयश्रीगोवर्धनलालानाम् । इदमपि प्राचीनं प्रायः शुद्धम् । तृतीयं गोस्वामिश्रीजीवनलालानाम्, नूतनं, प्रायः शुद्धम् । चतुर्थं गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाभिः प्रदत्तम्, प्रायः शुद्धम् । पञ्चमं काशीस्थश्रीगिरिधरजीमहाराजाश्रितरामकृष्णभट्टस्य, 'गुजराती' अधिपतिनटवरलालेन सहर्षं प्रदत्तम् । षष्ठं स्तम्भतीर्थस्थशास्त्रिभाईनारायणस्य ।

७. षष्ठं श्रीव्रजराजानाम् । एतद्विवरणस्यैकमेव पुस्तकमस्माभिरुपलब्धम् । कुत्रापि एतन्नं मिलितं । अस्य एकं पुस्तकं यदृच्छया सुरतिस्थश्रीगिरिधराणां मन्दिरस्थसंग्रहे उपलब्धम् । तत् तत्रत्यगोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाभिरतिकृपया बलदेवदासकीर्तनकृद्द्वारा अस्वत्सकाशं प्रेषितम् । एतदुल्लभपुस्तकप्रदानेन वयमत्यन्तमनुगृहीतास्ताभिः । प्रार्थयामहे चान्या अपि गोस्वामिन्य एना अनुकुर्युरिति । अस्मिन्पुस्तकसङ्घे पं० गट्टलालसंस्थायाः 'कार्याध्यक्ष काशीदास नारायणदास दलाल, बी. ए. एल् एल्, बी.

मुख्यदृष्टी श्रेष्ठी त्रिभुवनदास' इत्येतेषां महत्युपकृतिः । डॉ. एस्. के. बेलवलकर. एस्. ए. पी एच्. डी. इत्यस्य, गोस्वामि श्रीगोवर्धनलालानां, कल्याणशास्त्रिणश्च, गोस्वामिश्रीवल्लभलालानां माधवशास्त्रिणश्च, गोस्वामिश्रीजीवनलालानां, गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाणां, बलदेवदासस्यापि, गोस्वामिश्रीव्रजरत्नानां शास्त्रिभाईनारायणस्य च महत्युपकृतिः । तनसुखराम मनःसुखराम त्रिपाठी. बी. ए., सुन्दरदास माणिक्यचन्द्र बी. ए., नटवरलाल सूर्यराम देसाई. बी. ए. इत्येतैः सहर्षं प्राचीनहस्तलिखितपुस्तकप्रदानेनात्यन्तमनुगृहीता वयम् । 'अस्मन्मित्रोत्सवलाल रामकृष्ण पंड्या' इत्यस्य प्रतिलिखने क्वचिदुपकारः । अस्य यावत्प्राप्यविवरणसमेतस्य निरोधलक्षणस्य मुद्रणव्ययः गोस्वामिवर्यं श्रीजीवनलालैः सहर्षं कृत इति तेषामुपकृतिं वयं सविनयं स्मरामः । प्रार्थयामहे चान्येपि गोस्वामिनः श्रीमन्तो वैष्णवाश्चैताननुकुर्युरिति । एतेषां गोस्वामिवर्याणां कृपयैव निरोधलक्षणं पञ्चिवरणयुतं मुद्रितं साम्प्रदायिकानां सुगमं भविष्यतीति ।

विवरणकृतां परिचयः ।

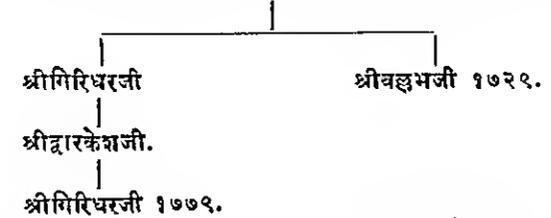


१. तत्रादौ श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटितं निरोधलक्षणं पञ्चिवरणयुतं संमुद्यते । स्वीयानुग्रहार्थमाचार्यैस्तत्प्रकटीकृतमिति । आचार्योणां प्रादुर्भावस्तु १५३५ वर्षे चैत्रकृष्ण एकादश्यां रविवासरे । तेषां चरित्रादिकं तु साम्प्रदायिकवार्तादिषु प्रसिद्धमिति नेह विस्तरः । षोडशग्रन्थेष्वयं निरोधलक्षणग्रन्थः पञ्चदशसंख्यां भजते ।

२. प्रथमं मुद्रितं विवरणं चाचाश्रीगोपेशानाम् । इमे श्रीगोपेशाः श्रीमत्प्रभुचरणानां सप्तमपुत्रश्रीधनश्यामानां सूनवः । षोडशग्रन्थोपरि बह्व्यस्तेषां टीका दृश्यन्ते । तत्कृतसेवाफलटिप्पणी चधुनैवास्माभिः प्रकटिता । भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६५२ वर्षे प्रादुर्भूताः ।

३. द्वितीयं विवरणं श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभानाम् । इमे श्रीवल्लभाः श्रीमत्प्रभुचरणपञ्चमपुत्रश्रीरघुनाथतन्त्रतुर्था संख्यां विभूयन्तः १७२९ वर्षे कार्तिककृष्णद्वादश्यां प्रादुर्भूताः । नवरत्नटिप्पणीसंन्यासनिर्णयटीकासेवाफलटीकादीनां प्रणेता एत एव । नवरत्नटिप्पण्याः एकं प्राचीनं पुस्तकमस्माभिरुपलब्धम् । तत्र 'श्रीविठ्ठलारायात्मजश्रीवल्लभकृता नवरत्नटिप्पणी' तिसमाप्तौ वर्तते । एतत्पुस्तकं श्रीमद्गोस्वामिश्रीद्वाराकेशरात्मजश्रीगिरिधराणां संवत् १८३२ पौषशुक्ले लिखितम् । तत्पुस्तकोपरि 'अस्मत्प्रिवृत्त्यचरणानां लेखः' इति लिखितम् । संग्रहायत्रंशवृक्षे तेषां सम्बन्ध एव दर्शितः ।

श्रीविठ्ठलारायः—श्रीविठ्ठलेशः



एतेन सेवाफलव्याख्यानस्य प्रणेतारोपि श्रीरघुनाथवंश्या इत्यनुमीयते । दशमस्कन्धश्रीसुबोधिनीलेखस्यापि प्रणेतास्त एचेति प्रतिभाति । विशेषं तु शुद्धिभक्तिसुधायाः सप्तमवर्षस्य नवमांके प्रपञ्चितम्, जिज्ञासुभिस्तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

४. तृतीयं व्याख्यानं श्रीमद्हरिधनचरणानाम् । श्रीहरिराया इति प्रसिद्धा हि ते । श्रीमत्प्रभुचरणद्वितीयकुमारश्रीगोविन्दारायज्येष्ठपुत्रश्रीकल्याणारायाणां ज्येष्ठसूनवः भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६४७

वर्षे प्रादुर्भूताः । एषां ब्रह्मसम्बन्धसंस्कारस्तु श्रीविठ्ठलेश्वराणां चतुर्थलालैः श्रीवल्लभैः श्रीगोकुलनाथेति-
प्रसिद्धैस्तैः कृतः । श्रीहरिरायाणामसंख्याताः सूक्ष्मग्रन्था इत्यन्ते । सम्प्रदाये प्रसिद्धानि शिक्षापत्रा-
ण्यपि तैः प्रादुर्भावितानि । श्रीमद्भिरधनचरणस्वरूपे तु शुद्धपुष्टिमागीयं फलात्मकं रसात्मकं विप्रयो-
गात्मकं साक्षाद्देव्यं मूर्तिमत् प्रादुर्भूतमनुभूयते । तेषां व्याख्यानानि सर्वाण्यपि भक्त्यनुगुणानि ।
निःसाधनजीवानुग्रहार्थमेव तेषां प्राकल्पमिति प्रतिभाति । अत एवात्र मुद्रितं तेषां निरोधलक्षणव्या-
ख्यानं निगूढं भक्त्यनुगुणं सरसं भक्तिनिष्ठजनानुग्रहार्थं विराजते ।

५. चतुर्थं व्याख्यानं श्रीवल्लभानाम् । इदं व्याख्यानं श्रीमद्गोकुलनाथानामिति केचिद्वदन्ति । आदर्शेषु
पुस्तकद्वये श्रीवल्लभकृतमिति लिखितम् । अन्यस्मिन्नादर्शत्रये किमपि नाम नास्ति । श्रीगोकुलनाथाः
प्रसिद्धासु स्वकृतटीकासु श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणान् स्वपितृचरणत्वेन आरंभे नमस्कुर्यन्ति, अथवान्ते
तथैव स्मरन्ति । अस्मिन् निरोधलक्षणविवरणे यद्यपि श्रीमत्प्रभुचरणानामस्मृताः, तथापि सामान्यतः,
न तु स्वपितृचरणत्वेन । अत एव क्वचित्सन्देहः । श्रीमद्गोकुलनाथास्तु श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणानां
चतुर्थसूत्रवः भार्गोशीर्षशुक्लसप्तम्यां १६०८ वर्षे प्रादुर्भूताः । पौषकृष्णानवम्यां १६९७ वर्षे सिद्धि
गताः । श्रीमत्प्रभुचरणलालेषु इमे अतिप्रसिद्धाः । चिद्रूपादीनां संन्यासपाषण्डिनां मुखमर्दनं कृत्वा
मोगलराजजहांगिरं च वशीकृत्य स्वमार्गं रक्षा एतैरेव कृता । सतां कण्ठे माला च तैरेव सुरक्षिता
स्वरूपबलेनैव । श्रीमदाचार्यप्रकटितश्रीमद्भागवतसुबोधिन्याः विशेषप्रचारस्तैरेव कृतः, अतस्तेषां
श्रीसुबोधिनीप्रवर्तका इति नामापि प्रसिद्धम् । साम्प्रदायिकवार्तादीनां प्रकटीकर्तारोपि ते एव । स्व-
सम्प्रदायस्य प्रचारार्थं प्रवृत्त्यर्थं च गुजरे भूमिरेकवारं स्वचरणनलिनरजोभिस्तैः पवित्रीकृता । दक्षिणे
पुण्यपत्तनपर्यन्तमेकवारं तदर्थमेव गताः । परन्तु तत्रत्यान् कृष्णभक्तिरसानधिकारिणः इष्ट्वा तस्माद्व्य-
वर्तन्त । दाक्षिणात्याः 'भैसा' इत्युपहासः तैरेव कृतः । तत्कीर्तनादिषु च प्रसिद्धः । श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रसि-
द्धान्तमुक्तावलिपुष्टिप्रवाहमर्यादासिद्धान्तरहस्यान्तःकरणप्रबोधचतुःश्लोकीभक्तिवर्धिनीत्यादीनां ग्रन्थानां
विद्वत्तयः तेषां नयनगोचरीभवन्ति । श्रीकल्याणभट्टकृतकल्लोले श्रीगोपालदासकृतमालामसंगे च तेषां
चरित्रादिकं सुविस्तृतं, विशेषजिज्ञासुभिरस्त्रैवावलोकनीयम् ।

६. पञ्चमं व्याख्यानं श्रीपुरुषोत्तमानाम् । श्रीमदाचार्यतः पुरुषगणनया सप्तमीं संख्यां विभूष-
यन्तो भाद्रपदशुक्लदशम्यामेकादश्यां वा १७२४ वा १७१४ वा वर्षे प्रोद्भूताः । तेषां विवरणं शा-
स्त्रार्थरीत्या बुभुत्सुबोधकमिति प्रतिभाति । विशेषतः तेषां चरित्रजिज्ञासुभिः पुष्टिभक्तिसुधेति भासिक-
पत्रिकायाः पञ्चमवर्षस्य तृतीयांको द्रष्टव्यः । यावत्प्राप्यं बाह्यमान्तरं वा तेषां चरित्रादिकमस्माभिस्त-
त्रैव निवेशितमिति नात्र पुनरनुयते । अत्र मुद्रितं तेषां निरोधलक्षणविवरणं शास्त्रार्थरीत्या बुभुत्सुबोध-
कमाचार्याशयं सप्रमाणं प्रकटीकुर्वन् विराजते ।

७. षष्ठं व्याख्यानं श्रीश्यामलसुतश्रीव्रजराजानाम् । इमे श्रीव्रजराजाः माघकृष्णद्वितीयायां
१६८२ वर्षे प्रादुर्भूताः । श्रीमत्प्रभुचरणश्रीविठ्ठलेश्वरतृतीयकुमारश्रीमद्दालकृष्णानां प्रपौत्राः दशदि-
गन्तविजयिगोस्वामिश्रीमत्पुरुषोत्तमानां पितृव्यचरणाः । अधुना सुरतिपुरमलंकुर्वन् श्रीबालकृष्णप्रभुः
गोकुले श्रीमद्भारकाधीश्वरप्रभोरुत्संगे विराजितवान् । स्वाम्रहेण तस्वरूपं स्वशिरसि श्रीव्रजराजैः
सुरतिपुरे सेवितम् । अत्र निरोधलक्षणव्याख्याने मंगलाचरणे श्रीव्रजराजैस्तस्वरूपमेव निरोधार्थत्वेन
सूचितम् । तेषां रोचिषा श्रीमद्दालकृष्णप्रभुः सुरतिपुरे श्रीपुरुषोत्तमानां मूर्ध्नि विराजितवान् । स
एव श्रीमद्दालकृष्णप्रभुसदृशस्योत्सन्नत्वात् श्रीव्रजराजानां शिरसि अधुना विराजते । श्रीपुरुषोत्तमाः
स्वपितृव्यचरणं श्रीव्रजराजं स्ववंशमणिं गणयन्ति । श्रीव्रजराजानां ग्रन्थाः भावपूर्णाः बहवः इत्यन्ते ।
गीतामृततरंगिणी रहगोपालभट्टेन काश्यां श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकटीकृता । सप्तश्लोकीचतुःश्लोकी-
कृष्णाश्रयादिषोडशग्रन्थेषु बहूनां व्याख्यानानि भावात्मकानि तैः प्रादुर्भावितानि दृग्गोचरीभवन्तीति ।
अत्र अस्माभिरुपलब्धानि पद्धिवरणानि प्रकटीक्रियन्ते; एतान्येव प्रसिद्धानि, तथापि एतावन्येव
विवरणानि नैवाधिकानीति नैव शक्यते वक्तुमस्माभिः । अतो यदि अत्रामुद्रितं निरोधलक्षणव्याख्यानं

केषाञ्चित् महानुभावानां पुस्तकसंग्रहे विद्येत चेत्तदा ते कृपया यदि तदस्मात्सकाशं प्रेषयिष्यन्ति,
तदा तदपि सोपकारं स्वीकृत्य मुद्रयिष्यामः । प्रार्थयामहे च विद्वांसः अस्मदेतां प्रार्थनां कृपया स्वीकृत्य
सम्प्रदायोद्यतिं कर्तुमुद्यता भविष्यन्तीति । कोटामामख्यबालशास्त्रितः श्रुतमेवास्माभिर्यत् श्रीमथुरापी-
शमन्दिरसंग्रहे निरोधलक्षणस्य अन्यत् टीकाद्वयं वर्तते, एका श्रीकल्याणरायाणाम्, द्वितीया श्रीदेवकी-
नन्दनानाम् । प्रत्येके कृतेपि नास्माभिस्तद्विवरणद्वयमुपलब्धम् । अतस्तात्संग्रहमत्र कर्तुं वयमशक्ता इति ।

वामनजयन्ती १९७३.
मुम्बई.

मूलचन्द्र तेलीवाला.
धैर्यलाल सांकलीया.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥
गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥
महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥
महतां कृपया यद्भूत् कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरुक्षवत् ॥ ५ ॥
गुणगाने सुखावासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥
क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्यं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥
सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः ह्लावयते जनान् ॥ ८ ॥
तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरिगैः सच्चिदानन्दता तैतः ॥ ९ ॥

१. चेति पाठः । २. चेति पाठः । ३. सदानन्दमयस्यापीति पाठः ।
४. स्वत इति पाठः ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते' ॥ १० ॥
हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्वहर्निशम् ॥ ११ ॥
संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥
गुणेष्वविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारविरहकेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥
तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तद्ध्यसापि सिध्यति ॥ १४ ॥
भगवद्भर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥
एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कृषो हँरिवर्णने ।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥
हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पर्ष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥
श्रवणं कीर्तनं स्पर्ष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
पाथोर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पर्ष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥
नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भल्लभाचार्यचरणप्रकटितं निरोधलक्षणम्
समाप्तम् ।

१. तमिति पाठः । २. भूमि द्वादश योजयेदिति पाठः । ३. हरेः सुखस्पर्शादिति
पाठः । ४. उत्कर्षमिति पाठः । ५. गुणवर्णने इति पाठः । ६. स्वेष्टमिति पाठः ।
७. वाथोरिति पाठः । ८. शेषभागमिति पाठः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिसमेतम् ।

श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यामन्येषु च स्वग्रन्थेषु निरोधस्य निगद्यमानत्वात् तमाचक्षाणाः
तदवश्यंभावसूचकं मनोरथस्वरूपमाहुः ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

गोपिकानां त्वित्यन्तेन सर्वोत्कृष्टता खेष्टमता च सूचितेति ज्ञेयम् । स्यादिति
प्रार्थनायां लिङ् । क्वचिदिति दुर्लभत्वम् । तथा च बहिराविर्भूतो भगवान् मातृचरणादीनां
विरहानुभवजननार्थं यदा मथुरां गतस्तदा घट्टिरहात्मकं दुःखं समजनि तद्भवेदित्यर्थः ॥ १ ॥

विप्रयोगदशायां तादृशरसिकानुभवसाक्षिकान्तरसुखविषयकं मनोरथमाहुः ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

त्विति पूर्ववदेव । यद्यपि नास्त्यत्र संशयस्तथापीष्टमस्यार्थस्य सिद्धौ सन्देहा-
स्पदताया लोकेऽपि दुर्निवारत्वान् किमुत सर्वसाधनाप्राप्यस्याखिलप्रमाणागोचरस्येति
विभावनीयम् । ननु विहाय सर्वप्रसिद्धं संयोगसुखं कथमान्तरामिलाप इति चेत् । न ।
आन्तरस्य महाफलत्वादस्यामवस्थायामस्यैवोचितत्वादुत्कृष्टसंयोगसुखस्य च विजातीयवपुः-
साध्यत्वादितिदिक् ॥ २ ॥

अथ 'सर्वेन्द्रियसुखास्वादो यत्रास्तीत्यभिमन्यते । तत्प्राप्तीच्छां ससङ्कल्पामुत्कण्ठां
कवयो विदुः' रितिलक्षणलक्षितोत्कलिकाजनकोत्सवविषयकमाहुः ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

यदा भगवदुक्तं वाचिकभादायोद्धवः समागतस्तदा जातो यश्च वृन्दावने रास-
क्रीडायां भगवदन्तर्धानान्तरमाविर्भूते सति जातो यो वा गोकुले जात इत्यर्थः । सर्वेषामपि
प्रत्येकं विजातीयोत्कलिकाजनकत्वेन स्पृहणीयत्वात् सर्वविषयकं स इति ध्येयम् ॥ ३ ॥

अवान्तरभेदविशिष्टान्तरविषयकमाहुः ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

‘अस्मिन्मार्गे स्वामिन्य एव गुरव’ इतिश्रीप्रभुचरणोक्तिरनुसन्धेया । तथा च महत्पदवाच्यास्ता एवेति तादृशगुरूणामनुकम्पयेत्याशयः । सुखायेति । सुखजनकः स्यादित्यर्थः । सुखसमूहरूपो भगवान् यद्यल्लीलाविशिष्टः कीर्त्यते तत्तल्लीलासहितो हृद्या-विर्भूतः सन्नन्तरानन्दमनुभावयतीत्याशयः ॥ ४ ॥

इदानीं विजातीयकीर्तनविषयकं तमाहुः ।

महतां कृपया यद्भूत् कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

स्वामिनीनां कृपया हृदि स्फुरितस्य भगवतो यत्कीर्तनं तदेव सर्वदा मनसि सुखं स्यात्, न तु लौकिकानां विहितकीर्तनोपदेष्टृणां कृपयेत्यर्थः । एषां मर्यादास्थत्वेनोत्कृष्ट-पुष्टावप्रवेशात् । तत्कृपास्फुरितकीर्तनस्य विहितकीर्तनस्य च तारतम्येन सुखजनकत्वे दृष्टान्त-माहुः स्निग्धेति । रूक्षपदेन रूक्षभोजनम् । तथा च स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्येन सुखजनकत्वं यथा तथा तत्कीर्तनयोरपीतिभावः । एवञ्च महत्कृपया स्फुरितस्यैव कीर्तनं मे-हृदि सुखजनकं भवत्वित्थं मनोरथ इति ध्येयम् ॥ ५ ॥

ननु मर्यादामार्गीयविहितकीर्तनेपि अश्रुपुलकादीनां सत्त्वात् कथमत्रैवाग्रह इत्या-शंकाभासस्य समाधानमाहुः ।

गुणगाने सुखाचासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गोगोकुलपतेरनन्यगोकुलस्वामिन इति यावत् । गुणगाने क्रियमाणे यथा आनन्दो भवति तथा विरक्तानां ब्रह्मभावापन्नानां शुकादीनामपि आत्मनि न भवति, किमुतान्यत्रेत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं निरोधसाधनीभूतभावविषयकं निरोधावश्यंभावसूचकं मनोरथमुक्त्वेदानीं तादृशमनोरथविषयीभूते दुःखे जायमाने कदाचित् कृपया आन्तरं सुखमपि प्रयच्छति तदाहुः ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

भवेदिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्राप्यन्वेति । यदा कृपालुर्भवेत् तदा विरहदुःखा-नुभवितृहृदयस्थितं सदानन्दं भगवत्स्वरूपं सर्वं सर्वांशेन मायोद्घाटनेन अयोगोलके बह्वित् किञ्चित्कालं हृदय एव बहिराविर्भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु ‘शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ती’त्यादिमर्यादामार्गीय-श्रवणादिभिरप्यानन्दो भगवदाविर्भावश्च भवेतामेव तत्कोयमाग्रहो दुःखानुभव इत्याशंक्याहुः ।

सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

दृढतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः ह्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

क्लेशं विना कृपानन्दो नेत्याशयः । तर्हि गुणगानस्य किं फलमत आहुः दृढत इति । स्वगुणश्रवणेन कृपया पूर्णः सन् स्वरूपानन्देनापुतान् करोतीत्यर्थः । यथा बाह्य-रमणे रासक्रीडायां विरहानुभवानन्तरं ‘जयति तेधिकं जन्मने’त्यादिना कृते गुणगाने कृपया पूर्णः सन् स्वरूपानन्दं प्रायच्छत्, तथात्राप्यानन्तररमणे संकल्पप्रतिभातो भगवान् भजनानन्दस्य कञ्चन लेशं ददातीत्याशयः । ‘यद्यपि गतिस्मितप्रेक्षणे’त्यत्र गुणगानं नोक्त-मान्तररमणे, तथापि बाह्यरमणानन्तरमन्तर्धाने विनापि गुणगानं आन्तरमास्ताम्, परन्तु साधनदशायामेतच्छरीरावच्छिन्नात्मनीयमेव सरणिरिति ध्येयम् । ननु विकलत्वास्वास्थ्य-नाशकान्तररमणसम्पादनं भगवतो नोचितमिति चेत्, न । विप्रयोगस्यैवोद्बोधकमिदमा-न्तरमित्यधिकतरास्वास्थ्यविकलत्वयोजनकमेव । तथा चोक्तं श्रीमद्भजरत्नपृष्ठेन श्रीगोपी-जनवल्लभेन ‘यथाधनो लब्धधने प्रणष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेदे’ति । तथा च किञ्चित्कालिकोऽयमाविर्भावो निर्धनस्याल्पकालिकधनलाभ इव भक्तस्य सङ्कल्पप्रतिभाते भगवत्स्वरूपे संयोगसत्त्वादुलाभः । ततस्तदनवाप्तेरधिकतममस्वास्थ्यं विकलत्वं च भवतीति ध्येयम् ॥ ८ ॥

एवं कृपोद्रेकजनकगुणगानमावश्यकमित्याहुः ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गैयाः सच्चिदानन्दता स्वतः ॥ ९ ॥

निरुद्धैः पुष्टिमार्गीयैः सदानन्दपरैः श्रीकृष्णमात्रनिष्ठान्तःकरणैः एवंकृतौ स्वतोऽनभिलषितापि सच्चिदानन्दता स्फुरतीत्यर्थः । तथा च गुणगानं तु कृपोद्रेक-जननार्थमेवेयं तु स्वत एव भवतीति भावः ॥ ९ ॥

नन्वीदृशालौकिकप्रकारे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य स्वानुभवमेव प्रमाणमाहुः ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम् ॥ १० ॥

निरुद्धः पुष्टिमार्गीयोऽहं रोधेन भजनानन्दातिरिक्तयावत्फलेभ्यो निवृत्त्या निरोध-पदवीं निरोधाधिकरणतां प्राप्तः सन् निरुद्धानां पुष्टिमार्गीयाणां रोधाय रोधसिद्धौ यदधिकरणतामहं प्राप्तस्तं निरोधं कथयामीत्यर्थः । ते इति पाठे कमपि वक्ष्यमाणशङ्का-वन्तमभिमुखीकृत्य ते तुभ्यं कथयामीत्यन्वयः ।

ननु निरोधस्य भगवताप्रे सम्पादयिष्यमाणत्वाद्भिरुद्धानामिति वचः कथं सङ्गच्छत इति चेत्, न । भगवतो विषयाव्यभिचारिण्यामेवंविधस्वरूपानन्ददित्सायां सम्प्रदानत्वेन विषयीभूते पुष्टिजीवे सिद्धवत्कारेण निरुद्धपदप्रयोगे न काचिदप्यनुपपत्तिरिति ध्येयम् । ननु कोयं रोधः, को वा निरोध इति चेत्, उच्यते । लोकेवेदसमाधिभाषाप्रसिद्धपुत्रादिपुरुषोत्तमसायुज्यान्तयावत्फलेभ्यो निवृत्ती रोधः, रोधपूर्विकात्मोपाधिकप्रियत्वा-निबन्धना भगवन्मात्रोपाधिकप्रियत्वनिबन्धना भगवत्परता निरोधः । रोधे भजनानन्दातिरिक्तयावत्फलनिरपेक्षता, निरोधे तु स्वात्मनोपि निरपेक्षता, यतो भगवान् स्वार्थं न प्रियः, किन्तु स्वात्मापि भगवदर्थमेव प्रियो, भगवानपि भगवत्त्वेनैवेत्ययमेव नितरां रोधो यस्वात्मनोपि निवृत्तिः । तथा च रोधनिरोधयोरयं भेदः । इत्थं च 'न वा रे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवती'ति श्रुतेः सर्वत्रात्मोपाधिकमेव प्रियत्वम्, तन्निबन्धनैव च प्रवृत्तिः, अत्र तु स्वात्मनो भगवतश्च प्रियत्वे भगवानेवोपाधि-रिति भगवन्मात्रोपाधिनिबन्धनैव भगवद्विषयिणी प्रवृत्तिर्भजनानन्ददित्साविषयीभूते जीवे पूर्वं रोधं सम्पाद्य भगवता निरोधः सम्पाद्यत इति भावः । ननु निरोधो भगवतः क्रीडा, तत्कथमिदं लक्षणमिति चेत्, न । रोधनिरोधयोः सम्पादनमपि भगवतो विशिष्टक्रीडायामेव निविशते, न त्वतिरिच्यत इति दिक् । तर्हि रोधस्य भगवदेकसम्पाद्यत्वे रोधसिद्ध्यर्थं श्रीमदाचार्यकर्तृकं निरोधवर्णनं कुत्रोपयुज्यत इति चेत्, न । 'नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिन'मित्युक्ते 'निरोधपदवीं गत' इत्युक्तेश्चानवरतमन्तःकरणे श्रीमद्वोपी-जनवल्लभो भगवान् रममाणस्तिष्ठति । तथा चान्तःकरणस्थो भगवानेवाचार्याणामानन-सरोजेन पुष्टिजीवानामुक्तलक्षणकरोधसिद्ध्यर्थं निरोधं वर्णयामीति वदतीति ध्येयम् । उक्तश्चेत्वंभूतोर्थः श्रीमदाचार्यचरणैर्दशमस्कन्धस्य प्रथमाध्याय'स्थैतन्निशम्य भृगुनन्दन सायुवादम् । वैयासकिः सभगवानथ विष्णुरात'मित्यस्य श्लोकस्य विवरणे 'भगवता सहितः तदन्तःस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छती'त्यनेन सभगवानितिपदव्याख्यानेन 'वाण्या यदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हे'ति सर्वोत्तमे श्रीमत्प्रभुचरणोक्तेर्भगवन्मुखारविन्दमेव श्रीमदाचार्या इति तदीयैरविरतमाकलनीयमिति दिक् । इत्थं च भगवानेव निरोधवर्णनेन निरोधस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन ज्ञानमुत्पाद्योक्तफलेभ्यो निवर्तयतीति भगवत्सम्पाद्यत्वं रोधस्येति सर्वं सुखम् । वस्तुतस्तु यदत्र साधनं यच्च फलं तत्सर्वं वरपैकलभ्यत्वाद्भगवदेकसाध्य-मन्वेति किमेभिरसत्कर्त्तरिति भाग्यवद्विर्विभावनीयम् । निरुद्धानां त्विति तुशब्दादन्यार्थं न वर्णयामीति भावः ॥ १० ॥

ननु कुतः सर्वार्थं न निरूप्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः ।

हरिणा ये त्रिनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्वहर्निशम् ॥ ११ ॥

सर्वदुःखहर्त्रापि येऽन्यविषयेभ्यो विमोच्य स्वस्वरूपलिप्सवो न कृतास्तेषां मन्द-भाग्यानामर्थे कथं निरूपणीयमिति भावः । यद्यपि तेषां मार्गान्तरेण यत्किञ्चिदपि फलं जायताम्, तथाप्येतदतिरिक्तफलेषु सामान्यबुद्धिरेव श्रीमदाचार्यचरणानामत एव भवसागरे मग्ना इत्युचिरेतराम् । श्रीमद्भागवतेपि 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इति ॥ ११ ॥

भावनासाधनीभूतां साधनतापन्ननिरोधपदवाच्यां भावनामाहुः ।

संसारवेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

रूपरसादितन्मात्रासु पर्यवसन्नत्वाद् दुष्टानां चक्षूरसनादिज्ञानेन्द्रियाणां नि-
षिद्धानानाक्रियाजनकानां कर्मेन्द्रियाणां तत्तद्दोषनिरसनपूर्वकं तत्तत्फलसिद्ध्यै सदानन्दस्य सर्वान् रूपादीन् पदार्थान् तत्तदिन्द्रिययोग्यान् योजयेदित्यर्थः । नन्वनवरतमन्तरङ्ग-
भक्तैर्भज्यमानस्य भगवतस्तत्र तत्रोपयुक्ताः सर्वे पदार्थाः कथं योजयितुं शक्या इत्या-
शङ्कयामाहुः भूम्न इति । ईशस्य सर्वसमर्थस्य भूम्नः बहुत्वात् । तथा च युगपद-
नेकेषु स्थलेषु मायोद्घाटनेनाविर्भवति भगवति सर्वमुपपद्यत इति भावः । योजनप्रकारस्त्वप्रे
वक्ष्यते ॥ १२ ॥

ननु मनोमात्रयोजनेन निःप्रत्यूहं ब्रह्मरूपं रूपरसादिविषयवैराग्य-
जनकमविदितदुःखं विहाय कथमेवंविधप्रकारे प्रवृत्तिर्जायतेति शङ्कानिरासाय ज्ञानमार्गे
यत्परमफलं तदत्र गुणवर्णकस्य निषिडान्छन्ननौक्या गच्छतोऽनाशास्यमानशीतसदाग-
तिस्पर्श इव मध्येमार्गमिदमवान्तरं फलमित्याहुः ।

गुणेष्वविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।

संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥

संसारस्य विरहो लौकिकविषयवियोगजन्यं दुःखं क्लेशो रोगादिजन्यो
द्वावपि न भवेतामित्यर्थः । न हि क्षारं कूपपानीयं पिबतः पामरस्यापि पानकपानसम्पत्तौ
तादृशकूपपानीयविरहो दृष्टः श्रुतो वा । एवं प्रकृतेप्यवसानविरसान् नश्वररूपादीन् भुञ्जानस्य
स्वरूपानन्दानुभवसम्पत्तौ न संसारविरह इति भावः । हरिवदिति । स्वरूपानन्दो यो
भगवतानुभूयते स एवानेनेति भावः ॥ १३ ॥

ननु गुणमात्रनिष्ठया कुत एवं करोतीत्याशङ्कयामाहुः ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तद्ध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

यदि गुणमात्रनिष्ठयैव न कुर्यात्तदा क्रूरता मता । दयालुत्वं न स्यात् । तथा च

निसर्गदयालु भगवत्स्वरूपं कथमन्यथा भवेदित्यन्यथा क्रूरतेत्यस्यार्थः । इत्थं च सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिरित्युक्तिरुक्तेति भावः । एवं ज्ञानमार्गोपास्येऽव्यक्ते मनो-योजनेन यत्फलं जायते तदत्र गुणमात्रे मनोयोजनेनेति ध्येयम् । निःप्रत्यूहमित्यत्राहुः बाधेति । देशकालादिसापेक्षसाधनसाध्यफले हि कालादिकृतप्रतिबन्धशङ्का स्यादयं तु भगवदनुग्रहातिरिक्तसर्वसाधनरहित इति न तच्छङ्केति भावः । ब्रह्मेत्यत्राहुः तदिति । तदध्यासोऽक्षरात्मता । यद्यपि नेयमिष्टा तथापि गुणगानेन संसारावेशनाशे सति स्वस्वरूपस्फूर्तिरनाशास्यमानापि निसर्गादेव जायते, यतो जीवस्य मूलमक्षरं ब्रह्मेति ध्येयम् । तथा चोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्या विवृतौ ब्रह्मबोधनमित्यस्य व्याख्यायां तथापि वस्तुस्रभावाद्भवति इति ॥ १४ ॥

रूपेत्यत्राहुः ।

भगवद्भर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शात्तु दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

ज्ञानमार्गं 'मात्रास्पर्शास्त्वि'तिवाक्येन यत्पूर्वकमनित्यत्वादिभात्रनेन बलान्निर्वेदः, अतोऽस्थिरश्च भवति, प्रकृते तु तन्मनस्कत्वादिसिद्धज्ञानवरतमानन्दमात्रकरपादसुखो-दरत्वादिभगवद्भर्मस्फूर्त्या सर्वत्र मनश्चक्षुरादीनां रागात् प्रवृत्तेः कदर्थेषु विषयेषु जायमानो विरागः स्थिर एव भवतीत्यर्थः । अचिदित्येत्यत्राहुः गुणैरिति । सर्वदुःखहर्तु-र्यत्सुखं तस्य स्पर्शादीषत्सम्बन्धमात्रादित्यर्थः । तथा च सर्वांशेन तदनुभवस्य भगवतो विजातीयवपुःसम्पादनेन करिष्यमाणत्वादत्र स्पर्शमात्रमेवोक्तमिति ध्येयम् ॥ १५ ॥

उपसंहरन्ति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो हरिवर्णने ।

अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

उत्कर्षो गुणेति पाठे ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने उत्कर्षोऽस्ति एवं ज्ञात्वेत्यन्वयः । अमत्सरैरिति । एतन्मार्गीयभगवद्भक्त्येषु द्वेषरहितैस्तेषामनवरतमेतद्भाववेशेन भावात्मक-भगवदात्मकत्वात् स द्वेषो भगवत्पर्यवसायी भवतीत्याशयः । अलुब्धैरिति । स्वस्यैवं-विधभगवदीयत्वल्यापनेनोदरदरीमपूरयद्भिरित्यर्थः ॥ १६ ॥

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमिन्द्रिययोजनप्रकारमाहुः ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं स्नेहं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।

पायोर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

मुख्यं तु विजातीयवपुःसाध्यमिति तदसम्भवात् सङ्कल्पादपि दर्शनादि सर्वे भावयेदित्यर्थः । अत्रा'क्षणवतां फल'मित्येतद्व्याख्यायां 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च । आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः ॥ अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा । तत्कूजितानां श्रवणमाश्राणं चापि सर्वतः ॥ तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदे'त्येतत्सर्वमलुब्धसन्धेयम् । स्पर्शनं स्पष्टमिति पाठे अत्रैव लोके प्रकटमाधि-दैविकमुत्तमं 'कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुंक्ते न चापर' इत्यनुसन्धेयम् । पुत्र इति । सङ्कल्पाज्जातत्वात् सङ्कल्पस्य पुत्रे कामे इत्यर्थः । अत एव 'भगवानपी'तिश्लोकविवरणे 'कामपितामहं मन उत्पादितवा'नित्यनेन कामपितामहत्वमुक्तं मनस इति ध्येयम् । नन्वत्र काम आपामरप्रसिद्धो ग्राह्योऽन्यो वेत्याशङ्कयामाहुः कृष्ण इति । अलौकिक इत्यर्थः । उक्तं 'चात्मारामोऽप्यरीरम'दित्येतद्व्याख्यायां 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यत' इति श्रीमदाचार्यचरणैरिति ध्येयम् । रतिरिति । अलौकिकं तमुद्भाव्य स्पर्श-विशेषो भावनीय इत्यर्थः । नन्विन्द्रियेषु पायोरपि सत्त्वात् तस्य का गतिरित्याशङ्कयामा-हुः पायोरिति । मलांशत्यागमात्रैकप्रयोजनकस्योपरोधजदुःखनिवर्तकस्य सुखाजन-कस्यास्य शेषभावं गौणत्वं प्रापयेदित्यर्थः । तथा चाकिञ्चित्करत्वाद्ध्यर्थमेवेति भावः । चायुमिति पाठे अजामरण्यं नयतीतिवत् स्पष्ट एवान्वयः ॥ १७ ॥ १८ ॥

तर्हि स्त्रीपुमवयवविशेषयोः का गतिरित्याशङ्कयामाहुः ।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

विनिग्रहस्तिरस्कारोऽवगणनेति यावत् । तथा च यथास्थ्यादीनि मलानि च तथानुपयोगात् पुमवयवविशेष इति तस्य निग्रह इति भावः । वेति विकल्पादेकस्यास्तूप-योग इति ध्येयम् ॥ १९ ॥

एवं निरोधमुक्त्वा स्वानुपदिशन्ति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मन्त्रो मननीयो नितरां गोपनीयश्च । स्तवो भगवत्प्रसादहेतुः । विद्या काम्य-मानयावदर्थसाधनम् । तीर्थं प्रतिबन्धकीभूतदुरितनिचयनिरसनपूर्वकं तत्रासिसम्पादक-भागधेयोद्बोधकमित्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्रीविह्वलेश्वरप्रभुचरणात्मजश्रीघनश्यामतनयश्रीगोपेशगोस्वामि-विरचिता निरोधलक्षणविवृतिः समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम् ।

देवासु प्रार्थितं मह्यमनुरूपफलद्वयम् ।

व्यासेन च समासेन फलत्रययुता स्वयम् ॥ १ ॥

निरोधलक्षणमिति ग्रन्थनाम । निरोधस्य लक्षणं लक्ष्यत अनेन तादृशमिति करण-
व्युत्पत्तिरत्र । तथा च लक्षणनिरूपणेन निरोधज्ञापकमित्यर्थः । तत्र लक्षणं द्विविधम्,
स्वरूपलक्षणं कार्यलक्षणं चेति । तत्र स्वरूपलक्षणं यथा 'सत्त्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति ।
कार्यलक्षणं यथा 'जन्माद्यस्य यत' इति । तत्र स्वरूपलक्षणं दशमस्कन्धे बहुधा निरू-
पितमिति कार्यलक्षणान्यत्रोच्यन्ते यच्चेत्यादिना ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

नन्दादीनां चेत्यत्रादिपदेन उपनन्दादयः । चकारेण अन्तरङ्गगोपाः । तथा च
यशोदाया नन्दस्य उपनन्दादीनामन्तरङ्गगोपानां च यद्दुःखं येन पूर्वोक्तत्रयाणां दिवा
वनगमने भगवच्चिन्तनमन्तरङ्गगोपानां च रात्रौ गुणगानं तद्दुःखम् । चकारात् पूर्वोक्तानां
चतुर्णां सुखं लीलानुभवरूपं निरोधलक्षणं भगवदासक्तिर्कार्यमित्यर्थः । गोपकृतगुण-
गानस्यासक्तिर्कार्यत्वमष्टादशाध्यायकारिकासु स्फुटम् । अन्येषु लक्षणेष्वन्यस्थानधिकारात्
स्वपरत्वेनैव तानि निरूपयन्ति गोपिकानां त्विति । 'निन्युर्दुःखेन वासरा'नित्यत्रोक्तं
दुःखं च निरोधकार्यम् । इदं तु क्वचिन्मम स्यात्, अन्यस्य तु सर्वथा दुर्लभमेवेत्यर्थः ।
अन्यव्यावृत्तये तुशब्दः । चकारपक्षे इदमपि दुःखं निरोधकार्यमिति समुच्चयः ॥ १ ॥

सुखरूपं निरोधलक्षणमाहुः गोकुले इति ।

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

गोपिकानां चकारेण अन्तर्गृहगतानां यत्सुखं पूर्वदलानुभवरूपम् । सर्वब्रज-
वासिपदेन अन्तरङ्गदास्य उच्यन्ते । पुलिङ्गपदं परोक्षवादाय । तेषां च यत्सुखमत्यन्त-

श्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम् ।

९

रङ्गलीलादर्शनरूपं समभूत् तदपि निरोधलक्षणम् । अन्यस्यायोग्यमतो भगवान् मे किं
विधास्यतीत्याशंसेत्यर्थः । अत एव अष्टकान्ते विठ्ठलपदाभिधेये मय्येवेत्येवकार उक्तः ॥२॥

आत्यन्तिकविरहानुभवरूपं मुख्यं लक्षणमाहुः उद्धवागमनेति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

उत्सव आत्यन्तिकविरहानुभवरूपः । एतस्य मुख्यफलत्वसिद्धान्तात् सुमहा-
नित्युक्तम् । अयमुत्सवो गोपिकानां नन्दादीनां च भ्रमरगीतप्रसङ्गे अध्यायद्वयेनोक्त इति
वृन्दावने गोकुले वेत्युक्तम् । अत्र अन्यस्थानधिकार इति मे मनसि स्यादिति उक्तम् ।
दुर्लभत्वख्यापनाय क्वचिदिति । एतेषु स्वाशंसाकथनेन पूर्व 'यच्च' इत्यर्थेनोक्ते दुःखसुखे
अन्येनापि भक्तेन मयि स्यादिति आशास्य इति सूचितम् । तथा च यशोदाया नन्दस्योप-
नन्दादीनामन्तरङ्गगोपानां च दुःखसुखानि निरोधलक्षणानि भक्तेन स्वपरत्वेनाशास्यानि ।
गोपिकानां दुःखसुखे, अन्तरङ्गगोपीनां अन्तर्गृहगतानामन्तरङ्गदासीनां सुखम्, सर्वेषा-
मात्यन्तिकविरहानुभवश्च । इमानि निरोधलक्षणानि स्वरूपतो ज्ञेयानि, न तु स्वपरत्वे-
नाशास्यानि, तत्रानधिकारादित्युक्तम् । भगवान् कृपया सम्पादयेच्चेदस्तु, स्वयं नाशास्या-
नीत्यर्थः ॥ ३ ॥

स्वपरत्वेन आशास्यस्य पूर्वोक्तस्यापि फलस्य दुर्लभत्वेन चिरकालसाध्यत्वात्
तत्सिद्धिपर्यन्तं क्लेशभावावावान्तरं निरोधफलमाहुः महतामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दधयिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

महतामत्रत्यगुरूणां स्वामिनीनां कृपया भगवान् यावद्दधयिष्यति
पूर्वश्लोकार्थोक्तं फलं सम्पादयिष्यति तावत् कीर्त्यमान आनन्दसन्दोहो भगवान्
सुखाय भवति । गुणगानजं सुखं निरोधस्यावान्तरफलमित्यर्थः ॥ ४ ॥

मुख्यफलस्य स्वामिनीकृपासाध्यत्वमुक्त्वा अवान्तरफलमप्यत्र तत्कृपासाध्यमेव
ज्ञेयमित्याहुः महतामिति ।

महतां कृपया यद्ब्रत्कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

लौकिकानां लोके प्रसिद्धानां नारदशुकादीनां कृपया जातं कीर्तनम्, तथा
स्वामिनीकृपया सज्जातकीर्तनप्रकारकसुखदं नेत्यर्थः । तत्र हेतुं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्ति स्निग्धे-
ति । स्निग्धभोजनं रूक्षभोजनं च तद्ददित्यर्थः । स्वामिनीकृपया अन्तर्भगवत्प्राकट्यात्

कीर्तनस्य स्निग्धभोजनतुल्यत्वम् । अन्यत्र तु मानस्या मूर्तेः कल्पितत्वेन वस्तुतः प्राकट्या-
भावात् कीर्तनस्य रूक्षभोजनतुल्यत्वम् । महतामित्यस्य कीर्त्यमानेनाप्यन्वयः । तत्कृतं
कीर्तनं न त्वन्येनोपनिबद्धमित्यर्थः । मुख्यफलप्राप्तिपर्यन्तं गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम् ॥५॥

तत्र कर्मणापि तावत्पर्यन्तं क्रममुक्तिप्रकारेण स्वर्गादिसुखावासिसिद्धौ किमर्थं
गुणगानाग्रह इत्याशङ्क्याहुः गुणगाने इति ।

गुणगाने सुखावासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गुणगाने यत्प्रकारिका सुखावास्तिस्तत्प्रकारिका सुखावास्तिः
शुकादीनां सिद्धज्ञानानां तत्रापि आत्मनि आत्मविचारदशायामपि न जायते,
तर्हि अन्यतः कर्मभ्यः कुतः स्यादित्यर्थः । अत एव 'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य' इत्यादि
वाक्यानि ॥ ६ ॥

तत्कृतकीर्तने विशेषमाहुः क्लिश्यमानानितिद्वयेन ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्यं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः ग्लायते जनान् ॥ ८ ॥

सदानन्दं सद्रूप आनन्दो यस्मिन् तादृशं स्वरूपं क्लिश्यमानान् जनान्
दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत् तदा बहिर्निर्गतं भवति, स कृपानन्दस्तु सुदुर्लभः ।
कर्मणा ज्ञानेन वा न भवति, किन्तु क्लेशेनैव भवति, अतस्तथेत्यर्थः । सदानन्दस्य बहिर्नि-
र्गमनं विवृण्वन्ति हृद्गत इति । तत्तद्दृष्ट्यो भगवान् स्वगुणान् अन्योऽन्यं वर्णितान्
श्रुत्वा पूर्णो भवति । इदं द्वात्रिंशाध्यायकारिकायां स्फुटम् । स्वयं पूर्णः सन् जनान्
ग्लायते, स्वरूपानन्दे निमग्नान् करोति, तेषामन्तर्बहिः स्वरूपानन्दं प्रकटीकरोति । इदं
सदानन्दस्य बहिर्निर्गमनमित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

स्पष्टीकर्तुमुपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गैः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥

सर्वं कर्मज्ञानादिप्रयासं परित्यज्य निरुद्धैर्भक्तैः सह सदानन्दपरैः कर्तृभिः
गुणा गेयाः । एतस्य फलस्य अवान्तरत्वं साधयन्ति सच्चिदानन्दतेति । ततो गुणगानात्
सच्चिदानन्दता भवति, अलौकिकशरीरप्राप्त्या परमफले स्वरूपयोग्यता भवतीत्यर्थः ।
स्वत इति पाठे गुणगानस्वभावादेव भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु यैः सह गुणा गेयास्ते निरुद्धाः कथं ज्ञेया इत्याशङ्क्य तदभिज्ञापकं कथया-
मीत्याहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

रोधेन निरोधपूर्वावस्थापन्नेन भावविशेषेण अहं निरुद्धः निरोधस्य पदवीं मार्गं
पूर्वोक्तमुख्यफलपर्यन्तं गतः प्राप्तः । अतो गोपिकानां त्वित्यादिनोक्तफले इव अभि-
ज्ञापककथने मम न प्रयोजनम्, किन्तु अन्यार्थं कथयामीत्याशयेन कञ्चित्सेवकमभिमुखी-
कृत्याहुः ते इति । तव निरुद्धानां सम्बन्धि यो रोधस्तदर्थं त्वयि तादृशभावसिद्ध्यर्थ-
मित्यर्थः । निरोधं वर्णयामि अभिज्ञापककथनेन कथयामीत्यर्थः ॥ १० ॥

विविच्य कथनाय व्यावर्त्यानामपि अभिज्ञापकमाहुः ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

सर्वदुःखहर्त्रापि ये विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मग्ना इति व्यावर्त्यानामभि-
ज्ञापकमुक्तम् । निरुद्धानामभिज्ञापकमाहुः ये इति । अत्र गुणगानादौ इत्यर्थः । यथा सर्वज्ञ-
त्वमलौकिकं तेजश्च ज्ञाने निदर्शनम्, तथा गुणगानादौ मोदो निरोधे निदर्शनम् । एवं
निदर्शनेन निरुद्धान् ज्ञात्वा तैः सह गुणगानं 'यच्च' इत्यर्थेनोक्तफलसिद्धिपर्यन्तं कर्तव्यम् ।
फलप्राप्त्यनन्तरं तु तत्स्वभावप्राप्तमेव सर्वं भविष्यतीति न तत्र कथनापेक्षेति भावः ॥१३॥

ननु परमदयालुर्भगवान् कथं कांश्चिज्जीवान् मुञ्चति येन ते भवसागरे मग्ना
भवन्तीत्याशङ्क्य धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धमेतदिति आहुः गुणेष्वितिसाधेन ।

गुणेष्वविष्टचित्तानां सर्वदा मुरचैरिणः ।

संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १२ ॥

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।

समाधानं तु निबन्धे 'आत्मसृष्टेर्न वैषम्य'मित्यनेनोक्तमत्र ज्ञेयम् । येन संसारक्लेशो
भगवद्विरहक्लेशश्च निवर्तते, हरेरिव सुखं च भवति, तादृशगुणावेशो यदा भवति तदा
भगवतो दयालुत्वं भवेत् । एतावत्फलपर्यन्तं प्राप्ता भक्तिमार्गीया एव भवन्तीति
भक्तिमार्गीयेषु दयालुत्वं भवतीत्यर्थः । अन्यथा भक्तिमार्गीयत्वाभावे भगवतः क्रूरता तेषां
मोचनम्, येन ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्यर्थः । कर्ममार्गे पुनरावृत्तिकथनात् संसारे
मज्जनम् । ज्ञानमार्गेपि 'ज्ञानिनामपि चेतांसी'ति वाक्यात् तथा । इदं निबन्धे द्वितीय-
प्रकरणान्ते व्यवस्थापितम् । इदं सर्वं प्रमाणसिद्धमेवेति मन्तेत्युक्तम् ॥ १२ ॥

ननु ज्ञानमार्गे मायेव अत्रापि कश्चिद्बाधेतेत्याशङ्क्याहुः ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १३ ॥

अत्र बाधसम्भावनापि नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुः तदध्यासोपीति । माया हि संसारे अध्याससम्पादनेन मज्जयति, अत्र तु भगवदीयत्वेनैव अध्यासो भवतीत्यर्थः । गृहं सर्वात्मना त्याज्यमिति त्यागपक्षसमुच्चयाय अपिशब्दः ॥ १३ ॥

गुणावेशेन उभयक्लेशाभावे हेतुमाहुः ।

भगवद्द्रुमसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शाच्च दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १४ ॥

गीयमाना ये भगवद्द्रुमस्तत्सामर्थ्यात् विषयवैराग्यं भवति, तेन संसारक्लेशाभावः । गुणैः हरिसुखस्पर्शाद्विरहक्लेशाभाव इत्यर्थः ॥ १४ ॥

मार्गान्तरेभ्य उत्कर्षं स्फुटं कर्तुमुपसंहरन्ति एवमिति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने ।

अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १५ ॥

ननु 'पराञ्चि खा'नीतिवाक्यादिन्द्रियाणामन्यपरत्वस्य साहजिकत्वात् तैः सर्वदा विषयभोगे गुणगानं कथं भविष्यतीत्याशङ्क्य तदुपायमाहुः ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १६ ॥

एतेषां हिताय भगवत्परतासिद्धये कृष्णस्येशस्य वस्तूनि एतैः सह योजयेत् । प्रपञ्चे ब्रह्मभावनां कुर्यादितिसिद्धान्तमुक्त्वावल्युक्तोर्थोनुसन्धातव्यः । भूम्नेति चतुर्थी । भूमा सर्वात्मभावस्तदर्थमित्यर्थः । भगवदीयैरेव वस्तुभिः सर्वव्यवहारसिद्धौ सर्वोप्यात्मनो भावो भगवति सिद्धो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

भगवदीयवस्तूनामिन्द्रियैः सह योजनेन सिद्धं भूमानं विवृण्वन्ति हरिसूर्तिरिति ।

हरिसूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं स्वेष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।

पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

आद्यचरणेन मनसो भाव उक्तः । इन्द्रियाणामाहुः सङ्कल्पादपीति । दर्शनस्पर्शन-
कृतिगतिश्रवणकीर्तनानि चक्षुस्त्वक्पाणिपादश्रोत्रवाक्कार्याणि सङ्कल्पादपि तत्र भगव-
त्येव सम्पादनीयानि । भगवद्विषयकाण्येव दर्शनादीनि सङ्कल्पनीयानि, न तु विषयविषय-
काणीत्यर्थः । मुख्यतस्तु भगवद्विषयकाणि तानि कर्तव्यानि । तदसम्भवे सङ्कल्पमात्रमपि
कर्तव्यमिति सङ्कल्पस्य ततो गौणत्वसूचनाय अपिशब्दः । भगवद्द्रुमसामर्थ्यसिद्धवैराग्य-
स्वरूपं तेन साध्यं फलं च वदन्तः पायोर्विनियोगमाहुः पुत्रेति । कृष्णप्रिये पुत्रे रतिः
कर्त्री, पायोर्मलत्याजेन्द्रियाद्धेतोर्मलांशस्य प्राकृतभावस्य त्यागेन शेषभागं अलौकिकत्वं
तनौ नयेत् प्रापयेदित्यन्वयः । मलत्यागस्य पायुकार्यत्वात् पायुग्रहणम् । अत एवा'सिद्धक्षोः
पुरः पुर्यां नाभिद्वारमपानत' इति देहत्यागस्य अपानकार्यत्वमुक्तम् । अपानं इन्द्रियमिति
उक्तेरपानं पायुश्चेत्येकमेव । कृष्णप्रिय इति । भगवदीयेषु रागो अन्यत्र विराग इति
लक्षणं वैराग्यस्वरूपमुक्तम् । कृष्णः प्रियो यस्य तादृशे भगवदीये । तथा च भगवदी-
यत्वेन राग इत्यर्थः । पुत्रपदमुपलक्षणम् । भार्यादिष्वप्येवम् । 'नापुत्रस्य लोकोस्ती'त्यादि-
वाक्यैः पुत्रे रागस्य प्रमाणसिद्धत्वेन कर्तव्यत्वशङ्कया पुत्रपदम् । अन्यत्र आत्मन एव
निरुपविस्नेहविषयत्वात् पुत्रस्य च 'आत्मा वै पुत्रनामासी'त्यादिवाक्यैरात्मत्वकथनात्
तत्र राग उक्तः । अत्र तु भगवत एव निरुपविस्नेहविषयत्वाद्भगवदीये एव रागोन्यत्र
विराग इति भावः । मलं द्विविधम्, प्रतिजन्मनि जायमानं देहरूपमेकम्, प्रत्यहं जायमा-
नमपरम्, उभयविधमलनिवृत्तेः पायुकार्यत्वादेककथने द्वितीयमप्युक्तं जातमिति ज्ञेयम् ।
व्राणरसनोपस्थानां विनियोगमाहुः यस्य वेति । अन्येषां भगवति विनियोगसङ्कल्पो विषय-
भोगसङ्कल्पनिग्रहश्चोक्तः । एतेषामधुना भगवति विनियोगसङ्कल्पासम्भवात् निग्रहमात्रं
कर्तव्यम् । एतैर्विषयभोगो न सङ्कल्पनीय इत्यर्थः । वाशब्दोऽनादरे । यस्य एव इन्द्रियस्य
कार्यं भगवत्सम्बन्धि यदा यस्मिन् काले स्पष्टं न दृश्यते तदा तस्मिन् काले तस्ये-
न्द्रियस्य विनिग्रहः कर्तव्यः । तदिन्द्रियं विषयान्तरे न प्रवर्तनीयम्, पतिव्रतावचूर्णी
स्थेयमित्यर्थः ॥ १७, १८, १९, २० ॥

स्त्रीषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः ।

वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात् ॥ १ ॥

इति श्रीविद्वल्लेशात्मजश्रीवल्लभकृता निरोधलक्षणविवृतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीहरिरायकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम् ।

नमामि श्रीमदाचार्याननल्पकरुणायुतान् । निरोधफलदानाय प्रभुणा प्रकटीकृतान् ॥ १ ॥
यदीयचरणाम्भोजं वरणं मूर्तिमत्प्रभोः । तत्कृपातः करिष्येहं निरोधविवृतिं मुदा ॥ २ ॥
तदाविर्भावितश्रीमत्प्रभुसेवारसात्मकः । अस्मत्प्रभुः कृपयतु प्रियः श्रीविठ्ठलेश्वरः ॥ ३ ॥
वन्दे पितृपदाम्भोजं श्रीमदाचार्यसंश्रितः । यतोऽहमभवं सर्वसाधनाभाववानपि ॥ ४ ॥

अथोपोद्घाततया इदं विचार्यते, को निरोधः? किञ्च तस्य कारणम्? कथं वा तस्य फलत्वमिति । तत्रोच्यते । प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिनिरोध इति । न च आसक्तिमात्रं स इति वाच्यम् । विषयासक्तौ व्यभिचारात् । न च तत्र प्रपञ्चविस्मृतिः, किन्तु विशेषतः तदभिनिवेश एव । न चासक्तिविषयातिरिक्तप्रपञ्चविस्मृतेरुभयसाधारण्येन अतिव्याप्तिरिति वाच्यम् । प्रपञ्चशब्दस्य तत्सामान्याभिप्रायत्वात् । न च लौकिकासक्तिविषयो न प्रपञ्चः इति वाच्यम्, तद्रूपस्य तादृशशक्त्यैवोत्पादकत्वात् । न च प्रपञ्चमात्रास्मरण आसक्तेर्निर्विषयत्वापात इति वाच्यम् । प्रपञ्चातीतस्य तद्विषयत्वात् । न च तद्विषयस्य तदतीतत्वे प्रापञ्चिकजीवासक्तिविषयत्वं न स्यादिति वाच्यम् । योगजधर्मप्रत्यासत्त्या अतीन्द्रियार्थस्य इव भक्त्या प्रपञ्चातीतस्य विषयत्वोपपत्तेः । किञ्च, श्रुतानुरागस्थले लोकेऽपि अतीन्द्रियार्थस्य तद्विषयत्वमस्ति एव । अत एव कल्पतरुकावधेन्वादिमाहात्म्यश्रवणेन दृश्यते अखिलानां लोकानामभिलाषः । वस्तुतस्तु प्रपञ्चातीतस्य अपि ऐन्द्रियकत्वमेव, चक्षुरवेद्यत्वेऽपि श्रवणवेद्यत्वात् । 'कश्चिद् धीर' इति श्रुतेर्दिव्यं ददामि ते चक्षुः' 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' 'पश्यन्ति ते मे' 'त एव पश्यन्ति' इत्यादि-स्मृतिभ्यश्च विशिष्टचक्षुर्वेद्यत्वाच्च । ननु लक्षणे प्रपञ्चत्याग एव कुतो न निरोधविशेषण-तयोच्यत इति चेत् । न । तस्य ज्ञानमार्गीयमोक्षसाधनत्वेन अत्र अनुपयोगात् । अत्र तु भजनान्यथानुपपत्त्या ममतापरावर्तनस्यैव त्यागपदार्थत्वेन तस्य तद्विस्मृतिमात्रपर्यवसितत्वात् । अत एव 'त्वन्माययात्मात्मजदारोगेहेष्वासक्तचित्तस्य' इति वृत्रवचः । उक्तं च प्रभुभिः श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'ब्रह्मभावात् तु भक्तानां गृहमेव विशिष्यत' इति । तस्मात् तद्विस्मृतिमात्रमेवात्र मृग्यमिति । अत एव भरताचार्योप्याह तद्विषयं 'या तु व्यसन-सम्प्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यत' इति । व्यसनं च प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका आसक्तिरेव । अत

एव क्षणमपि तत्र तेन विना श्यातुमशक्तिः । अंशतोप्यन्यस्मरणे क्षणं तेन निर्वाहात् । अत एव प्रोचुः परमदुर्लभत्वमेव वदन्तः श्रीमदाचार्याः भक्तिवर्धिन्यां 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि' इति । विशेषेण असनं क्षेपणं सर्वस्य यस्मादितिच्युत्प-त्यापि तस्य भावस्य प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वमेव सिध्यति ।

स च निरोधो द्विविधः । भागवतोऽन्यश्च । अत एवोक्तमाचार्यैः 'निरोधो यदि भक्तानां स्वस्मिन् स्वस्य च तेषु हि, तदोभयसुसम्बन्धात् दृढो भवति नान्यथे'ति । तत्र आद्यो भगवतः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभक्तविषयकासक्तिरिति । 'निरोधोऽस्यानुशयनमा-त्मनः सह शक्तिभिरितिचचनात् । अस्येति षष्ठ्या भेदेन निर्देशात् । 'निरोधोऽस्यानु-शयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरे'रित्याचार्यचरणैर्विवृतत्वाच्च । लीलारूपेषु सर्गादिषु परिगणि-तत्वाच्च । 'स च गोपीभिः स्तोभित' इत्यादिना निरूपितः ।

नन्वत्र लक्षणमिदमनुपपन्नम्, भक्तानां प्रापञ्चिकत्वेन भगवतस्तद्विषयकासक्तौ प्रपञ्चविस्मरणाभावादिति चेत्, उच्यते । अवधारितं च तेषु त्वया प्रापञ्चिकत्वं केन प्रमाणेन ? न तावत् प्रत्यक्षम्, तेषां लीलासृष्टचतिरिक्तजनप्रत्यक्षागोचरत्वात् । भक्तविशेष-प्रत्यक्षस्याप्रापञ्चिकतानुकूलत्वात् । 'सदा पश्यन्ति सूरय' इति श्रुतेः, 'यद्वि पश्यन्ति मुनयः' 'ते एव पश्यन्ति' 'पश्यन्ति ते मे' इत्यादिवाक्यैः । एतत्प्रपञ्चान्तःपाते भक्तानां सगुणदृग्विषयताया अनिवार्यत्वात् । अत एवाप्रापञ्चिकत्वं बोधयन् निजैश्वर्यस्य 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः'रिति प्रभुरूक्तवान् । नाप्यनुमितिः, अनुकूलतर्काभावात् । न च दृश्यत्वा-देरनुकूलतर्कत्वमिति वाच्यम्, दृश्यत्वस्य प्रागुक्तप्रकारैर्व्यवस्थापितत्वात् । शब्दस्तु 'जयति जननिवासः', 'तद्विष्णोः परमं पदम्', 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्', 'तं भजन् निर्गुणो भवेत्', 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्', 'मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्त' इत्यादिवाक्यैरनुकूल एव इति नानुपपन्नं किञ्चित् । ननु अस्तु भक्तानां तथात्वम्, तथापि भगवतोप्रतिहतज्ञानशक्तेः प्रपञ्चविस्मरणं कथमुपपाद्यत इति चेत्, इत्थम् । भगवान् हि पुष्टिमार्गे अङ्गीकुर्वन् स्वधर्मानपि त्यजति, विपरीतांश्च विदधाति । 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्', 'आत्मारामोऽप्यख-ण्डितः', 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्', 'न पारयेह'मित्यादिवाक्यैः । एवं सति यत्र निरोधं चिकीर्षुर्भवति प्रभुः, तत्र तदनुकूलस्वरूपमपि सम्पादयतीति तदर्थमज्ञत्वमपि युक्ततरम् । विविधानन्तशक्तिमत्त्वेन तत्र सर्वोपपत्तेः । न च विरोधादज्ञत्वे सर्वज्ञत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम् । विरुद्धविविधधर्माधारत्वस्य भगवति 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वात् । एतच्च यथा तथा अस्मत्स्वामिभिर्निरूपितं विद्वन्मण्डने । नच अज्ञत्वस्य अविद्याजन्यत्वनियमेन भगवति तदभावात् तथात्वमसम्भवीति वाच्यम् । अविद्याया अपि 'श्रिया पुष्ट्ये'तिवाक्यात् तच्छक्तित्वेन तदधीनत्वात् । न च 'बन्धोस्या-विद्यया अनादि'रिति वाक्यादविद्याश्रयत्वे तथा बन्धसम्भव इति वाच्यम् । तस्यास्येति-

पदेन जीवविषयत्वस्य वाक्ये एवोक्तत्वात् । अत एव श्रीमदाचार्यैर्निरूपितं निबन्धे, 'विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते, ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशते'ति । तं च धर्मं प्रभुः पुष्टिमार्गं एव आविर्भावयतीति 'मदन्यते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'तिवचनादवसीयते । अत एव निरूपितं केनचित् भगवत्स्वरूपतत्त्वाभिज्ञेन 'संमुष्णन्' इत्यादि । तदेतत् सर्वमाचार्यैर्यथार्थकः स्वप्रतिविम्बविभ्रम' इत्यत्र निरूपितमिति सहृदयैस्तत एव विभावनीयम् ।

अथ किं तस्य कारणमिति चिन्त्यते । न तावन्निरोधो लोक इव वासनया जन्यत इति वक्तुं शक्यम् । तस्या अनुभवजन्यत्वात् । भगवतश्च साक्षात्कारात् प्राक् लौकिकविषयविषयीन्द्रियाविषयत्वेन अननुभवात् । साक्षात्कारे तु दिव्यदृष्टिदानेन तथात्वसम्भवात् । 'दिव्यं ददामि ते चक्षु'रिति वाक्यात्, 'कश्चित् धीर' इति श्रुतेश्च । नापि भक्तिः, सा हि द्विधा, मर्यादापुष्टिभेदेन, तत्र न तावदाद्या, तस्या 'भक्त्या त्वनन्यया,' 'विशते तदनन्तरम्,' 'ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः, द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षण' इत्यादिवाक्यैः सायुर्ज्यमुक्तिफलकत्वेन निरोधाजनकत्वात् । ननु 'भक्त्या सज्ञातया भक्त्ये'त्यादिवाक्यैर्मर्यादाभक्तेः पुष्टिभक्तिफलकत्वेन तस्याश्च निरोधसाधकतया कथं न परस्परयैतस्या अपि तज्जनकत्वमिति चेत्, न, पुष्टिभक्तेरपि तज्जनकत्वस्य विचार्यत्वेन मर्यादायामप्रसक्तेः । न हि सापि साक्षान्निरोधं साधयति, किन्तु भगवतः साक्षात् तत्साधनत्वे निमित्तमात्रं सा । अन्यथा 'कृष्णेन चोद्धृता' इतिवाक्यं विरुध्यते । न हि निरोधः कदाचिदपि स्वकृतसाधनैः सिध्यति । अत एवोक्तमाचार्यैः 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृत'मिति । अत एव ब्रजसीमन्तिनीष्वेव निरोधः सिद्धः, नान्येषु, भगवता तत्रैव तथा सम्पादितत्वात् । अत एव श्रीमदाचार्यैर्भक्तिवर्धिन्यां 'यदा स्याद्भक्त्यसं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव ही'ति दुर्लभत्वमेवोक्तम् । तर्हि किमाकस्मिकतैवेति चेत्, न, स्वरूपस्यैवानुग्रहविशेषसहकृतस्य हेतुत्वात् । तद्विशेषश्च सर्वात्मभावसाध्यफलदानेच्छैवेति सङ्क्षेपः । यद्यपि भावनागुणगानादेः साधनता श्रूयते, तथापि फलस्य निःसाधनत्वभङ्गमिया योगक्षेमसाधारणं साध्यत्वमादाय सा वक्तव्येति भावः ।

अथ कथं तस्य फलत्वमिति चिन्त्यते । सुखदुःखाभावान्यतरत्वाभावात् । प्रत्युतासक्तेः स्वविषयाप्राप्त्या दुःखसहकृतत्वाच्चेति । अयमर्थः । निरोधो हि प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिः, सा च स्वविषयविषयकविविधमनोरथजनको भावः, तस्य च रसरूपत्वेन सुखरूपत्वात् । 'रसं हि एवायं लब्ध्वा आनन्दीभवती'ति श्रुतेः । प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वेन प्रापञ्चिकदुःखाभावरूपत्वाच्च । किञ्च, फलं पुरुषार्थः, तत्त्वं च तेन स्ववृत्तितयेष्यमाणत्वम् । तथा च आसक्तिमध्यपतितदुःखस्यापि आकाङ्क्षणीयत्वेन तथा-

त्वम् । 'विपदः सन्तु ताः शश्वत्' इतिवाक्यात् । अन्यथा श्येनादावपि तज्जन्यनरकस्य तदुभयरूपत्वाभावेन फलत्वं न स्यात् । ननु शत्रुविपत्तिरेव तत्र फलम्, न नरक इति चेत्, न । 'भूयान् मे नरकोऽपि शत्रुर्विपद्यतामि'तिधिया श्येनकरणात् । सुखसाधनं तदिति चेत्, तदा प्रकृतेऽपि दीयतां दृष्टिः । न च सुखभ्रमात् प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । नरके सुखभ्रमायोगात् । तस्मात् पुरुषार्थस्यैव फलत्वेन दुःखसम्भिन्नस्यापि निरोधस्य फलत्वमिति । वस्तुतस्तु दुःखमेव न, किन्तु रसान्तर्गतत्वेन प्रभुप्राकट्यसाक्षाद्देतुतया परमानन्द एव । अत एव श्रीशुकैर्दिवा वियोगदुःखानुभवसमयेपि 'रेमिरेऽहःसु तच्चिता' इत्युक्तम् । श्रीमदाचार्यैरभ्यभिहित'मतो निरोधो महाफल' इति । तस्मान्निरोधः सकलफलमूर्धन्यं फलमिति सिद्धम् ।

ननु कथमत्र निरोधस्य दशमार्थस्य परमफलत्वसिद्धिः । तदुत्तरवर्तिस्कन्धद्वयप्रतिपादलीलाद्वयरूपमुक्त्याश्रययोरन्यतरस्याश्रयस्यैव वा तथात्वोक्तयौचित्यादिति चेत्, न । मुक्त्याश्रययोरेतदुपयोगित्वेन स्कन्धद्वयेन प्रतिपादनात् । तथाहि । निरोधे चास्ति प्रकारद्वयम्, सगुणनिर्गुणभेदेन, निर्गुणे त्वन्यैव व्यवस्था । सगुणे तु निरुद्धभक्तदेहस्य भौतिकतया निवर्तनीयत्वेन भक्तिमार्गप्रकारेण निवर्त्य देहमलौकिकं लीलोपयोगिनं सम्पाद्य स्वान्तःस्थापयित्वा ततो लीलेच्छायां स्वास्थानाद्विमोचयति, पुनः तदुपरतौ स्वाश्रितानेव करोतीति लीलाद्वयं सगुणनिरोधोपयोगित्वेन निरूपितमिति न परमफलत्वसिद्धिविरोध इत्यर्थः ।

अतःपरं निरोधरूपपरमफलं निरूपयन्तः तत्साधनं साक्षात्परम्पराभेदेन गौणमुख्यभेदेन वा निरूपयितुं तन्निमित्तकारणभूतयोर्भावभावनगुणगानयोर्मध्ये प्रथमं श्लोकत्रयेण मुख्यं भावभावनं दुर्लभत्वबोधाय स्वविषयकतयैव प्रार्थनारूपेण निरूपयन्ति यच्च दुःखमिति । निरोधे हि साधनद्वयम्, तद्भावभावनं गुणगानं वा । तत्र भावनीयभावश्च सर्वात्मभावेन निरुद्धानां सुखदुःखात्मको, 'विकलत्वं तथास्वास्थ्य'मिति वाक्यात् । तथा च तद्भावनं साधनं निरूपयितुं प्रपञ्चविस्मृतिसम्पादकतया अभ्यर्हितं प्रथमं भावप्रथमांशं दुःखं प्रार्थयन्ते यच्च दुःखमिति ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

यदिति प्रसिद्धं श्रीभागवतादौ परमार्तिरूपं प्रभुप्राकट्यकारणं युगपदनुभूताखिललीलानुभावकं लोकविलक्षणं प्रभुस्वरूपात्मकं वस्तुतः फलरूपं चकारात् तत्संबलितसुखशबलितमपि दुःखं यशोदाया अशास्त्रीयभक्तायाः सर्वथा दयाधिकरणभूतायाः यावद्भाववद्दुःखदेशाधिष्ठितस्थायिभावोत्पत्तिनिमित्तभूतायाः, तथा नन्दादीनां श्रीनन्दप्रभृतीनामखिलब्रजवासिनां चकारात् तत्सम्बन्धिनामन्येषामपि यद्दुःखं भगवता परमफलदित्सुना दत्तं येनैवं कथनं 'मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादान्बुजाश्रया' इत्यादि, तदपि

गोकुले सर्वथा निरोधस्थाने स्थानस्थितानामेव सम्पादितं दुःखं मम क्वचिदपि स्यादित्य-
ग्रिमेण सम्बन्धः । एवं श्रीयशोदानन्दादिदुःखं भगवतो दानक्रमेण प्रार्थयित्वा अतिदुराणं
गोपिकादुःखं प्रार्थयन्ते गोपिकानां त्विति । तुशब्दः पूर्वस्मादौत्कृत्यवैलक्षण्यादि-
बोधकः । गोपिकानां ब्रजसीमन्तिनीनामात्मत्वभक्तवश्यत्वादिभिर्धर्मैः सर्वथा निरुद्धानां
यत्स्वरूपात्मकं रसात्मकतया प्रसिद्धं श्रीभागवतादौ, वस्तुतो भावांशभूततयानन्दरूपं
तदुःखं मम क्वचिदपि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणेषु स्यादिति अभिलाष इत्यर्थः । ननु
ब्रजवासिनो हि सर्वेपि सर्वथा सर्वात्मभावेन भगवन्तमानन्दनिधिं प्राप्ताः परमानन्दसमुद्र-
निमग्ना दुःखलेशसम्भवनारहिताः स्वाश्रितशोकनिरसनसमर्थाः आनन्दसृष्टिसमुत्पन्नाः,
तदुःखप्रार्थनमसम्भावितमिव भातीति चेदुच्यते । 'रसो वै स' इति श्रुत्या भगवान् रसात्मक
इत्यविवादम् । स च स्वशास्त्रसिद्धप्रकारक एव तथा भवतीति प्रभोरपि तथा मन्तव्यं
रूपमकामेनापि त्वया । तथा च पूर्वसररीत्या स्वरूपानन्ददानं 'आत्मना प्रथमा लीले'
त्याद्युक्तप्रकारेण पञ्चधा देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु जायत इति तेषामतिव्यक्ततया
तन्निष्ठस्वरूपानन्दस्यापि व्यक्तत्वेन पश्यतां तत्र सुखत्वव्यवहारः, यत्रोत्तररीत्या रसदानं
तन्मनस्वेवेति तस्याव्यक्ततया तन्निष्ठस्वरूपानन्दस्यापि तथात्वेन बहिःप्राकट्याभावात् तत्र
दुःखत्वव्यवहार इति तमादाय दुःखमित्युक्तम् । वस्तुतस्तु स महानानन्द इति दशम-
स्कन्धविवृतावसकृदभिहितमिति सहृदयैः तत एव विभावनीयमिति दिक् ॥ १ ॥

एवं भावनार्थं भावप्रथमांशं दुःखं प्रार्थयित्वा श्रीयशोदानन्दादिसुखप्रार्थनस्य रास-
स्त्रीभावपूरितविग्रहत्वेन स्वस्यायोग्यतया तदप्रार्थ्यं गोपिकानामेव सुखं भावोत्तरांशभूतं
प्रार्थयन्ते गोकुले गोपिकानामिति ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

भगवतो हि स्थानद्वये गोपिकासम्बन्धिनी लीला, सैव तामिर्विरेहे सर्वदा अनु-
भूयते सङ्गेनेव च तत्र सुखमिति । तत्र प्रथमं गोकुले भगवतो लीलाभिर्वत्सपुच्छाव-
लम्बनहैयङ्गवस्तेयनृत्यगीतपीठकानयनादिभिर्गोपिकानां सर्वथा परिगृहीतानां चकारात्
तद्वारकमन्येषां गोपादीनां शय्यास्तरणस्थलसमीकरणादिभिरसङ्कोचेन सर्वेषां ब्रजवासिनां
तत्सम्बन्धिसम्बन्धिनां पक्ष्यादीनां च यत्सुखमनुभूयमानलीलालयसम्पादकमभूत् तत्
किं मे मम मत्सम्बन्धी वा हृदयस्थो भगवान् किं विधास्यति विशेषेण करिष्यति
प्रेषयिष्यतीति वार्थः । किमिति प्रश्नार्थकाव्ययप्रयोगेण एतत्सुखप्राप्तेर्लीलारूपप्रभुप्राकट्या-
धीनतया पूर्वोक्तदुःखासितो दुर्लभत्वं सूचितम् । अन्यत्र तथा करणे सामर्थ्याभाव-
माशङ्क्याहुः भगवानिति । स हि सर्वत्र सर्वं कर्तुं समर्थः, अतः कृपायावन्यत्रापि तथा
करिष्यतीत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं भावनार्थं भावांशद्वयं प्रार्थयित्वा कदाचिदतितीव्रविरहभावोत्पत्तौ नाशसम्भाव-
नायामुद्भवागमनजनितोत्सवोऽपि तथाभावनिवर्तकतया स्फूर्तिविषयो जात इति भावान्तः-
पातेपि लीलाजनितसुखविलक्षणत्वादेकदेशभूतं तमप्यंशं प्रार्थयन्ते उद्धवागमन इति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

उद्धवस्य उत्सवात्मकस्य आगमने जातः प्रकटीभूतो यः सर्वविलक्षणो भगव-
त्स्वरूपावयवदर्शनेन तदीयत्वनिर्धारणात् उत्पन्नः यः स्वार्थदूतप्रेषणाभिमत्यात्मको य
उत्सवो ब्रजसीमन्तिनीनां यथा येन प्रकारेण तथा तेनैव प्रकारेण तद्भावभावनायां मे
मम मनसि क्वचित् कदाचिदपि स्यादित्यभिलाष इत्यर्थः । अयमुत्सवो नन्दादीनां
गोपिकानां च जात इति व्यवस्थया स्थानद्वयं निर्दिशन्ति वृन्दावने गोकुले वेति ।
वृन्दावने पुष्टिस्थाने रहसि ब्रजस्त्रीणाम्, गोकुले गोष्ठे नन्दादीनामिति व्यवस्था ।
'गच्छोद्धव ब्रजम्,' 'प्राप्तो नन्दब्रज'मिति सामान्योक्त्यावसीयते । नन्वागमनोत्सवप्रार्थने
प्रभागमनसमयोत्पन्न'स्त्वं विलोक्यागत'मित्यादिनोक्तः स कथं न प्रार्थित इति चेत्, तत्राहुः
सुमहानिति । प्रियागमनोत्सवापेक्षया विरहे तद्भागमनोत्सववैशिष्ट्यस्यानुभवसिद्धतया
विरहरसपोषकत्वेन चायमुत्सवः ततोपि सुतरां महानित्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं अलौकिकसामर्थ्यरूपो मुख्यो निरोधः स्वस्यैवेति तत्साधननिर्देशः प्रार्थना-
व्याजेन स्वविषयतयैव कृतः, अन्येषां तु भगवान् महापुरुषकृपया तदधिकारानुसारेण
सायुज्यं सेवोपयोगिदेहं वा दास्यतीत्यभिप्रायेण तावत्पर्यन्तं स्थितिप्रकारमाहुः महतामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

यावत् भगवान् दययिष्यति फलोन्मुखां दयां करिष्यति तावत् कीर्त्य-
मानः कीर्तनविषयीक्रियमाणः एव स सुखायैत्यर्थः । 'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे,'
'विना महत्पादरजोभिषेकम्,' 'किरातहृणान्भ्र,' 'देवर्षिर्मे प्रियतमः' 'त्वत्पादपोतेन
महत्कृतेन' 'सदनुग्रहो भवा'नित्यादिवाक्यैर्भगवतो दयायां च नान्यत्कारणमिति वक्तुमाहुः
महतां कृपयेति । महतां भगवद्धर्मैः महत्वमापन्नानां कृपया करुणयेत्यर्थः । अन-
वतारदशायां विशेषतो महापुरुषद्वारैवोद्धारात् । एतेन इदानीं भक्तिमार्गस्य ते एव निर्वा-
हका इत्युक्तं भवति । ननु कीर्त्यमानेपि भगवति फलपर्यन्तं श्रेमेण कर्मादिष्विव दुःख-
मेवेत्याशङ्क्याहुः आनन्दसन्दोह इति । भगवत आनन्दसमुदायरूपत्वेन तद्गुणानामपि
तदभिन्नतया स्वरूपसमानयोगक्षेमत्वात् साधनदशायामपि तत्कीर्तनेन आनन्द एव भवति,
न कर्मादिभिरिव दुःखमित्यर्थः । अत एव अवगतभगवत्कथारसः परीक्षित् एतदर्थकमेव

‘श्रोत्रमनोभिरामा’दितिगुणानुवादविशेषणमुक्तवान् । हीति युक्तोयमर्थः । कीर्तन-
विषयस्थानन्दसन्दोहरूपत्वे सुखस्य युक्तत्वात् ॥ ४ ॥

ननु कीर्तनं हि सुखसाधनम्, तत्र महतां कृपयेति को वाग्रहः यथाकथञ्चिदपि
कृतं तत्तथेति प्रश्नेनेत्याहुः महतां कृपयेति ।

महतां कृपया यद्भक्तकीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

यद्भक्तं यथा महतां महापुरुषाणां कृपया करुणया लोकविलक्षणानां भगव-
त्सम्बन्धिनां कृपया निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छया सदा कालपरिच्छेदेन कीर्तनं सुखदं
तापत्रयनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्ददायकं निरोधजनकं वा तथा लौकिकानां लोकसम्ब-
न्धिनां महापुरुषद्वारा अभगवच्छरणागतानाम्, अत एव केवलसंसारासक्तानां कीर्तनं न
तथेत्यर्थः । वैलक्षण्यं वक्तुं लौकिकं दृष्टान्तमाहुः स्निग्धभोजनरूक्षवदिति । स्निग्धञ्च
तद्भोजनञ्च स्निग्धभोजनम्, तच्च रूक्षं च, अर्थात् रूक्षभोजनम्, तयोरिव तद्वदित्यर्थः ।
तथा च यथा स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथा महापुरुषकृपाविशिष्टतद्विशिष्ट-
कीर्तनयोरपीत्यर्थः । एतेन स्निग्धभोजनस्य पुष्टिसाधकत्ववत् महापुरुषकृपाविशिष्टकीर्तनस्य
पुष्टिफलसाधकत्वम्, रूक्षस्य तदसाधकत्ववत् लौकिककीर्तनस्य तत्फलासाधकत्वमुक्त-
मितिभावः । स्निग्धस्य घृतघृतस्यान्नादेर्भोजने रूक्षः प्रीतिरहितस्तस्य भोजनमिवेत्यर्थः ।
यथा कस्यचित् ज्वराद्यभिभूतस्य स्निग्धं वस्तु न रोचते तस्य यथा तद्रसानभिज्ञरसज्ञस्य
प्रतिदिनं क्षीयमाणशरीरस्य न तद्भोजनं पुष्टिफलं, तथा महापुरुषकृपाऽभावरूपदोष-
युक्तानां तादृशकीर्तने रूक्षाणां लौकिकानां कीर्तनस्य न पुष्टिफलत्वमिति भावः । यद्वा,
स्निग्धं भोजनं यस्य स चार्थान् तद्रूक्षञ्च तयोरिव तद्वदित्यर्थः । तथा च यथा
स्निग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथा अलौकिकलौकिककीर्तनकर्त्रोरपीत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु सुखसिद्धौ दयापर्यन्तं कीर्तनं कर्तव्यत्वेन निरूपितम्, तत्र ‘तरति
शोकमात्मवित्’ ‘ब्रह्मसंशोऽमृतत्वमेती’त्यादिश्रुतिभिः ज्ञानेनैव दुःखनिवृत्त्या सुखप्राप्ते-
र्ज्ञानावस्थयैव श्रेयम्, किं गुणगानेन इति चेत्, तत्राहुः गुणगान इति ।

गुणगाने सुखावासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

यथा गोविन्दस्य गोगोकुलपतेर्निःसाधनाधिपस्य गुणानां गाने स्तुतिबुद्ध्या
कथने शुकादीनां सिद्धज्ञानफलानामपि सुखम्, तथा तेषामेव आत्मनि स्वात्मविषये
जायमानं ब्रह्मात्म्यैकबोधेन सुखं न तथेत्यर्थः । यद्वा यथा भक्तैः क्रियमाणे गुणगाने
तच्छ्रवणेन गोविन्दस्य प्रभोः सुखावासिर्भेदक्ता यत्र गायन्ती’तिवाक्यात् तथा तत्कर्तृ-
णामपि शुकादीनां आत्मनि अन्तःकरणे नेत्यर्थः । तथा च प्रभोरतिशयिततोष-

हेतुतया ज्ञानमार्गस्थित्यपेक्षया सुखाधिक्याच्च गुणगानेनैव स्थातव्यमिति भावः । अत एव
‘लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च हित्वाश्रितास्ते चरणात्पत्रम्,’ ‘परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-
पीयूषनिर्वापितदेहधर्माः,’ ‘अथ ह वाव तव महिमाभूत्,’ ‘यदनुचरित,’ ‘तव कथामृतम्,’
‘श्रवणादर्शनात्,’ ‘येऽन्योन्यतो भागवता’ इत्यादिवाक्यैर्गुणगानपराणां इतरनैरपेक्ष्यो-
त्तयापि स्वतःपुरुषार्थत्वं सर्वाधिकफलत्वं चावगम्यते गुणगानस्य । इतोऽपि तदेव कर्तव्य-
मिति भावः । तदेवाहुः कुतोऽन्यत इति । अन्यतः ज्ञानादिभ्यो विषयादिभ्यो वा
कुत एतत्सुखमित्यर्थः । ‘ज्ञाने प्रयासमुदपास्य,’ ‘निवृत्ततपैः,’ ‘नैषातिदुःसहे’त्यादिवाक्यैः
श्रीभागवते तथैव निरूपणात् । ननु ‘तरति शोकमात्मवित्,’ ‘तमेव विदित्वातिमृत्युमेती’-
त्यादिश्रुतेः का गतिरिति चेद्, अत्र वदामः । तस्माद्भक्तियुक्तस्य’त्यादिवाक्यैर्भक्तिमतो
ज्ञानानपेक्षणात् ज्ञानिनस्तु ‘नैष्कर्म्यमपी’त्यादिवाक्यैः सर्वथा भक्त्यपेक्षणात् तन्निरपेक्ष-
भक्तिमार्ग एव समीचीनः । तथा च मोक्षरूपाक्षयसुखसाधकत्वं ज्ञानस्यापि भक्तिसहकृतस्यै-
वेति केवलज्ञानस्थितिमपहाय केवलभक्तावेव स्थितिः कर्तव्येत्यर्थः । श्रुत्यादिषु ज्ञान-
फलोक्तिस्तु दुःखाभावपर्यवसन्नैव । परमानन्दावाप्तिस्तु भक्त्यैव । वैस्तुतस्तु दुःखाभावोऽ-
प्येतदधीन एव । ‘अनर्थोपशम’मितिवाक्यात् । अत एव आचार्यैरानन्दमयाधिकरणे
‘एवं सती’त्यारभ्य ‘स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्ति-
र्भवती’ति निर्णयत इत्यभ्यधापि ॥ ६ ॥

ननु कृते गुणगाने किं भवतीत्याशङ्क्य तत्र प्रवृत्त्यर्थं परिचायकं फलमाहुः
क्लिश्यमानानिति ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं वहिः ॥ ७ ॥

गुणगाने तत्स्वरूपस्मृत्या तत्प्राप्त्यर्थं क्लिश्यमानाननुपतपतो जनान् दृष्ट्वा अव-
लोक्य यदा परीक्षासाधनसम्पत्तौ कृपायुक्तो भवेत् तदा सर्वं सर्वांशपूर्णं सदानन्दं
परं ब्रह्म यशोदोत्सङ्गलालितं हृदिस्थं परमव्योम्नि प्रादुर्भूतं वहिः प्रकटं भवतीत्यर्थः । अत

१ कर्मादिभ्य इति पाठः । २ सर्वथा दुःखाभावस्य भक्त्यधीनत्वादेवेत्यर्थः । एवं सतीत्यादिग्रन्थसा-
यमाशयः । ब्रह्मविदाप्रोति परंमित्यत्र श्रुतौ अक्षरब्रह्मविदः परब्रह्मप्राप्तिरित्युच्यते । ‘नायमात्मा प्रवचनेन
लभ्य’ इतिश्रुत्यन्तरे च ज्ञानादीनां साधनलक्षणैर्पूर्वकं वरणस्यैव साधनत्वं प्रतिपाद्यते । एवं सति
श्रुतिद्वयविरोधपरिहाराय अक्षरब्रह्मज्ञानेन अविव्यानिवृत्त्या शुद्धत्वसंपादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता
संपाद्यत इति ब्रह्मविदाप्रोतीतिश्रुत्याशयः । एवं योग्यतासंपत्तावपि पुरुषोत्तमप्राप्तिस्तु तादृशज्ञानवतो
जीवस्य स्वीयत्वेन वरणे सति भक्तिभावोत्पत्तावेव भवतीति ‘नायमात्मे’तिश्रुत्याशय इति भाष्ये एवं
सतीत्यादिग्रन्थेन निर्णयते । एवं च ज्ञानेनाविव्यानिवृत्तावपि पुरुषोत्तमप्राप्त्यभावजनितदुःखं तु नापैति ।
तस्मात् सर्वात्मना दुःखाभावस्तु भक्त्यैवेत्यत्रार्थे भाष्यमप्यनुकूलमेवेति भावः ।

एव ब्रजसीमन्तिनीनां गुणगानेन हृदि प्रादुर्भूय 'तन्मनस्का' इत्यादिना तथाभावसम्पत्तौ कृपया भगवान् प्रादुर्भूत इत्युच्यते । तदेवोक्तमाचार्यैः 'नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तु-
ष्यति कस्यचित् । भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधन'मिति । सदानन्दहृदिस्थितिपाठे सदानन्दस्य भगवतो हृदिस्थं अभिप्रायादिकं बहिर्निर्गतं भवतीत्यर्थः । अयमाशयः ।
'रुदुः सुखर'मित्यादिना गुणगानसमय एवातिदैन्यभावे यदा कृपायुक्तो जातस्तदा तत्र
स्वाभिप्रायः प्रमुषैव 'मया परोक्षं भजता,' 'न पारयेह'मित्यादिना आविर्भावित इत्यन्यत्रापि
गुणगाने क्लेशेन प्रादुर्भूय स्वकृपां ज्ञापयिष्यतीति तदाशया गुणगानमेव कर्तव्यमित्यर्थः ॥७॥

ननु किमिति कृपापेक्षया गुणगानेन क्लेशः सम्पादनीयः, ज्ञाननिष्ठया ब्रह्मनिष्ठतैव
सम्पाद्यतामिति चेत्, तत्राहुः सर्वानन्दमयस्यापीति ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः ह्लाद्यते जनान् ॥ ८ ॥

'एतस्त्वैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'तिश्रुतेः सर्वत्र स्थितो य आनन्दः
स भगवति प्राचुर्येण वर्तते इति तदाश्रितस्य मानुषानन्दमारभ्याब्रह्मानन्दं न कस्यापि
दुर्लभत्वम्, 'सर्वं मद्भक्तियोगेन' इतिवाक्यादपि, तथापि कृपानन्दः कृपारूपो य
आनन्दः, भगवद्दर्माणां स्वरूपाभिन्नतया आनन्दरूपत्वात् । यद्वा, पुष्टिमार्गप्रवेशानु-
कूलानुग्रहरूपया कृपया य आनन्दो भजनानन्दाख्यः स सुतरां दुर्लभः । ब्रह्मानन्दस्यापि
दुर्लभत्वात् । 'सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुन' इतिवाक्यात् । भजनानन्दस्तु
दुर्लभ एव । सम्भवति साधनमिह किञ्चिदिति चेत्? गुणगानमेवेति गृहण । अत
एव दुर्लभतैव तस्योक्ता श्रीमदाचार्यैः । 'लौकिकस्त्रीषु संसिद्धस्तद्वारा पुरुषे भवेत्,
स्वानन्दस्थापनार्थाय योग्यतापि निरूपिता, अतो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यते'
इत्यादि । एतदर्थस्तु तत एव विभाव्यताम्, विस्तरभियात्र न लिख्यते । तथा च
यत्रैतादृगनुग्रहस्तत्रैतदधिकारित्वात् तदानन्दप्राप्तिरित्येतदभिसन्धायोक्तं कृपानन्दः
सुदुर्लभ इति । श्रीभागवतेपि 'नेमं विरिञ्च्यः,' 'नायं सुखापः,' 'केमाः स्त्रियः'
'आसामहो' इत्यादिवाक्यैर्दुर्लभत्वनिरूपणाच्च । कथं दुर्लभ इति आकाङ्क्षायां तन्निरूपकं
तत्कार्यमाहुः, हृद्गत इति । हृद्गतः हृदयप्रविष्टः स कृपानन्दः स्वरूपात्मकः स्वगुणान्
गीयमानान् श्रुत्वा पूर्णः प्रतिक्षणं प्रवर्धमानो रसपूररूपः सन् जनान् जननादिधर्म-
युक्तानपि ह्लाद्यने स्वाभिर्भावितरससिन्धौ निमज्जतीत्यर्थः । अत एव 'वर्हापीडे'तिपद्ये
स्वामिनीनां हृदि वेणुप्रितसुधाद्वारा भावात्मकः प्रसुरन्तःप्रविष्टोऽक्षुष्वता'मित्यादिभिस्त-
द्वर्णितगुणश्रवणेन देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु 'पूर्णः क्रीडामयतामेव सम्पादितवा'-
नित्यभिहितम् । अत एवोक्तमाचार्यैर्दुर्लभगीते 'अन्तःप्रविष्टो भगवान् मुखादुद्दृत्य कर्णयोः,
पुनर्निवेश्यते सम्यक् तदा भवति सुस्थिर' इति ॥ ८ ॥

एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधायोपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥

यस्माद्धेतोः कर्मज्ञानोपासनामार्गैर्भ्यो भक्तिमार्गो निरतिशयितनिजविषयो 'ये
त्विहासक्तमनसः,' 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति,' 'विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः,' 'पूजा-
दिना ब्रह्मलोक'मित्यादिवाक्यैः तस्माद्धेतोः सर्वं कर्मज्ञानोपासनादिकं परित्यज्य
सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैर्भगवता स्वीयत्वेन वृत्तैः अत एव किञ्चिद्विस्मृतप्रपञ्चैः, तदर्थं
साधनानि विदधद्भिः, सर्वदा निरन्तरं 'सर्वं मद्भक्तियोगेन'ति वाक्यात् सर्वं ददतीति
सर्वदाः सर्वददातारो गुणा एव गेया इत्यर्थः । ननु 'वेदमार्गानुसारेण'तिवाक्यात्
तथा भजने क्रियमाणे तन्मार्गस्य व्याख्यातुभिरन्यथाकृतत्वात् कं पक्षं अवलम्ब्य गुणान्
गायेदित्याशङ्कयामाहुः सदानन्दपरैरिति । सदानन्दः साकारानन्दमयः परः पर-
मात्मा परमकाष्ठापन्नो, न तु पुच्छादिभावापन्नो येषां तादृशैरित्यर्थः । अधिकारिविशे-
षणमेतत् । अनेन मायानादादिमतमनादस्य ब्रह्मवादे स्थित्वा गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम् ।
ब्रह्मवादे एवानन्दमयस्यानन्दमयाधिकरणे परमकाष्ठापन्नत्वोक्तेः । ततः किं भवती-
त्याकाङ्क्षायामाहुः सच्चिदानन्दता तत इति । ततस्तेभ्य एव गीयमानेभ्यो
गुणेभ्यो जीवस्य सच्चिदानन्दता गुणत्रयाविर्भावेनाक्षररूपतया पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता
भवतीत्यर्थः । स्वत इतिपाठे गुणगाने क्रियमाणे स्वत एव वस्तुस्वभावात्तथात्वम्, न तु
तदर्थं प्रयत्नान्तरापेक्षेत्यर्थः ॥ ९ ॥

एवं निरोधार्थं गीयमाना गुणा निरोधलक्षणलीलासम्बन्धिन एव भवितुं युक्ता
इति तत्स्वरूपज्ञापनाय स्वस्य निरोधविवृत्तिकर्तृत्वमितिवदन्तः फलाव्यभिचारितासिद्ध्यै
स्वेषामर्थं प्रभुं विज्ञापयन्त इव स्वानुभवनिरूपणेन स्वजनप्रवृत्तिं द्रढयन्ति अहं
निरुद्ध इति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

अहं रोधेन सर्वं रोधयति प्रतिबध्नाति भगवदतिरिक्तमिति रोधो निरोधलीलानु-
सन्धानजन्यः सर्वत्र बाधकत्वस्फूर्तिरूप आसक्तिधर्मभूतो भावविशेषः, तेन निरुद्धः
प्रपञ्चविस्मृत्या तदासक्तो, निरोधस्य पदवीं श्रुतिविमृग्नां स्वतन्त्रभक्तिरूपां गतः प्राप्त
इत्यर्थः । ननु एतादृशस्य किं निरोधवर्णनप्रयासेनेत्यत आहुः निरुद्धानां त्विति । निरु-
द्धत्वे प्रकारान्तरद्योतनाय तुशब्दः । भगवता शास्त्रानुसारेण महापुरुषद्वारा प्रमेयबलेन
वात्मसात्कृतानां रोधाय निरोधजनकासक्तिधर्मरूपभावविशेषसिद्धयर्थं निरोधं लीलारूपं

भक्तेषु भगवत्कृतं वर्णयामीत्यर्थः । वर्तमानक्रियापदात् स्वस्य सर्वदैतदभिनिवेशः सूचितः । अत एवातिकरुण इति प्रभुभिः श्रीवल्लभाष्टके विशेषणं निरूपितमाचार्याणाम् । स्वेषामर्थे भगवन्तं विज्ञापयन्तः इवाहुः त इति । त्वत्सम्बन्धिना तेषां त्वत्सम्बन्धिनं निरोधं वा । अत उभयथापि तवैवायं भार इति भावः ॥ १० ॥

नन्वेतादृशेषु गुणेषु विद्यमानेषु कथमत्र सर्वे न प्रवर्तन्त इत्याशङ्क्य तदभाग्यमेव हेतुत्वेनाहुः हरिणेति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

ये इति भाग्यरहिता यतस्ते हरिणा सर्वदुःखहर्त्रापि भगवता विशेषेण नितरां मुक्ताः सर्वथा त्यक्ताः । उपसर्गद्वयं कथमपि तेषां प्राश्यभावाय । 'निबन्धायासुरी मते'ति प्रयोजनाभिधानात् । 'मामप्राप्यैवे'ति शिरश्चालनेनार्थनिरूपणे यथाकथञ्चित् तत्सम्बन्धे सति प्राप्तस्तु प्रमेयबलेनेतिदिक् । अत एव व्यासोपि श्रीभागवते 'विना पशुघ्ना'दित्युक्तवान् । ननु तेषां किं फलमित्याकाङ्क्षायामाहुः ते मग्ना इति । ते आसुराः कर्मिणो देवा अपि भवः जन्ममरणप्रवाहः स एव सागरस्तत्र मग्नाः सर्वानुसन्धानरहिता इत्यर्थः । तस्य सागरत्वं नकादिगिलनसम्भावनया, तत्र तथा पुनरुन्मज्जनासम्भवः, एवमत्रापि कामादिभिर्प्राप्तेन पुनर्मोक्षमार्गप्रवेशासम्भव इत्येतद्धर्मसाम्येन निरूपितम् । निरुद्धानां व्यवस्थामाहुः ये निरुद्धा इति । भगवता ये निरुद्धा महापुरुषद्वारा स्वतो वा आत्मसात्कृतास्त एवात्र गुणगाने मोदमानन्दमासमन्ताद् यान्ति प्राप्नुवन्ति । एव-कारेणान्येषामनिरुद्धानां कथञ्चिदपि मोदासम्भव इति निरूपितम् । तेषां गुणेष्वरुचेः । तद्गुचिस्तु भगवदनुग्रहेणैव । अत एव नलकूबरमणिग्रीवाभ्यामनुग्रहानन्तरमेव 'वाणी गुणानुकथन' इत्यादि निरूपितम् । उक्तं च तथैवास्मत्प्रभुचरणैर्मक्तिर्हसे 'तदर्थित्वस्यैव वरणकार्यत्वा'दिति । अहर्निशमिति । न तेषां क्षणमपि सांसारिकदुःखसम्भव इत्युक्तम् । 'मद्घातार्थातयामाना'मितिवाक्यात् । याममात्रमप्येतद्घातार्परत्वे गृहादेरबन्धकत्वमित्यहर्निशं तथास्त्वे किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥

ननु गुणगानं निरोधसाधकतया कर्तव्यमित्युक्तम्, तदिन्द्रियाणां वैमुख्ये न सम्भवतीति तन्नित्तकमुपायमाहुः संसारावेशदुष्टानामिति ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

संसारस्य अहन्ताममतात्मकस्य प्रपञ्चासक्तिसम्पादकस्य य आवेश आसमन्ता-दिन्द्रियेषु प्रवेशस्तेन दुष्टानां भगवद्द्वैमुख्यरूपदोषयुक्तानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां हिताय भगवत्परतया हितं कर्तुं सर्ववस्तूनि दारागारपुत्रादीनि कृष्णस्य

सदानन्दस्य योजयेद् युक्तं कुर्यादित्यर्थः । कर्मादीनां सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येवेति सप्तम्यर्थे षष्ठी । ननु कृष्णे सर्ववस्तुसमर्पणेन कथं इन्द्रियाणां दोषनिवृत्तिरित्याशङ्क्य आहुः ईशस्येति । स हि समर्थे आधिदैविकतामपि सम्पादयितुं तस्येन्द्रियमात्रदोषनिवर्तकत्वे किमाश्चर्यमिति भावः । यद्वा, इन्द्रियाणि स्वतो विमुखान्येव, 'पराञ्चि खानि व्यतृण-त्स्वयम्भूर'िति श्रुतेः, तेषां हिताय कृष्णस्य भगवतः सम्बन्धीनि सर्ववस्तूनि लीलासृष्टिस्थानि भावनयेन्द्रियैः सह योजयेदित्यर्थः । एतदे'वाक्ष्यता'मित्यस्य विवरणे 'भगवता सह संलाप' इत्यादिना निरूपितमिति तत एव विभावनीयम् । नन्वीशत्वेपि सर्वत्रेन्द्रियादिषु सम्बन्धाभावे कथं दोषनिवर्तकत्वमित्याशङ्क्याहुः भूम्न इति । भूमा सर्व-व्यापकोऽतो ये यथा भावयिष्यन्ति तत्र तथा प्रकटीभूय सम्बद्धो भविष्यतीत्यर्थः । यद्वा, भूम्न इति तादर्थ्ये चतुर्थी । तथा च 'भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयती'ति तार्तीयिकाधिकरणनिरूपितभूमशब्दवाच्यसर्वात्मभावरूपफलसिद्धये सर्ववस्तुसमर्पणं कर्त-व्यमित्यर्थः । तत्राधिकरणे 'यो वै भूमा तत्सुख'मित्युक्त्वा भूमस्वरूपजिज्ञासायां 'यत्र नान्यत्पश्यती'त्यादिना सर्वात्मभावस्वरूपमेव निरूपितम् ॥ १२ ॥

ननु भगवतो दयावधि महतां कृपया गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम्, सा च पुनर्गुण-गाने क्रियमाणे कदा भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः गुणेष्वविष्टचित्तानामिति ।

गुणेष्वविष्टचित्तानां सर्वदा सुरवैरिणः ।

संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥

तदा भवेद्यत्तुल्यमन्यथा क्रूरता मता ॥ १३ ॥

यदा भगवतो गुणेषु ऐश्वर्यादिषु सौन्दर्यादिषु वा सर्वदा अव्यवधानेनाविष्ट-चित्तानामन्यानुसन्धानरहितान्तःकरणानां 'तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति ही'त्याचार्यवचनादासक्त्या वर्धमानया संसारो लौकिकेष्वहन्ताममतारूपः विरहक्लेशो भगवद्विरहेण क्लेशश्च तावुभौ न स्यातामित्यर्थः । 'शृण्वन् गृणन् संसारयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते । क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोरविष्टचित्तो न भवाय कल्पते,' 'परस्परं त्वद्गुणवादः,' 'ये योन्यतो भागवताः,' 'तव कथामृत'मित्यादि-वाक्यैर्गुणाविष्टचित्तानां संसारविरहक्लेशाभावोक्तेः । अन्यथा सर्वपरित्यागो वियोगो जीवनं च न सम्भवेत् । यद्वा, संसारस्तेन च यो विरहक्लेशो अभिलषितविनाशे तौ न स्याता-मित्यर्थः । अत एवोक्तं श्रीभागवते 'तस्मिन्महन्मुखरिता' इत्यारभ्य 'तान्न स्पृशन्त्यशन-तुङ्गभयशोकमोहा' इत्यन्तम् । अथवा संसारो भगवत्यहन्ताममतारूपस्तस्य विरहेणाभावेन यो क्लेशो अन्यसम्बन्धप्रभवसम्बन्धजन्यौ तौ न स्यातामित्यर्थः । गुणाविष्टचित्तत्वे सर्वथा भगवद्विषयकसंसारोत्पत्तेरन्यसम्बन्धाभावाच्च । ननु संसारः सर्वथा हेयः, कथं भगव-द्विषयकः फलसाधक इति चेत्, न । भगवद्विषयककामादेरिव तस्यापि फलसाधकत्वेन

सतामपेक्षणीयत्वात् । अत एव 'कुर्वन्ति गोवत्सपद'मित्यत्र वत्सपदमात्रकरणोक्त्या 'अहमेतदासो अयं मम स्वामी'त्येतावान् संसारः स्थापितो भवतीति निरूपितमाचार्यैः । गुणाविष्टचित्तत्वेऽनिष्टनिवृत्तिरेव न, किन्तु इष्टप्राप्तिरपीत्याहुः हरिचत्सुखमिति । यथा हरेः सर्वदुःखहर्तुः भगवतः सर्वदेवान्तर्धानदशायामपि भक्तसाहित्येन सुखं पूर्णानन्दत्वाच्च, तथा गुणाविष्टचित्तानामपि अन्तस्तदाविर्भावात् सर्वदा प्रभुसाहित्येनान्तरमरणेनानन्दपूर्णत्वाच्च, तेषामपि सुखमित्यर्थः । 'सदा सत्सङ्गयुक्तानामवस्थैवं यदा भवेत्, तदा दयालुता दैन्यदर्शनात् तु हरेर्भवे'दित्याशयेनाहुः तदा भवेद् दयालुत्वमिति । यदा पूर्वोक्तरीत्या गुणगानं सिध्यति तदा भगवतो दयालुत्वं प्रादुर्भावहेतुभूतं भवेदित्यर्थः । अन्यथेति । भक्तानामेवंभूतत्वाभावे भगवतोपि क्रूरता अनवेक्षकत्वेन मता सर्वशास्त्रसम्मतता इत्यर्थः । अत एव 'नैवात्मन' इति श्लोके भगवत आत्मनः प्रभोर्निजलाभपूर्णस्य विद्वज्जनोपहृतमानाग्रहीतुः करुणया किङ्करनिवेदितानुग्राहकत्वमुच्यते श्रीभागवते । सा च पूर्वोक्तभावेनैव भवतीति सर्वमनवद्यम् ॥ १३, १३ ॥

ननु कालकर्मस्वभावादिभिर्बुद्धिनाशोद्वेगादिदोषैः प्रतिबन्धसम्भवे कथं गुणगाननिर्वाह इति चेत्, तत्राहुः बाधशङ्कापि नास्त्यत्रेति ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

अत्र गुणगाने कालादिबाधशङ्कैव न, यतो भगवतैवोक्तं श्रीभागवते, 'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नक्ष्यन्ति नो निमिषो लेढि हेति'रिति । अन्यत्रापि 'आयुर्हरति वै पुंसां उद्यन्नस्तमयन्नसौ । तस्यर्ते यः क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तये'ति । एवं गुणगाने बाधाभावमुक्त्वा सर्वत्र तदवभासरूपं प्रत्युत साधकं धर्ममाहुः तदध्यासोपि सिध्यतीति । गुणगाने तस्य भगवतः अध्यासः सर्वत्रावभासः सोप्यवान्तरफलतया सम्यक् सिद्धिविषयो भविष्यतीत्यर्थः । अध्यासपदं घटादिसर्वपदार्थेषु भगवदवभासस्य भावप्रयुक्तत्वेन वस्तुत आसक्तिभ्रमबोधनाय । अन्यथा घटादेः पुरुषोत्तमाभिन्नत्वं स्यात् । न हि घटादिः साक्षात् तदभिन्नः, किन्तु परम्परया । तस्याक्षरात्मतया तद्वारा तथात्वात् । अन्यथा तावद्धर्मविशिष्टत्वं तेष्वप्यभिदध्यात् । ननुच्यन्त एव ब्रह्मधर्माः सच्चिदानन्दादयस्तेष्विति चेत्, अक्षरगतानामेव तेषां तद्भूतितया व्यपदिश्यमानत्वात् । अन्यथा बर्हापीडत्वादयोपि व्यपदिश्येरन् । न चेष्टापत्तिः, तदसाधारणधर्माणामन्यत्र कथनस्यानुचितत्वात् । किञ्च, सर्वेषां धर्माणां साधारणत्वे तद्गतासाधारणधर्माभावे लक्षणाभावाद-निरूप्यत्वं सर्वसमत्वं सर्ववैशिष्ट्येनाभजनीयत्वं च स्यात् । तस्मादभेदस्याक्षरसमानाधिकरणत्वेन तद्धर्मव्यपदेश एव, न पुरुषोत्तमधर्मगन्धोपीति बुध्यस्व । नन्वैश्वर्यादयो व्यपदिष्टा

एव, किं न ते पुरुषोत्तमधर्मा इति चेत्, सत्यम्, तद्धर्मा एव, परन्तु अक्षरस्य चरणरूपत्वेन तदभिन्नतया तेषां तत्र सद्भावात् । यतो व्यासादिष्वपि तदिच्छयैव तत्सद्भावः । 'युक्तं भगैः स्वै'रिति वाक्यात् । एवं सति 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः,' 'पुरुषः स परः पार्थ,' 'भेदव्यपदेशाच्चे'त्यादिश्रुतिसूत्रमीमांसया अक्षराभेदः पुरुषोत्तमभेद इति भेदाभेदवादोऽस्माकमिति दिक् । ननु 'निवृत्ततर्षैरूपगीयमाना'दिति वाक्यात् वैराग्यस्य गुणगानाङ्गत्वेन अतिदुर्लभस्याभावेऽङ्गीनत्वेन कथं फलसिद्धिरित्याशङ्क्य तदप्यनेनैव भविष्यतीति साधनसाधकत्वरूपमुत्कर्षमाहुः भगवद्धर्मसामर्थ्यादिति । भगवद्धर्मोत्र गुणगानं, गीयमाना ये भगवतो धर्मा ऐश्वर्यवीर्यादयः, तस्य तेषां वा सामर्थ्याद्भस्तुशक्तेरेव, विषये भगवदतिरिक्तविषये, विरागो रागाभावः, स्थिरः अन्यापरिभाव्यो भवतीत्यर्थः । 'सा श्रद्धानस्य विवृद्धाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंस' इति वाक्यात् । यद्वा, भगवद्धर्मा लीलादयः, तत्सामर्थ्यादासक्तिजननरूपादेव विषयविषयकविरागो भवतीत्यर्थः । अत एवोक्तं श्रीभागवते, 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया गृहीतचेताः,' 'इत्थंभूतगुणो हरि'रित्यादि । ननु भगवद्धर्मसामर्थ्येन सुखसाधनेषु विषयेषु विरागो गुणगायकानां दुःखं स्यादित्याशङ्काहुः गुणैर्हरिसुखस्पर्शादिति । गुणानां स्वरूपाभिन्नत्वात् तैरेव हरिसुखस्य प्रभुसम्बन्धिसुखस्य हृदयदेशे स्पर्शात् सम्बन्धाद्विषयविरागेण शीतोष्णक्षुधादिसहनेपि कर्हिचिदपि दुःखं न भाति, भगवदानन्देन पूर्णत्वादित्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधायोपसंहरन्ति एवं ज्ञात्वेति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद्दुत्कर्षं गुणवर्णने ।

अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने उत्कर्षं ज्ञात्वा सर्वापेक्षां परित्यज्य सदा कालाव्यवधानेन गुणा एव वर्णनीयाः । अत्र बाधकद्वयं त्यागार्थमाहुः अमत्सरैरलुब्धैरिति । मात्सर्यलोभयोरत्यन्तबाधकत्वात् त्याज्यत्वम् । 'निर्मत्सराणां सता'मिति वाक्यात् । लोभश्च लौकिकक्षेत्रादितुल्यतापादकतया बाधकः । अत एवोक्तं भक्तिहंसे 'वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवल्लौकिक एव'त्यादि ॥ १६ ॥

ननु गुणगानं रागतानादिवशीकृतचित्ततया न कार्यं निरोधार्थत्वादिति तत्सिद्ध्यर्थं गीयमानलीलाविशिष्टस्वरूपध्यानं साधनमाहुः हरिमूर्तिः सदा ध्येयेति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

अवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।

पायोर्मलशांल्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

हरेः प्रभोः मूर्तिः स्वरूपं सदा ध्येया स्मरणीयेत्यर्थः । नन्वदृष्टरूपस्य कथं ध्यानमित्याशङ्क्य तस्यान्याशङ्क्यमनोरथपूर्तेः सर्वथा निःसाधनस्य गजेन्द्रस्यैव रक्षार्थं भगवाना-
विर्भवतीति न दर्शने दौर्लभ्यमिति ज्ञापयितुं हरीति । ननु योग इव कल्पितमूर्तेरुपास-
नायामिव सम्पादिताध्यस्तक्रियाविशेषप्रयुक्तमूर्तीना ज्ञान इव सोपधानमूर्तेर्ध्यानमिहापि
भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः मूर्तिरिति । भक्त्याविर्भूतरूपस्यैव ध्यानम्, न त्वन्यथाभूतस्येत्यर्थः ।
अन्यथा कल्पिताकारत्वे यथाकथञ्चिद्भिरर्ध्वेय इत्येव वदेयुः । ध्येयेति कृत्यप्रत्यये-
नावश्यकत्वं द्योतितम् । ननु ध्यानसहितगुणगाने किं भवतीत्याशङ्क्य तदवान्तरफलमाहुः
सङ्कल्पादपीति । ध्यानस्य का कथा, यतः सङ्कल्पाद्विचारमात्रादपि तत्र ध्यानविषय-
प्रमुखरूपे प्रादुर्भावाद्भगवतो दर्शनं सर्वावयवावलोकनरूपम्, स्पर्शनं चरणादितद्रूपम्,
तथा कृतिः शिरसि कराम्बुजधारणादिरूपा, गतिर्विलासरूपा, एतत्सर्वं ध्यानपूर्वक-
गुणगानेन सङ्कल्पमात्रात् प्रादुर्भूतभगवत्स्वरूपे स्पष्टमवाधितम्, न तु भ्रमप्रतीत्या, प्रति-
क्षणमनुभूतं भवतीत्यर्थः । ननु श्रुतानां पुनः कीर्तनेन स्थिरीकृतानां गुणानां गानं सम्भव-
तीति तदर्थं श्रवणकीर्तने आहुः श्रवणं कीर्तनमिति । श्रवणं हि भगवद्वाचकानां
पदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः, तदनु कीर्तनं श्रुतस्य स्वैर्यसिद्धये पुनः पुनः स्वतः
सर्वत्र कथनम्, एतद्वयमपि सङ्कोचादिकमकृत्वा कर्तव्यम् । अन्यथा श्रवणकीर्तनयोरसम्भा-
वनाविपरीतभावने स्याताम् । अत एवोक्तं श्रीमदाचार्यैः श्रीभागवततत्त्वदीपे 'सर्वथा तद्गुणा-
लापं नामोच्चारणमेव वा, सभायामपि कुर्वीत निर्भयो निःस्पृहस्तत' इति । श्रोतृसापेक्षं
कीर्तनम्, तन्निरपेक्षं गानमिति तयोर्विवेकः । ननु 'काममयोयं पुरुष' इति श्रुतेः सर्वथा
ध्याने सङ्कल्पानन्तरं यत्किञ्चित् कामसम्भवात् गुणगाने कीदृशः कामः कर्तव्य इति तमाहुः
पुत्रे कृष्णप्रिय इति । पुत्रे सङ्कल्पपुत्रे सङ्कल्पोत्पन्ने कृष्णस्य सदानन्दपुरुषोत्तमस्य
अलौकिके सर्वपरित्यागपूर्वकधर्मिस्वरूपमात्राभिलापरूपे कामे रतिः प्रीतिः कार्येत्यर्थः । एतेन
सर्वात्मभावभावनं सर्वदा कर्तव्यमित्युक्तं भवति । तस्य भाव्यमानस्य कामस्य शरीरपरि-
वर्तनलक्षणं फलमाहुः पाथोरिति । पाथोः सर्वशरीरगतमलाधिष्ठानस्य शालांशमात्रे-
णैवाखिलशरीरलौकिकतापादकस्य सम्बन्धी यो मलांशो लौकिकविषयभोगजन्यस्तस्य
सर्वात्मभावभावनं 'सन्त्यज्य सर्वविषया' नित्यादिवाक्यैः सकारणस्य त्यागेन तन्नौ शरीरे
सा अलौकिककामरतिः शेषभागं मलरहितांशरूपं भगवत्सम्बन्धयोग्यतापादकं नयेत्
प्रापयेदित्यर्थः । पुत्र इतिसामान्यपदस्यार्थस्यातिगोप्यत्वेन परोक्षवादसूचनाय । नन्वे-
तादृशस्यापि 'तादृशस्यापि सतत' मितिवाक्याद् दुःसङ्गादिना भावनाशसम्भवादुपायमाहुः
यस्येति । यस्य पुत्रादेरिन्द्रियादेर्वा भगवत्कार्यं सेवागुणगानादि स्पष्टं प्रातिकूल्येन न
दृश्यते शिक्षायामपि, तदा सति सामर्थ्ये तस्य विशेषेण भ्रणादिकमकृत्वापि निग्रहः
कर्तव्य इत्यर्थः । अन्यथा सत्यां शक्तौ तदनिग्रहे 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती'ति न्यायेन

तद्रतौ पुत्रे कृष्णप्रिय इत्यनेन विरोधापत्तिरित्यत आहुः इति निश्चय इति ।
इदमुक्तं भवति । भगवत्कार्यानुकूल्ये रतिः, प्रातिकूल्ये निग्रहः, सर्वथा असम्भवे त्यागः,
शरणभावनं वा कर्तव्यम्, 'प्रतिकूले गृहं त्यजेत्', 'अशक्ये हरिरेवास्ती'तिवाक्यादिति
भावः ॥ १७, १८, १९ ॥

एवं निरोधे साधनद्वयं निरूप्य सर्वेभ्यः साधनेभ्यः तयोस्तु कर्षं वदन्त उपसंहरन्ति
नातः परतरो मन्त्र इति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मन्त्रे हि कामितफलदत्वं देवतावशीकरणं च प्रसिद्धम्, तदत्र कामनाप्रसरमनो-
रथान्तफलसिद्ध्या अनिर्वन्धेन प्रभुवशीकरणादतः साधनयुग्माद् मन्त्रः परतरः । अवि-
लम्बेन साधकत्वात् कर्मादिभ्य उक्तृष्टत्वेपि एतस्मादतिशयेन नोत्कृष्ट इत्यर्थः । ननु
प्रभुप्रसादहेतुतया अनिर्वन्धेन स्वाभिवशीकरणाच्च स्तवस्योत्कृष्टत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः
नातः परतरः स्तव इति । स्तवस्य मन्त्रादिभ्यः प्रसादसाधकतयोत्कृष्टत्वेपि प्रभुवशी-
करणाभावादेतस्मादतिशयेन नोत्कर्ष इत्यर्थः । ननु ब्रह्मविद्यायाः 'प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं
स च मम प्रियः' 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत' इत्यादिवाक्यैः प्रभुप्रीतिसाधकतया साक्षात्कार-
हेतुत्वात् सकलपातकभस्मीकाराच्च उत्कृष्टत्वमित्याशङ्क्याहुः नातः परतरा विद्येति ।
विद्या हि पञ्चपर्वा, स्वसिद्धौ साक्षात्कारमात्रं सम्पाद्य तत्र लयं विधाय केवलमनसा ब्रह्मा-
नन्दमनुभावयति । तदुक्तं अस्मदाचार्यैः श्रीभागवततत्त्वदीपे 'ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्म-
नैव सुखप्रमे'ति, भावभावनगुणगाने स्वस्मिन् प्रभुः प्रादुर्भावं सम्पाद्य देहेन्द्रियप्राणान्तः-
करणादिषु स्वरूपात्मकमानन्दं पूरयित्वा सर्वैरिन्द्रियैरन्तःकरणैरात्मनापि तदानन्दमनुभाव-
यत इत्यन्येभ्य उत्कृष्टापि विद्या नैतस्मात् साधनयुग्मादुत्कृष्टेत्यर्थः । अखिलपापभस्मी-
कारस्तु 'दुःसहप्रेष्ठविरहे'तिवाक्यादत्राप्यवगन्तव्यः । नन्वेतत्सर्वं चित्तशुद्धौ सम्भवति,
अशुद्धचित्तस्य सर्वसाधनवैफल्यात् तच्छोधकतीर्थाश्रयस्यावश्यकत्वात् तीर्थस्योत्कृष्टता-
माशङ्क्य आहुः तीर्थं नातः परात्परमिति । तीर्थस्य सकलसाधनमूलभूतमनोमार्जक-
तयोत्कृष्टत्वेपि गुणगानादेः 'सत्त्वं च शुध्यत्यचिरेण पुंस' इतिवाक्यादविलम्बेन चित्त-
शोधकत्वात् सर्वतीर्थरूपत्वाच्च साम्प्रतं तेषां दृष्टावृत्तत्वेन तिरोहिताधिदेवत्वेन चासाध-
कत्वादेतस्मात् परात् सर्वोत्कृष्टात् साधनयुग्मात् तीर्थं न परं उत्कृष्टमिति स्वसिद्धान्त-
निष्कर्षो निरूपित इति दिक् ॥ २० ॥

स्वाचार्यचरणद्वन्द्ववन्दनादरसाधनात् । निरोधलक्षणग्रन्थं विवरे हरिदासकः ॥ १ ॥

इति श्रीमन्निजाचार्यचरणाभिषेकलब्धमहाराज्यसुखानुभूतिश्रीहरिदास-
विरचिता निरोधलक्षणविवृतिः समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवरणसमेतम् ।

भक्तभावात्मरूपाय तन्मार्गव्यञ्जकाय च । तद्दानायात्तदीक्षाय स्वाचार्यप्रभवे नमः ॥ १ ॥
विरागादिन्द्रियाणां वै निग्रहे सति साधनैः । यमादिभिश्च विज्ञाने ज्ञाने भवति सत्फलम् ॥ २ ॥
तदभावेन सर्वेषु प्राकृतांशानिवृत्तितः । भक्तिमार्गे कथं साक्षात् फलं भवति तत्ततः ॥ ३ ॥
निःसाधनाङ्गीकृतस्य स्यात् फलं रोधतो यथा । तदर्थं साधनं रूपं तस्य स्वाध्वनि वर्ण्यते ॥ ४ ॥

प्रथमं दशमार्थनिरूपणे निरोधशब्देन 'निरोधोस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः
प्रपञ्चे क्रीडनं हरे' रिति वाक्यात् साक्षाद्भगवत्क्रीडनमुक्तम् । तत्क्रीडनं लीलासुष्ठ्वन्तर्गत-
भक्तानां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं सकलेन्द्रियनिरोधे सति भवेदिति दशमस्कन्धे भक्तानां चित्त-
वृत्तिनिरोध उक्तो भक्तिमार्गो । तत्र पुनः प्राकृत्यदशायां तु साक्षादङ्गीकृतानां पुष्टिमार्गीय-
श्रोद्भूतभावाङ्कुराणां परमभाग्यवतां ब्रजसम्बन्धिनां निरोधः स्वरूपेणैव कृतः, साम्प्रतं तत्प्रा-
कृत्याभावादाधुनिकानां स्वाङ्गीकृतानां स्वमार्गीयतत्साधनाज्ञानात् कदाचिद् ज्ञानरीतिनिरो-
धसाधनेषु प्रवृत्तिर्भवेदिति तदभावार्थं श्रीमदाचार्यचरणाः कृपया ज्ञानमार्गीयसाधननिषेध-
पूर्वकं स्वमार्गीयनिरोधसम्भवे सर्वथा यदपेक्षितं मूलकारणं तन्निरूपयन्ति यच्चेति ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

अत्रेदमाकृतम् । गोकुलं तु विविधविहरणेच्छाजनितसहजकृपया साक्षाद्भगवता
पुष्टिमार्गीकृतमतः स्वानन्ददानार्थं लोके प्रकटितमपि तादृशाङ्गीकाररूपवीजस्वभावजनित-
तद्दाननया तदनुरूपोद्भूतभावाङ्कुरमेवासीदिति तद्भावस्वभावाद्दुःखमपि तत्र स्थितम्, येन
साक्षाद्भगवत्प्राकृत्यमभूद्, अग्रे सुखादिकमपीत्यधुना स्वकीयानामपि तादृशनिरोध-
मार्गीणां तादृशमेव दुःखं तत्तन्निरोधेन तत्प्राकृत्यसाधकम्, अतस्तदेवैवं स्वस्मिन्सम्भाव-
नया सर्वदा भावनीयमिति स्वकीयान् प्रति लक्षयन्ति । तथा हि । अन्वयार्थस्तु स्पष्ट
एव । यदित्यनिर्वचनीयत्वमुक्तम् । चकारोप्यर्थकः सम्भावनायाम् । तथा च सुखं तु
दुर्लभमेव । दुःखमपि चेत्स्यादिति । एतद्दुःखस्य ब्रह्मानन्दस्यापि तुच्छकर्तृत्वात् सर्वो-
त्कृष्टत्वेनातदुर्लभधिकारज्ञापनाय सम्भावनेवोक्ता, न तु प्रार्थनम् । तत्रापि क्वचिन्

कदापि भविष्यति, यदि भवेत्तदा किं वाच्यमिति सर्वदोत्कण्ठापेक्षितेति सूचितम् ।
एवं सति एतद्भावानुरूपं दुःखमेव निरोधसाधकमिति ज्ञेयम् । दुःखं तु भगवत्प्रादुर्भावात्
प्रागपि श्रीमातृचरणानां श्रीनन्दादीनां च पुत्रोत्पत्तितल्लालनक्रीडावलोकनादिविध-
मनोरथात्मकमासीदेव, तथैव श्रीस्वामिनीनामपि प्रभुप्राकृत्याशया तत्तन्मनोरथात्मकं
तथा । ततः प्राकृत्यानन्तरमपि बाल्ये पूतनादिदर्शनजनितभयेन क्रूरदृष्ट्यादिपतनरूपम् ।
ततः प्रभोरतिचञ्चलस्वभावेन शृङ्गाग्रिमयरूपं क्रीडासत्तया भोजनादिविलम्बजनिताति-
रूपं च । श्रीस्वामिनीनामपि प्राकृत्यानन्तरं क्षणमात्रावलोकनाभावेन स्थातुमशक्यत्वा
विविधकार्यव्याजेन मुहुर्मुहुः श्रीमातृचरणसमीपागमनं तद्धेतुकमेवेति तादृशं तथा ।
प्रातर्यावत्पर्यन्तसुन्निद्रायतविकसन्नवसरोजदलसदृशमीक्षणयुगलमुन्मीलयत्प्रभुस्तावत्तत्तापा-
सहिष्णुतया 'चिरविरहे'त्युक्तप्रार्थनहेतुरूपं च । ततो गोचारणगमनादिषु प्रातरारभ्य
सन्ध्यावधि तददर्शनजनिततत्तन्मनोरथात्मकं च । अग्रे नादनिष्ठासृत्पानानन्तरं स्वामिनीनां
तु स्पष्टमेव । अग्रेपि रासलीलायां साक्षात् पूर्णरसदानपर्यन्तं तिरोधानजनितविचित्र-
भावात्मकं च । पुनरग्रे विप्रयोगस्फूर्तौ स्पष्टमेव । ततस्तस्य 'संस्मृत्य संस्मृत्ये-'
त्युक्तत्वात्तल्लीलानुस्मरणकीर्तनादिना सर्वदा तदात्मकत्वात्तदस्फूर्तौ दुःखमानाभावाद्यथा
पूर्वमेव प्रभुस्थितिं मन्यमानानां भक्तानां श्रीमदुद्धवोपदेशेन महद्दुःखार्णवनिमज्जनं चेत्यादि
रूपम्, तथा चेदग्र्युपे दुःखे जाते पूर्णो निरोधः सिद्धो भवतीति श्रीमदाचार्यैरेतद्दुःखान्त-
र्गतानिर्वचनीयसुखानुभवहेतुभावात्मकैः कृपया स्वकीयानामप्येवमेव तदपेक्षितमिति तदेव
सम्भावनीयमिति तथोक्तम् ॥ १ ॥

एवं तेषां दुःखं सम्भाव्य तत्तदनन्तरजनितमनिर्वचनीयं तत्तत्सुखमपि तद्दुःखानु-
भवे सम्भावयन्ति गोकुल इति ।

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

तद्दुःखहेतुकप्राकृत्यानन्तरं महोत्सवादिबाल्यमारभ्य प्रेङ्गपर्यङ्गान्दोलनादिरिङ्गण-
क्रीडादानदधिदुग्धादिचौर्यान्तर्गतयावत्केलिवत्सगोचारणान्तनिलायनप्रभृतिवेषुगीतव्रत-
गोवर्धनोत्सवरासान्तं स्वस्वमनोरथपुरकं तथा । तदनन्तरं विप्रयोगे जाते तल्लीलास्मरणेन
तदात्मकतया दुःखमानाभावात् तदस्फूर्त्या यथा पूर्वबुद्ध्या मिश्रितं सर्वविलक्षणं च श्री-
स्वामिनीनां तथा सर्वेषां ब्रजवासिनां च श्रीगोकुले यत्सुखं सम्यगनिर्वचनीय
मभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यतीति पूर्वोक्तरीत्यैव तदभिलाषोपेक्षित इति भावः ।
यद्यप्यतदुर्लभं तथापि सर्वसामर्थ्यवत्त्वेन पूर्वं यथा स्वयमेव कृतवांस्तथाधुनापि करिष्यतीति
ज्ञापनाय भगवत्पदम् ॥ २ ॥

एवं निरुद्धानां दुःखसुखाभिलाषं स्वस्मिन्निरूप्य पुनस्तादृशसुखानन्तरं विप्रयोग-
जनिते दुःखेऽपि विलक्षणसुखविशेषोत्पादकः कश्चनोत्सवो जायत इति तं सम्भावयन्ति
उद्धवागमन इति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

यथा देशान्तरगते प्रिये तत्प्रेषितगृहसेवकागमने तन्मात्रादीनां विशेषतः प्रियायाश्च
प्रियकृतस्वस्मरणजनितौत्सुक्यविशेषोत्सवो भवतीति लोकरीतिः, प्रकृते तथोद्धवस्य
भगवद्भावेन सर्वदोत्सवरूपस्य प्रियसन्देशहारकस्य भगवदीयस्यागमने उत्सवः सुतरा-
मलौकिकत्वेन महान्यथा जातः, सुमहत्पदेन तस्योत्सवस्य तदनुभवैकवेद्यत्वेनाशक्य-
निर्वचनमुक्तम् । कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाहुः वृन्दावने गोकुले वेति । वेति चार्थे । तेन
वृन्दावने श्रीस्वामिनीनां गोकुले श्रीमानुचरणानामिति विवेकः । तथा मे मनसि कदापि
भविष्यतीति तथापेक्षित इत्यर्थः । उत्सवस्तु मानसोत्साहरूपो मनोधर्म इति मनस्येवाभिलाष
उक्तः । अत्रायं भावः । भगवदीयस्य भगवत्सम्बन्धिनि समागते साक्षाद्भगवानेवागत इति
तादृशोत्साहः सर्वथापेक्षितः, नो चेत्, तत्त्वमेव न भवतीति सिद्धान्तः । एते तु सर्वथा
प्रपन्नाः परमभगवदीया इति तेषां सर्वदोत्सवरूपस्योद्धवस्यागमने प्रथमं तत्स्वरूप-
दर्शनेत्र कोयं भगवद्देशधारीति विस्मयेनोत्कण्ठारूपोत्सवो जातः, पश्चाद्भगवदीयत्वेन
निर्धारितत्वेऽस्मत्प्रियसम्बन्धी गृहे समागतः, तत्रापि परमभक्तो निकटवर्ती ज्ञायते, अहो
महद्भाग्यमस्मदीयं यतोऽस्मात्सु तत्सम्बन्धित्वज्ञानेऽयमत्रागतः प्रेषितो वा, नो चेद्भगव-
दीयस्तदन्यत्र किमर्थं गच्छेत् । तेन प्रभुकृपाप्यस्मात्सु भविष्यतीत्यपि ज्ञायते, यतस्त-
त्कृपाऽभावे भगवदीयस्यागमनं न सम्भवति । किञ्च, तद्गृहमेव न भवति यत्र भगवदीयो
नायाति, यतस्तदागमने भगवानप्यागच्छतीति प्रभुस्नेहभरवशाद्दुःखेऽपि तत्सम्बन्धित्व-
जनितनिरुपधिस्नेहवात्सल्येनोत्साहभरवशात्तत्कारादिकरणे परमोत्सवो जातः । क्वचि-
दित्येतादृशस्य दुर्लभत्वमुक्तम् । एवमाधुनिकानामपि निरोधमार्गीयाणां तत्सम्बन्धा-
भावजनितदुःखं सर्वदापेक्षितम्, भगवदीयागमने तादृश एवोत्सवोप्यपेक्षितः । एवं
सर्वात्मना चित्तादिनिरोधे जाते तेन च साक्षात् प्राकट्येन कृपया सुखमपि दास्यतीति
भावोऽपि ज्ञाप्यत ॥ ३ ॥

ननु ज्ञानमार्गे तु चित्तनिरोधे जाते ध्यानादिना आत्मसुखं भवति, अत्र दुःखेन
चित्तनिरोधेऽपि दुःखमेव तिष्ठतीति क उत्कर्षस्तत्राहुः महतामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

येषां भगवदीयदर्शनमात्रात् परमानन्दानुभावको महानुत्सवो भवति सर्वदा

भगवदावेशात् । स्वयमपि उत्सवरूपा अन्तरङ्गास्ते भक्ता महान्तः, तेषां कृपया यावद्भग-
वान् दयां करिष्यति, कृपया प्रादुर्भूय स्वरूपानन्दं दास्यति, तावत्तस्योद्धतप्रचुरभावेर्भग-
वदीयैः सह कीर्त्यमानो भगवान् साक्षादन्तःप्रकटीभूय सकलेन्द्रियाणामासक्तिं स्वस्वरूपे
विधाय सुखाय भवति, न दुःखायेति । हृदयस्थ एव तत्तदिन्द्रियेषु खानन्दं पूरयतीत्यर्थः ।
यत आनन्दसन्दोहरूपः । यथा स्वरूपं तादृशं तथा गुणा अपि, तेन कीर्तनद्वारापि तथा
आनन्ददातेति गुणगानमेव तेन कर्तव्यम्, नान्यदिति ज्ञापितं भवति । अनेन तद्दुःखमपि
रसभावात्मकमानन्दात्मकम्, न तु लौकिकविषयात्मकम् । यत्र दुःखस्यापि रसानन्दात्म-
कत्वम्, तत्र सुखस्यानन्दरूपत्वोत्कर्षः किं वाच्य इति सूचितम् । किञ्च, अत्र प्रभुदयायां
हेतुत्वेन महत्कृपोक्ता, तेन महच्छब्देन स्वामिन्य एवोक्ता इत्यवगम्यते । यतोयं रसस्तासामेव,
भगवानपि तदधीन एव रसानुभवं करोतीति तत्कृपाऽभावे प्रभोरपि न दयेति महत्कृपयैव
सर्वं भविष्यतीति सूचितम् । अत एव 'तद्वारा पुरुषे भवे'दित्यत्र 'तासामनुग्रहद्वारे'त्युक्तम् ।
अथवा तद्भावस्वरूपत्वेनात्मसूचकमेव महत्पदं दत्तमिति ज्ञायते । तेनाधुनिकानां श्रीमदा-
चार्यकृपयैव प्रभुः कृपां कृत्वा आनन्ददानं करिष्यतीति भावः ॥ ४ ॥

ननु भगवद्गुणगानं सर्वैरेव क्रियते, तेन च सर्वेषां सुखमेव भवति, निरुद्धानां तु
को विशेषः, तत्राहुः महतामिति ।

महतां कृपया यद्भक्तीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

महतां पूर्वोक्तानां कृपया स्वभावदानात्मिकया कृत्वा यथा कीर्तनं निरोध-
मार्गीयाणां सदा सुखदं भवति, यतः परस्परगुणानुवादे प्रोच्छलितरसेन सकलेन्द्रियाणां
स्वरूप एव निरोधेन प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं तदानन्दमथा एव तिष्ठन्तीति पुनस्तद्रसवासना
न गच्छतीति सदेत्युक्तम् । तथा लौकिकानां प्रमाणधर्मनिष्ठानां तादृग्भावाभाव-
वतां भक्तानां ज्ञानिनामपि तथारूपप्राकट्याभावात्तत्कीर्तनं तथा सुखदं न भवतीत्यर्थः ।
तत्र दृष्टान्तः स्निग्धभोजनेति । एकं स्निग्धभोजनम्, अन्यद्रूक्षम् । स्निग्धभोजनं
यथा सकलेन्द्रियाणां सुखदमाप्यायकं भवति, न तथा रूक्षम्, लौकिकेषु तद्भावाभावा-
द्रूक्षत्वमेवेति तथा । अत्रैतन्मार्गीयभावाभाववत्सु भक्तेषु ज्ञानिषु च लौकिकपदकथनेन
यथा लौकिकालौकिकयोर्भावतारतम्यम्, तावत्तारतम्यभेतयोरपीति ज्ञाप्यते । एवं सति
निरुद्धानां कीर्तने महानेव विशेष उक्तः ॥ ५ ॥

ननु सुखदत्वेऽपि दुःखं तु सर्वदा तिष्ठत्येवेति क उत्कर्षो गुणगाने, एतदपेक्षया
ज्ञानिनां सकलेन्द्रियादीनामात्मनि लयेऽत्यन्तदुःखसम्भावनारहितात्मसुखानुभवः सर्वोत्कृष्टः
प्रमाणसिद्ध इति चेत्तत्राहुः गुणगान इति ।

गुणगाने सुखावासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गोकुलेन्द्रस्य रसात्मकलीलाविशिष्टस्य गुणगाने सुखावासिर्यथा निरुद्धानां जायते प्रकर्षेण, तथा पूर्णज्ञानिनां तत्राप्येकान्तभक्तानां शुकादीनामात्मनि आत्मसुखानुभवदशायां नैव भवति, कुतोऽन्यतः भक्तिरहितेष्वित्यर्थः । एवेति निश्चयार्थः । गानद्वारा सुखप्राप्तौ प्रकर्षः साक्षात्स्वरूपप्राकट्यजनित एवेति ज्ञेयम् । यद्यपि श्रीशुकैरेवेयं लीला वर्णिता, भक्तिरसेनापि ते पूर्णाः, तथाप्येतदानन्दानुभवस्तेषामपि न जात इति मुख्यतया शुकपदमेवादौ दत्तम् । एवं सति तत्कृपयैवायमानन्दः प्राप्यः, नान्यथा । तत्रैतद्दुःखमेव साधकमिति तस्यैव परमपुरुषार्थत्वम्, नान्यस्येति । यत्रात्मसुखापेक्षया तद्दुःखस्यापि सर्वोत्कृष्टत्वम्, तत्र किमु वक्तव्यः सुखोत्कर्ष इति कैमुतिकन्यायेनापि ज्ञाप्यते ॥ ६ ॥

ननु परमपुरुषार्थत्वेन सर्वदा तेषु दुःखमेव स्थापयति भगवान्, किं वा कदापि बहिः सुखमपि प्रयच्छति, तत्राहुः क्लिश्यमानानिति ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्य निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

एवं क्लिश्यमानान् साक्षात्स्वरूपसम्बन्धाभिलाषजनितप्रचुरार्त्या प्रतिक्षणमूर्च्छाजागरणायवस्थाभेदेनानिशं क्लेशानुभवं कुर्वतः स्वीयान् जनान् दृष्ट्वा प्रभुर्यदा कृपायुक्तो भवेत्तदा सर्वं सदानन्दं सर्वांशपूर्णं सदानन्दस्वरूपं तत्तदिन्द्रियेषु भावात्मकतया सर्वांशानन्दपोषार्थं हृदिस्यमलौकिककामरूपं वा साक्षात्स्वरूपं बहिर्निर्गतं प्रकटं करोति, बहिरानन्ददानार्थं हृदयात् प्रकटो भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

एवमयमानन्दः कृपैकसाध्य इत्यतिदुर्लभत्वमाहुः सर्वानन्दमयस्येति ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः ह्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

ब्रह्मानन्दपर्यन्तं यत्र यत्रानन्दो गणितस्तन्मयस्यापि कृपानन्दः सुतरां दुर्लभः । अथवा सर्वेषां तन्मयस्य स तथा । मुक्त्यादिषु य आनन्दो भवति, सोप्येतदंश एव, परन्तु स साधनैर्भवति, अयं कृपैकसाध्यः, यतो दानं विना न भवति, अतः सुतरां दुर्लभः, न केनापि प्राप्तुं शक्यः । अथवा सुतरां दुःखेन शोभनेन वा लभो लभो यस्येति । समस्तसाधनासाध्यत्वादन्वेषां दुर्लभः, तद्वतामेव सुलभ इति सूचितम् । तत्प्राप्तिप्रकारमाहुः हृद्गत इति । तादृशदुःखजनिततापार्त्या मिथो गुणानुवादेन स्वगुणान् श्रुत्वा हृद्गत एव पूर्णः सकलेन्द्रियव्याप्तः, तज्जनितोच्छलितरसाब्धिपूरेणान्तःपुष्टः सन् बहिः स्वस्वरूपं

प्रकटीकृत्य जनान् स्वीयान् ह्लावयते, तत्तद्रसाब्धितरङ्गेषु तरणं कारयति । यथा यथा सकलेन्द्रियाणां दुःखं जातम्, तथा तथैव तेषु खानन्दं पूरयतीति भावः ॥ ८ ॥

अतः परमेतत्कथनप्रयोजनमाहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम् ॥ ९ ॥

अहं स्वयं साक्षात् प्रभुणा पूर्वं निरुद्धः, निरुद्धानां मार्गोऽङ्गीकृतः, पश्चाद्रोधेन गुणगानद्वारा सकलेन्द्रियाणां रोधेन निरोधस्य पदवीं गतः, फलदशां प्राप्तः । निरुद्धेति पाठे निरुद्धानां पदवीं गतः, तन्मध्यवर्ती सन् तदानन्दानुभवं प्राप्तः । अतस्तदाज्ञया निरुद्धानामाधुनिकानां रोधाय तमेव निरोधं वर्णयामि, कथयामि । एतेन मदुक्तीतिकरणेन सर्वथा निरोधसिद्धिर्भविष्यतीति ज्ञापितम् । त इति पाठे तुभ्यं त्वदर्थं वर्णयामीति कमपि भाग्यवन्तं न्युक्तमित्यन्येषामानुषङ्गिकी शिक्षा सूचिता । किञ्च, यतोहं प्रभुणा साक्षात् स्वयं निरुद्धः, अतो मम वर्णनशक्तिः, नो चेत्, केन वक्तुं शक्य इत्यपि सूच्यते ॥ ९ ॥

एवं निरोधस्वरूपमुक्त्वा सर्वथा कर्तव्यत्वमाहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गेषाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ १० ॥

यस्मादेवं सर्वोत्कृष्टत्वेन पराकाष्ठापन्नः सर्वदुर्लभः कृपानन्दः तस्मात् सर्वं परित्यज्यै-
तत्प्रापकत्वाभावात् सर्वं सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैः उद्धूतभावाङ्कुरैः सर्वदा गुणा एव
गेयाः, तेषामयमेव सहजो धर्म इति तदभिलाषिभिरपि तदेव कर्तव्यम्, नान्यदिति भावः ।
गुणास्तु तत्तल्लीलात्मका बहुविधा इति कीदृशानां गानं कर्तव्यमित्यपेक्षायां विशेषणमाहुः
सदानन्दपरैरिति । सदानन्दः साक्षाद्रसात्मकः पुरुषोत्तमः, तत्परैस्तन्निष्ठैः सद्भिः,
न त्वितरस्वरूपनिष्ठैः । रसस्वरूपनिष्ठत्वकथनेन गुणा अपि रसात्मका रसादिलीलारूपा
एव गेया इति सूचितम् । सदानन्दपरैस्तादृशैर्भगवदीयैः सहेति वा योज्यम् । तेन
तादृग्व्यतिरिक्तैः सह न गेया इत्युक्तं भवति । तत्र कथने सर्वथा हानिरेवेति भावः ।
सर्वदेति क्षणमात्रमप्यन्यथाभावसम्बन्धगन्धाभावार्थम् । ततः सच्चिदानन्दता भवति,
सर्वत्र भगवदावेशात्तत्स्वरूपात्मकतैव भवेदिति भावः । अथवा सच्चिदानन्दता ब्रह्म-
भावसम्पत्तिः, तेनान्तःसाक्षात्पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता भवति, तस्य तदधिष्ठानत्वादिति
सूचितम् । कुत्रापि स्वत इति पाठः । तदा सच्चिदानन्दता भगवद्धर्मरूपता, सा
त्वस्मिन्मार्गे स्वत एवानायासेनैव भवतीत्यानुषङ्गिकत्वमुक्तम् । यत्र ज्ञानमार्गीयपरमफल-
मपि गुणगानस्यानुषङ्गिकं फलम्, तत्र साक्षात्फलस्वरूपं किमु वाच्यम् ॥ १० ॥

ननु निरुद्धानामेव सर्वपरित्यागपूर्वकमेतदुच्यते, न अन्येषा साधननिष्ठानाम्, तत्किमिति तत्राहुः हरिणेति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

हरिणा सर्वदुःखहर्त्रा ये विशेषेण त्यक्ताः, खानन्ददानेन दुःखदूरीकरणेच्छाभावात् त्यक्ताः, ते तु भवसागरे मग्नाः, साधनान्तरप्रवृत्ता अपि एतदानन्दाभावात् तन्मग्ना एवेति भावः । ये तद्दानेच्छया निरुद्धाः पुष्टिमार्गाङ्गीकृताः, केवलस्वरूपनिष्ठ-भावैकसाधनाः, त एव तत्कृपया तादृशं मोदमायान्ति, बाह्याभ्यन्तरं रसपूर्णाः सन्तस्तदानन्दसमुद्रमग्ना एव तिष्ठन्ति, तदप्यहर्निशम्, क्षणमात्रमपि न तदानन्दविच्छेद इति भावः । अतो निरुद्धानामेवायमानन्दः, न साधननिष्ठानामपीति तदर्थमेवोच्यते इति सर्वं सुस्थम् ॥ ११ ॥

ननु निरुद्धानामपि पूर्वस्थितसंसारस्य विद्यमानत्वात् तत्तद्विषयासक्तेन्द्रियाणां तद्विस्मरणमशक्यमिव भाति, तदभावे गुणगानादिप्रवृत्तिरप्यशक्या, तत्राहुः संसारेति ।

संसारवेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूमि द्वादश योजयेत् ॥ १२ ॥

निरोधार्थं केवलपुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य साधनान्तरप्रवृत्तिनिवृत्त्योरप्रयोजकत्वादङ्गीकार-स्वभावेन यथा स्वरूपे स्नेहात्मिका प्रवृत्तिर्भवति, न तथा विषयेषु, किन्तु तत्सम्बन्धदोषे निवारणीय इति संसारावेशदुष्टानां तत्तद्विषयभोगादिषु अहन्ताममतात्मकावेशेन दुष्टानां तज्जनितबन्धेन दुःखज्ञानाभावेन तन्निवर्तकधर्मविमुखानामिन्द्रियाणां हिताय प्रीतये पूर्वोक्तस्नेहेन हेतुना कृष्णस्य सदानन्दस्य सर्ववस्तूनि प्रकरणादेकादशेन्द्रियाणि सम्पूर्णस्वरूपं च, तानि प्रत्येकसमुदायाभ्यां तत्तन्मनोरथात्मकभावनाया भूमीः समस्तस्नेन्द्रिय-विषयाधिष्ठानानि कृत्वा स्वकीयान्यात्मसहितानि द्वादश तत्र योजयेत् । यद्यपि निरुद्धस्य स्नेहस्वभावेनैव भगवत्स्वरूपासक्तिः सकलेन्द्रियेषु भवतीति नियमविधिरयम्, तथापि संसारावेशिनामतिक्लेशं वीक्ष्य एतत्सम्बन्धेन ममापि क्लेशदुःखमेव भविष्यति, न तु स्नेहासक्तिजं सुखमिति भयेन ततः सांसारिकधर्मैः प्रत्यावर्त्य समस्तेन्द्रियाणि तत्र योजयेत् । यत्किञ्चित्सम्बन्धेनापि विघ्नो मा भूदिति कर्तव्यविधिरुक्तः । किञ्च, इन्द्रियाणां स्वस्वविषयप्रवृत्तिः सहजा, तथा चातितुच्छं विषयं त्याजयित्वा परमानन्दरूपविषयेषु तानि योजनीयानि । तथा चोक्तं 'मक्षण्वता'मित्यस्य विवरणे 'इन्द्रियवतामिदमेव फल'मिति, 'भगवता सह संलाप' इत्यारभ्य 'एवं तद्भावनं सदै'त्यन्तम् । अत्र तु द्वादशैव तद्विषया उक्ता इत्यत्रापि तावत्संख्यैवोक्ता । एवं सत्याधुनिकानामपि सांसारिकधर्मैः परावर्त्य तानि भगवति

योजनीयानीति शिक्षा सूचिता । एवं योजनेन तदासक्तौ सत्यां साक्षात्स्वरूपसम्बन्धाभावात् तद्गुणेष्वेवासक्तिवशादावेशो भवेत्, न त्वन्यत्रेति भावः ॥ १२ ॥

ननु एवं योजनेपि तत्तदिन्द्रियाणां पूर्वसंसाराध्यासात् तत्तद्विषयेषु यत्किञ्चिदहन्ता-ममतात्मकः संसारस्तिष्ठेदेवेति तत्त्यागजनितक्लेशोऽपि तत्प्राप्त्यभावाद् भवेदिति कथं सुखम् ? तत्राहुः गुणेष्विति ।

गुणेष्वविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।

संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥

एवमासक्त्या गुणगाने क्रियमाणे तत्रैवाविष्टचित्ता भवन्तीति मुरवैरिणस्तत्र प्रति-बन्धनिवर्तकस्य गुणेष्वविष्टचित्तानां तेषां संसारः पूर्वोक्तस्तत्यागजनितक्लेशश्च तौ न स्याताम् । तेषां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं गुणगानाविष्टत्वेन पूर्वोक्ताध्यास एव नश्यति, कुतस्तत्यागजक्लेशसम्भावनेति भावः । एतदेवोक्तं वेणुगीते 'श्रीडास्तनमयतां ययु'रित्यस्य विवरणे 'जाग्रत्स्वप्नेषु श्रीडामेव पश्यन्ती'ति । ननु तथापि पूर्ववद्विषयभोगेष्वेव तेषामा-सक्त्या तत्सुखमपि पूर्वोक्तविषयजन्यसुखसदृशमेवेति चेत्, तत्राहुः हरिवदिति । पूर्वोक्त-भोगासक्त्या संसार एव । अत्र तु हरिर्यथा सर्वदुःखहर्ता नित्यालौकिकरसात्मकानन्दरूपश्च, तथा तस्य सुखमप्यग्रे दुःखसम्भावनारहितं संसारनिवर्तकं तादृशमेव, न तु पूर्वसदृशं भवतीति महद्वैलक्षण्यमुक्तम् ॥ १३ ॥

एवं सर्वेषां विषयवासनारहितदृढासक्तौ यद्भवेत्तदाहुः तदेति ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

एवं प्रचुरतापात्मकभावासक्त्या सकलेन्द्रियाणां प्रपञ्चाध्यासरहितः पूर्णो निरोधः स्वरूपात्मकारूपो यदा सिध्येत्तदा दयालुत्वं प्रभोर्भवेत्, स्वास्थ्यादिकरणेन प्रतिबन्धको न भवेदित्यर्थः । अन्यथा तादृशासक्त्यभावे क्रूरता निश्चिता । साक्षात्स्वीय-त्वेनाङ्गीकृतस्य स्वधर्मरूपभगवदभिप्रेताकरणे प्रभोराक्रोशो भवतीत्यपि क्रूरपदेन सूचितम् । ननु सर्वत्यागेन गुणगानमात्रप्रवृत्तौ कालकर्मादिककृतबाधः सम्भवेत्तत्राहुः बाधशङ्केति । बाधस्य शङ्कापि नास्ति । कुतो बाधः । अत्र गुणगान इत्यर्थः । सकलेन्द्रियेषु भगवत एवा-विष्टत्वेन स्थितत्वाद्बाधः केन कर्तुं शक्यः, स्वयमपि भगवान् न शक्नोति, तदा कोन्य इति नैव शङ्कोदयः । एतदेवोक्तं सन्न्यासनिर्णये 'अत्रारम्भे न नाशः स्या'दित्युपक्रम्य 'हरिरत्रे'-त्यन्तम् । अत्रेति कथनात् तत्तज्ज्ञानमार्गीयसाधनेषु बहवो विघ्नाः सन्तीत्यपि ज्ञाप्यते । ननु तथापि स्वरूपमिलनाभिलाषस्य विद्यमानत्वात् स्वस्य भगवता सह भेदज्ञानं तिष्ठत्येव, तच्च तदभिमानेन सम्भवति, स च बाधरूप एवेति चेत्तत्राहुः तदध्यास इति । यथा

ज्ञाने 'सोह'मिति स्फुरति, तथा स्वस्मिन् सर्वत्र देहादौ तस्य भगवत एवाध्यासः, तद्रूपत्वेनैव भानं 'कृष्णोह'मित्यादिरूपः सिध्यति, न तु स्वस्मिन् भिन्नत्वं स्फुरति । सिध्यति सिद्धिं प्राप्नोतीत्युक्त्या यथा संसारावस्थायां तादृशाध्यासः स्थितः, तथेदानीन्तनावस्थायां सत्यां साक्षाद्भगवत्स्वरूपाध्यास एव भवतीति स्वभावपरावृत्तिर्जायत इति सूच्यते । एतदेव 'तन्मनस्का' इत्यस्य विवरणे द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

ननु तथापि वैराग्याभावे कथं पूर्वोक्तप्राकृतविषयाध्यासनिवृत्तिस्तत्राहुः भगवद्धर्मिति ।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थितः ।

गुणैर्हरेः सुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

भगवतः सकलैश्वर्यादिगुणयुक्तस्य धर्माः गुणगानद्वारान्तःप्रविष्टास्तेषां सामर्थ्याद्विषये प्राकृते तद्भावत्वेन भगवत्यपि वा तादृशस्य विरागः स्थितोस्ति । स्थिर इति वा पाठः । विषयत्वेन सर्वत्र वैराग्यमेव, किन्तु तेषां पराकाष्ठापन्नालौकिकानन्दरूपे साक्षाद्भगवति निरुपधिस्नेहेन केवलतदीयत्वबुद्धौ तथा प्रपन्नतेति 'सन्त्यज्य सर्वविषया'-निति निरूपणेन ज्ञायते । अत एव भगवानपि स्वयं कृपया तादृशानन्दमनुभावयतीति सर्वमवदातम् । तर्हि दुःखं कथं भवति ? तत्राहुः गुणैरिति । हरेः सर्वदुःखहर्तुर्गुणैः सुखस्पर्शान्न कर्हिचिदुःखभानम् । तेषामन्तस्तत्स्वरूपानन्दपूर्णानां सर्वदा तदात्मकतया दुःखस्य भानमेव नास्ति, कुतस्तत्सम्भावनेति भावः । तापात्मकं यद् दुःखं दृश्यते तस्य रसरूपत्वात् सुखरूपत्वमेव, न दुःखरूपत्वमिति ज्ञेयम् ॥ १५ ॥

अतःपरमुपसंहरन्ति एवं ज्ञात्वेति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने ।

अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

साक्षाद्भगवदानन्दस्य सर्वेन्द्रियास्वाद्यत्वनिरूपणेन तत्साधनरूपगुणगानस्य सुखरूपत्वेन च ज्ञानफलस्याक्षरलयपर्यवसायित्वात् तत्साधनस्य च कष्टसाध्यत्वाच्च ज्ञानमार्गादुत्कर्षणे महोत्कर्षे इति ज्ञात्वा निरुद्धैः साक्षाद्भगवद्भावरूपाङ्गीकारादारभ्य सर्वपरित्यागेन गुणा एव वर्णनीयाः, न त्वन्यत् । दृढासक्त्यनन्तरं तत्स्वभावात् स्वयमेव गुणगानं भविष्यति, साम्प्रतं तदभावाद्भगवत्कर्तव्यविधिरुक्त इति सर्वमनवद्यम् । तत्र प्रतिबन्धकरूपमान्तरं दोषद्वयं सर्वथा त्याज्यमित्याहुः अमत्सरैरिति । मात्सर्यं परोत्कर्षासहनं लोभश्च तद्रहितैः कर्तव्यम् । भगवदीयेषु मात्सर्येण सौहार्दाभावे गुणवर्णनमशक्यम्, लोभे तु स्वार्थार्थमेवेति कुतस्तदावेशः, प्रत्युत सर्वथानुचितत्वाद्भगवद्भक्तानां सर्वस्वहानिरेवेति सर्वथा दोषद्वयं त्यक्तव्यमिति भावः । सदेति कार्यान्तरव्यासङ्गे भावशैथिल्याभावायोक्तम् ॥ १६ ॥

ननु श्रीमुखावलोकनादीनां भावजनकत्वेन सर्वदा भगवत्स्वरूपसेवैव कर्तव्येति भक्तिसिद्धान्तः, प्रकृते मुख्यतया गुणगानमेवोच्यते तत्कथमित्याशङ्क्य तत्राहुः हरिमूर्तिरिति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।

वायुर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

अत्रेदं प्रतिभाति । भगवानुद्धारार्थं मर्यादया सर्वानेवाङ्गीकरोति । तेषां स्नेहरूपा मानसी सेवा फलरूपेति तत्साधनत्वेन मार्गनिष्ठया सेवाकरणमावश्यकम् । येषां साक्षात्पुष्टिमार्गो निःसाधन एवाङ्गीकारस्तेषां तदात्वं एवोद्भूतस्नेहभावाङ्कुराणां स्वरूपसम्बन्धाभिलाषेण 'भगवता सह संलाप' इत्यादिरूपा भावनैव जायते, भावना तु मनोधर्मः, तद्भावनायां मनसस्तत्परता भवतीति तद्रूपा मानसी सेवा जायते इति पूर्वोक्तसेवाया अधुना प्रयोजकत्वाभावात्तद्दार्ढ्यार्थं गुणगानमेव मुख्यमिति तदेवोक्तम् । अत एव भगवद्भरणानन्तरमेवोद्भूतभावाभिः कुमारिकाभिः पूजादि सर्वं विहाय गुणगानमेव कृतमिति 'भूयानन्दसुतः पतिरित्यत्र विवरणे विवृतम्, साधनमार्गीयशरणागतानामपि साधनरूपसेवाकरणेन स्नेहानन्तरभावोत्पत्तौ गुणगानद्वारा तद्दार्ढ्यार्थं त्याग एवोक्तो भक्तिवर्धिन्यां 'तादृशस्यापी'त्यारभ्य 'त्यागं कृत्वे'तीति सर्वमनवद्यम् । किञ्च, पूर्वोक्तसाधनरूपसेवाकरणेन स्नेहभावजनितं तापात्मकं दुःखं जायते, तद्दुःखनिवृत्तिस्तु विरहानुभवे गुणगानेनैव भवतीति तदेव मुख्यत्वेनोक्तम् । तथा च यतस्तादृशपुष्टिमार्गाङ्गीकारस्वभावोद्भूतस्नेहभावाङ्कुरजनितमनोरथप्रकारेण हरिमूर्तिः सदा ध्येया भावयितुं योग्या भवति, अतस्तज्जनिततापनिवृत्त्यर्थं तद्दार्ढ्यार्थं च गुणगानमेवोक्तमित्यन्वयः । तर्हि ज्ञानमार्गोपि ध्यानमेव क्रियते, ततो गुणगाने को विशेषस्तत्राहुः सङ्कल्पादिति । सङ्कल्पात्पूर्वोक्तप्रकारकविविधमनोरथकदम्बादपि तत्र भावनायां भावात्मकतया साक्षात्प्रकटस्य भगवतो दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टमनुभूतं भवति, तथैव कृतिस्तदन्तिके गतिश्च, तथैव श्रवणं तत्कूजितानां, कीर्तनं भगवता सह संलापादिरूपं च तथा । पूर्वोक्तज्ञानसाधनध्याने तु न तथेति स्पष्टमित्युक्तम् । तत्र तु प्रत्यक्षेपि आत्मनि न तथानुभवः । गाने तु सङ्कल्पमात्रादपि स्पष्टमनुभूतं भवतीत्यपिशब्देन द्योत्यते । एवं भावनायां प्रकटीभूय तापात्मकं दुःखं हरतीति ज्ञापनाय हरिमूर्तिरित्युक्तम् । ननु भगवदङ्गीकारेण तत्कृपया एतत्सर्वं भवेदिति 'कृपायुक्तो यदा भवे'दित्यनेनोक्तम्, परन्तु तत्र भगवत्कृपायां महत्कृपा पूर्व हेतुत्वेनोक्ता 'महतां कृपयै'त्यनेनेत्यस्य तदधीनत्वेन तत्कृपाभावे स कथं प्राप्येतेत्यत आहुः पुत्र इति । यतः पूर्वोक्तभक्तास्तु पराकाष्ठापन्नरसभोक्तारो मात्सर्यादिदोषरहिता भगवत्कृपाविषयेषु सहजवत्सलशीला इति तेषां

तादृशे कृष्णप्रिये कृष्णः प्रियो यस्य कृष्णस्य फलदानसमुखस्य प्रिये वा पुत्रे पुत्ररूपे रतिः प्रीतिरेव भवति । स्वप्रियप्रीतिहेतुत्वेन कृपया भावदानात्तेषां गुरुत्वात्तस्मिन् पुत्रत्वं सिद्धमेवेति तद्रूपत्वमुक्तम् । तासां गुरुत्वं तु सन्न्यासनिर्णये 'कौण्डिन्यो गोपिका' इति स्फुटीकृतम् । किञ्च, यथा पुत्रस्य कामप्यार्तिं दृष्ट्वा तस्मिन् वात्सल्येन तदुपचारः क्रियते, तथात्रापि तादृशीमार्तिं दृष्ट्वा वात्सल्येन तद्दानं तैरपि क्रियत इति ज्ञापनाय पुत्ररूप इत्युक्तम् । अन्यच्च, पुत्रे यथा तद्विहितविविधापराधादपि वत्सलतैव भवति, तथा तादृशे कृपापात्रे प्रीतिहेतोरपि तथोक्तम् । प्रीतिरपि तेषां भावात्मिकैव भवति, न तु तद्रहितेति ज्ञापनाय रतिपदमुक्तम् । रतिर्हासश्चेति तद्रूपत्वं तस्याः स्पष्टम् । एवं सति तेषामपि कृपा तादृशे जायते इति स रसोपि तेन प्राप्यत इति सुष्टुक्तं तथा । किञ्च, यथा तादृशानां तादृशे भक्ते पुत्रभावस्तथा तस्यापि तादृशेषु भक्तेषु सर्वदा मातृभाव एव स्थापनीय इत्यपि सूचितम् । अथवाऽत्रायमपि गूढाभिसन्धिरनुमीयते । कृष्णप्रियास्तु बहुविधाः. परन्तु स्फुरत्कृष्णप्रेमेति श्लोकोक्तरूपं कृष्णस्यानन्दरसात्मकस्य प्रियत्वं श्रीमदाचार्येष्वेव विलसति नान्येषु, तद्धेतुकं साक्षात् श्रीस्वामिनीनामपि प्रियत्वं तादृशवात्सल्येनैतेष्वेव सम्भवति, नान्येषु । यतः श्रीमदाचार्याणामेव तद्भावात्मकत्वं तन्मध्यपातित्वं च विजयते । तथा च कृष्णस्य प्रिये वलभे मयि पुत्र इव रति-स्तेषां वर्तत इति मदङ्गीकृत्येन्यस्मिन्नपि तादृशे भविष्यतीति भावः । अथवा कृष्णप्रिये मयि रतिर्वर्तत इति कथनात् स्वस्य तद्भावात्मकत्वात्तदन्तर्गतत्वाच्चानुनिकानां स्वकृपयैव भविष्यतीत्यपि सूचितम् । एवं तत्कृपया जनितो रतिरूपो भावो निखिल प्राकृतांशं त्याजयित्वा क्रमेणालौकिकं साक्षाद्भगवदात्मकं तत्तद्विषयमिन्द्रियेषु योजयतीति स-दृष्टान्तं निरूपयन्ति वायुरिति । वायुः सर्वदेहेन्द्रियव्यापी भुक्तमात्रनिखिलवस्तूनां यो मलांशस्तस्य त्यागेनाधोद्वारेण बहिरुत्सर्गेण शेषभावं सारांशं तनौ नाडीद्वारा तत्तद्विष्टाने यथा प्रापयति तथायमपि प्राकृतांशं त्याजयित्वा शेषभावं सर्वं भगवति नयेदित्यन्वयः । तनावित्युपलक्षणम्, किन्तु देहप्राणेन्द्रियादिविषयः । अथवा ज्ञानमार्गीयस्य योगाधिधा-रणायां प्राणायामादिकरणेन सकलेन्द्रियाणां तत्तत्प्राकृतविषयग्रहणःदिरूपं मलांशं त्याज-यित्वा वायुः शेषभावभूतं प्राकृततद्विष्टीभूतं आत्मानं तानि च परमात्मनि यथा योजयति तथात्रापि स भाव इति ज्ञेयम् । भागमिति पाठे स्पष्टमेव । अथवा वायुर्यथा कल्पित-जलानां यो मलांशस्तन्मध्यस्थः पङ्कस्तस्य त्यागेन शेषभावं मलांशावशिष्टं जलं तनौ स्वस्मिन्नयति शोषणद्वारा गृह्णाति, तथा स भावोपि प्राकृतांशत्यागेन शेषभागं सर्वं तनौ स्वदेहादिरूपे प्रभौ प्रापयेत्, तदात्मको भवतीति भावः । अथवा तनौ स्वतनौ यत्सर्वं शेषभागं तनुव्यतिरिक्तं मनःप्रभृति तत् सकलं नयेत्, हरिं प्रापयेत्, एतत्स्वरूपात्मको भवतीति पूर्ववत् । एवं पूर्णो निरोधः सिद्धो भवति ॥ १७, १८ ॥

ननु तद्भावस्वभावात्स्वत एव भविष्यतीति कर्तव्यविधिः किमर्थमुच्यते ? तत्राहुः यस्य वेति ।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

वेत्यनादरे । यद्यपि तद्भावस्वभावादेव तादृशस्य सर्वं भवति, तथापि लौकिकजना-नुरोधेन यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्यं भगवदावेशेन तत्कृतिरिव कृतिर्यदा स्पष्टं प्रकटं न दृश्यते तदा लौकिकसर्वपरित्यागेन पूर्वोक्तैः भगवदीयैः सह गुणगानेन तस्येन्द्रियस्य विनिग्रहोऽन्यतः प्रत्यावर्त्य स्वरूपग्रहणैकस्वभाव एव कर्तव्य इत्येतदर्थं कर्तव्यविधिरुक्त इति निश्चयो ज्ञेय इत्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं पूर्णं निरोधस्वरूपं निरूप्य तत्साधकत्वाद्गुणगानस्य सर्वोत्कृष्टत्वमाहुः नातः परतर इति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मन्त्रस्तवविद्यातीर्थादीनां लोकेवेदोक्तफलप्रापकत्वात्लोके वेदे च महत्त्वं भवतु, न तु तदतिरिक्ते । गुणगानस्य तदतीतफलप्रापकत्वात्तदतीतसर्वोत्कृष्टत्वमपीत्येतज्ज्ञापनार्थं फल-स्तुतिरुक्ता । यद्यपि मन्त्रादिद्वारा चित्तशुद्ध्या निग्रहादिकं भवति, तथापि महता क्लेशेन, तत्राप्येतदपेक्षया फलं स्वल्पतरं, गानद्वारा निग्रहादिकमपि सुखेन भवति, फलमपि महत्, सर्वोत्कृष्टमिति गुणगानस्यैव सर्वातिशयवत्त्वं निरूपितम् ॥ २० ॥

श्रीमदाचार्यचरणसरोजसततस्मृतेः ।

ममार्थवगतिर्जाता दुर्वोधेष्वत्र निश्चितम् ॥ १ ॥

तेन सङ्गतमेवाहं मन्येत्र तदपि स्वतः ।

संशोधयन्तु सुधियः कृपया मयि वत्सलाः ॥ २ ॥

अहर्निशंविचारिस्मिन्नेवं निष्ठति यन्मनः ।

अतो हि लिङ्गने नूनं प्रवृत्तिर्मे न चान्यथा ॥ ३ ॥

श्रीविठ्ठलेश्वरपदाम्बुजरेणुरेव सर्वस्वमित्यनिशमस्तु ममाभिलापः ॥

यत्स्पर्शतः सपदि दैवजने स्वतः श्रीवैश्वानरोक्तपदवी फलिताखिला स्यात् ॥ ४ ॥

इति श्रीनिरोधलक्षणविवरणं श्रीवल्लभकृतं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतम् ।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् स्त्रीषु करुणावतः । निरोधलक्षणग्रन्थं तदास्थिन्तयत्ययम् ॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सन्न्यासनिर्णये भक्तिमार्गीयत्यागस्य विरहानुभवार्थं कर्तव्यतां गुरुद्वयकथनभिन्नकालफलबोधनाभ्यामधिकारिभेदं च सूचयित्वा, तस्य त्यागस्य प्रेमैकसाध्यत्वं, तत्र साधनाकाङ्क्षायां भावनासिद्धस्य भावमात्रस्यैव साधनत्वं, ततो विलक्षणाधिकारे गुणानां जीवनहेतुत्वं चोक्तवन्तः । तत्र कीदृशस्याधिकारिणः कीदृश्या भावनया जातः कीदृशो भावः साधनतां प्राप्नोति, गुणाश्च तत्र बाधकत्वेनोक्ता अपि कीदृशाधिकारे केन प्रकारेण जीवनहेतुतया साधकत्वं प्राप्नुवन्तीत्याकाङ्क्षोत्पद्यते । किञ्च, भक्तिवर्धिन्यां जातभक्तिदृढबीजभावस्य भगवदुक्तस्वविचारितरीत्या भजमानस्य भक्ति-प्रवृद्धार्थं गृहत्यागपूर्वकश्रवणकीर्तनरूपं साधनमुक्तवन्तः । अदृढबीजभावस्य तु गृहे स्थित्वा पूजाश्रवणादिभिः स्नेहासक्तिव्यसनपर्यन्तमुपायं तेन कृतार्थतां चोत्त्वा, अग्रे त्यागकरणादे-रावश्यकत्वमुक्तवन्तः । तत्रापि भक्तिवृद्धेः किं स्वरूपमित्याकाङ्क्षोत्पद्यते । तथा सेवाफल-विवरणे चाद्यफलाभावे सेवाया अनाधिदैविकीत्वं हेतुत्वेनोक्तवन्तः । तत्रापि सेवाया आधिदैविकीत्वं कथं स्यादित्याकाङ्क्षोत्पद्यते । एवं तत्र तत्राकाङ्क्षोत्पत्तौ तत्रत्यास्ता आकाङ्क्षाः पूरयितुं यथा भगवानवतारदशायां भक्तदृग्गोचराभिर्गुणलीलाभिः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक-स्वास्क्तिरूपं निरोधं क्रमेण विदधानो जीवानुद्धरति, तथेदानीमनवतारदशायामपि श्रवणकीर्तनादिगोचराभिर्गुणलीलाभिरेव क्रमेण निरुन्धानो जीवानुद्धरतीति बोधनाय त्यागपूर्वकं श्रवणजन्यभावनया भजता, त्यागपूर्वकं कीर्तनेन भजता, गृहे स्थित्वा पूजादिना च भजता, यथाधिकारं भक्तिप्रवृद्ध्यात्मकपूर्वोक्तनिरोधार्थं यतमानेन भाव्यम् । तत्रापि त्यागपूर्वकं श्रवणजन्यभावनया भजता कृपां परीक्षणीया, गुणाश्च गातव्याः, स्वावस्था च परीक्षणीया, स्वाधिकारानुसारेण स्वस्मिन् निरोधोत्पत्तिराशंसाविशेषैः परीक्षणीया । कीर्तनेन भजता तु कीर्तनजन्यसुखविशेषैर्भक्तिवृद्धिः परीक्षणीया, कृपा च परीक्षणीया । गेहे स्थित्वा

१. तनुवित्तजयोस्तु भावनाप्रधानत्वमिति भावः । आधिदैविकी सेवा प्रेमद्वारा त्यागसाधिकेति ।
२. सन्न्यासाश्रम उक्त्वा गृहस्थाश्रम आहुः । ३. त्यागसन्न्यासयोर्भेदो गीतायाम् । ४. तथा फलस्य प्रवर्तकत्वात् तत्राहुः । ५. ज्ञानत्वेन कृपात्वेन कार्यकारणभावः ।

भजता तु सेवाया आधिदैविकीत्वाय श्रवणकीर्तनध्यानांन्यभीक्षणं विधेयानीत्युपदेष्टुं निरोधलक्षणग्रन्थमारभन्ते ।

नन्वस्य ग्रन्थस्य सन्न्यासनिर्णयादिशेषत्वेन विचारे किं बीजमिति चेत् ? उच्यते । अत्र ग्रन्थकरणप्रतिज्ञाऽभावेन यत्किञ्चित् साकाङ्क्षत्वे निश्चिते, सन्न्यास-निर्णयस्थभावनानादेः स्वरूपाकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, गुणानां जीवनहेतुत्वकथनस्य च प्रकाराकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, भक्तिवर्धिनीस्थभक्तिवृद्धिपदस्य च स्वाभिधेयस्वरूपाकाङ्क्षो-त्थापकत्वात्, सेवाफलविवरणस्थानाधिदैविकीपदस्य चाधिदैविकीकथंभावाकाङ्क्षोत्थापक-त्वात्, अत्रत्याशंसागुणकीर्तनादिकथनस्य चाकस्मिकतया कैमर्थ्याकाङ्क्षोत्थापकत्वात्, परस्पराकाङ्क्षापूरकत्वं दयालुत्वादिशब्दानां तत्रत्यप्रमेयस्यापि प्रत्यभिज्ञानं चेति जानीहि । न च भक्तिवर्धिनीस्थपदप्रत्यभिज्ञाऽभावात् तच्छेषत्वाभावः शङ्क्यः । सन्न्यासनिर्णयप्रमेये-णैव तत्प्रमेयस्यापि कोडीकरणाददोषात् । परस्पराकाङ्क्षावशादेव श्रीहरिरायैरपि 'श्रीकृष्ण-रसविक्षिप्ते'त्यादिश्लोकपञ्चकस्य स्वतन्त्रत्वेन प्रतीयमानस्यापि जलभेदशेषत्वमङ्गीकृतम् । तस्मादेवं शेषत्वैकवाक्यत्वयोरङ्गीकारे न किञ्चिद्बाधकमिति तच्छेषत्वेन व्याख्यायते । तत्र सन्न्यासनिर्णये त्यागिनो भावनामात्रसिद्धभावस्यैव साधनत्वेन साधितत्वात्, त्यागिषु प्रथमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहविषयकानुभवार्थत्वात्, विरहस्य च प्राकट्यतिरोभाव-जनितदुःखात्मकत्वात्, तादृशस्याधिकारिणः कृष्णे आसत्तया गृहस्थानां बाधकत्वा-नात्मत्वयोर्भासने कृते, ईषत्प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वतया भगवदासक्तौ जातत्वे, व्यसनेन च भगवद्गुणलीलाप्राधान्यं विहाय भगवत्स्वरूपपरतायां जातायां, दैन्ये सति जन्मप्रकर-णोक्तरीत्या भक्तदुःखस्यैव भगवत्प्रादुर्भावहेतुत्वज्ञानात्, तादृशदुःखाशंसैवोत्पद्यत इति । तत्र तादृशदुःखजनकातिशयस्यैव भक्तिवृद्धिरूपत्वं, प्रपञ्चविस्मृतिभगवदासक्तयोराधि-क्यात् । अतः तादृशनिरोधस्य प्रस्तूयमानदुःखाशंसारूपं तद्भावनारूपं च कार्यलक्षणमिति प्रथमं तदाहुः यच्चेत्यादि ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

अत्र दुःखाधारभूतानां त्रयाणां कथनेन तेषां भावत्रैविध्यं द्योयितम् । चकारत्रयेण तत्तत्सजातीयभाववन्तः कंसादेः कालतोऽज्ञानाच्च दुःखभाजः संगृहीताः । तदानीं कंसादि-वदिदानीमप्यसुरान्तराणां संभवात् । कालाज्ञानयोरपि संभवाच्च । क्वचिदिति अनिर्णीत-देशविशेषोक्त्या तत्र तत्र भगवद्देशेषु पर्यटितृत्वसूचनेनाधिकारिणस्त्यागित्वं बोधितम् । एवमग्रेपि ज्ञेयम् । तथा च ये चालादिभावे, ये च पौगण्डादिभावे, ये च प्रौढादिभावे आसक्ताः, तेषां दुःखं दृष्ट्वा तन्निवृत्त्यर्थं तादृशतादृशरूपेणैव भगवान् तत्तद्भावानुसृतं सुखं दातुं प्रकटीभवतीति भगवत्प्राकट्ये तादृशं दुःखमेव साधनमिति स्वस्मिन् तदाशंसोत्पादको

यः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपो निरोधः स एव कुण्ठो व्यसनस्य फलम् । तदाशंसैव प्रथमाधिकारिणो भक्तिवृद्धिलक्षणमित्यर्थः । अत्र स्यादित्याशंसासूचकम् । यद्यपि आशंसावचने लिङ्गिति सूत्रेण आशंसावाचिन्युपपद एव लिङ् विहितस्तथापि लोक उपपदाभावेपि देवदत्तश्चेदागच्छेद् मत्कार्यं भवेदित्यादिप्रयोगदर्शनात्त दोषः । यदि च लोकोक्तिर्न प्रमाणमिति प्रार्थनायां वा सम्भावनायां वा लिङ्गिष्यते, तदापि तयोराशंसासमूलकत्वादाशंसा न व्यभिचरति, तस्माददोषः ॥ १ ॥

अथ मध्यमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहसामयिकासक्तिभ्रमन्यायकभगवदनुभवार्थत्वात् तस्य भक्तिवृद्धिस्वरूपं तादृशनिरोधलक्षणकथनमुखेनाहुः गोकुल इत्यादि ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

तुशब्दः पूर्वव्यावृत्त्यर्थः । एषोत्यन्तं विप्रयोगेण दुःखित इति रसप्रधान इति प्राकट्यजनिका अत्यन्तासक्तिरेव तस्यं भक्तिवृद्धिरिति यथाकथञ्चित् दर्शनजन्यसुखाकाङ्क्षारूपं कार्यं तद्भक्तिवृद्ध्यात्मकनिरोधलक्षणमिति ज्ञापनाय पूर्वं गोपिकापदोक्तिः । अन्येषां तद्वत् सर्वात्मभावाभावेन ततो न्यूनत्वात् पश्चादुक्तिः । किंशब्दो विकल्पं द्योतयति । 'विकल्पे किं किमूत चे'ति कोशात् । आशंसायां भविष्यत्काले लट् ॥ २ ॥

अथोत्तमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहानन्तरभाविशाक्षात्कारार्थत्वात् तस्य तत्साक्षात्कारोत्तरं यदा पुनर्ब्रजस्थानामिव विरहस्तदा तस्य पूर्वानुभूतस्य लीलासुखादिस्मरणसंवलितविरहसामयिकानुभववत्त्वात् तदा भगवतः स्वस्मरणोत्पादको निरोध एव तस्य भक्तिवृद्धिरूप इति तस्य स्वस्मिस्तदभिज्ञापकं लक्षणमाहुः उद्धवेत्यादि ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

अत्रापि पूर्वश्लोकोक्ता स्यादिति क्रिया अनुषजते । तथा च तादृशस्मरणोत्सवादिविषयिणी आशंसैव स्वस्मिस्तादृशभक्तिवृद्धिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः ।

अत्र त्रिष्वपि श्लोकेषु गोकुलपदोक्त्या पूर्वोक्तरीतिको भावः श्रीब्रजनाथस्वरूपासक्तानामेव विवक्षितः, नान्यस्वरूपासक्तानामिति ज्ञापितम् । ते एव परमानुग्रहविषया इति च । तृतीये वृन्दावनपदोक्तिस्तु तेष्वपि आधिक्यज्ञापनार्थेति बोध्यम् । तेनैतादृशपुष्टिमार्गीयविषयक एवायं विचारः, न तु सर्वसाधारण इत्यपि बोधितम् । चाचामते त्वत्र श्लोकत्रये सुबोधिन्याद्युक्तस्य निरोधस्यावश्यंभावसूचको मनोरथ एवोच्यते । श्रीहरिरायाणां मते तु निरोधनिमित्तकारणभूतयोर्भावनशुणगानयोर्मध्ये प्रथमं भावनमुच्यते, तच्च दुर्लभत्वबोधनाय स्वविषयकतया प्रार्थनारूपेणोच्यते । मन्मते त्विदमाशंसात्रयं भक्तिवृद्धिज्ञापकलक्षणतयैवोच्यते इति ततो भेद इति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

एवं त्यागिषु ये श्रवणजन्यभावनामात्रपरास्तेषां भक्तिवृद्धिरूपं भावनात्मकं निरोधमाशंसारूपकार्यमुखेनाभिज्ञानार्थमुक्त्वा, ये त्यागिषु ततोऽधिका गुणगानासक्तास्तेषां भक्तिवृद्ध्यात्मकनिरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणं त्रिभिर्वदन्त प्रथमं गुणगातृषु प्रथमाधिकारिणः स्वस्मिस्तदभिज्ञापकं लक्षणमाहुः महतां कृपयेत्यादि ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

अत्र यावदिति पदमुत्तरावधिज्ञापकं तावत्पदं च पूर्वावधेः । महत्पदं च पारोक्ष्येण ब्रजभक्तज्ञापकम् । तथा च तासां कृपया भगवान् यावद्दययिष्यति वक्ष्यमाणरीतिकस्वैकतानन्वसंपादिकां दयां करिष्यति तावत् ततः पूर्वं कीर्त्यमानः 'नामान्यनन्तस्ये'त्युक्तीत्या स्मरणपूर्वकं वर्णयमानः आनन्दसन्दोहः श्रीमद्भृन्दावनेन्दुप्रकटितरसिकानन्दस्य यः समूहः लीलारूपः हि निश्चयेन सुखाय भवतीति शेषः । अतस्तस्य कीर्त्यमानलीलाया सुखजननं व्यसनोत्कर्षरूपस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणम् । हतत्रपत्वेन प्रपञ्चविस्मृत्याधिक्यादित्यर्थः ॥ ४ ॥

अथैवंकर्तुः पूर्वदशात् आधिक्यं कीर्तनपरता च पूर्वोक्तमहत्कृपयाधिका भवतीति तादृशनिरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमाहुः महतां कृपया यद्वदित्यादि ।

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

महतां पूर्वोक्तानां कृपया यद्वद् यथा कीर्तनं लौकिकसाग्रे निषेध्यत्वात् भक्तकृतं लीलाविषयकं कीर्तनं सदा सुखदं तथा लौकिकानां न, लौकिककर्तृकं लौकिकविषयकं च कीर्तनं न, सुखदं न । अत्रापि भवतीति शेषः । तत्र दृष्टान्तः । स्निग्धभोजनरूक्षवदिति । स्निग्धं भोजनं यस्यासौ स्निग्धभोजनः, स्निग्धभोजनस्य रूक्षेण तुल्यं भवतीति स्निग्धभोजनरूक्षवत् । तथा च लौकिककर्तृके तद्विषयके च कीर्तने असुखदत्वमानपूर्वकमलौकिकविषयके भक्तकृते कीर्तने यत्सुखदत्वं 'कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना, विनानन्दाश्रुकलया शुद्धे भक्त्या विनाशय' इत्युक्तधर्मैर्जायमानं यत्सुखदत्वं तदेव पूर्वस्मादुत्कृष्टस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ ततोऽप्युत्कृष्टाधिकारे पूर्वस्मादधिकस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमाहुः गुणगान इत्यादि ।

गुणगाने सुखावासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

'महतां कृपये'ति पदद्वयमत्राप्यनुषजते । अतो महतां कृपया गोविन्दस्य गुणगाने रागानुसारेण भगवद्गुणोपबन्धयुक्तपदवाक्यानां कीर्तने सुखावासिर्यथा येन

प्रकारेण प्रजायते प्रकर्षाज्जायते, तथा तेन प्रकारेण शुकादीनां ज्ञानभक्तानां आत्मनि हृदये न, अन्यतः कुतः । ज्ञानभक्तिभ्यामेव चेन्न भवति तदा तदतिरिक्ता-
द्वेतोः कुतः स्यादित्यर्थः कैमुतिकेनोक्तः । तथा च भगवद्गुणगाने तादृशसुखावाप्तिः
पूर्वस्मादुत्कृष्टस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । एवं च त्यागकर्तृणां मध्ये
कीर्तयितृषु गुणगातृषु च महत्कृपा हेतुत्वेनापेक्षितेति बोधितम् ॥ ६ ॥

सा कृपा तत्कार्यभूतं गुणकीर्तनादिजन्यं सुखं च कथं स्यादित्यपेक्षायां तत्र भगव-
त्कृपारूपं हेतुं प्रकारभेदेनाहुः क्लिश्यमानानित्यादि ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

जनान् जननधर्मवतः स्वकीयान् क्लिश्यमानान् स्वप्राप्त्यर्थं दुःखितान् दृष्ट्वा
यदा कृपायुक्तो भवेत् अत्यनुग्रहं कुर्यात् तदा हृदिस्थं सर्वं सदानन्दं बहि-
निर्गतं भवेत् । पूर्वोक्ता भवनक्रियाऽत्राप्यनुपजते । तथा च कीर्तयितृणां भगवद्दयया
भावनाप्रावत्ये दहरविद्योक्तस्यैव सर्वस्यान्तरस्य बहिःप्राकट्येन महत्तामपि प्राकट्यात्
तत्कृपया स निरोधः फलमुपदधातीत्यर्थः । तेनेदमपि फलोपधायकस्य निरोधस्यैव
लक्षणम् ॥ ७ ॥

अतः परं कीर्तयितृषु ततो विशेषं वक्तुं तथा तमाहुः सर्वेत्यादि ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

उक्तरीत्या सर्वस्य सदानन्दरूपस्य बहिः प्राकट्ये जाता या सदानन्दता, तेन
सर्वानन्दप्रचुरस्यापि कृपाजनितो य आनन्दः सः सुतरां दुर्लभः । कुत इत्याकाङ्क्षायां तस्य
भगवद्दानहेतुकत्वं स्फुटीकुर्वन्ति हृद्गत इत्यादि । हृदि स्थितो भगवान् कीर्त्यमानान् स्वगु-
णान् श्रुत्वा पूर्णः बहुधा निविष्टः, कृपापदस्य पूर्वमुक्तत्वात् कृपया वा पूर्णः सन् जनान्
स्वकीयान् प्लावयते, अन्नर्षही र्मस्यामान् करोति । अत्र श्रुत्वेति पदाहुणानां कीर्त्य-
मानत्वमाधिकम् । तथा च तेषु कृपया जनितो यो भगवदानन्दः तेन तद्भवति, नान्यत
इत्यतो दुर्लभ इत्यर्थः । अत इदं फलान्मकस्य निरोधस्य लक्षणम् । एवं च भक्तिवृद्धेः
स्वरूपमत्र पर्याप्तोति । तेन पूर्वोक्तेषु त्यागकर्तृषु साधनांशतौल्येपि 'लन्दत उभयविरोधा'-
दिति न्यायेन यत्र भगवत्स्तत्कर्तृकस्वगुणगानकीर्तनयोः श्रवणेच्छा तेषां गुणगानादौ
प्रवृत्तिः, यत्र च सा न तेषां भावनामात्र एव प्रवृत्तिरिति मुख्याधिकारिषु व्यवस्था
बोध्या । एतेन कृपापरीक्षणप्रकार उक्तः ॥ ८ ॥

एवं नानाविधस्य निरोधस्य लक्षणान्युक्त्वा तत्र साधनमुपदिशन्ति तस्मादित्यादि ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः ॥ ९ ॥

यस्माद्भावनापेक्षयापि भगवान् गुणगानेन अधिकं प्रसीदति तस्मात् सर्वं परि-
त्यज्य भक्तिमार्गरीत्या प्रेम्णा सर्वं गृहादिकं सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक-
भगवदासक्तियुक्तैः सदानन्दपरैः हृदयस्थलीलासृष्टकतानैः सर्वदा अभीक्ष्णं काला-
विच्छेदेन वा गुणाः गेयाः गानविषयीकार्याः । तत्रावान्तरफलमाहुः सच्चिदानन्दता
स्वत इति । स्वतो यदृच्छातः गुणगानातिरिक्तसाधनं विनैव सच्चिदानन्दता अक्षरब्रह्मता
भवति । ततः इति पाठे गुणगानादेवेत्यर्थो बोध्यः । एतेन गुणगातुः स्वावस्थापरीक्षण-
प्रकारश्चोक्तः । एवं च सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन'मित्यनेन
यदवान्तरफलमुक्तं तदीदृशानामेव भवतीति बोधितम् ॥ ९ ॥

एवं त्यागिषु मुख्याधिकारिणां यादृगनिरोधस्य सिद्धिः तत्स्वरूपमुक्त्वा तत्र
स्वानुभवमग्रिमसिद्ध्यर्थं प्रमाणयन्तस्तद्दर्शनप्रयोजनमाहुः अहमित्यादि ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम् ॥ १० ॥

अहं निरुद्धः पूर्वोक्तरीत्या भगवदासक्तः रोधेन संसारावेशराहित्यादिन्द्रियनि-
ग्रहेण निरोधपदवीं गतः निरोधमार्गं प्राप्तः सन् निरुद्धानां रोधाय संसारावेशरा-
हित्याद्यर्थं तं पूर्वोक्तनिरोधं वर्णयामि । तुः प्रयोजनान्तरशङ्कानिरासे । त इति पाठे तु
चतुर्थी । तथा च यः कथं भक्तिवृद्धिरित्यादिकं पूर्वं पृष्टवान् तस्मै तुभ्यं तदर्थमग्रे
वर्णयामीत्यर्थः ॥ १० ॥

एवं मध्यमाद्यर्थं निरोधवर्णनं प्रतिज्ञायोपपादनपूर्वकं तदुपयोगिनरोधस्वरूपमाहुः
हरिणेत्यादि ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमाधान्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

विनिर्मुक्ताः विशेषेण त्यक्ताः, स्वीयत्वेन नाङ्गीकृता इति यावत् । अत्रेति
गुणगाने भावनायां च । तथा च संसारावेशस्य भगवदनङ्गीकृतलक्षणत्वान्तद्विरुद्धा या गुण-
गाने भावनायां चाहर्निशं मोदप्राप्तिः, सा निरुद्धानां सामान्यलक्षणमित्यर्थः सिध्यति ॥ ११ ॥

एवं लक्षणं निरूप्य भावकापेक्षया गुणगातृषु विशेषमाहुः गुणेष्वित्यादि ।

गुणेष्वविष्टचित्तानां सर्वदा सुरवैरिणः ।

संसारविरहक्लेशो न स्यातां हरिवत्सुप्तम् ॥ १२ ॥

सुरचैरिणः जडदोषनिवर्तकस्य गुणेषु गोवर्धनोद्धरणदिषु सर्वदासक्तचित्तानां संसारश्च विरहकेशश्च न स्यातां किन्तु हरिवत् सुखम् । तथा च भावकानां दुःखा-शंसया सुखाकाङ्क्षया भगवत्कृतस्मरणाकाङ्क्षया च विरहकृतं दुःखमेव बहुलम्, तत एव च शीघ्रं लयः । गादृणां तु संसारावेशाभावात् लौकिकं दुःखम्, विरहस्फूर्तावन्तर्निष्ठा, बहिरनुभवे च गुणगानम् । अतो भगवत इव सुखमित्यर्थः ॥ १२ ॥

एवं भावयित्वा त्रिविधेषुमुक्त्वा तस्य कृपाहेतुकत्वं निगमयन्ति, मध्यमाधिकारे हेतुं तद्व्यवस्थां च वदन्ति तदेत्यादि ।

तदा भवेद्यत्कृतत्वमन्यथाऽकूरता मता ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १३ ॥

यदा पूर्वोक्ता रीतिः तदा भगवतो दयालुत्वं भवेदिति पूर्वोक्तस्य निगमनम् । अथ मध्यमस्य व्यवस्थोच्यते अन्यथेत्यादि । अन्यथा यदि न गुणाविष्टचित्तता तदा अकूरता भगवतः, अघातकता तस्मिन् भक्तिमार्गच्युत्यभावहेतुतेति यावत् । सा मता संसारावेशाभावगुणाविष्टचित्तत्वाभावाभ्यां युक्तिभ्यामनुचिन्तता । तथा च तेन मध्यमाधिकार इत्यर्थः । एतद्व्यवस्थासाधुः बाधेत्यादि । अत्र अकूरतायां बाधशङ्का भगवद्विषयका-ज्ञानकृता निरोधच्युतिशङ्का, अपिशब्दात् भावनाप्राचल्यकृतो लयश्च नास्ति, तदध्यास आसक्तिभ्रमन्यायको भगवदध्यासश्च सिध्यति । तेनेयं सर्वात्मभावप्राकट्यवती मध्यमा-धिकारिव्यवस्थेत्यर्थः । एतदेव कार्यं तज्जनकस्य तादृशनिरोधस्य लक्षणं ज्ञेयम् । एतावता भक्तिवर्धिन्यां 'वीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तना'दित्यनेन यद्भक्तिवृद्धिसाधन-मुक्तं तस्य फलमुपपादितं ज्ञेयम् ॥ १३ ॥

अथादृढवीजभावस्य पूजादिभिर्यत्तमानस्य संसारा वेशसत्त्वान् तस्य व्यवस्थां त्रिभि-र्वदन्तः तत्कृतसेवाया आधिदैविकीत्वाय पूर्वमुद्देशनिवर्तकं सर्ववस्तुसमर्पणरूपं साधनमाहुः संसारावेशेत्यादि ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिनाय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तुनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १४ ॥

भगवद्दर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शात् दुःखं भानि कर्हिचित् ॥ १५ ॥

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षं गुणवर्णने ।

अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

तादृशेन हि संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणि निग्राह्याणि । तानि च निरुह्यमाणानि क्षोभं

१ स्वसाधोक्षजत्वाद् गुणेषु । २ श्रुतौ दुष्टानामिन्द्रियाणि ह्यध्वपारप्रापकाणि न भवन्ति, सदिन्द्रियाणि तु प्रापकाणि । ३ अपि चेत् ।

जनयन्ति, अतस्तदभावार्थं तेषां हिताय वै निश्चयेन सर्वाणि वस्तूनि स्वीयानि कृष्णस्य भूम्न ईशस्य योजयेत् । समर्थं भगवत्सम्बन्धमिश्रितान्यनुसन्दध्यात् । फलात्मकत्वबोधनाय कृष्णस्येति । अवतारादिवारणाय भूम्न इति । एतावन्मात्रसाध-नकरणेषु विषयव्यासंगनिवारणसामर्थ्यबोधनाय ईशस्येति । 'तं यथा यथोपासत' इति श्रुत्या तत्कृतन्यायेन चोक्तधर्मपुरस्कारेण चिन्तनस्यावश्यकत्वात् पदत्रयकथनम् । तेन फलमुपपादयन्ति भगवदित्यादि । एकादशस्कन्धे 'दारान् सुता'निति प्रबुद्धवाक्ये सर्ववस्तुसमर्पणस्य भगवद्दर्मत्वकथनात्, कविवाक्ये च 'भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति'-रित्यादिश्लोकद्वये विषयवैराग्यस्य फलत्वेन कथनात्, सर्ववस्तुसमर्पणस्य भगवद्दर्मस्य सामर्थ्याद्विषये विराग स्थिरो भवति । तथा च भक्तिवर्धिन्यां 'सिद्धाद्रागविनाशः स्या'दित्यनेन यत्फलमदृढवीजभावस्य श्लेहादुक्तम्, तत्स्थैर्यकथनेन तज्जनकस्य श्लेहस्य दाढ्यभवनमत्र फलत्वेन बोधितम् । एवं सर्वसमर्पणात्मकं योजनमेतादृशस्य निरोध-लक्षणमिति च । आसक्तिदाढ्याय साधनान्तरमाहुः गुणैरिति । द्वितीयस्कन्धे 'विचक्षणा यच्चरणोपसादना'दिति शुक्वाक्ये कीर्तनप्रणालिकया भगवद्भक्तिं प्राप्नुवतां गतकृतत्वकथनेन कीर्त्यमानैर्गुणैः हरिसुखस्पर्शात् लौकिकं दुःखं कर्हिचिदपि न भाति, न ज्ञानविषयीभवतीत्यर्थः । अत्र सर्ववस्तुयोजनस्य पूर्वं कथनेन तस्या-धिकाररूपता बोधिता । तेन 'श्रद्धामृते'त्यारभ्य आत्मनिवेदिनां भक्तिफलबोधक-मेकादशस्कन्धीयं भगवद्वाक्यजातं स्मारितम् । तेनात्मनिवेदनपूर्वकं क्रियमाणेन गुण-गानेन दुःखानुसन्धानाभावरूपं फलं सिध्यतीति बोधितम् । एवं फलमुपपाद्य दाढ्यार्थं तत्कृतमुपदिशन्ति एवमित्यादि । एवं पूर्वोक्तीत्या गुणवर्णने ज्ञानमार्गादुत्कर्ष-मवधार्य, अमत्सरैरलुब्धैश्च परोत्कर्षासहनं मत्सरः, लोभो गर्धः, अत्यन्ताभिलाषः, ताभ्यां दोषाभ्यां रहितैः, सर्वदा गुणा वर्णनीयाः । उत्कर्ष इति प्रथमान्तपाठे तु गुणैः हरिसुखस्पर्शात् दुःखाभानं ज्ञात्वा गुणवर्णने ज्ञानमार्गादुत्कर्षः सिध्यतीति शेषेण वाक्यं पूरणीयम् । तथा चैतदज्ञात्वा गुणवर्णने दुःखाभानमात्रम् । ज्ञात्वा वर्णने त्वेष उत्कर्ष इत्युक्तं भवति । तथा चैवं गुणवर्णने तेष्व्वासक्तौ 'तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति ही'ति न्यायेन भगवदासक्तिदाढ्यं भक्तिवर्धिन्युक्ता गृहारुचिर्गृहस्थानां बाधकत्वान्नात्मत्व-भानं च दृढोभवतीत्यर्थबलेन बोधितम् । एवं गुणगानं चासक्तिमतो निरोधलक्षणमित्यपि ।

अथ व्यसनदाढ्याय भगवति साक्षात् परस्परया च स्वीयेन्द्रियविनियोगादिरूपं साधनान्तरमाहुस्त्रिभिः हरिसूतिरित्यादि ।

हरिसूतिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः । पायोर्मलांशत्यागेन
शेषभावं तनौ नयेत् ॥१८॥ यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

योऽदृष्टवीजः व्यसनार्थं यतते, तेन हरेर्भगवतो मूर्तिः स्वयं सेव्यमाना सदाभीक्ष्णं
निरन्तरं वा ध्येया, भगवदभिन्नत्वेन ध्यातव्या । हि यतो हेतोः । तत्र मूर्तौ संकल्पा-
दभिन्नताविचारादर्शनं स्पर्शनं चक्षुषस्त्वचश्च कार्यं स्पष्टं स्वरूपदर्शनेन तत्स्पर्शनेन
च भगवत्सम्बन्धितया स्फुटम् । पूजाप्रवाहेण तत्र सन्निधाने लब्धे अन्तर्यामिब्राह्मणो-
क्तन्यायेन, गुणोपसंहारे कार्याख्यानाधिकरणे 'सम्बन्धादेवमन्त्रापी'ति सूत्रेऽङ्गीकृते,
निबन्धे च 'तद्रूपं तत्र च स्थित'मित्येतद्वोधिते भगवदावेशे, बह्व्ययोगोलकन्यायेन
च भगवत्स्तद्ध्याप्य बहिर्भावात् स्फुटमित्यर्थः । एतदेव हस्तपादयोः कार्येऽतिदिशन्ति
तथा कृतिगती सदेति । उक्तन्यायेन यथा पूर्वोक्तं द्वयं भगवत्सम्बन्धि स्फुटम्,
तथा कृतिगती हस्तपादयोः कार्ये भगवत्सेवायां तदर्थं चलने च सदा भगवत्सम्बन्धिनी
स्पष्टे । पूर्वोक्तं स्पष्टपदमत्र विभक्तिलिङ्गविपरिणामेन सम्वध्यते सन्दंशात् । श्रोत्रवाक्-
कार्ययोस्तथात्वमाहुः श्रवणं कीर्तनं स्पष्टमिति । एतयोः प्रकारान्तरेणपि भगव-
त्सम्बन्धित्वस्य सर्वसम्मतत्वं बोधयितुं स्पष्टपदस्य पुनरुक्तिः । उपस्थे भगवदुपयोगित्वस्या-
स्फुटत्वात् तस्य भगवत्सम्बन्धित्वाय प्रकारमाहुः पुत्रे कृष्णप्रिये रतिरिति । 'कामः
सङ्कल्पजः स्मृतः,' 'सङ्कल्पप्रभवान् कामा'मित्यादिवाक्यैः सङ्कल्पस्य पुत्रे कामे कृष्णस्य
प्रिये सति रतिरुपस्थकार्यं भगवत्सम्बन्धि भवतीति शेषः । गोपालतापनीये 'यं मां स्मृत्वा
निष्कामः सकामो भवती'ति गान्धर्वी प्रति भगवद्वाक्यस्य श्रावणाद्भवद्ब्रह्मानात् तादृश-
सङ्कल्पेन भगवद्विषयककामोत्पत्तौ सापि भवतीत्यर्थः । भगवद्विषयककामाभावे तु यथो-
पस्थहितं भवति तथा प्रकारस्त्वग्रे वाच्यः । पायोर्विनियोगमाहुः पायोः रित्यादि । पायोः
कार्यं हि विसर्गः, स चात्र मलांशत्यागरूपः, तेन कार्येण तज्जनकस्येन्द्रियस्य तनौ
शेषभावं नयेत् । भगवति विनियोज्यमाने स्वशरीरे तच्छोधनद्वारा गुणभावं प्रापयेत् ।
अध्यायमर्थः । वेणुगीते 'अक्षुण्वता'मित्यत्र सुबोधिनीस्थास्विन्द्रियफलबोधिकासु कारिकासु
यद्रोमोद्गमरूपं पायुकार्यमुक्तम्, तथा 'एषां तु भाग्यमहिमे'ति प्रक्षिप्ताध्यायश्लोक-
विवरणे 'रोमाञ्चस्वेदौ दशमकार्यं' मित्युक्तम् । यच्च तृतीयस्कन्धे 'मुञ्चन्मीलद्दृशाऽथु च'
इत्यत्रानन्दाश्रुमोचनरूपं तत्कार्यमुक्तं, तत् प्रथमाधिकारे न सम्भवति, द्वितीयस्कन्धे
'तदश्मसारं हृदय'मित्यत्र तथा निर्णयात् । अतोत्र 'अन्नमशितं त्रेधा भवती'त्यादि-
छन्दोगश्रुत्युक्तोऽवन्नयोः स्थूलधातुः मूत्रपूरीषात्मको यश्च 'कफः पित्तं मलः खेपु प्रस्वेदो
नखलोम च । कर्णविद्रूपिका चेति धातूनां क्रमशो मला' इति वैद्यकोक्तो मलांशः,
स हि पायुनैवेन्द्रियेण तत्तद्देहछिद्रद्वारा निर्गच्छति । तावतैव तस्येन्द्रियस्य विनियोग
इति गौणत्वेन शेषता । किञ्च, पूर्वं 'संसारवेशदुष्टाना'मितीन्द्रियविशेषणेन मध्ये चामत्सरै-

लुब्धैश्चेति कथनाद्गुणवर्णनकर्तृषु तत्सत्ताबोधनेनान्ते चोक्तपायुकार्यकथनेन चैतेषां जघन्या-
धिकारित्वं बोधितम् । तेन ये भक्तिवर्धिन्यामदृष्टवीजभावा उक्तास्तदर्थोयमुपदेश इति
सूचितम् । किञ्च, अत्र मनःप्रभृतीनां नवानां विनियोजनप्रकार उक्तः, घ्राणरसन-
योस्तुविनियोगः कोपि नोक्तः । किञ्च, भगवत्प्रिये कामे उपस्थविनियोगकथनात्
तदभावे तदभावः सूचितः । तथा सति तेषां भगवदुपयोगाभावे किं कार्यमित्याकांक्षाया-
माहुः यस्य वेत्यादि । वेत्यानादरे । यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न
दृश्यते तदा तस्येन्द्रियस्य विशेषेण निग्रहः संयमः कर्तुमावश्यक इति निश्चयः ।
तथा च यदि तत्र तेषां निग्रहं न कुर्यात् तदा, नो चेत् 'प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता'
इत्युक्तन्यायेन विषयदस्युषु पाते संसारवेशरूपं महदेवानिष्टं स्यात्, अतस्तदावश्यकमि-
त्यर्थः । एवञ्च जघन्याधिकारिणां यदुक्तोपदेशरीत्या करणं तदपि तदुचितनिरोधस्यैव लक्ष-
णम् । तत्रापि मुत्यासिश्चेत्, तदा सुतरां तथेति बोध्यम् । एवं करणे उद्देगनिवृत्त्या क्रमेण
सेवाया आधिदैविकीत्वं सम्पद्यत इत्येतदेव जघन्याधिकारिणां मुख्यं साधनमिति सिध्यति ।
एवं सर्वमुपदिश्य जघन्याधिकारिणामेतत्प्रवृत्तिमुत्पादयितुं ग्रन्थान्तर उपदिष्टेभ्यः
साधनान्तरेभ्य एतस्य साधनस्योत्कर्षं वदन्ति नान इत्यादि ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।

नानः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

जघन्याधिकारिणामतः उक्तात् साधनजातान् परतर उक्तप्रतरः मन्त्रोऽष्टाक्ष-
रादिर्न । तदावर्तनं हि सेवाकरणाङ्गत्वेनोक्तम्, अनुकल्पत्वेन च, अतस्तथेत्यर्थः । एवमग्रेपि
बोध्यम् । स्तवः कृष्णाश्रयादिस्तोत्रपाठः, सोपि तथा, अनुकल्पत्वादङ्गत्वाच्च, विवेक-
धैर्याश्रये तथैवाङ्गीकारादिति । विद्या उपासना, तीर्थं गङ्गादि, तयोरपि भगवत्कृपाभावे
विलम्बेन फलसाधकत्वात्, श्रुतौ तद्व्रतान्यायादरणात्, भारते च यज्ञतीर्थयोः समान-
फलत्वेन कथनात् तयोरत्र पृथगुक्तिः । तेन जघन्यानामधिकारिणामत्रोक्तं योजेनादि
साधनत्रयमेवात्यावश्यकम् । तेनैव स्नेहामक्तिव्यसनानां क्रमेण गृहत्यागोत्तरं पूर्वोक्तनिरोधा-
त्मकभक्तिवृद्धिमिद्धिरिति निष्कर्षः । चाचा गोपीशाः श्रीहरिशयाश्च 'हरिणा ये विनिर्मुक्ता'
इति श्लोकोत्तरं 'संसारवेशश्लोकं' पठन्ति, तदग्रे च 'गुणेष्वविष्टचित्ताना'मित्यादीन्
क्रमेण श्लोकान् पठन्ति । ब्रजगजास्तु येन क्रमेण पेटुः, तेन क्रमेण मया व्याख्यातम् ।
व्याख्यानप्रकारस्तु सर्वेषां नैकेष्वपि इति मया स नानूदित इति दिक् ॥ २० ॥

आचार्यवैद्यकृपया हृदयस्थितेन यन् प्रेरितं भगवता ब्रजनायकेन ॥

तद्वाक्यजातमलिखत् पुरुषोत्तमारव्यः श्रीविठ्ठलेशचरणाम्बुजदासदासः ॥ १ ॥

इति श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतं निरोधलक्षणवर्णनविवृतिः ।

१ इत्यादिह्यपिभिर्भातिः । अनन्त सर्वसम्मतत्वं किञ्चान्तमुक्तावत्युक्तः ता नाविद्विषति वाक्येन
विवृतः, विच्छिद्यते चेदाभ्यात्मिक्यपि । २ सर्वसम्पर्णत्वात्मकं भोजनं तदादि । ३ व्याख्याने प्रकारद्वयम् ।
अच्यतुगुणः, शास्त्रार्थरीला बुभुक्षुबोधकश्च । तत्रायं द्वितीयः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीश्यामलात्मजश्रीब्रजराजकृतविवरणसमेतम् ।

ब्रजस्त्रीहृद्यगिरिपु रोमालियमुनातटे । तद्वाहुलतिकावृन्दे क्रीडन्कृष्णो विराजते ॥ १ ॥
गोपीशरतिमार्गाञ्जमार्तेण्डाचार्यसंस्कृतः । मयि श्रीगोपिकाधीशनिरोधोऽस्तु महाफलः ॥२॥
स्वाचार्यचरणाम्भोजकृपया तन्निरूपितः । स्वीयसौकर्यबोधाय निरोधः क्रियते स्फुटः ॥३॥
श्रीविह्वलेशपादान्जकृपारससुवृष्टिभिः । निरोधकल्पवृक्षो मे सिञ्चितः फलितो भवत् ॥ ४ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयेषु कृपया निरोधफलदित्सया निरोधस्वरूपं विवृण्वन्ति । तस्य फलात्मकानुशयनरूपत्वात्तत्र च प्रथमं प्राकट्यमपेक्ष्यत इति यथा प्राकट्यपूर्वकः सिद्धो भवेत्तथा निरूपयन्ति । यच्चेति पूर्वं येन प्रकारेण ब्रजे निरोधार्थं प्रभुराविर्भूतः स मयि नास्तीति तदभावजदैन्येन तत्प्राप्त्यर्थं तथा प्रार्थनीयो यथा स भावो भवतीत्याहुः यच्च दुःखमिति ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु घट्ट दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

यद्दुःखं यशोदाया नन्दादीनां गोपिकानां गोकुले भगवदाविर्भावपूर्वमभूत् तद्दुःखं मम क्वचित्स्यादिति सम्बन्धः । भगवदाविर्भावाज्ज्ञायते यत्सर्वेषां तत्रत्यानां तादृशं दुःखमभूद्येन भगवदाविर्भावोऽजनि । अन्यथा भगवान्निःसाधनः दुःखाभावेन प्रकटो भवेत् । चकारत्रयेण तत्सम्बन्धिनामपि तादृग्दुःखमभूदिति भावो ज्ञाप्यते । अन्यथा संसर्गतोपि दोषः स्यात् । क्वचिदिति स्वस्य दैन्याधिक्यार्थमयोग्यत्वज्ञापनाय । गोकुल इति पदात्सर्वथा तत्रत्यानां निर्दोषत्वं ज्ञापितम् । यतस्तत्रानभिज्ञतेति न चातुर्यकापट्यादिना दुःखमभूत्, किन्तु साहजिकमेव ॥ १ ॥

एतद्दुःखानन्तरभावि भगवदाविर्भावजं सुखं तत्रत्यानामिष भवेदिति प्रार्थनीयं दैन्येनेत्याशयेनाहुः गोकुल इति ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

गोपिकानां गोकुले इन्द्रियकुले, तु पुनः सर्वेषां ब्रजवासिनां भगवदाविर्भावे जाते

यत्सुखं समभूत्सुखं भगवान् किं मे विधास्यति । अत्रायं भावः । गोपिकानामिन्द्रियकुले 'आत्मानं भूषयाञ्चकुरिति न्यायेन जात आनन्दो भगवान् षड्गुणैश्वर्ययुक्तः सर्वं कृत्वा सर्वदानसमर्थस्तादृक्स्वरूपं सम्पाद्य तथा दानं करिष्यतीति समग्रो मनोरथः । तस्य भावस्यात्यन्तं दुर्लभत्वात्क्रमेण भविष्यतीति भावः । तु पुनः सर्वेषामेव ब्रजवासिनां भगवदाविर्भावे जाते य आनन्दो जातः, येन वृद्धा बालाश्च उल्लसितहृदयाः नृत्यं कृतवन्तस्तादृशं मे भगवान् विधास्यति ॥ २ ॥

ततो भगवन्नित्यस्थित्यात्मकानन्दसुखप्रार्थनामाहुः उद्धवेति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

उद्धवागमने जाते वृन्दावने ब्रजस्त्रीषु गोकुले नन्दादिषु यथा सुमहानुत्सवो जातस्तथा मे मनसि क्वचिद्भगवान्करिष्यतीति सतापमनोरथः । सुमहानिति पदेन पूर्वोत्सवादिशिष्टत्वं ज्ञाप्यते । तथा हि, उद्धवागमनात्पूर्वं मथुरास्थानां ततो भगवानत्रागत इति तत्रत्या न भगवदीया इति ज्ञानं भगवतो ब्रजनित्यस्थित्यज्ञानेन भवेत्तत्र च श्रीमदुद्धवैरत्र नित्यस्थितिर्दृष्टेति तथैव ज्ञानं भविष्यतीति मनस्युत्सवः पूर्वस्माद्विलक्षणो जातस्तथाचार्यैः श्रीभागवतविवृतौ प्रपञ्चितम् । तादृश उत्सवो मम मनसि क्वचित्स्यादिति भावः । यद्वा, गोकुले वृन्दावने वा उद्धवस्यागमने जाते सति तत्रत्यभक्तदर्शनेन तद्भावप्राप्त्यर्थं तच्चरणरजःसम्बन्धयोग्यजन्मप्रार्थनात्मक उत्सवो जातस्तथा मम मनसि स्यादिति भावः । यद्वा, उद्धवो भगवता सर्वात्मभावार्थमत्र प्रेषितस्तेनात्रत्यभक्तानामाधिक्यं स्वस्य च नित्यस्थितिर्ज्ञापिता, तेन तस्यागमने जाते सति य उत्सवो वृन्दावने गोकुले वा जातस्तथेति भावः । यतो सर्वात्मभावस्तथैव भवत्येतदेव निरोधस्थानं, तेन तथा दानेच्छा येषु तत्रैव प्रेष्यन्त इत्युत्सवो भवति तद्दानार्थं वा तथा मे मदुपरि भगवन्मनसि तासां वा स्यादिति भावः ॥३॥

नन्वेतावान्मनोरथो भावनयैव कथं सिध्येदित्याशङ्क्य श्रीमदाचार्यकृपयैव सेत्स्यतीति विश्वासपूर्वकं भावनीयं, तेन भविष्यत्येवेत्याहुः महतामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानसुखाय हि ॥ ४ ॥

महतां कृपया भगवान्यावत् दययिष्यति दयां करोति तावदानन्दसन्दोहः कृपारूपः कीर्त्यमानसुखाय पूर्वोक्ताय स भावो भवतीत्यर्थः । यद्वा, भगवान्यावत् महतां कृपां करोति तावत्कृपया जीवस्य सतापदैन्यदर्शनेन दयां करिष्यति तदा आनन्दसन्दोहः कीर्त्यमानसुखाय स्यादिति भावः । भगवान् कीर्त्यमानसुखाय यावन्महतां कृपया दययिष्यति तावद्वा स्यात् । अयमर्थः । यावत् भगवान् दयां करिष्यति तावत् महतां कृपया पूर्वमेव दयातः कीर्त्यमानसुखाय आनन्दसन्दोहः स्यादिति भावः ॥ ४ ॥

ननु श्रीमद्ब्रह्मवागमनजातोत्सवस्य विप्रयोगस्फूर्त्या दुःखसम्भावनरूपत्वात् सुखस्य महत्कृपया जातेपि तस्मिन् कथं निर्वाह इत्याशङ्काहर्मुहतामिति ।

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

महतां कृपया सदा कीर्तनं सुखदं भवतीति शेषः । अयं भावः । सदा तस्मिन्नपि समये कीर्तनं तेषामेव कृपया सुखदम्, प्राणवाधायां जीवनार्थं भवतीति भावः । यद्वन्महत्त्वमित्यर्थः । ननु विप्रयोगे गुणानां जीवनत्वं नानुभवसिद्धमित्याशङ्कास्यालौकिकत्वात्तथा भवति । लौकिकानां न तथात्वमित्याहुः न तथेति । तु पुनः लौकिकानां न तथा सुखं भवतीत्यर्थः । तत्र निदर्शनमाहुः स्निग्धभोजनरूक्षवदिति । स्निग्धभोजकस्य रूक्षवत्, रूक्षभोजनं यथा न सुखं जनयति तथेत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु ज्ञानस्य दुःखनिवारकत्वं श्रूयते, न गुणगानस्येत्याशङ्काहुः गुणगान इति ।

गुणगाने सुखावासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गुणगाने यथा सुखावासिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव जायते, अन्यतः कुतः स्यादित्यर्थः । शुकस्य चेद्गुणगानेन सुखं स्यात्तदा स्वानुभूतं स्वयमेवावश्यः कथयेन्न तु स्वामिन्य एवं गानं कुर्वन्तीति वदेत् । यद्वा, गुणगाने कृते गोविन्दस्य भगवतोपि यथा सुखावासिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव भवतीत्यर्थः । अन्यथा भगवानिव तेपि तदुःखदुःखिता भवेयुः । भगवत्स्तथात्वं 'मणिधर' इति श्लोकादिषु निरूप्यते । यद्वा, गोविन्दस्य गुणगाने या सुखावासिः पुष्टिस्थानां भवति, सा शुकादीनां भगवद्गुणगानानन्दसुखानामपि नेत्यर्थः । अयमर्थः । गोविन्दपदेन ब्रजवधूनामिन्द्रियस्य ये गुणास्तद्गुणगानेनैवासां तथा भवति । शुकादीनां सर्वावतारचरित्रमिश्रगुणगानात्तथात्वं न भवतीति भावः । अत एव निरोधचरित्रकथनप्रस्तावे प्रथमाध्याये सूतोक्तौ तदन्तः स्थितौ भगवानेवोत्तरं प्रयच्छतीति 'सभगवानथ विष्णुरात'मित्यस्मिन्पद्ये निरूपितम् ॥६॥

गुणगानमात्रेणैव कथं भगवान्निरोधात्मके कृपां कुर्यादित्याशङ्क्य तत्स्वरूपमाहुः क्लिश्यमानानिति ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वसदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

जनान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत्तदा हृदिस्थं सर्वसदानन्दं बहिर्निर्गतं कुर्यादिति सम्बन्धः । अत्रायं भावः । गुणगानस्य विप्रयोगतापे जीवनैकस्वभावत्वात्तापाप्यर्थं भगवदिच्छाकाङ्क्षया तापसहने गुणगाने कृते सति जनान् लौकिकदेहयुक्तान्, यतोऽलौकिकदेहे तापस्त्वानन्दरूप एव भवति, तान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा, यदेति तस्य

दुर्लभत्वात् कृपायुक्तो भवेत्तदा हृदिस्थं स्वहृदिस्थं सर्वसदानन्दमाधिदैविकशक्तिरूपं बहिर्निर्गतं कुर्यादित्यर्थः । गुणगानकर्तुर्भावात्मकस्वरूपं तद्दृदिस्थं बहिः प्रकटं कुर्यादिति वा ॥ ७ ॥

ननु भगवतः सर्वमेवानन्दरूपमिति गुणा अप्यानन्दरूपाः, तेन गुणगानस्याप्यानन्दरूपत्वात्कृपया भावात्मकानन्दस्य बहिःप्रकटकरणरूपस्य को विशेष इत्याशङ्काहुः सर्वानन्दमयस्यापीति ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभ इत्यर्थः । सर्वानन्दमयशब्देन भगवतो गुणादयोपि भगवद्गुणा जीवेषु रसरूपप्रतिपादकपूर्वकरसदातार इति ज्ञाप्यते । एतज्ज्ञापनायैव मयद्प्रयोगः । मयद् प्राचुर्ये । तेन सर्वमेव भगवदीयमानन्दप्रचुरमित्यर्थः । अत एव गुणगानेन रमणं फलप्रकरणान्तर्गतद्वितीयाध्याये निरूपितम् । अपिशब्देन बहिःस्वरूपप्राकट्यात्मककृपानन्दस्य कथनविशेषो ज्ञाप्यते । स च कुमारिकाव्रतायवान्तरफलपरमफलरूप इति भावः । तासां च गुणगानानन्तरं परमफलप्राप्तिस्तथैव सर्वत्र निरोधाधिकारिणामित्याशयः । कृपानन्दस्य दुर्लभत्वोक्त्याऽनुग्रहैकलभ्यत्वं ज्ञाप्यते । नन्वनुग्रहेतरासाध्यत्वे गुणानामपि तथात्वं स्यादित्याशङ्काहुः हृद्गत इति । हृद्गतः स्वगुणान्कृत्वा पूर्णो भूत्वा जनान् प्लावयते मयान् कुरुते । रासाब्धाविति शेषः । कृपयैव पूर्वमष्टादशाध्यायोक्तन्यायेन वेणुद्वारा हृद्गतो भवति, ततस्तथैव तद्दर्शनेन स्वयं तत्तापयुक्तो भवति, एतदेव पूर्णत्वम् । अत एव द्वात्रिंशाध्यायेऽस्मद्भावप्राणनाथैर्द्वात्रिंशेऽन्तर्गोपिकानामित्यारभ्य 'तेनैव पूर्णानन्द इतीर्यते' इत्यन्तं पूर्णत्वं निरूपितं पूर्वतदभावज्ञापकम् । यद्वा, स्वगुणान् तद्दर्शनेन तापकाङ्कत्वा विप्रयोगदलेनापूर्णत्वात्स्वरूपस्य द्वितीयं दलं प्रकटीकृत्य पूर्णः सन् रसैः प्लावयत इति भावः । स्वगुणोद्भूततापानां स्वस्य तेषां दुःखदूरीकरणं युक्तमेवेति भावः । भगवद्गुणानां रसात्मकानां रसरूपतापोद्बोधकता तु 'पूर्णाः पुलिन्ध' इत्यादिषु स्फुटमेव निरूपिता । तेन गुणगानस्य तत्साधकत्वमिति भावः । गुणानां च भगवद्गुणानुग्रहेतरकोटिसम्भावना न कर्तव्या ॥ ८ ॥

यस्माद्गुणानां तत्साधकत्वं तस्माद्गुणगानं स्वरूपज्ञानपूर्वकं कर्तव्यमित्याहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः ॥ ९ ॥

यतो गुणास्तत्साधकास्तस्मात्सर्वं परित्यज्य सर्वदा सर्वकालनिरुद्धैस्तद्भावापन्नैर्गुणाः गेया इत्यर्थः । सदानन्दत्वेन परिज्ञेया इति भावः । अयं भावः । 'सन्त्यज्य सर्वविषया'निति

तत्सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सहेति शेषः । 'स्वसखीभ्योन्ववर्णय'ञ्चितिवचैः सह गुणा गेया इति भावः । गुणान्विशिनष्टि स्वरूपज्ञानार्थम्, सदानन्देन कृष्णेन परिज्ञेया इति भावः । अयमर्थः । गुणगानगुणाः प्रभुणैव ज्ञेया येन तान् श्रुत्वा स्वयं तद्वशो भूत्वा स्वरूपरसदानं करोति । ननु गुणेषु सदानन्दत्वाभावादेतज्ज्ञाने कथं तत्र तत्त्वं स्यादित्याशङ्क्याहुः सच्चिदानन्देति । स्वतस्तेषु सच्चिदानन्दता सिद्धेत्यर्थः । यतस्तेषु स्वतःसच्चिदानन्दता, अतस्तथा ज्ञात्वा गेया इति भावः ॥ ९ ॥

ननु निरुद्धानां गुणगानं युक्तमिति सिद्धं, फलासाधकानां साधनदशायां कथं गुणगानं स्यादित्याशङ्क्य स्वानुभवात्मकपूर्वस्वोक्तनिरोधस्वरूपमाहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

अहं रोधेन निरुद्धः, निरोधपदवीं गत इत्यर्थः । अत्रायं भावः । भगवता येषु जीवेषु कृपया निरोधो विचार्यते, स च निरुद्धभक्तसंगेनैव सिद्धो भवति, नान्यथेति निरुद्धाना-ज्ञापयति भुवि प्राकट्यार्थं, तत्संगेन जातो यस्तीव्रतापः सः रोधपदवाच्यो भवति । श्रीमदाचार्योणामपि दैवजीवभक्तिनिरोधार्थं प्राकट्यात्प्रभवाज्ञाद्वयाकरणात्तत्सङ्गजनिततापस्य रोधत्वमिति भावः । एवं च सत्युक्तरीत्या तेषां रोधेनानुरोधेन भगवता निरुद्धः निरोधपदवीं पुरः प्रकटरूपेणैव गत इति भावः । निरोधफलस्य विप्रयोगतापानन्तरभावित्वादाचार्योणां च लीलामध्यपातिस्वरूपस्य विप्रयोगासम्भवाद्भगवता जीवेषु कृपया तद्दर्शनार्थं तथा प्राकट्यार्थमाज्ञसं, श्रीमदाचार्यैरपि तद्दर्शनार्थं स्वानुभव एव प्रदर्श्यते । यथा अहं रोधेन रुद्धस्तथाभूवम् । तथा लौकिके निरुद्धानां रोधार्थं निरोधं कथयामीत्याहुः निरुद्धानां त्विति । लौकिक इति शेषः । यद्वा, निवेदनैतत्स्वरूपेणैव निरोधयोग्यता भवतीत्याशयेनाहुः निरुद्धानामिति । निरुद्धानां स्वनिवेदितानां रोधाय भगवत्कृतलौकिकासत्तयभावाय निरोधं वर्णयामीति भावः । ते तवेत्यर्थः । त इलेकवचनेनैतच्छ्रोतुर्दुर्लभत्वं ज्ञापितम् ॥ १० ॥

एवं प्रतिज्ञाय निरुद्धस्वरूपमेवाहुः हरिणा च इति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्यर्थः । अत्रायं भावः । अकारणं सर्वदुःखहर्त्रा तत्साधनमविचार्य दुःखहरणशीलेन ये विशेषेण निर्मुक्ताः भावात्मकस्वरूपो-द्धोहरहिताः कृताः, येन च सागरे संसारसागरे मग्ना दुःखमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । ये तु अत्र अस्मिन्नेव जन्मनि भावात्मकस्वरूपेण निरुद्धास्ते अहर्निशं मोदमायान्ति, सन्तोषं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । अहर्निशपदेन भावात्मकतया गोपस्त्रीवद्गोपवच्च मोदं प्राप्नुवन्तीति व्यज्यते । अहनि अजवरविलासिनीवत्, रात्रौ गोपवत् ॥ ११ ॥

ननु तासां तेषां च विप्रयोगकेशे गुणगानदशासमयः (स) तस्य कथं मोदरूपतेत्या-शङ्क्याहुः गुणेष्विति ।

गुणेष्वविष्टचित्तानां सर्वदा सुरवैरिणः ।

संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १२ ॥

सुरवैरिणः गुणेषु आविष्टचित्तानां सर्वदा संसारविरहक्लेशौ न स्यातामिति सम्बन्धः । अत्रायं भावः । सुरस्य जलदोषात्मकत्वात्सागरस्थितस्य वैरित्वोक्तया रससागरदोषनिवारकत्वं व्यज्यते । तस्य गुणेष्वानन्दमयेषु विरहसामयिकोत्कटतापनिवारकजीवनहेतुभूतेष्वविष्ट-चित्तानां तौ न स्यातामिति भावः । चित्ते ह्यावेशोक्त्यान्यावेशाभावो बोध्यते । अत एव सर्वदेत्युक्तम् । भगवत्सेवार्थव्यावृत्तावपि तत्परत्वार्थम् । यथोक्तं जीवोत्कटतापनिवर्तका-चार्यैर्भक्तिवर्धिन्यां 'व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदे' त्यादिना । एवं गुणाविष्टचि-त्तानां भगवति संसारस्याहन्ताममतात्मकस्य विरहाभाव इति यावत्, विप्रयोगजः क्लेशश्च तावुभावपि न स्याताम् । अयमर्थः । भगवत्यहन्ताममतासहितनित्यसंयोग एव भवेत्, सुखं भवेदिति शेषः । तत्र निदर्शनमाहुः हरिवत् । हरिवत्तौ न स्यातां, सुखं भवेत् । अत्रायं भावः । भगवतो जीवेष्वहन्ताममताभावो कदापि यथा न भवति स्वकीयत्वात्तेषां तद्वि-प्रयोगजक्लेशोपि तथा । 'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मने'ति भगवतैवोक्तस्तदभावः । निवेदनानन्तरं भगवत्स्वरूपात्मकतैव सिध्यति । एवं सति भगवानिव तौ न स्यातां, सुखं च स्यादेवेति भावः ॥ १२ ॥

भगवत एवं करणे दयालुतां हेतुत्वेनाहुः तदेति ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

यदा पूर्वोक्तप्रकारेण सुखं स्यात्तदा भगवति दयालुत्वं भवेत् । अन्यथा मर्यादा-दिप्रवेशेन क्रूरता मता सम्मता, पुष्टिस्थानामिति शेषः । भगवता एवं करणेभिमाना-दिबाधशङ्का मर्यादाद्यतिक्रमात्कृतबाधो वा भवेदित्याशङ्क्य नेत्याहुः । बाधशङ्कापीति । अत्र अस्मिन्मार्गे बाधशङ्कापि नास्ति । अपिशब्देन तच्छब्दैव नास्ति कुतः पुनर्बाध इति भावो व्यज्यते । भगवदध्यासस्य दृढत्वाद्देहाध्यासाभावान्न बाधशङ्केत्याहुः तदिति । तस्य भगवतोऽध्यासोऽपि सिध्यतीति भावः । अपिशब्देन भगवतोऽप्येतदध्यासो रसरीत्या सिध्यतीति बोध्यते ॥ १४ ॥

ननु भगवतो दयालुत्वे सुखोत्पादकता भवतु, परमस्य लौकिकत्वाद्भगवतो-लौकिकत्वात्कथमेतस्य लौकिकनिरुद्धा निरोधसिद्धिरित्याशङ्क्याहुः संसारेति ।

संसारवेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

संसारवेशेन दुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै निश्चयेन तानि ईशाय योजयेदिति सम्बन्धः । अत्रायमर्थः । संसारवेशेन भगवद्विनियोगप्रतिबन्धः स्यात्, तेन तदावेशो दुष्ट इति तदभावार्थमिन्द्रियाणां निश्चयेन यथा हितं भवति, तानि भगवदर्थं योजयेत्, तेन तथात्वं भवेत् । नन्वेतत्सामर्थ्याः पूर्वं लौकिको दोषो निरूपित इत्याशङ्क्य तस्य दोषस्य वस्तुस्वरूपज्ञाने सुरूपतेति वस्तुस्वरूपमाहुः । यतो वस्तूनि सर्वाणि भूम्नः कृष्णस्य । अतो समर्पिते लौकिकत्वं नाशङ्कनीयमिति भावः । 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते' 'क्रीडाभाण्डमिदं विश्व'मित्यादिषु तथैव निरूपितम् । किञ्च, स भूमा समर्थो भवति लौकिकनिवारणपूर्वकमलौकिकत्व(सम्पादकत्व)सम्पादकः, स्वयं च लौकिकरसभोगार्थं स्वस्वरूपमर्यादोलङ्घनेनापि स्वभक्तवश्यता स्थित्या तद्भावानुसारेण तस्य रसादानार्थं रमणं करिष्यतीति भावः । यद्वा, संसारवेशदुष्टानामिन्द्रियाणां सम्बन्धीनि सर्ववस्तूनि भावात्मकानि वै निश्चयेन कृष्णस्य हिताय रसभोगार्थं योजयेत् । भूम्न इति विशेषणेन स्वस्यापि रसभोगः सिध्यतीति ज्ञाप्यते । कीदृशाय हिताय ईशाय आधिदैविकायेत्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु संसाराविष्टचित्तदुष्टानां कथं तत्र विरागेण भगवत्यनुरागपूर्वकं समर्पणं स्यादित्याशङ्काहुः भगवद्धर्मसामर्थ्यादिति ।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं याति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विषये विरागः स्थिरः स्यादित्यर्थः । भगवद्धर्माणामेतादृशमेव सामर्थ्यं येन तद्धर्मप्रवेशमात्रेणैव लौकिके विषये विरागः स्यात्, तदनन्तरं गुणैः भगवदीयैर्वर्णितैरलौकिकस्वरूपेण हरिसुखं हरेः सुखस्य स्पर्शं प्राप्नोति । कर्हिचिद्भगवदिच्छया परीक्षाद्यर्थकृतमपि दुःखं न यातीत्यर्थः । यद्वा, भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विषये भगवदीये विशिष्टो रागः स्थिरः स्यात् । किञ्च, गुणैः हरिसुखस्पर्शं याति । अयं भावः । गुणगानेनालौकिकत्वे सम्पन्ने हरेरपि सुखरूपः स्पर्शो यस्य तादृग्भावं प्राप्नोतीत्यर्थः । किञ्च, हृदयतो दुःखं विप्रयोगङ्गेशानन्दानुभवात्मकं कर्हिचिदपि न गच्छतीति भावः ॥ १५ ॥

एवं निष्प्रत्यहं तत्स्वरूपं निरूप्य तत्कर्तव्यप्रकारमाहुः एवमिति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षं गुणवर्णने ।

अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण ज्ञानमार्गादुत्कर्षो निरूपितस्तं गुणवर्णने ज्ञात्वा अमत्सरैर्मत्सरादिदोषरहितैर्ज्ञानादिषु अलुब्धैः स्वस्य रसभोगेच्छायां भगवदिच्छार्थं गुणाः सदा वर्णनीया इति भावः । सदेति पदेन क्षणमप्यन्यथा न स्थेयमिति ज्ञापितम् । यद्वा, गुणवर्णने य उत्कर्षस्तं ज्ञानमार्गात्सर्वं भगवदर्थमितिरूपाद्भगवदुपादिष्टगोपतुल्याद् (?) ज्ञात्वा सदा अमत्सरैः

सापल्यादिदोषरहितैरलुब्धैर्भगवतः स्वामृतग्रहणसमये मानादिदोषरहितैर्गुणा वर्णनीयास्तद्भावात्पर्यर्थं, ब्रजविलासिनीवत्स्वसमानशीलेष्विति शेषः ॥ १६ ॥

एवं गुणवर्णनस्यावश्यकत्वं सोपपत्तिकमुपपाद्य तद्दर्शने क्लेशसहनात्मकं दूषणमुद्भाव्य परिहरन्ति हरिमूर्तिरिति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथाकृतिगती सदा ॥ १७ ॥

सदा हरिमूर्तिर्ध्येयेति सम्बन्धः । अकारणसर्वदुःखहर्त्रा दुःखहरणार्थमेव मूर्तिधारकस्तस्य ध्येयेति भावः । हीति युक्तश्चायमर्थः । स्वस्य तदर्थप्रयोजनात्सैव ध्येया । ननु तद्द्वयानमात्रेण कथं दुःखनिवृत्तिः स्यादत आहुः दर्शनमिति । ध्यानेन दर्शनं स्पर्शनं च स्पष्टमेव भवतीत्यर्थः । ननु दर्शनं स्पर्शनं च योग्यरूपाभावे कथं स्यादित्यत आहुः तथेति । ध्यानेन तथा आकृतिर्गतिश्च भवेताम् । सदेति नित्यमित्यर्थः । न स भावः पुनरन्यथा भवेत् ॥ १७ ॥

नन्वेतत्सर्वं फलदशायां सम्भवति, न साधनदशायामित्याशङ्क्य साधकानां तत्सिद्ध्यर्थमुपायमाहुः श्रवणमिति ।

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।

पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

श्रवणं कीर्तनं तथात्वसम्पादकं स्पष्टमेव, तस्मात्कर्तव्यं, तत्करणेन तथात्वं स्यादित्यर्थः । तथाभूतस्य दुःसंगवर्जनमाहुः । भगवदप्रियस्य त्यागे निदर्शनमाहुः पायुरिति । मलांशत्यागेन यथा पायुरृह्यते तथा बहिर्मुखपुत्रादित्यागेन शेषभागं तनौ स्वकीयत्वेन नयेत् ॥ १८ ॥

ननु सर्वेषामात्मा भगवानेवास्ति, तस्मात्कथं त्यक्तव्याः, स्वान्तरङ्गत्वादपि त्यागो-नुचित इत्याशङ्काहुः यस्येति ।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा त्रिनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

यस्य भगवत्कार्यं स्पष्टं न भवति स न भगवदंशः किन्तु प्रकृत्यंश एव, आन्तरं तथा भावे बाह्यमपि तथैव भवति, अन्यथा तु पाषण्डित्वमेव । अत एव निबन्धेऽस्तत्राणेश्वरैः 'कृष्णसेवापर'मिति श्लोकविवरणे सेवापरगुरुरित्यादिना तथैव निरूपितम् । विकल्पेन यस्यार्थं भगवान् स्वकार्यं रसरूपं स्पष्टं करोत्येवं न दृश्यत इति व्यज्यते । तदापि निरूपितो यो हस्तः वामहस्तस्तस्य विधिः कर्तव्यः । अयमर्थः । यथा मलांशत्यागानन्तरं वामहस्तस्य शुद्धिं विधाय सर्वकार्योपयोगित्वं क्रियते तथा तस्य स्वात्मजत्वात्तत्र स्वांशभगवति निवेदनं कृत्वा स्वांशं स्वस्मिन्नावश्यं तस्य त्यागो विधेयः । अस्मिन्नर्थे न सन्देह इत्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं निरोधस्वरूपं निरूप्यान्यनिषेधपूर्वकमेतत्करणार्थमस्य सर्वाधिकत्वमुक्त्योप-
संहरन्ति नात इति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

अतः परतरो मन्त्रो नास्ति, तेन मन्त्रादिषु विश्वासं विहायायमेव ग्रन्थो जाप्यः ।
एतदुक्तप्रकारेण स्थेयमित्यर्थः । अतः परतरोन्यः स्तवो न । तेनैतदुक्तप्रकारेणैव प्रभुः
स्तुत्य इत्यर्थः । अतः परतरा विद्यापि न । या विद्यैकोनविंशत्याये व्रतप्रस्तावे निरूपिता
सेयमेवेत्यर्थः । अतः परतरं तीर्थमपि न । तीर्थे प्रतिबन्धकपापनिवर्तकत्वमस्ति, न त्वाधि-
दैविकप्रतिबन्धनिवर्तकत्वम्, अस्य चाधिदैविकतन्निवर्तकत्वमस्तीति नातः परतरं तन्निवारक-
मन्यदिति भावः । तस्मात्प्रतिबन्धकापगमार्थमेतदेव स्तोत्रं सेव्यमिति भावः ॥ २० ॥

इति श्रीगोपिकाधीश्वरलभाचार्यसूचितः ।

निरोधो विवृतस्तेन सदा तुष्यन्तु ते मयि ॥ १ ॥

निरोधसंशयोऽनेन प्रकारेण सदा बुधैः ।

छेत्तव्य इति हि ज्ञात्वा तत्कृपातो विवेचितः ॥ २ ॥

इति श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजविरचितं निरोधलक्षण-
विवरणं सम्पूर्णम् ॥

परिशिष्टम् ।

‘निरोधलक्षणकी टीका प्रथम श्रीहरिगयजुने कीनीथी पत्र २२’

अथ विचार्यते, को निरोधः ? किञ्च तस्य कारणम् ? कथं वा फलत्वमिति । प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका
आसक्तिनिरोध इति । न चासक्तिमात्रं निरोध इति वाच्यम् । विषयात्मको व्यभिचारात् । न च तत्र
प्रपञ्चविस्मृतिः, किन्तु तदभिनिवेश एव । न चासक्तिविषयानिरेक्तप्रपञ्चविस्मृतेर्विषयसाधारण्येनातिव्या-
प्तिरिति वाच्यम् । प्रपञ्चशब्दस्य तस्मान्मान्याभिप्रायत्वात् । न च लौकिकासक्तिविषयो न प्रपञ्चः । न च
प्रपञ्चमात्रास्मरण आसक्तेर्निर्विषयत्वापात इति वाच्यम् । प्रपञ्चातीतस्य तद्विषयत्वात् । न च तद्विषयस्य
तदतीतत्वे प्रापञ्चिकजीवासक्तेरविषयत्वमिति वाच्यम् । योगजधर्मप्रत्यासत्या अतीन्द्रियार्थस्यैव भक्त्या
प्रपञ्चातीतस्य विषयत्वोपपत्तेः । ननु प्रपञ्चत्याग एव कृतो न निरोधविशेषणमिति चेत् । न । तस्य ज्ञान-
मार्गीयमोक्षसाधनत्वात् । ‘भक्तानां गृहमेव विधिभ्यत’ इत्युक्तत्वाच्च । तस्माद्द्विस्मृतिमात्रमेवात्र भृग्यमिति ।
स च निरोधो द्विविधः । भागवतोऽन्यश्च । तत्र भागवतो भगवतः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं भक्तविषयकास-
क्तिरिति । ‘निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिमि’रिति वचनात् । अख्येति पश्चात् भेदेन निर्देशाच्च ।
‘निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे श्रीडनं हरे’रित्याचार्यचरणैर्विद्वृतत्वाच्च । लीलारूपेण सर्गादिषु परिगणितत्वाच्च ।
नन्वत्र लक्षणमिदमनुपपन्नम्, भक्तानां प्रापञ्चिकत्वेन भगवतस्तद्विषयकासक्तौ प्रपञ्चविस्मरणभावादिति
चेत्, उच्यते । प्रापञ्चिकत्वं केन प्रकारेण ? न तावत् प्रत्यक्षम्, अस्मादादिप्रत्यक्षागोचरत्वाननुभवात् ।
भक्तविशेषप्रत्यक्षत्वस्याप्रापञ्चिकत्वानुकूलत्वात् । अत एव तथात्वं बोधयन् भगवान् भक्तानामर्जुनं प्रति
‘दिव्यं ददामि ते चक्षुः’रित्युक्तवान् । ‘यद्दि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिता’ इति श्रीभागवत-
वाक्याच्च । नाप्यनुमितिः, अनुकूलतर्काभावात् । न च दृश्यत्वादेरनुकूलतर्कत्वमिति वाच्यम्, दृश्यत्वस्य
प्रागुक्तप्रकारैर्व्यवस्थापितत्वात् । शब्दस्तु ‘जयति जननिवासः’, ‘तद्विष्णोः परमं पदम्’ ‘तद्विप्रासः,’
‘मन्निष्टं निर्गुणं स्मृतम्,’ ‘तं भजन् निर्गुणो भवेत्,’ ‘मुक्तोपसृप्यन्यपदेशात्,’ ‘मुक्ता अपि लीलाविग्रहं
कृत्वा भजन्त’ इत्यादिवाक्यैरनुकूल एवेति नानुपपन्नं किञ्चित् । ननु अस्तु भक्तानां तथात्वम्, तथापि
भगवतोप्रतिहतज्ञानशक्तेः प्रपञ्चविस्मरणं कथमुपपाद्यत इति चेत्, इत्थम् । भगवतोऽनन्तशक्तिमत्त्वेन
यदा यदर्थं यां शक्तिभाविर्भावयति, सा तदा तत्कार्यानुगुणा भवति । एवञ्च सति ‘श्रिया पुष्टये’ति
वाक्ये मुख्यशक्तिप्रायपाठाद्विद्याया अपि सत्येन तदाविर्भावनादज्ञत्वमप्युपपन्नम् । न च विरोधाद्-
ज्ञत्वे सर्वज्ञत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम् । विरुद्धविविधधर्माधारत्वस्य ‘तदेजति तन्नैजती’त्यादिश्रुतिसिद्ध-
त्वात् । एतच्च यथा तथा सविस्तरमस्मत्स्वामिभिर्निरूपितं विद्वन्मण्डने । न च ‘बन्धोस्याविद्यायाऽनादि-’
रिति वाक्याद्विद्याध्रयत्वे तथा बन्धसम्भव इति वाच्यम् । तस्य मुख्यमायाशक्तिजन्याविद्याशक्तिजन्य-
त्वात् । ‘विद्याविद्ये मम तन्न विद्वद्युद्धव शरीरिणाम्, बन्धमोक्षकरी भावे मायया मे विनिर्मित’ इति
वाक्यात् । तदेव श्रीमदाचार्यैर्निरूपितं निबन्धे, ‘विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते, ते जीवस्यैव
नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशते’ति । तां च प्रभुः भक्तिमार्गं एव आविर्भावयतीति ‘मदन्यत्ते न जानन्ति
नाहं तेभ्यो मनागपी’ति वचनादवसीयते । अत एव निरूपितं केनचित् भगवत्स्वरूपतत्त्वामिज्ञेन ‘संमुष्णन्’
इत्यादि ; तदेतत् सर्वमाचार्यैर्‘यथार्थकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम’ इत्यत्र निरूपितमिति सहृदयैस्तत एव
विभाषनीयम् । अथ किं तस्य कारणमिति चिन्त्यते । न तावन्नोक्त इव वासनया जन्यत इति वक्तुं
शक्यम् । तस्या अनुभवजन्यत्वात् । भगवतश्च साक्षात्कारान् प्राक् लौकिकविषयविषयीन्द्रियाविषयत्वेन
अनुभवात् । साक्षात्कारे तु दिव्यदृष्टिदानेन तथात्वसम्भवात् । ‘दिव्यं ददामि ते चक्षुः’रिति वाक्यात्,
‘कश्चित् धीर’ इति श्रुतेश्च । नापि भक्तिः, सा च द्विविधा, मर्यादापुष्टिभेदेन, तत्र न तावदाद्या, तस्या
१ ति. क.

‘भक्त्या स्वतन्त्र्या,’ ‘विशते तदनन्तरम्’ ‘ज्ञानयोगश्च मज्जिष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः,’ इत्यादिवाक्यैः पुरुषोत्तमसायुज्यफलकत्वेन निरोधाजनकत्वात् । ‘ननु भक्त्या सञ्जातये’त्यादिवाक्यैर्मर्यादाभक्तेः पुष्टिभक्तिफलकत्वेन, सा च निरोध इति कथं न निरोधजनकत्वमिति चेत्, उच्यते, तस्या अनुग्रहसहकारित्वेन परम्परासाधनत्वात् । अन्यथा ‘नोपासितमहत्तमा’ इति वाक्यं विरुध्येत । महदुपासनस्य मर्यादाभक्तिरूपत्वात्, न द्वितीया । तस्यास्तदभिन्नत्वात्, न हि स्वमेव स्वं प्रति साधनं भवति । तर्हि किमात्मिकत्वमेवेति चेत्, न, तादृशविशेषानुग्रहस्य कारणत्वात्, तादृशत्वं गुणगानसहकृतत्वं विशेषश्च तथा फलदानेच्छेवेति संक्षेपः । वस्तुतस्तु न गुणगानादेरपि साधनत्वं, निःसाधनत्वभंगात्, तथापि योगक्षेमसाधारणसाध्यत्वमादाय तथोक्तम् । अथ कथं निरोधस्य फलत्वमिति । सुखदुःखाभवादन्यतरभावात् । प्रच्युतासक्तिः स्वविषयाप्राप्त्या दुःखसहकृतत्वाच्चेति । उच्यते । निरोधो हि प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिः, सा च स्वविषयविषयकविधिमनोरथजनको भावः, तस्य च स्वरूपत्वेन सुखरूपत्वात् । ‘रसं हि एवायं लब्ध्वा आनन्दीभवती’ति श्रुतेः । प्रपञ्चविस्मृतिरूपत्वेन प्रापञ्चिकदुःखाभावरूपत्वाच्च । किञ्च, फलं हि पुरुषार्थः, तत्त्वं च तेन स्ववृत्तितयेष्यमाणत्वम् । तथा च आसक्तिमध्यपरितदुःखस्य आकाङ्क्षणीयत्वेन तथात्वम् । ‘विपद्ः सन्तु ताः शश्वदिति वाक्यात् । अन्यथा श्येनादावपि तज्जन्यनरकस्य तदुभयरूपत्वाभावेन फलत्वं न स्यात् । ‘भूयान् मे नरकः शशुर्विपद्यतामिति धिया श्येनकरणात् । सुखसाधनं तदिति चेत्, तदा प्रकृतेऽपि दीयतां दृष्टिः । न च सुखभ्रमात् प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । नरके सुखभ्रमायोगात् । तस्मात् पुरुषार्थ एव फलम् । वस्तुतस्तु दुःखमेव न, किन्तु परमानन्द एव । अत एव श्रीशुकैः सर्वान्ते ‘रेमिरे’ इत्युक्तम् । अत एव श्रीमदाचार्यैः ‘रतो निरोधो महाफल’ इत्यभिहितम् । एवं सति भक्तिमार्गे निरोधस्यैव फलत्वात् ससाधनतत्परिपणं कुर्वन्तः श्रीमदाचार्याः तस्य दुर्लभत्वज्ञापनाय प्रार्थनारूपेण निरूपयन्ति ‘यच्च दुःख’मिति । निरोधो हि प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं भगवदासक्तिः । सा च स्वविषयदर्शनाभ्यां सुखदुःखात्मिका । यदिति पदात् दुःखं च लोकविलक्षणं स्वरूपात्मकत्वात् कोटिकोड्यानन्दरूपं युगपत्सर्वलीलानुभावकं भगवदाभिर्भावकम्, अतो निरोधस्य प्रथमांशो दुःखं प्रपञ्चविस्मृतेर्भगवदर्थदुःखजन्यत्वात् । अतो मूलभूतत्वादान्तेष्वस्यैव फलत्वादभ्यर्हितत्वेन प्रथमांशं दुःखं प्रार्थयन्ति ‘यच्च दुःख’मिति । यद् दुःखं यशोदाया नन्दादीनां चकारादभ्येषां गोकुले अस्ति तद्दुःखं मम क्वचिदपि स्यादिति सम्यग्भ्यः । नन्वेतत्सर्वं निरोधस्य फलत्वे, तदेव तु न, सुत्त्यादेरन्वयैव तथात्रसम्भवादिति चेत् । न, अनाकलनात् । ‘मानसी सा परा मता’ ‘चेतस्तत्रवर्णसेवे’त्यादिभिः सिद्धान्तमुक्त्वावल्यामाचार्यैर्निरोधपदार्थस्यैव फलरूपसेवात्वेनोक्तत्वात्, अतो न काञ्चिच्छंकेति भावः । मातृचरणदुःखस्य स्त्रीस्वभावतोऽधिकत्वात् प्रथमोक्तिः । ननु पूर्वकेशेन भगवदानन्दसिद्धिप्राप्ताः किं क्लिष्टा एवेति चेत् । अत्रायं भावः । भगवति मथुरां प्रति प्रस्थिते, तत आरभ्य मातृचरणादीनां स्वरूपात्मकविप्रयोगदानेन ते क्लिष्टा एव, परं स महारसो विलक्षणानन्दः । फलस्येयमेव पर्यवसितिर्यदैवमानन्दानुभवः, अतस्तन्मनोरथं कुर्वन्ति ‘स्यान्मम क्वचि’दिति ॥ १ ॥ एवं यशोदादिदुःखं प्रार्थयित्वा अतिदुराणं गोपिकादुःखं प्रार्थयन्ति ‘गोपिकानां त्वि’ति । तुशब्दः पूर्वस्मादुत्कटवप्रदर्शकः । गोपिकानां व्रजसीमन्तिनीनां यत् श्रीभागवतादौ निरतिशयत्वेन प्रसिद्धं स्वरूपात्मकं तत् क्वचिदपि देहेन्द्रियप्राणेषु स्यादिति मनोरथः । यशोदानन्दादीनामेतत्सुखस्य स्वस्य रासस्त्रीभावपूरितविग्रहत्वेन अयोग्यतया अप्रार्थनीयत्वाद् गोपिकादीनामेव सुखांशं प्रार्थयन्ति ‘गोकुले गोपिकानां चे’ति । गोकुले भगवतो लीलासिर्वेणुनादादिरूपाभिर्गोपिकानां, चकाराद्रोपानां सर्वेषां व्रजवासिनां चापि यत्सुखमनुभूयमानलीलालयसम्पादकमभूत्, तत् किं मे विधास्यति । अन्यत्र तथाकरणे सामर्थ्याभावमाशङ्क्याहुः ‘भगवा’निति । स हि सर्वं कर्तुं समर्थः । अतोऽन्यत्रापि तथा करिष्यत्येवेत्यर्थः ॥ २ ॥ एवं दुःखं प्रार्थयित्वा लीलासिर्वेणुनां तदपि प्रार्थयित्वा आसन्निकविप्रयोगदानानन्तरं यत्सुखं तदपि प्रार्थयन्ति, उद्धवागमन इति । उद्धवस्यागमने जाते यथा गोपिकानां मनसि भगवत्सारूप्य-

दर्शनेनोत्सवो जातस्तथा मे मनसि क्वचिदपि स्यादिति सम्यग्भ्यः । वृन्दावने गोकुले वेति । वाशब्दः समुच्चयार्थः । यत्र तद्गुणानेव गयन्त्यो व्रजसीमन्तिन्यः सम्भूय स्थितास्तत्र वृन्दावने, तासां नन्दादीनाञ्च गोकुले य उत्सवः स इति तथेति ‘गच्छोद्धव व्रजं’ ‘प्राप्तो नन्दव्रज’मित्यादिसामान्योक्त्यावसीयते । ननुत्सवः कश्चित् पूर्वतन एव, तं विलोकयान्तमित्यादिनोक्तः प्रार्थनीय इति चेत्, तत्राहुः सुमहानिति । पूर्वस्तु महान् सुकल्यादिभ्यः, अयं तु अत्यास्त्युत्तरकालीनत्वात् सुतरामेव महान्, सुविस्मिताः कोयमपीच्यदर्शनः इत्यादिनोक्तः ॥३॥ एवमलौकिकसामर्थ्यरूपो सुखो निरोधः स्वस्यैव तदधिकारित्वेन स्वविषयतयैव प्रार्थितः । अन्येषां तु भगवान् महापुरुषरूपया स्वाधिकारानुसारेण सायुज्यं वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेहं वा दास्यतीत्यभिप्रायेण तावत्पर्यन्तं स्थितिप्रकारमाहुः महतामिति । यावत् भगवान् फलोन्मुखां दयां करिष्यति तावत् कीर्त्यमानः कीर्तनविषयीक्रियमाण एव सुखायेत्यर्थः । ‘महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे,’ ‘विना महत्पादरजोमिपेकम्,’ ‘किरातहूणान्ध्र,’ ‘देवर्षि मे श्रियतमः,’ ‘त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन,’ ‘सदनुग्रहो भवा’नित्यादिवाक्यैर्भगवतो दयायां च नान्यत्कारणमिति वक्तुमाहुः महतां कृपयेति । एतेन भक्तिमार्गस्य त एव निर्वाहका इत्युक्तं भवति । ननु कीर्त्यमानेपि भगवति फलपर्यन्तं श्रमेण कर्मादिष्विव दुःखमेवेत्याशङ्क्याहुः आनन्दस्वन्दोह इति । भगवत्सत्त्वात्वेन तद्गुणानामपि तदभिन्नतया स्वरूपसमानयोगक्षेमत्वात् साधनदशायामपि तत्कीर्तनेनानन्द एव भवतीत्यर्थः । अत एव अवगतभगवत्कथारसः परीक्षिदेव तदर्थकमेव ‘श्रोत्रमनोसिरामा’दिति विशेषणमुक्तवान् । हि युक्तो यमर्थः । आनन्दे कीर्त्यमाने सुखस्य युक्तत्वात् ॥४॥ ननु कीर्तनं हि सुखसाधनम्, तत्र महतां कृपयेति को वाग्रहः, यथाकथञ्चिदपि कृतं तत्सुखसाधनमिति प्रश्नेनेत्याहुः महतां कृपयेति । यथा महतां कृपया अलौकिकानां भगवत्सम्बन्धिनां सदा कालापरिच्छेदेन कीर्तनं तापनिवारकं भगवतः प्रादुर्भावकं निरोधजनकं, तथा लौकिकानां लोकसम्बन्धिनां महापुरुषद्वारा भगवच्छरणगतानां कीर्तनं न तथेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाहुः स्निग्धभोजनरूक्षवदिति । स्निग्धस्य पदार्थस्य भोजने रूक्षं । तुशब्दो भिन्नप्रकारत्वद्योतनाय । स्निग्धस्य पदार्थस्य भोजने रूक्षस्य प्रीतिरहितस्येवेत्यर्थः । यथा कस्यचिज्ज्वराद्यभिभूतस्य स्निग्धं वस्तु न रोचते तस्य यथा तद्वसानभिन्नरसञ्च प्रतिदिनं क्षीयमाणस्य न तद्भोजनं पुष्टिफलम्, तथा प्रकृतेपि महापुरुषरूपाभावरूपदोषयुक्तानां तादृशकीर्तने रूक्षाणां लौकिकानां कीर्तनस्य न पुष्टिफलत्वमिति भावः । यद्वा, स्निग्धं भोजनं यस्य स च रूक्षः रूक्षभोक्ता च तयोरिव तद्वदिति । तथा च यथा स्निग्धरूक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथात्रापीत्यर्थः ॥५॥ ननु ‘तरति शोकमात्मवि’दिति श्रुत्या ज्ञानेनैव दुःखनिवृत्त्या सुखप्राप्तेर्ज्ञानावस्थयैव श्येयं, किं गुणगानेनेति चेत्, तत्राहुः गुणगान इति । यथा गोविन्दस्य गोगोकुलपतेर्गुणानां गाने स्तुतिवृत्त्या कथने शुकानां पूर्णज्ञानवतामपि सुखं तथा तेषामेद आत्मनि स्वात्मविषये ब्रह्मात्मैक्यज्ञानेन जायमानं यत्र न तथेत्यर्थः । अत एव व्यासस्येतरपुराणेतिहासकथनेष्वपरितोषः, परितोषश्च श्रीभागवतकथनेनेति दिक् । अत एव ‘लोकान्श्च लोकानुगतान् पशुंश्च हित्वाश्रितास्ते चरणात्पत्रम्, परस्परं त्वद्गुणवाद्दसीधुपीयूषनिर्वापितदेहधर्माः’ । ‘अथ ह वाव तव महिमाश्रुत, यदनुचरित, तव कथामृतं, श्रवणादर्शनात्, येन्यतो भागवताः’ । तत्र अन्यतः अन्येषां अन्यतः विषयादिभ्यो वा अन्यत्र देहादौ कृत इत्यर्थः । सार्वभिककस्तसिद्ध । ‘ज्ञाने प्रयासमुदपास्य, निवृत्ततपैः, नैपातितुःसहा’ इत्यादि वाक्यैः श्रीभागवते तथैव निरूपणाच्च । ननु तरति शोकमाचित्, तमेव विदित्वातिमृत्युमेतीत्यादिश्रुतेः का गतिरिति चेत्, अत्र वदामः, तस्मान्मङ्गलिक्युक्तस्येति वाक्याद्भक्तिमतौ ज्ञानानपेक्षणात्ज्ञानिनस्तु नैकस्यैवमीत्यादिवाक्यैर्भक्त्यपेक्षणात्तन्निर्पेक्षभक्तमार्ग एव समीचीनः । श्रुत्यादिषु ज्ञानफलोक्तिस्तु दुःखाभावपर्यवसानेव, परमानन्दावासिस्तु भक्त्यैव । वस्तुतस्तु दुःखाभावोप्येतदधीन एव । अनर्थापशममिति वाक्यात् । अत एवाचार्यैरानन्दमयाधिकरणे ‘एवं सती’त्यारभ्य स्वीयत्वेन वरणे भक्त्यभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवतीति निर्णीयत इत्यभिधापि ॥ ६ ॥ ननु गुणगाने कृतेपि किं भवतीत्याशङ्क्य तत्र प्रवृत्त्यर्थं परिचायकं फलमाहुः क्लिश्यमानानिति । गुणगानेन तत्स्वरूपस्य तस्यास्यर्थं क्लिश्यमानान्

उपतपतो जनान् इष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत् तदा सर्वं सर्वात्मकं सदानन्दं परं ब्रह्म हृदिस्थं परमन्वोक्तिं प्रादुर्भूतं वहिः प्रकटं भवतीत्यर्थः । अत एव ब्रजसीमन्तिनीनां गुणगानेन हृदि प्रादुर्भूय तन्मनस्का इत्यादिना तथाभावसम्पत्तौ कृपया भगवान् प्रादुर्भूत इत्युच्यते । तदेवोक्तमाचार्यैः 'नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्, भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधन'मिति । यद्वा, सदानन्दस्य भगवतो हृदिस्थं भूमिप्रायादिकं वहिर्निर्गतं भवतीत्यर्थः । अत्रायमभिसन्धिः । 'रुद्रुः सुखरं राज'श्चि-
त्यादिना तादृशभावे यदा कृपायुक्तो जातस्तदा भगवतोभिप्रायः प्रभुणैव मया परोक्षं भजता, न पारयेहं निरवयसंयुजामित्यादिना विर्भावित इति तथेत्यर्थः ॥ ७ ॥ ननु किमिति कृपापेक्षया गुणगानेन हेतुः सम्पादनीयः, ज्ञानलिप्त्या ब्रह्मानन्द एव सम्पाद्यतामिति चेत्, तत्राहुः 'सर्वानन्दमयस्यापी'ति । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानीति श्रुतेः सर्वत्र स्थितो य आनन्दः स भगवति प्राचुर्येण वर्तत इति तदा-
श्रितस्य मानुषानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दो न कस्यापि दुर्लभत्वम्, 'सर्वं मद्रक्तियोगेने'ति वाक्यात्, तथापि कृपानन्दः कृपारूपो य आनन्दः स भगवद्दर्माणां स्वरूपसमानयोगक्षेमत्वात् कृपया वा यो भजनानन्दस्त्वः स तु सुतरां दुर्लभ एव । ब्रह्मानन्दस्यापि दुर्लभत्वात् । सम्भवति साधनमिह किञ्चिदिति चेत् ? गुणगान-
मेवेति गृहण । अत एवोक्तमाचार्यैः 'लौकिकक्रीडु संसिद्धः तद्द्वारा पुरुषे भवेत् । स्वानन्दस्थपनार्थं हि योग्यतापि निरूपिता । अतो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यत' इति । एतदर्थस्तु प्रभुचरणै-
रेवं विवृतः । 'भजनानन्दस्य स्वरूपारम्भत्वेन रसरूपत्वात् तस्य च स्वशास्त्रसिद्धयैव तथात्वात् भगवदतिरिक्तलोके विवाहवतीषु सम्यक्सिद्धो भवति । तत् एतत्कथाश्रवणेन तद्भावोदये पुरुषेपि स रसो मयेत्, नान्यथेति स्त्रीष्वेव तद्भवनमित्यर्थ इति । तत्रैव द्वितीयकारिकार्थनिरूपणे यद्वा, बलदेवे स्वधर्मान् निरूपयता भगवता 'गोप्योन्तरेण मुजयोरपि यत्सृष्ट्वा श्री'रिति वाक्ये श्रियोपि स्पृहानिरूपणेन तस्या अपि दुर्लभो यो रसः तं प्राप्य गोप्यो धन्या इति ब्रजस्त्रीष्वेव स्वानन्दानुभवयोग्यता निरूपिता, नान्येषु नान्यासु वेत्यर्थः । तथा च तत्रैवैतदधिकारित्वात् तथेति भाव इत्येतत्सर्वं हृदिक्लृप्तं कृपानन्दः सुदु-
र्लभ इति । 'नायं सुखापः' 'नेमं विरञ्जः' 'एताः परं' 'केमाः स्त्रियः, नायं श्रियः' 'आसामहो' इत्यादि-
वाक्यैः श्रीभागवतेपि तस्य तथात्वमिरूपणाच्च । कृपानन्दस्य दुर्लभत्वबोधकं तत्कार्यमाहुः 'हृद्गतः' इति । हृद्गतः हृदयप्रविष्टः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः गुणगानेन प्रतिक्षणं वर्धमानः जनान् ध्रावयते रससिन्धौ निमज्जयतीत्यर्थः । अत एव 'बर्हापीडे'ति पद्ये स्वामिनीनां सुधाद्वारा भावात्मकः प्रभुरन्तःप्रविष्टो 'अक्षयवता'मित्यादिभिस्तद्गुणश्रवणेन पूर्णः क्रीडामयतामेव सम्पादितवान् । अत एवोक्तं श्रीमदाचार्यैर्युगलगीते 'अन्तः प्रविष्टो भगवान् सुखादुद्धृत्य कर्णयोः, पुनः प्रवेश्यते सम्यक् तदा भवति सुखिर'इति । एतद्विचरणे यथार्थस्तथैवास्मानिरुक्त इति सर्वमनवद्यम् ॥ ८ ॥ एवं सोपपत्तिकं गुणगानं तत्स्वरूपम् निरूप्य कर्तव्यत्वेन तदुपसंहरन्ति 'तस्मा'दिति । यस्मात्कर्मज्ञानोपासनादि-
मार्गतो भक्तिमार्गो निरतिशयितनिजविषयः 'नैष्कर्म्यमपि पूजादिना ब्रह्मलोक'मित्यादिवाक्यात् तस्माद्धेतोः सर्वं कर्मज्ञानोपासनादिकं परिलज्ज्य सवासनं त्यज्त्वा निरुद्धैर्भगवता स्वीयत्वेन वृत्तरत एव किञ्चिद्विस्मृतप्रपञ्चसदृशं साधनानि विदधन्निर्गुणा एव सर्वदा सर्वदृष्टातारस्तत्कर्तव्यत्वेन ज्ञेया इत्यर्थः । ननु वेदमार्गानुसारेणेति वाक्यात् तन्मार्गस्य व्याख्यातुमिर्बहुविधत्वात् केवलं स्वगुणान् गायेदिति शङ्काप्यामाहुः सदानन्दपरैरिति । सदानन्दः आनन्दमयः परः परमात्मा परमकाष्ठापन्नो न तु पुच्छादि येषां तादृशैरित्यर्थः । विधया विशेषणमेतत् । अनेन ब्रह्मवादे स्थित्वा गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तं भवति । ततः तेभ्य एव गुणेषु जीवस्य सच्चिदानन्दता गुणत्रयाभिर्भावेन अक्षररूपतया पुरुषोसमा-
भिर्भावयोग्यता भवतीत्यर्थः । स्वत इति पाठे गुणगाने क्रियमाणे स्वत एव वस्तुस्वाभावात्साक्षात्त्वम्, न तु तदर्थं प्रयत्नान्तरापेक्षेति तथेत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवं गुणगानकर्तव्यतामभिधाय निरोधलक्षणलील्यैव तत्सिद्धि-
रिति स्वस्य स्वीयार्थमेव निरोधविवृत्तिकर्तृत्वमिति वदन्तः तस्य फलाव्यभिचारिताज्ञानाय दृष्टान्तं निरूपय-
स्तस्तत्र स्वानुभवं प्रमाणमन्ति, अहं निरुद्ध इति । अहं निरोधेन स्वरूपं रणद्धि आचूणोति तादृशेन गुणेन

गानद्वारा निरुद्धः भगवता स्वगुणैराचूणतलवेन्द्रियः निरोधपदवीं निरोधस्य मार्गं गतः प्राप्त इत्यर्थः । गत इति कर्तरि क्तः । यद्वा निरोधेन भगवता भक्तेषु कृतेन निरोधेन तद्भावनया अहं तथेत्यर्थः । अत एवोक्तं 'भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते' इति । नन्वेतादृशस्य किं निरोधवर्णनप्रयासेनेत्यत आहुः निरुद्धानां त्विति । निरुद्धत्वे प्रकारान्तरद्योतनाय तुशब्दः । भगवता शास्त्रानुसारेण प्रमेयबलेन चात्मसात्कृतानां निरोधाय प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं स्वासक्तिसिद्धयर्थं निरोधं निरोधलक्षणं भक्तेषु भगवत्कृतं वा वर्णयामीत्यर्थः । वर्तमानक्रियापदात् सर्वदा एतदमिनिवेशः सूचितः । तेषामर्थं भगवन्तं विज्ञापयन्त इवाहुः त इति । स्वत्वम्बन्धिनां तेषां त्वत्वम्बन्धिनं निरोधं वा । अत एव उभयथापि तवैवायं भार इति भावः ॥ १० ॥ नन्वेतादृशेषु गुणेषु विद्यमानेषु कथमत्र सर्वं न प्रवर्तन्त इत्याशङ्क्य तदभाष्यमेव हेतुत्वेन वदन्त आहुः हरिणेति । य इति भाग्यरहिताः । यतस्ते हरिणापि सर्वदुःखहर्त्रापि भगवता विशेषेण नितरां मुक्ताः । उपसर्गादयं कथमपि येषां प्राह्यभावात् । निबन्धायासुरी मतेति प्रयोजना-
भिधानात् । मामप्राप्यैवेति तु प्रमेयबलेनेति दिक् । अत एव श्रीभागवते 'विना पशुघ्ना'दिति शुको विशेषणमुक्तवान् । ते आसुराः कर्मिणो देवा अपि भवोजन्ममरणप्रवाहः स एव सागरस्तत्र मग्नाः । तस्य सागरत्वं नकादिगिलनसम्भावनया, तत्र यथा पुनरुज्जनासम्भव एवमत्रापि कामादिभिर्ग्रासेन पुनर्मोक्षमार्गप्रवेशासम्भव इत्येतद्धर्मसाम्येन दुर्लभत्वं वदन्तो निरुद्धानां व्यवस्थामाहुः ये निरुद्धा इति । भगवता ये निरुद्धा गुणैरात्मसात्कृताः त एवात्र गुणगाने मोदमानन्दं आसमन्तात् यान्ति प्रागुचन्ति । एवकारेण अनिरुद्धानामनीदृशत्वमित्यभाणि । तेषां गुणेष्वरुचेः । तद्गुचिस्तु भगवदनुग्रहेणैव । अत एव अर्जुनाभ्यां भगवता मृदुपदास्कुजस्येन देवर्षिवाक्यानुग्रहे कृते चाणी गुणानुकथन इत्यादिना प्रार्थितम् । उक्तं च तथैव श्रीमदसत्यमुचरणैर्भक्तिहंसे, 'तदर्थिस्त्वस्य वरणकार्य-
त्वा'दिति । अहर्निशमिति । न तेषां क्षणमपि सांसारिकदुःखसम्भवः । 'मद्गार्तायातयामाना'मिति वाक्यात् ॥ ११ ॥ ननु पूर्वं गुणगानस्य सुखजनकत्वोक्त्या तस्य च मनोधर्मत्वेन मनस्येवोदयात् तेन तन्निरोधसम्भवः सर्वेन्द्रियाणामहमहमिकया तत्परताया निरोधपदार्थत्वेन आचार्यैरक्षयवतां फलमित्यस्य विवरणे निरूपितत्वान्मनसस्तथात्वोपायसिद्धावपि कथं चक्षुरादीनां तथात्वमित्याशङ्क्य तदुपायमाहुः संसारावेशुपुष्टानामिति । संसारस्याहंताममतात्मकस्य य आवेश आसमन्तात् इन्द्रियेषु प्रवेशस्तेन दुष्टानां विकृतानां भगवद्विमुखानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां हिताय भगवत्परतया-
हितं कर्तुं सर्ववस्तूनि दारागारपुत्रादीनि कृष्णस्य सदानन्दस्य योजयेत् युक्तं कुर्यादित्यर्थः । कर्मादीनां सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येवेति षष्ठी । ननु कृष्णे समर्पणेन कथं तेषां दोषनिवृत्तिरित्या-
शङ्काहुः ईशस्येति । सति समर्थः । आधिदैविकतामपि सम्पादयितुम् । तस्य दोषनिवृत्तकृत्ये किमा-
श्रयमिति भावः । ननु कृष्णस्येशत्वेपि न परमकाष्ठापन्नत्वमित्यत्र समाधानमाहुः भूम्न इति । समर्पणे प्रयोजनान्तरमाहुः भूम्न इति तादर्थ्यं चतुर्थी । तथा च भूमशब्दवाच्यसर्वात्मभावप्राप्तये सर्ववस्तूनि समर्पयेदित्यर्थः । अत एवाचार्यैः साधनाध्याये 'भूम्नः क्रतुवज्जयायस्वम् तथाहि दर्शयती' ल्यधिकरणे । ननु सुखस्वरूपजिज्ञासायां यो वै भूमा तत्सुखमित्युक्तम् । भूमस्वरूपजिज्ञासायां यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिना तद्यत्निरूपितं तत् सर्वात्मभावस्वरूपमिति निरूपितम् । यद्वा भूम्न इति भूमा भगवानेव सर्वाधिकः, अत एव भूमा सम्प्रसादाद्युपदेशादित्यधिकरणे भूमा भगवानेवेति निर्णोतमाचार्यैः ॥ १२ ॥ नन्वेत-
त्सर्वं भगवता स्वस्मिन् दयालुत्वधर्मे प्रादुर्भाविते साधकमन्यथा कृतमपि गुणगानादिकं व्यर्थमेवेत्याशङ्क्य यथा भगवति दयालुत्वं सिध्यति तं प्रकारमाहुः 'गुणेष्वविष्टचित्ताना'मिति । सर्वदाऽव्यवधानेन भग-
वतो मुरवैरिणः गुणेषु ऐश्वर्यादिषु वा सौन्दर्यादिषु वा आविष्टचित्तानां अन्यानुसन्धानरहितान्तःक-
रणानां 'तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति ही' त्याचार्यवचनात् गुणैस्तदासक्त्या वर्धमानया संसारो लौकिकेषु अहन्ताममतारूपः विरहकेशः भगवद्विरहेण क्लेशश्च तौ उभौ न स्वातामित्यर्थः । 'श्र-
ण्वन् गुणान् संसरयन् चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मज्जलानि ते, क्रियासु यस्त्वचरणारविन्दयोराधिष्ट-
चेता न भवाय कल्पते' 'तव कथामृत'मित्यादिवाक्यात् । यद्वा, संसारस्तद्विरहश्च ताभ्यां यौ क्लेशौ तौ

तथेत्यर्थः । अयमर्थः । गुणाविष्टचित्तानां सर्वत्र संसारेण अहन्ताममत्तारूपेण अमिलषितप्रसिद्धभा-
 धाम्यां यः क्लेशः यश्च संसारभावेन भगवत्पि तदभावेन भवति सोपि तथेत्यर्थः । भगवद्विषयकसंसा-
 रस्य सतामप्यपेक्षणीयत्वात् । अत एव 'कुर्वन्ति गोवत्सपद' मिल्यन्नत्यस्य गोवत्सपदमात्रकरणोक्त्या
 अहमेतद्दासोऽयं मम स्वामीत्येतावान् संसारः स्थापितो भवतीति निरूपितमाचार्यैः । स च क्लेशः
 'क्लेशोधिकतरस्तेषां' मित्यादिना भगवता गीतायामेव वर्णितः ॥ १३ ॥ ननु गुणाविष्टचित्तत्वेऽप्यनिष्ट-
 निवृत्तिरेव किमित्याशंकायामाहुः 'हरिवत्सुख'मिति । हरेः सर्वदुःखहर्तुर्भगवतो यथा सर्वदेव भक्तसाहि-
 स्त्वेन सुखं पूर्णानन्दत्वाद्भगवत्सत्त्वा गुणाविष्टचित्तत्वेऽन्तस्तदाविर्भावान्भगवत्साहित्येन तथैव सुखमित्यर्थः ।
 'सदा सत्संगयुक्तानामवस्थैव यदा भवेत् । तदा दयालुता दैन्यदर्शनात्तु हरेर्भवे' दिव्याशयेनाहुः तदा
 भवेद् दयालुत्वमिति । अन्यथेति । एवं भावाभावे भगवतोपि क्रूरता अवकृपालुता अनवेषकत्वेन
 मत्तास्माकं सम्भवेत्यर्थः । अत एव नैवात्मन इति श्लोके भगवत आत्मनः प्रभोर्निजलाभपूर्णस्य अवि-
 द्वज्जनोपकृतोऽपराग्रहीतुः करुणया किङ्करनिवेदितानुग्राहकत्वमुच्यते श्रीभागवते । सा च पूर्वोक्तभावे-
 नैव भवतीति सर्वमनवद्यम् । ननु कालकर्मस्वभावादिभिर्बुद्धिनाशवैयर्थ्योद्देशादिदोषसम्भवे कथं गुण-
 गाननिर्वाह इति चेत्, तत्राहुः बाधशङ्कापि नास्त्यत्रेति । अत्र गुणगाने कालादिबाधशङ्कैव न, यतो
 भगवत्तैवोक्तं श्रीभागवते 'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्कथन्ति नो निमियो लेडि हेति'रिति । किञ्च ।
 नात्र भगवतापि बाधः कर्तुं शक्यः, तत्र के वराकाः कालादय इत्यर्थः । अत एवोक्तमाचार्यैर्हरिरत्र न
 शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपर' इति । ननु सर्वकृतिसमर्थस्य भगवतः कथमेतद्भावबाधकृत्यसमर्थत्व-
 मिति चेत्, सत्यम्, परन्तु सर्वस्य वशीति श्रुत्या सर्वावश्यस्य भगवतो भक्तवश्यतेव सर्वसमर्थस्य भक्त-
 भावबाधासमर्थत्वमिति भावः । एवमनिष्टनिवृत्तिमुक्त्वा इष्टप्राप्तिमाहुः तदध्यासोपि सिध्यतीति ।
 गुणगानेन तस्य भगवतः अध्यासः सर्वत्रावभासः सोप्यवान्तरफलतया सम्यक् सिद्धिविषयो भवतीत्यर्थः ।
 अध्यासपदं घटादिषु तदवभासस्य भावप्राप्तयुक्तत्वेन वस्तुत आसक्तिभ्रमवोधनाय । अन्यथा घटादेः
 पुरुषोत्तमाभिन्नत्वं स्यात्, नहि घटादिः साक्षात्तदभिन्नः, किन्तु परम्परया । तस्याक्षरात्मतया तद्द्वारा
 तथात्वात्, अन्यथा तावद्दर्शविशिष्टत्वं तेष्वप्यभिदध्यात् । ननुच्यन्त एव ब्रह्मधर्माः सच्चिदानन्दादय-
 स्तेष्विति चेन्न, अक्षरगतानामेव तेषां तद्वृत्तितया व्यपदिश्यमानत्वात् । अन्यथा वर्हापीडत्वादयोपि व्यप-
 दिश्येरन् । न च इष्टापत्तिः । तदसाधारणधर्माणामन्यत्र कथनस्यानुचितत्वात् । किञ्च, सर्वेषां धर्माणाम्
 साधारणत्वे तद्गतासाधारणधर्माभावे लक्षणाभावादतिरूप्यत्वं जीवसमत्वमभेजनीयत्वं च स्यात् ।
 तस्माद्भेदस्याक्षरसमानाधिकरणत्वेन तद्दर्शमव्यपदेश एव, न पुरुषोत्तमधर्मगन्धोपीति बुद्ध्यस्य । नन्वै-
 श्वर्यादयो व्यपदिष्टा एव, किं न ते पुरुषोत्तमधर्मा इति चेत्, सत्यम्, तद्दर्शमा एव, परंत्वक्षरस्य चरण-
 रूपत्वेन तदभिन्नतया तेषां तत्र सद्भावात् । यतो व्यासादिष्वपि तदिच्छया तद्भावाः, युक्तं भगैः स्वैरिति
 वाक्यात् । एवं सति 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्वयः' 'भेदव्यपदेशाच्चेत्यादिस्मृतिस्त्रमीमांसया अक्षराभेदः
 पुरुषोत्तमभेद इति भेदाभेदवाद्दोऽस्माकमिति दिक् ॥ १४ ॥ ननु वैराग्यस्य गुणगानाङ्गत्वेन तदभावे
 अङ्गहीनत्वेन न सफलत्वमित्याशङ्क्य तदप्यवेनेव भवतीति साधनसम्पादकरूपमुत्कर्षमाहुः भगवद्दर्-
 मसामर्थ्यादिति । भगवद्दर्शो गुणगानं तत्सामर्थ्याद्दस्तुशक्तेरेव विषये भगवदतिरिक्तविषये विरागो
 रागाभावः स्थिरः, अन्यापरिभाष्यो भवतीत्यर्थः । 'सा श्रद्धाघानस्य विवृद्धमाना विरक्तिमन्यत्र
 करोति पुंस' इति वाक्यात् । यद्वा, भगवद्दर्शोः भगवल्लीलादयः, तत्सामर्थ्यादेव तत्स्वभावादेव विरक्तो
 भवतीत्यर्थः । अत एवोक्तमित्थं भूतगुणो हरिरिति ॥ १५ ॥ एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभि-
 धाय तदुपसंहरन्ति एवं ज्ञात्वेति । एवं पूर्वोक्तं प्रकारेण ज्ञानमार्गात् गुणवर्णने उक्तं ज्ञात्वा
 सर्वापेक्षां परित्यज्य सदा कालाव्यवधानेन गुणा एव वर्णनीयाः । अत्र बाधकद्वयं त्यागार्थमाहुः
 अमत्स्यैरल्लुब्धैरिति । मात्सर्यलोभयोरत्यन्तबाधकत्वात् त्याज्यत्वम्, निर्मत्सरणां सतामिति वा-
 क्यात् ॥ १६ ॥ ननु गुणगानं रागतानादिवशीकृतचित्ततया कार्यं इत्याशंक्य तापक्लेशैर्गुणगानस्य

पूर्वोक्तमुच्यति निरोधाधिकाररूपत्वात् तदनुक्त्वा भगवत्स्वरूपध्यानमात्रमेव साधनमाहुः हरिमूर्तिः
 सदा ध्येयेति । एवं कृते तदेकशरणस्य अन्याशक्यपूरणमनोरथस्य सर्वथा निःसाधनस्य गजेन्द्रस्येव
 रक्षार्थं भगवानाविर्भवतीति ज्ञापयितुं हरिरिति । ननु योग इव कल्पितमूर्तेरुपासनायामिव सम्पादिता-
 ध्यस्तक्रियाविशेषयुक्तमूर्तिनां ज्ञान इव सोपधानमूर्तेर्ध्यानमिहापि भविष्यतीत्याशङ्काहुः हरिमूर्ति-
 रिति । भक्त्याविर्भूतस्वरूपस्यैव ध्यानम्, न त्वन्यथाभूतस्येत्यर्थः । ध्येयेति विध्यर्थककृत्यप्रत्ययेन आव-
 श्यकत्वं द्योतितम् । ननु ध्यानपूर्वकगुणगानमात्रेण किं भवतीत्याशङ्काहुः सङ्कल्पादपीति ।
 सङ्कल्पाद्विचारमात्रादपि तत्र भगवन्मूर्तेर्प्रादुर्भावात् भगवतो दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टमवाधितं भवति ।
 तथा कृतिः कटाक्षसेपणादिरूपा, गतिः त्रिलासगतिः, एतत्सर्वं ध्यानपूर्वकतादृशगुणगानेन निरोधा-
 द्भगवत्स्वरूपे स्पष्टमवाधितं अनुभूतं भवतीत्यर्थः । निरोधोपयोगिसाधनान्तराण्याहुः श्रवणं कीर्तन-
 मिति । श्रवणं श्रीभागवतादेः, कीर्तनं, एतद्भयमपि स्पष्टम्, सङ्कोचादिकमकृत्वा कर्तव्यम् । अन्यथा
 श्रवणे कीर्तने असम्भावनाविपरीतभावेन स्याताम्, तथा च अनर्थः स्यादिति भावः । श्रोतृसापेक्षं
 कीर्तनं, तन्निरपेक्षं गानमिति तयोर्विवेकः । किञ्च पुत्रे कृष्णप्रिये कृष्णस्य प्रियः कृष्णः प्रियो वा यस्य
 तथाभूते रतिः कार्येत्यर्थः । पुत्रे कृष्णप्रिय इति व्यत्यासेन कृष्णप्रियत्वेनैव रतिः कार्या, न पुत्रत्वेनेति
 भावः सूच्यते । अतः परं साधनसमुदायफलं निरूपयन्तः शरीरपरिवर्तलक्षणं प्रतिबन्धनिराकरणमाहुः
 वायुरिति । सपरिकरेण गुणगानेन प्रकटे भगवति तन्मरणमकरन्दगन्धवाहः स्वविवरैः प्रविशन् शरीरग-
 तमलांशं शोषणयोग्यं शोषयित्वा तदयोग्यं स्ववेगेनोत्क्षिप्य तनौ शेषभागं शेषः अवशिष्टो यश्चरणरेणु-
 सम्बन्धी भागः तं नयेत् प्राणुयात् । तथा सति अस्मिन्नेव शरीरे अलौकिकत्वसम्पत्त्या पुरुषोत्तमानन्दा-
 नुभवयोग्यता भवतीत्यर्थः । एतेनैतदतिरिक्तसाधनैरयं प्रतिबन्धो न निवर्तत इत्युक्तम् । एतादृशस्यापि
 दुःसंगादिना भावनाशसम्भवाद्दुपायमाहुः यस्येति । यस्य पुत्रादेर्भगवत्कार्यं सेवादिरूपं स्पष्टं प्रकटं
 प्रातिकूल्येन न दृश्यते शिक्षायामपि, तदा सति सामर्थ्ये तस्य विशेषेण भ्रणादिकमकृत्वापि निग्रहः
 कर्तव्य इत्यर्थः । अन्यथा सति सामर्थ्ये तदनिग्रहे 'अप्रतिपिद्धमनुमतं भवती'ति न्यायेन तद्वृत्तौ पुत्रे
 कृष्णप्रिये रतिरित्यनेन विरोधापत्तेरित्यत आहुः इति निश्चयः । सति सामर्थ्ये निग्रह एव कर्तव्य इति
 भावः । इदमुक्तं भवति । कृष्णप्रियत्वे रतिरस्पष्टप्रभुकार्यकरणे औदासीन्यं प्रातिकूल्ये सति सम्भवे
 त्यागस्य सेवाप्रतिकूलतया निग्रहः, असम्भवे तु त्यागं कृत्वा आन्तरभक्तिमार्गे प्रवेश इति ॥ १७ ॥
 ॥ १८ ॥ १९ ॥ अतः परं साधनरूपं निरूपयन्तः साधनान्तराणामप्रयोजकत्वं वदन्तः स ।



लालूभट्टकृत 'निर्णयार्णवा'न्तर्गतैतद्ग्रन्थसंशयनिरासः ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै । कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजये'दिति । कृष्णस्य सर्ववस्तूनि कृष्णसंबन्धिरूपरसादीनि विषयरूपाणि इन्द्रियाणां हिताय योजयेत् । भगवद्रूपादौ चक्षुरादीनां विनियोगः कार्यो, न त्वन्यत्रेति फलितोऽर्थः । ननु जीवानां नानादेशस्थानां भगवद्रूपादिदौर्लभ्यात्कथं विनियोगः स्यादित्याशङ्क्याहुः 'भूम्न' इति । व्यापकस्येत्यर्थः । ननु व्यापकत्वेपि तिरोहितत्वाद्दौर्लभ्यं दुर्निवारमित्याशङ्क्याहुः 'ईशस्ये'ति । सर्वत्र सर्वरूपेण सर्वकरणसमर्थस्येत्यर्थः । एवं सति भूत्योदिरूपेण प्रकटस्य साक्षाद्भगवत्त्वात्तत्र चक्षुरादिविनियोगस्य सौकर्यमिति कृतार्थता सिद्धेवेति सामर्थ्यसूचकमीशपदम् ।

अत्रैव—हरिमूर्तिः सदा ध्येयेत्यादि । ध्येयेति । अनेनाऽन्तःकरणस्य भगवत्युपयोग उक्तः । दर्शनं स्पर्शनमिति चक्षुस्त्वचोः । तथा कृतिगती इति करपादयोः । श्रवणं कीर्तनं स्पष्टमिति श्रोत्रवाचोः । पुत्रे कृष्णप्रिये रतिरिति । कृष्णः प्रियो यस्य कृष्णस्य प्रिय इति वा विग्रहेण भगवद्भक्त इत्यर्थः । कृष्ण-प्रिये पुत्रे इत्यत्र 'निमित्तकर्मयोग' इति सूत्रेण सप्तमी । रतिरिति कर्मपदम् । अध्याहृतेन कर्तव्येति पदेन कर्मणोऽभिधानादभिहिते रतिरूपे कर्मणि प्रथमा । प्रथमान्तेन कर्मवाचकरतिपदेन योगात्पुत्रे कृष्णप्रिये इत्यत्र निमित्तसप्तमी । तथाच कृष्णप्रियपुत्रार्थं रतिः कर्तव्येत्यर्थो भवति । अनेन व्यावाये-न्द्रियस्य परम्परया भगवत्सेवोपयोगो निरूपितः । भगवद्भक्तः पुत्र उत्पत्स्यत इति बुद्ध्या भोगः कार्यो, न त्वन्यथेति भावः । पुत्रपदेन स्वभार्यायामेव ऋतावेव भोगः कार्यो, न स्वाच्छन्द्येनेत्यनुज्ञातम् । पायोरिति । तद्द्वारा मलांशत्यागो देहः शुद्धो भगवत्सेवायामुपयोक्ष्यत इति पायोः परम्परयोपयोगो ज्ञेयः । यस्य वेति । अन्तःकरणबहिःकरणानां मध्ये यस्य चक्षुरादेर्यदा यस्मिन् समये भगवत्कार्यविनि-योगो न दृश्यते, तदा, तस्मिन् समये तस्य विनिग्रहः कर्तव्यो, न तु भगवदतिरपदार्थं विनियोग इत्यर्थः । केचिदत्र 'यस्य वा भगवत्कार्य'मित्यनेन व्यावायेन्द्रियमात्रस्य निग्रह उक्त इत्याहुः । तत्र । यस्य यदा तस्य तदेत्युक्तयोर्न तच्छब्दयोर्नैवार्थापत्तेः । अतः साक्षात्परम्परया वा यथायकथञ्चिदपि भग-वद्विनियोगः स्यात्तदेन्द्रियाणि विनियोजयितव्यान्वयथा तु सर्वस्यैवेन्द्रियगणस्य निग्रहः कार्यं इत्येवा-चायैवर्थाणामाशयो, न तु केवलं व्यावायेन्द्रियमात्रनिग्रहे तात्पर्यमिति ज्ञातव्यम् ।

ननु तिरोधलक्षणग्रन्थे 'यच्च दुःखं यशोदाया' इत्यादिना श्रीमदाचार्यवर्यैर्भगवद्विरहादिसाम-थिकदुःखादि स्वयं याचितमेतावता तिरोधस्य किं लक्षणं सिद्धमिति चेत् । शृणुत । भगवद्विरहे दुःखं दुःखं भगवत्संयोगे परमाह्लादश्रेत्यादि कार्यं तिरोधजन्यमेव । यतो निरुद्धानामेव भगवद्विरहे दुःखं श्रूयते । संयोगे महानानन्दश्च । 'गोपीनां परमानन्द आसीद्वेत्तिन्दर्शने । क्षणं युगशतमिव चासां येन विनाऽभव'दिति वाक्यात् । एवं सति तादृशदुःखादेर्निरोधकार्यत्वात्कार्यलक्षणमत्र सुखसाध्यमित्या-कलय । भगवद्विरहसामथिकपरमदुःखकारणत्वं तिरोधत्वं भगवत्संयोगसामथिकपरमानन्दसाधकत्वं तिरोधत्वमित्यादिलक्षणाणि तिरोधस्य सिध्यन्ति । तिरोधस्य निबन्धसुबोधिन्योर्बहुधा निरूपितस्य पर-स्परविरुद्धतया प्रतीयमानलक्षणस्य सम्यगविरोधप्रकारो मया सुबोधिनीयोजनायां विवृत इति विशेष-जिज्ञासायां ततोवधेयम् ।

लालूभट्टकृतनिरोधस्वरूपनिरूपणं श्रीदशमस्कन्धसुबोधिनीयोजनान्तर्गतम् ।

श्रीगोवर्धनधारी तनोतु मङ्गलानि ।

श्रीगोवर्धनधारिणं शुभकरं शृङ्गारमूर्तिं भजे । वन्दे नन्दपुराणपुण्यफलितं श्रीबालकृष्णं प्रभुम् ।
श्रीमद्ब्रह्मविद्वलेश्वरधिभू ध्यायामि सद्बन्दितां । कुर्वे तत्कृपया तिरोधविवृतौ सन्देहविध्वंसनम् ॥

अथ तिरोधस्य स्कन्धार्थत्वात् प्रथमं तत्स्वरूपं विचार्यते । तत्र 'तिरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह-शक्तिमि'रिति वाक्यादात्मनः पुरुषोत्तमस्य शक्तिभिरनुशयनं तिरोधः । आत्मपदाश्रितुं परं ब्रह्म ग्राह्यम् । 'गौणश्रेष्ठात्मशब्दादि'त्यत्रात्मशब्दस्य परवाचकताया निर्धारितत्वात् । तत्र 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो गणश्च तिर्दृतिवाचकः, तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत' इति श्रुतेः, 'कृष्णस्तु भगवान्स्वय'मित्यादि-वाक्याच्च परमात्मत्वं कृष्णस्य सिद्धम् । अतः कृष्णस्य अनुशयनं तिरोधः । अनुशयनं नाम लीलानुरूपा स्थितिः । 'विष्णुः सर्वगुहाशय' इत्यादौ शीङ्घ्रधातोः स्थित्यर्थकत्वात् । 'न हि गुहायां शेते' इति व्युत्प-न्नं गुहान्नायशब्देन निद्रातीत्यर्थः सिध्यति, निद्राया अविद्यावृत्तित्वात् । अतः शीङ्घ्रधातोःसादृश-स्थितिरत्रार्थः । एवं सति शक्तिमिः सह भगवतः स्थितिः शयनं, अनुरूपतोपसर्गार्थः । कस्यानुरूपे-व्याकांक्षायां स्थितेर्लीलाप्रयोजनकत्वाल्लीलानुरूपेति बोध्यम् । एवं च कृष्णस्य लीलानुरूपा स्थितिरनु-शयनमिति सिद्धम् । स्थितिरपि लीलाविशेषोनेकविधलीलासाधकः । अतः सर्वलीलासाधिका स्थितिरूपा लीला तिरोधपदार्थो भगवद्भक्तः, स च प्रपञ्चमध्य एव स्फुटः । कृष्णावतारस्य प्रपञ्च एव जातत्वात् । तदुक्तं निबन्धे 'स एव कदाचिज्जगदुद्धारार्थं अखण्डः पूर्ण एव प्रादुर्भूतः कृष्ण इत्युच्यते' इति । अतोनेक-शक्तिमिः सह कृष्णस्य प्रपञ्चे क्रीडा तिरोध इति फलितम् । एतदुक्तं सुबोधिनीयां 'तिरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः । शक्तिमिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षण'मिति । इह कारिकायां कृष्णस्येतिपदं मूलस्यात्मपदव्याख्यानरूपम्, भागवतमते कृष्णस्यैवात्मरूपत्वात् । अत एवावतारान्तरलीलायां स्कन्धा-न्तरप्रतिपाद्यायां नातिव्याप्तिरिति भावः । एवं तिरोधशब्दोऽनुशयने रूढ इत्युक्तम् । किञ्च, प्रपञ्चविस्मृति-पूर्विका भगवदासक्तिनिरोधः, नितरां रोधो तिरोध इति व्युत्पत्तेः । रोधः कस्येत्यपेक्षायां भक्तानामिति-पूर्वस्कन्धार्थसङ्ख्या लभ्यते, कस्माद्रोध इत्यपदानापेक्षायां प्रपञ्चो ग्राह्यः । तथा सति प्रपञ्चाद्रोध इति सि-ध्यति स्म । प्रपञ्चाद्रोधेपि 'कर्मैन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा सरन् । इन्द्रियार्थान्निवमृदात्मा मिथ्या-चारः स उच्यते' इतिवत्प्रपञ्चस्मरणं चेत्तदा भगवल्लीलानुभवे मुख्योधिकारो न स्यात्, अतः प्रपञ्चविसर-णमपेक्षितम्, तदुपसर्गो लभ्यते, नितरां रोधः प्रपञ्चविसरणपूर्वकः स तिरोध इति । कस्मिन्नितरोध इत्य-पेक्षायां भगवति तिरोध इति ज्ञेयम् । स हि परमरुच्युत्पादकलीलाजन्यत्वेन परमसुखरूपत्वादासक्तिरूपो भवितुमर्हति । एवं यौगिकरूपस्या प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिनिरोध इति फलितम् । 'या तु व्यसनसंप्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यते' इति भरताचार्यवाक्ये व्यसनपदवाच्याया आसक्तेरेव तिरोधत्वकथ-नाच्च । सा च 'इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा, कुर्वन्तो रममाणान्श्र नाविन्दन् भववेदना'मित्यत्र स्फुटमसिंहितम् । 'शच्यासनाटनालापञ्चानक्रीडाशनादिषु; न विदुः सन्तमात्मानं वृष्ण्यः कृष्णदेवता' इत्यत्र च स्फुटमसिंहिता । एवमुभयं तिरोधपदवाच्यम् । 'समुदायो जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरेः । प्रपञ्च-विस्मृतिः सक्तिर्मत्तानां चापि योगत' इति निबन्धात् । तिरोधशब्दस्य यौगिकत्वपक्षे भक्तकर्मकनिरोधत्व-भगवत्कर्मको तिरोधो गोप्यतया विवक्षितः । यथा भगवता लीलाभिर्निरुद्धा भक्ता भगवद्गुरो भवन्ति, एवं पुष्टिभक्तैर्लीलाभिर्निरुद्धो भगवान् भक्तवद्भ्यो भवति । अत एव भगवता भक्तेरतिपथकज्ञानाभावः स्वस्मिन्प्रदर्शितो 'नाहं तेभ्यो मनागपी' त्यनेन । इममर्थं सूचयितुं स्वहृदयशेषे भगवतः शयनमाचार्यै-रुक्तं 'नमामि हृदये शेषे' इत्यनेन । 'अन्यत्र गतिरहितो य' इति टिप्पण्यां व्याख्यातं च । अन्यच्च 'आभासश्च तिरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते, स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्दत' इत्यादौ प्रलयो तिरो-

धपदवाच्यः । स च प्रपञ्चप्रतियोगिकः । एवं च सुबोधिन्युक्तया टिप्पणीव्युत्पादितया पूर्वोत्तरस्कन्धार्थ-
सङ्गत्या नवमदशमार्थसङ्गतिविचारे भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो निरोध इत्यायाति । अत एव द्वितीयस्कन्ध-
सुबोधिन्यां 'भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोध' इत्युक्तं इहेव सुबोधिन्याम् । अतो 'निरोधो भक्तानां प्र-
पञ्चस्येति निश्चय' इत्यभाणि । तथा च भक्तानां प्रपञ्चस्य प्रलयस्तिरोधानं नित्यलीलापयिकदेहत्वफलको
जाड्यात्मकप्रपञ्चभावाह्वय इति यावत् । तदुक्तं सुबोधिन्यां 'अतो निरोधो भक्तानां प्रपञ्चस्येति निश्चय'
इति । सूतोक्तलक्षणेण निरोधस्थाने संस्था पठिता, संस्था च 'नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको
लयः । 'संस्थेति कविभिः प्रोक्तश्चतुर्धास्य स्वभावत' इत्यनेन प्रलयरूपा व्याख्याता । अतो निरोध-
शब्देन प्रलय उच्यते, 'निरोधोऽस्वानुशयन'मित्यस्य सुबोधिन्यामपि शक्तीः शाययित्वा तद्गोमार्थ
भगवतः शयनमिति व्याख्यातम् । तत्रापि शक्तिशयनानन्तरं शयनकथनेन प्रलय उक्तः । अतो भक्त-
प्रपञ्चसम्पादिकाः शक्तीः स्वस्वरूपे तिरोहिताः कृत्वा तिष्ठति, ततो भक्तान् प्रति प्रपञ्चस्तिरोभवति, अतो
भक्तानां प्रपञ्चनिवृत्तिरिति सिध्यति । एतदभिसंधायोक्तमत्र 'एवं सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्न तद्विशेष',
सावन्न लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यम' इति । इदमत्र ज्ञेयम् । स्वच्छन्दलीलाभिर्भगवाविरोध्य भक्तानां
देहादिसकलप्रपञ्चे स्वानन्दं प्रवेशयन् तिरोहितानन्दमथाभिर्भावयति, ततो भगवदानन्दानुभवयो-
ग्यालौकिकदेहत्वप्राप्तौ जाड्यादिरूपपूर्वप्रपञ्चभावो लीयते, अयमेव प्रलयपदार्थः । अतो भक्तानां
प्रपञ्चप्रलयो निरोध इति फलति स्म । तथा च प्रपञ्चे शक्तिभिर्भगवत्क्रीडनं भक्तानां प्रपञ्चविस्तृतिपू-
र्विका भगवदासक्तिर्भक्तानां प्रपञ्चाभावश्चेति त्रयं निरोधपदवाच्यम् । तत्र भगवत्क्रीडनं करणं, भगव-
दासक्तिर्गोपारः, भक्तानां प्रपञ्चाभावः फलमिति त्रितयरूपो निरोधः स्कन्धार्थः । एवमत्रेदं सिद्धम् ।
भगवाननेकशक्तिभिः करणरूपनिरोधात्मिकां क्रीडां कुर्वन् प्रपञ्चविस्तृतिपूर्वकासक्तिरूपनिरोधात्मक-
व्यापारेण प्रपञ्चाभावरूपफलात्मकनिरोधं सेवकानां संपादयतीति त्रिष्वपि निरोधपदव्यवहारः सुबोधि-
नीनिबन्धादिषुपलभ्यत इति सर्वमदुष्टम् । किञ्च, 'लौकिकेषु तु भावेषु यत्रैव हरिवेशनं । निवर्तते तदे-
वात्र बह्नेर्दामयं यथे'ति कारिकायां फलात्मको निरोध उक्तः । तथाहि, लौकिकेषु भावेषु पदार्थेषु
यत्र यत्र भगवान् प्रविशति, तत्र तत्र चिदानन्दोऽस्तिरोभूतयोराविर्भावत्तदेव पूर्वस्थितस्वरूपं तिरो-
हितानन्दकं निवर्तते, ब्रह्मात्मकं भवति, प्रकटसच्चिदानन्दकं भवतीति यावत्, तत्र इष्टान्तः, बह्नेरि-
त्यादि । बह्नेरिवेशे दारुणां बह्नेरुपता तद्ददित्यर्थः । एवं भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो बोध्यः । अन्यच्च,
शक्तिशयनानन्तरशयनवाचके अनुशयनशब्दे गोप्योर्थोपि विवक्षितः, तदनुसारेण स्कन्धारम्भे स्कन्धा-
र्थरूपं भगवन्तं नमस्यन्निः श्रीमदाचार्यचरणैर्लीलाक्षीरादिध्यायिनं लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेष्यमानं
फलानिधिमित्युक्तया रहस्यलीलायां निरोधपदवाच्यत्वं सूचितम् । तदनुसारेण प्रभुचरणैश्चिप्पण्यां 'अनु-
शयते अनेने'तिकरणव्युत्पत्तिं प्रदर्श्य निगूढभावकरणं येन स निरोध इत्युक्त्वा स्वकीयेषु स्वविषयक-
भावोत्पादनं यया लीलाया क्रियते, सा निरोधपदवाच्येत्युक्तवद्भिर्गुणलीलायाः स्कन्धार्थता प्रतिपादितेति
विद्वद्भिर्विभावनीयम् । एवञ्च, श्रीशुकोक्तिसुबोधिनीटिप्पणीषु सर्वत्राविरोध इत्येक एवाशयस्ययाणां
पादुभंभवति स्म । तथा सतीदं सिद्धम् । देहादौ चिदानन्दयोः प्राकट्येन जाड्यादिप्रपञ्चभावप्रलयः फल-
रूपो निरोधः सिद्धः । तस्मिन् सति प्रपञ्चे विद्यमानानामपि भक्तानां कृष्णानन्दानुभवयोग्यदेहत्वं
सिध्यति । इदमेव यमुनाष्टके 'ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावते' त्यनेन प्रार्थितं, ततो नित्यलीला-
प्रवेशः स मुक्तिपदवाच्यः, निरोधलीलायां भक्तानां साधारणमायागुणरहितत्वेपि लीलास्थभक्तनियाम-
कान्तरङ्गमायागुणव्यासत्वेन लौकिकसाहचर्यव्यवहारः पुराणादौ, तेषां भन्तरङ्गयोगमायागुणनिवृत्तौ
नित्यलीलाप्रवेशरूपा मुक्तिः, अतो मुक्तिलीलायां शुद्धनिर्गुणत्वमिति विवेकः । 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूप' इति
वाक्यात् । सगुणत्वस्यान्यथारूपत्वात् ।

सेवाफलम्

सविवरणम्

चतुर्दशटीकाभिस्समलंकृतम्

- | | |
|------------------------|--------------------------|
| १. श्रीकल्याणरायाणाम् | ८. श्रीलालूभट्टानाम् |
| २. चचा श्रीगोपेशानाम् | ९. श्रीजयगोपालभट्टानाम् |
| ३. श्रीदेवकीनन्दनानाम् | १०. श्रीलक्ष्मणभट्टानाम् |
| ४. श्रीहरिरायाणाम् | ११. श्रीगोकुलनाथानाम् |
| ५. श्रीवल्लभानाम् | १२. केषाञ्चित् |
| ६. श्रीपुरुषोत्तमानाम् | १३. केषाञ्चित् |
| ७. श्रीद्वारकेशानाम् | १४. श्रीब्रजभूषणानाम् |

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-गोस्वामिश्री-१००८
श्रीगोविन्दराय-महाराजश्रीस्येतेः-प्रकाशितम्

प्रकाशक :

गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोविन्दरायजी महाराज
गोविन्दनिकेतन, भाटिया बाजार,
पोरबन्दर, गुजरात, ३६०५७५, भारत.

साधारणसंस्करण २००० प्रति

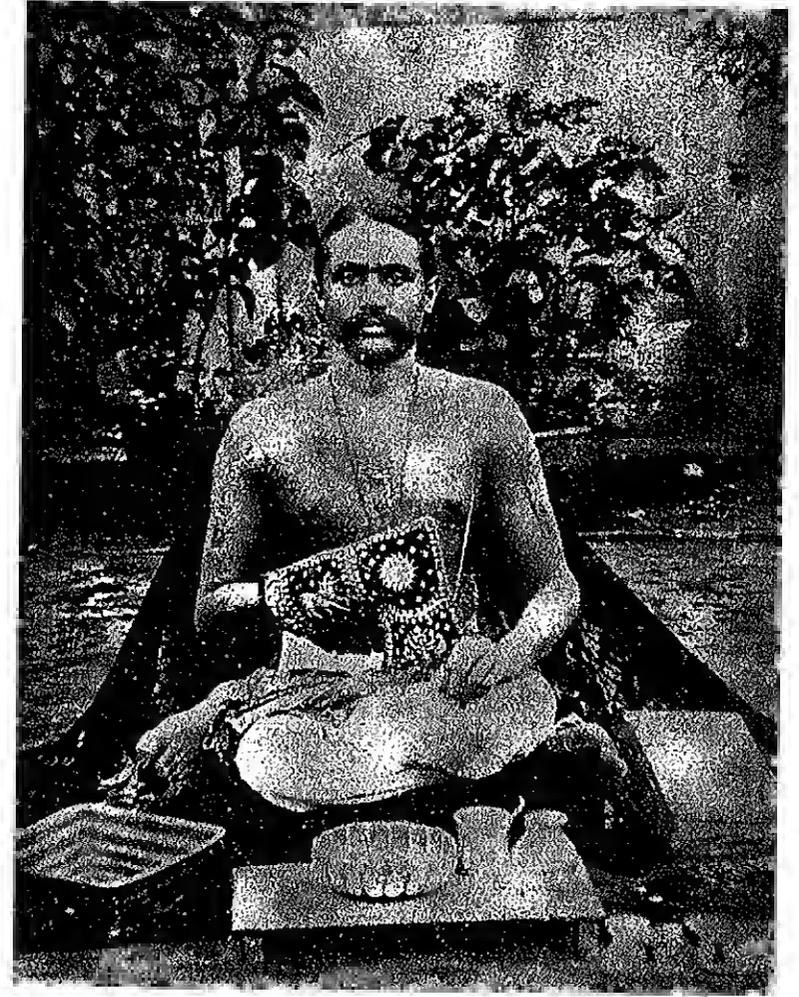
राजसंस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द : ५०३

ग्रन्थपरिचयलेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी, बम्बई, ४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज



गोस्वामिश्री १००८ श्रीरणछोडलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यवरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

सेवाफल और उसके विवरण की रचना श्रीमहाप्रभुने आगरामें विष्णुदास छीपाके लिए की थी. किंवदन्तीके अनुसार इसका रचनाकाल वि. सं. १५८२ माना जाता है. वातमें एतद्विषयक उल्लेख यों मिलता है :

“सो आगरेके पासके गाममें एक छीपाके घरमें प्रकटे. सो बडे भये, बीस वर्षके, तव ब्याह भयो. सो पिता वस्त्र छाप देय विष्णुदास आगरेमें जाई बंच जावें. सो ऐसे करत एक समय श्रीआचार्यजी आगरे पधारे. सो विष्णुदास सुन्दर छोटके थान ले आगरे गये. तव श्रीआचार्यजीने कृष्णदाससों कही—‘यह छीपाके पास छोट आछी है सो तू ले. जो मांगे सो दे.’ तव कृष्णदासने विष्णुदाससों कही—‘यह छोटके थान सगरे हमकों दे. याके दाम हैं सो तू ले.’ सो विष्णुदासने चौगुनी मोल कह्यो. सो कृष्णदासने सगरे रुपया गिन दिये. ओर कहे—‘ओर आछे थान होई सो ले आऊ !’

तव विष्णुदास चक्रत होई रहे जो ए तो बडे महापुरुष अलौकिक जीव हैं ! जो मोल न कियो, सगरे थान लिये, ताके दाम दिये ! सो इनको छोट देनो उचित नहीं है. इनको पैसा मेरे घर आवेगो तो सगरो घर बैरागी होई जायेगो ! तव विष्णुदासने कही—‘ये सगरे अपने रुपया लेऊ. मेरे छोटके थान फेरि देऊ.’ तव कृष्णदासने कही—‘तू बडो मूरख दीसत है ! ते मोल कह्यो सो दाम दिये. अब यह थान कबहूँ फिर नहीं. तेरे टोटा होई तो ओर हू रुपया ले. चौगुने तो दाम लिये !’

तव विष्णुदासने कही—‘तुम महापुरुष हो ताते तिहारो द्रव्य घरमें आये सगरो घर बैरागी होईगो. याते मैं तुमको नहीं बेचत. जो थान न देहू तो यह रुपया हू राखो. ओर थान हू राखो. परन्तु रुपया तिहारो भोकों पचे नहीं.’ तव कृष्णदासने कही—‘यह थानकी श्रीआचार्यजीने श्रीमुखसों सराहना करिके कहै—‘लेऊ.’ सो तू कोटीन उपाय करे तो यह थान फिर नहीं और श्रीआचार्यजी बिना सेवक ओरको कछु लेत नहीं...’ तव विष्णुदासने कही—‘श्रीआचार्यजी कहाँ हैं ?’

उपनिषद्में ठीक ही तो कहा है कि परमात्मा न तो प्रवचनसे मिलता है, न मेघासे और न वहुश्रुततासे ही ! परमात्मा कहाँ है ? किसे मिलता है ? उत्तरः परमात्मा जिसे खोज रहा हो वही परमात्माको खोज पाता है ! परमात्मा जिससे मिलना चाहता है वही परमात्मासे मिल पाता है—‘यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः’ (कठ. १-२-२३).

भारतवर्षकी तीन-तीन परिक्रमाओंमें श्रीमहाप्रभु इन्हीं विष्णुदासोंको तो खोज रहे थे। तभी तो विष्णुदास भी पूछ सके— “श्रीआचार्यजी कहाँ हैं ?”

निरोधलक्षण ग्रन्थमें कहा गया है कि भक्तोंके बीच भगवान्का इस भूतलपर प्रकट होना करणनिरोध है। प्रपञ्चको भूल कर भक्तोंका भगवान्में आसक्त हो जाना व्यापार-निरोध है। इस प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके व्यापारद्वारा भक्तके देह-इन्द्रिय-अन्तःकरण-प्राण-आत्मा सभीसे सर्वत्र-सर्वदा भगवान्के स्वरूप या लीला का निरन्तर अनुभव होना (मानसी सेवा) फलनिरोध है। तदनुसार विष्णुदासकी छोटपर श्रीमहाप्रभुका रीझना करण-निरोध था। विष्णुदासका— “श्रीआचार्यजी कहाँ हैं ?” पूछना व्यापारनिरोध था। और सेवाके बिना ही विष्णुदासको इस ‘सेवाफल’ का दान फलनिरोध था ! “यमेवैव वृणुते तेन लभ्यः तस्यैव आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् !”

जीवात्माका वरण करणनिरोध है और परमात्माद्वारा निजरूपका विवरण फलनिरोध है।

वार्तामें आता है कि “तब श्रीआचार्यजी श्रीयमुनाजीके तीर पधारी विष्णुदासको न्हाई नाम सुनाये ब्रह्मसम्बन्ध कराये। विष्णुदासने विनती करी— ‘महाराज ! मैं मूर्ख हों सो ऐसी कृपा करो जो श्रीभागवत आदि आपके ग्रन्थनमें कछु ज्ञान होई, आपके मार्गको सिद्धान्त जान्यो जाई.’ तब श्रीआचार्यजी ‘सेवाफल’ ग्रन्थ करी विष्णुदासको सुनाये। सो सुनिके विष्णुदासने विनती करी— ‘महाराज ! ‘सेवाफल’ ग्रन्थके सुनेते सगरे शास्त्रपुराणको ज्ञान भयो परन्तु ‘सेवाफल’ ग्रन्थको अभिप्राय समुझिवेमें नाहीं आयो। तब श्रीआचार्यजी कहें— ‘ग्रन्थ ‘सेवाफल’ ऐसो ही कठिन है, भली करी ते पूछयो !’ पाछे आप ‘सेवाफल’ की टीका करिके सुनाये। तब सगरे मार्गको सिद्धान्त विष्णुदासके हृदयारूढ़ भयो सो मगन होई गये... सो विष्णुदास थोरो सो कपडा छापें सो आगरे बचि आवें जामे देहनिर्वाह होई, और सगरे दिन-रात मानसी सेवा श्रीआचार्यजीके ग्रन्थ श्रीसुबोधिनीजीके भावमें मग्न रहें !”

यह मानसी सेवा परासेवा है, यह सिद्धान्तमुक्तावलीमें कहा गया था। मानसी सेवाकी सिद्धि तनु-वित्तजा सेवा करनेसे होती है, यह भी वहीं कहा गया था। इस पुष्टिभक्तिरूपा सेवाके अधिकारी पुष्टिजीव ही होते हैं, सभी नहीं, यह पुष्टिप्रवाहमर्यादामें निरूपित किया गया है। सिद्धान्तग्रन्थमें पुष्टिजीवोंको पुष्टिभक्तिरूपा सेवामें दीक्षित करनेके लिए आत्म-समर्पणका प्रकार समझाया गया है। इससे भोगासक्ति पुष्टि-भक्तिमें बाधा पहुंचानेमें असमर्थ बन जाती है। नवरत्नमें सेवाको उद्वेगरहित बनानेके लिए चिन्तात्यागकी बात समझायी गयी है। अन्तःकरणप्रबोध विवेकधैर्याश्रय तथा कृष्णाश्रय द्वारा इसी पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवामें विघ्नरूप उद्वेग एवम् प्रतिबन्धों से बचनेके उपाय दिखलाये गये हैं। चतुश्लोकीमें इस सेवाका पुष्टिमार्गीय धर्माधिकारमोक्षकी पुरुषार्थचतुष्टयीमें क्या स्थान है यह दिखलाया गया है।

भक्तिवर्धनीमें इस सेवाके बीजभावसे लेकर व्यसनदशातक होते विकासकी रूपरेखा खींची गयी है। सेवाके अनवसरमें चित्तके भगवत्प्रवण बने रहनेमें कोई व्यवधान न आये एदत्थं जलभेद-पञ्चपद्यानिमें भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तनका स्वरूप समझाया गया है। यह सेवा न निभती हो तो भोगासक्तिपर काबू पानेके लिए गृहत्याग कर देना चाहिये। यह गृहत्याग व्यसनदशा सिद्ध होनेपर ही करना चाहिये अन्यथा नहीं। संन्यासनिर्णयमें यह सावधानी बरतनेकी सलाह दी गयी है। निरोधलक्षणमें इस सेवाके मानसी सेवाके रूपमें विकासके सहायक कारणोंको परिभाषित किया गया है। अब सेवाफलमें उक्त तनु-वित्तजा सेवाका फलित रूप फलनिरोध अर्थात् अलौकिक-सामर्थ्यके रूपमें दिखलाया जा रहा है। यह परमात्माके भूमारूपमें सकल वृत्तियोंका योजन है। इसे ‘सर्वात्मभाव’ भी कहते हैं।

समग्र षोडशग्रन्थोंकी एकवाक्यता या आधारशिलाके जैसी केन्द्रीय धारणा, पुष्टिप्रवाह-मर्यादा ग्रन्थके— “भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः नान्यथा भवेत्,” वचनमें श्रीमहाप्रभुने स्पष्ट कर दी है। अतएव षोडशग्रन्थके उपसंहाररूप सेवाफलमें पुष्टिमार्गीय फलसे भिन्न किसी फलका निरूपण स्वीकारनेपर; अथवा पुष्टिमार्गमें भी सेवासे भिन्न किसी कर्तव्य या अवस्था को पुरुषार्थ या फलरूप माननेपर, उपक्रम-उपसंहार आदि तात्पर्यनिर्धारक अंगोंमें परस्पर विसंवाद उपस्थित हो जायेगा। अतएव इस ग्रन्थके उपसंहारमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं— “कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः”।

इस ग्रन्थमें सेवाफलके रूपमें वर्णित ‘अलौकिक सामर्थ्य,’ ‘सायुज्य’ तथा ‘वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेह’ की अनेक व्याख्यायें विभिन्न टीकाकारोंद्वारा दी गयी हैं।

यथा :

१) ये तीनों फल पुष्टिसर्गके तीन अवान्तर वर्ग पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाह-पुष्टि की त्रिविध कक्षाके जीवोंके फल हैं।

२) तनुवत्स्वरूप अलौकिकसामर्थ्य भगवद्विरहको फलात्मिका अनुभूति है। सायुज्य भगवत्संयोगकी फलात्मिका अनुभूति है। नवतनुस्वरूप सेवोपयोगिदेह उभयसाधारण अधिकारकोटीका फल है।

३) अलौकिक सामर्थ्य पुष्टिभक्तिका फल है; तथा सायुज्य और सेवोपयोगिदेह मर्यादाभक्तिके फल है।

४) अलौकिकसामर्थ्य सायुज्य और सेवोपयोगिदेह क्रमशः उत्तम मध्यम तथा साधारण कोटीके फल हैं।

५) संयोगानुभूतिरूप सायुज्य परम फल है। विद्योगानुभूतिरूप अलौकिकसामर्थ्य तथा सेवोपयोगिदेह अधिकारसिद्धिरूप अवान्तर फल हैं।

६) अलौकिक सामर्थ्य और सायुज्य पुष्टिभक्तिके फल हैं तथा सेवोपयोगिदेह मर्यादाभक्तिका फल है।

७) अलौकिकसामर्थ्य अति-अन्तरंग सेवाका फल है. अन्तरंग सेवाके द्विविध सायुज्यरूप फल होते हैं : केवल आत्मना अनुभूयमान सायुज्य और अलौकिक-देह-इन्द्रिय-अन्तःकरण-आत्मना अनुभूयमान सायुज्य. सेवोपयोगिदेह बहिरंग सेवाका फल है.

८) सर्वेन्द्रियोंकी भगवत्परता अलौकिकसामर्थ्य है. देहनाशक विगाढ़भावसे अन्यस्फूर्ति-रहित आन्तर संयोग सायुज्य है. मानसी सेवाकी सिद्धि होनेपर, वैकुण्ठादि भगवद्घामोंमें जैसे देह होते हैं वैसे, सेवोपयोगिदेहकी सिद्धि तृतीय फल है.

भगवान्के द्वारा प्रदत्त भावोंके अनुसार भगवदनुभूतिके अनेक प्रकारोंमें भक्तोंको फल-रूपता प्रतीत होती है. अतः सभी व्याख्याकार अपनी-अपनी फलरुचिके अनुसार फलकी व्याख्या करते रहते हैं. इनमें यदि मतभेद दिखलायी पड़ता है तो वह भी अपनी-अपनी फल-रुचिकी मस्तीका मधुर मतभेद है. अतः मतभेद भी फलात्मक है !

ग्रन्थके तात्पर्यका जहां तक प्रश्न है तो वह भागवत (३।५।३२-४०) के नौ श्लोकोंकी सुबोधनीमें श्रीमहाप्रभुने सुस्पष्ट किया है. वहां भी सेवाफलकी तरह भक्तिके तीन फल दिखलाये गये हैं : जीवन्मुक्ति सायुज्य और वैकुण्ठलोकप्राप्ति. अतः अलौकिकसामर्थ्य और जीवन्मुक्ति को एकरूप मानना चाहिये; तथा वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेह और वैकुण्ठलोक-प्राप्ति को एकरूप मानना चाहिये; उभयत्र सायुज्य तो समान है ही. इस एकरूपताको निर्धारित करनेके बाद सुबोधनीमें जो विस्तृत विवरण फलत्रयका दिया है तदनुसार सेवाफल ग्रन्थमें निर्दिष्ट फलत्रयका भी स्वरूपनिर्धारण सुकर हो जाता है.

अलौकिकसामर्थ्य प्रकट होता है, इस भूतलपर भगवत्सेवा करते हुवे, सकल इन्द्रियोंसे भगवदनुभूतिके रूपमें, यही पुष्टिमार्गीय जीवन्मुक्ति है. इसे 'फलनिरोध,' 'सर्वात्मभाव,' 'व्यसनोत्तर-कृतार्थता,' 'तनुनवत्व' या 'मानसीसेवा' कुछ भी कहो, एक ही अवस्थाके विभिन्न पहलुओंका निरूपण है. स्थूल दृष्टिसे शब्दार्थ भिन्न-भिन्न है पर पदार्थ सर्वत्र एक ही है.

भागवतके दशम स्कन्धका वर्ण्य-विषय निरोध है. एकादश स्कन्धका वर्ण्य-विषय मुक्ति है. द्वादश स्कन्धका वर्ण्य-विषय आश्रय-ब्रह्मभावापत्ति है. इस स्कन्धत्रयीके विषयक्रम तथा श्रीमहाप्रभुके—“एवं भेदत्रयं निरूपितं सायुज्यं वैकुण्ठः जीवन्मुक्तिश्चेति” (सुबो.३।२५।४०) वचन की एकवाक्यताको दृष्टिगत करनेपर यहां सेवाफलग्रन्थमें वर्णित फलत्रयका रूप स्पष्ट-तया निर्धारित हो जाता है. अलौकिकसामर्थ्य फलनिरोध है, इस भूतलपर घटित होनेवाली भक्तोंकी जीवन्मुक्तिकी तरह, जो दशम स्कन्धके भक्तोंके जैसी भगवदनुभूतिका एक अलौकिक प्रकार है. सायुज्य परमात्मामें लय है, विदेहमुक्तिकी तरह, जो एकादश स्कन्धका वर्ण्य-विषय है. वैकुण्ठादिषु-सेवोपयोगिदेह आश्रय-ब्रह्मभावापत्ति है, वैकुण्ठादि दिव्य भगवद्घामोंमें दिव्य देह प्राप्त करके पुनः भगवद्भजनके सुअवसरकी प्राप्ति है, जो भागवतके द्वादश स्कन्धका वर्ण्य-विषय है.

इस तरह तीनोंकी एकवाक्यता निर्धारित हो जानेपर निरोधलक्षण ग्रन्थके बाद सेवाफल

ग्रन्थकी क्रमसंगति भी स्पष्ट हो जाती है. निरोधकी साधनावस्थाका निरूपण निरोधलक्षणमें अभिलषित है तथा निरोधकी फलावस्थाका निरूपण यहां सेवाफलमें. जैसे सेवाकी साधनावस्था सिद्धान्तमुक्तावली तथा सिद्धान्तरहस्य में विवक्षित है और सेवाकी फलावस्था यहां सेवाफलमें.

विभिन्न व्याख्याकारोंके इस फलविचारके बारेमें इतने जादा मतभेदका कारण एक मधुर कलह है. पुष्टिभक्तिमें भगवान्की संयोगानुभूति परमफल है कि विरहानुभूति. इस प्रश्नका उत्तर देते समय विभिन्न व्याख्याकार अपनी-अपनी भावरुचिके विवश उलझ जाते हैं. अतः सेवाफल ग्रन्थके अध्ययनसे पूर्व एतद्विषयक श्रीमहाप्रभु-श्रीप्रभुचरणके मन्तव्योंका अध्ययन उपकारक होगा.

तैत्तिरीयोपनिषद्में ब्रह्मको 'आनन्दमय' (२।५) कहा गया है और 'आनन्द' (३।६) भी. इसी तरह यहीं (२।७में) ब्रह्मको 'रस' भी कहा गया है—“रसो वै सः.” ब्रह्मसूत्रके—“आनन्दमयोम्यासात्” सूत्रमें दो बातें निर्धारित की गयी हैं. एक तो 'आनन्द' पदके साथ 'मय (ट्)' प्रत्यय प्रचुरताके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है अतः 'आनन्दमय' का अर्थ होता है : प्रचुर आनन्दरूप. दूसरे 'आनन्दमय' शब्द परमात्माका वाचक है. इन सारी बातोंको लक्ष्यगत करनेपर दो प्रश्न उठते हैं :

१) क्या 'आनन्द' और 'आनन्दमय' शब्द पर्यायवाची होनेपर भी अर्थछायाके भेदके कारण ब्रह्मके किन्हीं दो रूपोंका निरूपण करते हैं या नहीं ?

२) यदि करते हैं तो “रसो वै सः” वचन द्वारा ब्रह्मके किस रूपको, क्या आनन्दरूपको अथवा आनन्दमयरूपको, 'रस' कहा जा रहा है ?

निश्चयेन कहा जा सकता कि श्रुतिका भार परमात्माकी रसरूपतापर अधिक है क्योंकि स्पष्टतया वहां कहा गया है—“रसो वै सः रसं होवायं लब्ध्वा आनन्दी भवती.”

इस विषयमें श्रीहरिरायचरणकी धारणा है कि परमात्माके वहिःप्रकट साकृति रूपको 'आनन्दमय' कहना चाहिये और भक्तके हृदयमें प्रकट होती परमात्माके प्रति स्नेहानुभूति या प्रीति को 'आनन्द' कहना चाहिये.

रसशास्त्रमें रति अर्थात् प्रीति को 'रस' एवम् 'स्थायिभाव' कहा जाता है. जिस व्यक्तिके बारेमें रति या प्रीति होती है उस व्यक्तिको रसशास्त्रमें 'आलम्बनविभाव' कहा जाता है. रसशास्त्रका प्रमुख विवेच्य विषय हमारे प्रमुख मनोभाव, उनके विषय, उद्दीपक, अनुभावक एवम् अंगभूत अस्थायी मनोभावों के स्वरूपोंका निर्धारण है. अतः रस अर्थात् स्थायी मनोभाव को रसशास्त्रमें धर्म माना जाता है; और इन प्रीति भय क्रोध उत्साह निर्वेद जैसे मनोभावोंके विषय उद्दीपक आदि अन्य सभी अंगोंको धर्म माना जाता है.

तदनुसार श्रीहरिरायचरणकी धारणा है कि वहिःप्रकट परमात्माका रूप, क्योंकि भक्तके स्नेहमय स्थायी भावका ही आलम्बनविभागके रूपमें हृदयके बाहर प्राकट्य है अतः, उसे

धर्मसहित धर्मी मानना चाहिये. इसके विपरीत भक्तके हृदयमें प्रकट स्थायीभाव, जिसको स्पष्ट अनुभूति विरहदशामें ही सम्भव है, उसे केवलधर्मी मानना चाहिए. "एतावान्परं विशेषो यद् बहिःप्रकटं रूपं रसधर्मसहितम् 'आनन्दमय' शब्देनोच्यते, धर्ममात्रं केवल भाव रूपम् 'आनन्द' शब्देन इति" (प्रभुप्रादुर्भावविचार). अतः केवल धर्मीको उपनिषद्में 'रस' कहा गया है. श्रीहरिरायचरणके अनुसार 'आनन्द' और 'रस' पर्यायवाची शब्द हैं, और, 'आनन्दमय' का अर्थ होता है: रसधर्म-आलम्बनविभावसहित स्थायीभाव. 'आनन्दमय' और 'रस' पर्यायवाची नहीं हैं.

अणुभाष्यमें परन्तु भाष्यकार किञ्चित् भिन्न प्रकार दिखलाते हैं— "अग्रे 'रसो वै सः' इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्य च स्थायिभावात्मकत्वात् तस्यैव आनन्दमयत्वाच्च" (अणुभा. ३।३।१५). यहां 'आनन्दमय' और 'रस' को पर्यायवाची माना गया है.

ब्रह्मको आनन्दरूप माना गया है— "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्". ब्रह्म अपरिच्छिन्न-अनन्त-पूर्ण आनन्द है, पर भक्तके हृदयमें जब उस परमात्माके लिए प्रीति प्रकट होती है तो उसके अनुभवका सुख, ब्रह्मकी केवल तत्वानुभूतिसे कहीं अधिक पूर्णतर-प्रचुर होनेके कारण, 'आनन्दमय' कहलाता है. अतः भाष्यकारके मतमें 'रस' का पर्यायवाची शब्द 'आनन्दमय' है. तैत्तिरीयोपनिषद् (२।५) में अतएव विज्ञानमयकोशके भीतर आनन्दमयकी उपस्थिति दिखलायी गयी है. इस आनन्दमयकी आत्मा आनन्द है यह— "आनन्द आत्मा" (वहीं) कह कर-दिखलाया गया है.

ऐसी स्थितिमें आनन्दको धर्मी मानना चाहिये कि आनन्दमयको ? यदि आनन्दको धर्मी मानते हैं तो आनन्दमय धर्म बनेगा और यदि आनन्दको धर्म मानते हैं तो आनन्दमयको धर्मी मानना पड़ेगा.

हमने देखा कि रसशास्त्र प्रेमको धर्मी मानता है और प्रियतम आदिको धर्म. क्योंकि रसशास्त्र भावविवेचना है और प्रेम एक भाव है. अतः अपने पारिभाषिक अर्थमें प्रियतम रसशास्त्रके लिए धर्म बन जाता है. क्योंकि प्रियतमके स्वरूप गुणधर्म या विभिन्न प्रकारों का विवेचन, रसशास्त्रको, प्रेमके जनक और प्रेमके आलम्बन-विषय के रूपमें अभीष्ट है—स्वतन्त्र-तया नहीं. भागवतमें भगवान्से भिन्न किसी लौकिक चरित्रके रसात्मक वर्णनका कोई स्थान नहीं है. ऐसे ही ब्रह्मके शुष्क तात्त्विक विवेचनार्थ भी भागवत प्रस्तुत नहीं है. भागवत भगवान्के रसात्मक रूप एवम् लीला के वर्णनार्थ प्रवृत्त हुयी है. अतएव कभी रसशास्त्रीय परिभाषाओंके सहारे भगवान्के स्वरूप एवम् लीला का वर्णन होता है तो कभी ब्रह्मशास्त्रीय परिभाषाओंके सहारे भी. कभी भक्तोंकी भक्तिके अंगके रूपमें भगवान्का वर्णन होता है, तो कभी भगवल्लीलाके अंगके रूपमें भक्त और उनकी भगवद्भक्ति का वर्णन होता है. कभी अतएव भक्तिको धर्मी मान कर तदंगभूत भगवान्का धर्मके रूपमें वर्णन होता है (यह रसशास्त्रीय विवेचनशैली है) और कभी भगवान्को धर्मी मान कर उनकी लीलाके अंगभूत भक्ति और भक्तों का

धर्मरूपेण निरूपण होता है (यह ब्रह्मशास्त्रीय विवेचनशैली है). इनमेंसे किसी एकतर परिभाषाके अनुसार विवेचनाका ढाढ़ाग्रह सरस ती हो सकता है पर सर्वांगीण नहीं.

अतएव भागवतानुसारी भगवान्के रसात्मक रूपके निरूपणमें दोनों वर्णनशैलियोंका यथायथ उपयोग अभीष्ट होता है. भक्तोंके प्रियतम भगवान्को कभी 'धर्मी' कहा जाता है और उनके स्वरूप गुण एवम् लीला के आकर्षणके कारण प्रकट होती प्रीतिको 'धर्म'.

सुबोधिनी (१।१९।१६) में श्रीमहाप्रभुने यह समझाया है: "स्नेह एक विलक्षण पदार्थ है. स्नेहके आधार और विषय दोनों ही भगवान् ही होते हैं. जितना-जितना कोई भगवान्के निकट पहुंचता जाता है, उतना उसमें भगवान्के ज्ञान ऐश्वर्य आदि गुणोंका संक्रमण भासित होने लगता है, जैसे अग्निके निकट स्थित वस्तुओंमें उष्णता संक्रान्त होती है. इसी तरह जितनी-जितनी निकटता भगवान्के साथ हमारी बढ़ती जाती है, उतनी-उतनी मात्रामें भगवद्धर्म प्रीति भी हमारे भीतर बढ़ती चली जाती है". प्रीति भगवान्का आत्मरतिरूप धर्म है, पर भगवान्के निकट होनेपर वह हमारे भीतर भी प्रकट होने लगता है. अतएव श्रीमहा-प्रभु कहते हैं— "प्रीतिस्तु भगवद्धर्मः" (सुबो. २।२।७). यह ब्रह्मशास्त्रीय विवेचनशैली है.

प्रेम, प्रियतमके कारण, प्रेमीके हृदयमें प्रकट होता है. प्रेमके अति गाढ़ होनेपर, प्रियतम-की अनुपस्थितिमें भी आसक्तिभ्रमन्यायसे, उस प्रेमके कारण प्रियतम भी कभी प्रकट हो सकता है. प्रियतमसे प्रकट होनेके रूपमें प्रेम वर्म तथा प्रियतम धर्मी माना जाता है. पर प्रगाढ़ अवस्थामें प्रेमके कारण प्रियतमके प्रकट होनेपर, प्रेम धर्मी और प्रियतम धर्म बन जाता है. अतः प्रेम और प्रियतम का भेद बड़ा लचीला है— "विरहभावे... तु ज्ञानादिसर्वतिरोधानेन अग्रिमरसानुभवो न भविष्यतीति स्वयमेव (आलम्बनविभाव एव) तदनुभववात्मकी भवतीति ज्ञापनाय विज्ञानरूपत्वमुच्यते. तदनुभवविषयः आनन्दमयः इति तत्स्वरूपमुच्यते. तत्र निरुपधिप्रोतिरेव मुख्या नान्यदिति ज्ञापनाय प्रियस्थ प्रधानांगत्वमुच्यते. स्थायिभाव-स्यंकरूपत्वादात्मत्वमुच्यते. यतः ततएव (स्थायिभावादेव) विभावादिः विविध-भावोत्पत्तिः" (अणुभा. १।१।१२). प्रेम ही जब प्रगाढ़ बन कर प्रियतमके रूपमें बाहर प्रकट हो जाता है तो बहिःप्रकट रूपको 'आनन्दमय' कहा जाता है और अन्तःस्थित प्रेमको 'आनन्द'. अन्यथा प्रियतम भगवान् आनन्द हैं और भगवत्प्रेम आनन्दमय.

अणुभाष्य (३।३।१०) में यह कहा गया है कि जैसे तन्तुओंके आतान-वितान बुने जानेपर जो पट प्रकट होता है वह तन्तुओंसे भिन्न नहीं होता, इसी तरह आलम्बन विभाव (स्वयम् भगवान्) उद्दीपन विभाव (वेणुनाद आदि) अनुभाव (भ्रूभृंगादि) तथा सञ्चारिभाव-(मान-दैन्यादि) के परस्पर आतानवितानमें जिस स्थायिभाव (भगवत्प्रीति) का प्राकट्य होता है वह स्वयम् भगवान्से भिन्न नहीं होता. अतः आनन्द और आनन्दमय का भेद वस्तुगत न होकर विवक्षागत होता है.

अवतारकालमें भगवान् अपनी लीलाओंके द्वारा भक्तोंके हृदयमें अनेक प्रकारके स्नेह प्रकट करते हैं. ऐसे स्नेही भक्त जब भगवद्विरहमें भगवान्के गुणगानमें तल्लीन हो जाते हैं तब हृदयस्थित स्नेह भगवद्विषयक विविध मनोरथोंके सांचेमें ढलकर स्वयम् भगवान् एवम् उनकी लीलाओं का रूप धारण कर लेता है. अनवतारकालमें इसी तरह सेव्य-स्वरूप सेवाकर्ताके हृदयमें स्नेह प्रकट करते हैं. यह स्नेह भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तन-कालमें भक्तके हृदयमें भगवत्स्वरूपानुभूतिका रूप भी धारण कर लेता है.

तामस-प्रमेय-प्रकरणकी सुबोधिनीमें अतएव भगवान्का स्वरूप 'नटवरवपु'के रूपमें वर्णित हुआ है :

'रसानुभूतिके दो प्रकार सम्भव हैं. प्रथम प्रकार होता है : जहां प्रेम (स्थायिभाव-धर्मी) और प्रियतम (आलम्बनविभाव-धर्म) दोनोंकी अनुभूति हो. द्वितीय प्रकार होता है : प्रियतम (आलम्बनविभाव-धर्म) अनुपस्थित हो, पर प्रेम (स्थायिभाव धर्मी) की अनुभूति हो रही हो. नाट्यमें, द्वितीय प्रकारसे, केवल रति या प्रेम की ही वास्तविक अनुभूति होती है. प्रियतम-आलम्बनविभावके रूपका तो केवल नाटन ही होता है, साक्षात् उपस्थिति नहीं. संयोगमें आलम्बनविभाव और स्थायिभाव दोनों ही उपस्थित रहते हैं. नेत्रोंके समझ बाहर आलम्बनविभावरूप भगवान् उपस्थित होते हैं और हृदयके भीतर स्थायिभावरूप भगवद्रति भी अवस्थित होती है. संयोग-लीलामें अतएव 'वर' की तरह प्रत्यग्रभोग माना जाता है; और विप्रयोगलीलामें गाढ स्नेहवश 'आसक्तिभ्रम'की तरह अनुभूत होती भगवदुपस्थिति 'नट' की तरह केवल नाटन मात्र है. अतः नटवत् और वरवत् लीला करनेवाले भगवान्के स्वरूपको 'नटवरवपु' कहा जाता है. क्योंकि भृंगारसके अनुसार प्रत्यग्र-साक्षात् सम्भोग जैसे वर-पतिका कार्य है, वैसे ही नाट्यमें सम्भोगका नाटन नट-अभिनेताका कार्य होता है. भगवान् एककालावच्छेदेन उभयविधकार्य सम्पन्न करते हैं. बाह्यमें प्रकट होकर रसानुभव प्रदान करनेका; तथा हृदयमें तीव्र आसक्तिवश प्रकट होती अनुभूतिमें रसाभिनय करनेका भी.

ज्ञानियोंद्वारा उपासनार्थ कल्पित रूप हृदयमें अनुभवसुख प्रदान कर सकता है. पर भक्तोंके लिए तो उनके द्वारा भाविन रूपको धारण कर भगवान् बाहर भी प्रकट होते हैं. सभी इन्द्रियोंसे अनुभूत होनेका सुख भक्तको प्रदान करते हैं. इस वहिःप्रकट भावित रूपको मायिक कल्पित; या देहदेहिभावग्यायसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपको आवृत करनेवाला कोई भिन्न रूप नहीं माना जा सकता है. यह भावित-वहिःप्रकट रूप उतना ही पारमार्थिक हीता है जितने कि स्वयम् परमात्मा" (सुबो. १०।१२।५).

इस प्रसंगमें रसशास्त्रीय रीतिके अनुसार निरूपण किया गया है. अतएव भगवद्रतिकी तुलनामें भगवान्को धर्मके रूपमें वर्णित किया गया है. फिरभी लक्ष्यमें रखते लायक बात यहां यह है कि वृन्दावनमें प्रत्यग्रभोक्ताके रूपमें; तथा ब्रजकी गोपिकाओंके हृदयमें वृन्दावन

की आन्तर लीलानुभूतिके दानद्वारा, रूप एवम् लीला का नाटक करते हुवे, अपना उभयविध (नटवत् और वरवत्) रूप भगवान्ने एककालावच्छेदेन प्रकट किया है. भगवान् स्वयम्को वहिःप्रकट न करें तो ज्ञानियों और भक्तोंके सुखमें कोई तारतम्य नहीं रह जाता है. प्रत्युत भक्तोंके लिए केवल हृदयमें भगवान्का अनुभूत होना तो एक दुःखकी बात बन जाती है ! (हृद्येव प्राकट्ये तु मनोमात्रभोग्यत्वम्. वहिःप्राकट्ये सर्वेन्द्रियभोग्यत्वम्. एवं सति चक्षु-राद्यविषयत्वे प्रियपदार्थस्थ मनोमात्रविषयत्वं दुःखदमित्यनुभवसिद्धमतो भक्तार्थं तथेति. नतु स भगवान् एव तथा आत्मभिन्नवपुषो भर्ता इत्यर्थः. सुबो. टिप्प. १०।१८।५).

यदि आनन्दको स्थायिभावात्मक आत्मस्थानीय धर्मी माना जाये तो वहिःप्रकट आनन्दमय स्वरूप अर्थात् आलम्बनविभावरूप वपु उस स्थायिभावसे भिन्न नहीं होता. इसी तरह यदि आनन्दको आलम्बनविभावरूप धर्म माना जाये तो भी प्रत्यग्रभोक्ता 'वर' के रूपसे केवल-रसरूप आनन्दमय धर्मी 'नट' रूप भगवान् भिन्न नहीं होते.

"यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्" (४।१।११) ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें यह कहा गया है कि "जिन भक्तोंको आन्तर भगवदनुभूति होती है या जिन भक्तोंकी बाह्य भगवदनुभूति होती है उनके भाव या अनुभूयमान भगवत्स्वरूप में किसी भी प्रकारका तारतम्य नहीं होता." आन्तर-संयोगमें भक्तहृदयस्थित भाव भगवदाकार ग्रहण कर लेता है; तथा बाह्यसंयोगमें भगवान् भक्तके हृदयमें भावाकार ग्रहण करते चले जाते हैं. दोनों ही तरह समानता है.

पुरुषोत्तमकी अनुभूतिसं पूर्व अनिवार्य सर्वात्मभाव, अतएव, वियोगकी तरह भक्त-भगवान्के संयोगमें भी स्वीकारा गया है. वेणुगीतकी सुबोधिनीमें सकल इन्द्रियोंके भगवान्में विनियोगकी सर्वात्मभाव कहा गया है. वाणीसे भगवान्के साथ संलाप, नयनोंसे दर्शन, बाहुओंसे भगवान्का आलिङ्गन, हाथोंसे सेवा, त्वचासे स्पर्श, रसनासे अधरामृतपान, कानोंसे वेणुकूजनका श्रवण, नासिकासे भगवद्गन्धका आघ्राण, चरणोंसे भगवान्के निकट गमन, अन्तःकरणसे भगवत्स्वरूपकी भावना, पायूपस्थेन्द्रियोंसे रोमोद्गम और भोग को वेणुगीतमें इन्द्रियवानोंका परमफल माना गया है. सकल इन्द्रियोंके भगवान्में ऐसे विनियोगकी तुलनामें मुक्ति तो भक्तोंको अपनी सर्वविध सम्पूर्ण निष्फलता ही प्रतीत होती है. जैसे किसी नयन-वानको सदा-सर्वदाके लिए अन्धकूपमें घकेल देना या उसे नयनोंसे वञ्चित कर देना दोनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता है. जागतिक विषयोंमें अनुरागके नष्ट होनेपर तथा सर्वात्मभावसे सम्पन्न होनेपर भक्तको सकल इन्द्रियों द्वारा भगवत्स्वरूपानन्दकी अनुभूति मिलती है—'वांधकानां परित्यागे साधकानां न तद् भवेत्" (वेणुगीत सुबो. कारिका)

इन कारिकाओंमें संयोगकालीन सर्वात्मभावका वर्णन है. श्रीप्रभुचरण उल्लिखित 'वाधक' का अर्थ प्रापञ्चिक विषयोंमें अनुराग; तथा 'साधक' का अर्थ सर्वात्मभावपूर्वक भजन करते हैं. सर्वभाव सिद्ध होनेपर ही भक्त सायुज्यमुक्ति (भगवान्में लीन होने)से बच सकता है. अर्थात् प्रस्तुत सेवाफल विवरणमें विवाहित प्रथमफल 'अलौकिक सामर्थ्य' के सिद्ध होनेपर भक्त, द्वितीयफल 'सायुज्य'से बच सकता है.

तृतीयस्कन्ध-सुबोधिनीके एतद्विषयक विचारोंसे एकवाक्यता करनेपर सायुज्य बाद पुनः नूतन अलौकिक देहकी प्राप्ति का भी एक प्रकार मान्य किया गया है। अतः अलौकिक सामर्थ्यके बाद सीधे सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सायुज्योपरान्त सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सायुज्य ही केवल, यों फलानुभूतिके अनेक प्रकार सम्भव हैं। परन्तु यह निश्चित है कि इन्द्रियवानोंका मुख्य फल तो सर्वात्मभाव या अलौकिकसामर्थ्य ही है। अन्यथा तृतीयस्कन्धके—“हृतात्मनो हृतप्राणाश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमध्वीं प्रयुक्ते” वचनमें निरूपित गौणफलरूप सायुज्य मिलता है। इन्द्रियादिसे रहित होकर भगवान्के दर्शन-स्पर्शन-श्रवणादिके सुखसे वञ्चित होना इन्द्रियवान् भक्तोंके लिए एक विडम्बना है।

भ्रमरगीतके “सर्वात्मभावो धिक्कृतो भवती नामघोक्षजे” (१०।४।२७) वचनमें विप्रयोग-कालीन सर्वात्मभावका वर्णन है और वेणुगीतमें संयोगकालीन।

यहां यह अवघेय है कि रसशास्त्रीय दृष्टिसे करुणविप्रयोग और श्रृंगारविप्रयोग में, एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यही है कि जहां पुनर्मिलन निश्चित हो, वहां विप्रयोग श्रृंगाररसात्मक माना जाता है, पर जहां पुनर्मिलन असम्भव हो अथवा जन्मांतरमें सम्भव हो तो ऐसा विप्रयोग श्रृंगाररस न रहकर करुणरस बन जाता है। “युनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनरलभ्ये विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः” (साहित्यदर्पण ३।२०९) “शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः, विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनःसम्भोगहेतुकः” (सा. द. ३।२२६)

परमफल संयोगको मानना चाहिये कि विप्रयोगको, इस विवादमें अतिव्यादी दृष्टिकोण अपनाते पर, या तो अधूरे श्रृंगारकी महत्ता माननी पड़ती है या श्रृंगारविप्रयोग और करुण-विप्रयोग के मौलिक भेदकी उपेक्षा हो जाती है। क्योंकि रसशास्त्रमें यह माना गया है कि विप्रयोगके बिना केवल संयोगानुभूतिमें वह चमत्कृति नहीं आती है। अतएव पूर्वरागोत्तर मानोत्तर और प्रवासोत्तर संयोगमें विशेष चमत्कृतिका हेतु पूर्वराग, मान या प्रवास जनित विप्रयोगको ही माना गया है—“न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते कथायिते हि वस्त्रादी भूयान् रागो विवर्धते”।

श्रीमहाप्रभु भी अतएव जैसे—“वाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता” का विधान करते हैं वैसे ही—“आन्तरं तु परं फलम्” भी। स्वीकारते ही हैं। श्रीप्रभुचरणने भी अतएव स्पष्ट शब्दोंमें इसका खुलासा—“स रसस्तु संयोगविप्रयोगाभ्यामेव पूर्णो भवत्यनुभूतो नैकतरेण” (अणु. ४।२।१) कह कर दिया है।

केवल विप्रयोग अथवा केवल संयोग को परमफल मानना भगवान्के ‘नटवरवपु’ रूपकी अस्वीकृति है। विप्रयोगमें भक्तके हृदयमें भगवान्की आन्तर अनुभूति होती है नटवत्; और संयोगमें भक्तके नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा भगवान्की बाह्य अनुभूति होती है, वरवत्, श्रीमहा-प्रभु किन्तु केवल नटवत् या केवल वरवत् रूपको फल न मानकर ‘नटवर वपु’ के रूपमें भगवान्को—“इदमेवेन्द्रियवतां फलम्” स्वीकारते हैं।

लौकिक श्रृंगारमें विप्रयोगकालीन आन्तर संयोगकी अनुभूतिको आसक्तिवश पैदा होती केवल भ्रान्ति ही माना गया है क्योंकि नायक अथवा नायिका की अनुपस्थितिमें उनकी अनुभूति वास्तविक नहीं हो सकती है। किसी भी देश अथवा काल में परन्तु सर्वव्यापी सनातन परमात्माका अनुपस्थित होना अकल्पनीय बात है। अनुभूत होते हों या नहीं पर, हृदयमें और हृदयके बाहर, सर्वत्र-सर्वदा भगवान् तो विद्यमान हैं ही। अतः भगवदनुभूतिपर भ्रान्तिकी परिभाषा लागू ही नहीं हो पाती है !

भक्तिके घटक तत्त्व दो माने गये हैं एक माहात्म्यज्ञान और दूसरा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह। यह माहात्म्य भगवान्का ही हो सकता है कि वे बाहर अप्रकट होनेपर भी भक्तके हृदयमें भावात्मना प्रविष्ट होकर भक्तिको करुणरस होनेसे वचा लेते हैं। इसी तरह सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहमें भी यह सामर्थ्य स्वीकारना पड़ता है कि उसके वशीभूत होकर भगवान्को भक्तके मनोरथोंके अनुरूप बाहर प्रकट होना पड़ता है।

इस विषयमें श्रीप्रभुचरणकी यह उक्ति मननीय है कि—“भगवद्विरहस्य सर्वसाधारण-त्वेपि स्थायिभावात्मकरसरूपभगवत्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति तस्यैव तदप्राप्तिजः तापः तदनन्तरं नियमतः तत्प्राप्तिश्च भवति” (अणु. ४।२।११)।

भक्तिवर्धिनीमें भक्तिकी चार अवस्था स्वीकारी गयी हैं :

- (१) बीजभाव
- (२) प्रेम
- (३) आसक्ति
- (४) व्यसन

“भावैरंकुरितं” कारिका और उसके व्याख्यानमें, अवतारकालीन सुदृढ़ सर्वतोधिक भगवद्रति, जो विना किसी प्रकारके माहात्म्यज्ञानके ही ब्रजभक्तोंमें प्रकट हो गयी थी, की चारके वजाय सात अवस्थाओंका वर्णन श्रीप्रभुचरण तथा श्रीहरिरायजी ने किया है : (१) भाव (२) प्रेम (३) प्रणय (४) स्नेह (५) राग (६) अनुराग (७) व्यसन—

भावैरंकुरितं महीमृगदृशामाकल्पमासिञ्चितम्
प्रेम्णा कन्दलितं मनोरथमयैः शाखाशतैः सम्भृतम्
लौल्यैः पल्लवितं मुदा कुसुमितं प्रत्याशया पुष्पितम्
लीलाभिः फलितं भजे व्रजवनीश्रृंगारकल्पद्रुम् ॥

(श्रीमत्प्रभुचरण)

भावः प्रेमप्रणयः स्नेहो रागानुरागव्यसनानि ।

अंकुरकन्दलशाखापल्लवकलिकाप्रसूनफलानीति ॥

(श्रीहरिरायचरण)

यह रसशास्त्र और भगवत्शास्त्र के समन्वयपर अवलम्बित भक्तिशास्त्रीय विवेचन है। अन्यथा केवल रसशास्त्रके अनुसार रतिको दस अवस्थायें स्वीकारी गयी हैं : (१) चक्षुराग

(२) मनःसंग (३) संकल्प (४) जागर (५) तनुता (६) विषयद्वेष (७) लज्जात्याग (८) उन्माद (९) मूर्छा (१०) मरण. इन्हें भक्तिवर्धिनीमें वर्णित चार अवस्थाओंमें बांट कर देखना ही तो इस तरह देखा जा सकता है:

- (१) बीजभाव—(क) चक्षुराग (ख) मनःसंग (ग) संकल्प
 (२) प्रेम—(क) जागर (ख) तनुता
 (३) आसक्ति—(क) विषयद्वेष (ख) लज्जात्याग
 (४) व्यसन—(क) उन्माद (ख) मूर्छा (ग) मरण

यहां अवश्य यह है कि व्यसनदशामें उन्माद एवम् मूर्छा तक तो बाह्य या आन्तर संयोगकी अनुभूति सम्भव है. अतएव इन्हें निरोधलीलाके अन्तर्भूत माना जा सकता है. क्योंकि निरोध जब भगवत्स्वरूप एवम् भगवद्गुण उभयकृत होता है तो वह स्वयम् फलात्मक होनेसे अंगीरूप माना जाता है. अन्यथा केवल भगवद्गुणकृत निरोध एकादश-द्वादशस्कन्धमें वर्ण्य मुक्तिलीला और आश्रयभावापत्ति की लीलाका अंग होनेसे 'साधनकृत्स्नता' रूप माना गया है. मुक्ति या आश्रय लीलाके अंगरूप निरोधवाली व्यसनदशामें स्नेहकी दसवी अवस्था मरण सम्भव हो जाती है. भक्त इस भौतिक देहको छोड़कर या तो भगवान्में लीन हो जाता है या फिर नूतन अभौतिक सच्चिदानन्दात्मक दिव्य देह व्यापिवेकुण्ठ-नित्यलीलामें प्राप्त कर लेता है—“ब्राह्मण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवत्तैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तान् अश्नुते” (अणु ४।४।५).

इस दिव्य देहान्तरसे लभ्य पुनःसंयोगकी भगवच्छास्त्रीय दृष्टिसे बड़ी महत्ता है, मुक्तिके रूपमें. रसशास्त्रीय दृष्टिसे किन्तु देहान्तरलभ्य संयोग शृंगाररसकी मर्यादासे बहिर्भूत या विपरीत है. अतएव भक्तिशास्त्रमें ऐसे संयोगकी फलरूपता गौण मानी गयी है—“भगवानेव हि फलं स यथाविभवेद् भुवि” (पु. प्र. म.) वचनमें भूतलपर ही आविर्भूत भगवान्को पुष्टिफल मानकर. अतएव भक्तको मुक्ति या आश्रय लीलाकी ओर हठात् ले जानेवाली भक्तिका वर्णन स्वयम् भगवान्ने इन शब्दोंमें किया है—“अनिच्छतो गतिमण्वो प्रयुक्ते” भ्रमरगीतपर टिप्पणीमें श्रीप्रभुचरण ऐसी भगवल्लीलाको—“अस्मदधिकारविरुद्धा कहते हैं.

संक्षेपमें (१) अलौकिकसामर्थ्य सर्वतिमभारूप होनेके कारण संयोग या वियोग दोनों अवस्थाओंमें फलनिरोधरूप है. इसे 'तनुनवत्व' या 'मानसी सेवा' भी कहा जा सकता है. पुष्टि-भक्तोंके लिए यह जीवन्मुक्तिके जैसी अनुभूति है (२) सायुज्य विदेहमुक्ति है, पुरुषोत्तममें लीन हो जाना. (३) वैकुण्ठ आदि लोकोमें सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति नवतनुत्व है. इसे 'ब्रह्म-भावापत्ति' या 'आश्रयभावापत्ति' भी कहा जाता है.

समग्र षोडशग्रन्थमें प्रस्तुत सेवाफल ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुके स्वयंकृत विवरणके वाचजुद अति क्लृष्ट और सूत्रात्मक भाषामें लिखा गया ग्रन्थ है. छन्दशास्त्रकी दृष्टिसे वैसे तो इस ग्रन्थमें साडे सात कारिकाएँ हैं, पर वाक्यार्थबोधका दृष्टिसे वाक्यविमर्श करनेपर इसमें पंद-

रह सूत्रात्मक वाक्य दृष्टिगोचर होते हैं. पाणिनीसूत्रोंकी तरह बहुधा इनमें भी—“सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र” नियम लागू होता दिखलायी देता है. तदनुसार उन्हें पृथक् पृथक् करके देखनेका प्रयास अब हमें करना है. इसमें दो-तीन तत्त्व मार्गदर्शक मानने पड़ेंगे. उदाहरणतया पूर्ववाक्यके किसी अंशसे उत्तरवाक्य पूर्ण होता हो तो उसे पूर्ण कर लेना चाहिये. सेवाफलविवरणमें स्वयम् श्रीमहाप्रभुने जिस अस्पष्ट शब्दका जो अर्थ दिया हो उसे कोष्ठकमें रखकर उस अर्थको स्फुट या पूर्ण कर लेना चाहिये. कभी साक्षात् पदोंकी आकांक्षा-पूर्तिके लिए कोष्ठकमें सम्बन्धघटक सर्वनामादिपदोंका विन्यास भी किया जा सकता है. तदनुसार प्रथम वाक्य तो एकदम स्पष्ट ही मिल जाता है :

१) यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते.

सिद्धान्तमुक्तावलीके—“कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवर्णं सेवा तत्सिद्धये तनुवित्जा” वचनमें, चतुश्लोकीके—“सर्वदासर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन” वचनमें; तथा भक्तिवर्धिनीके—“बीजदाहूर्ध्व-प्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः” वचनमें सेवाका जो स्वरूप समझाया गया, उसके सम्पन्न होनेपर सेवाकी फलरूपताका स्वरूप यहां समझाया जा रहा है.

२) अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिद्ध्येन्ननोरथः

आद्य ग्रन्थ यमुनाष्टकके सातवें श्लोकमें वर्णित—“ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता न दुर्लभतमा रतिर्भूररिपो मुकुन्दप्रिये!” प्रार्थनामें व्यक्त हुवे मनोरथकी सिद्धि, जब भगवान् अलौकिकसामर्थ्यका दान करते हैं तभी सम्भव है. अन्यथा अलौकिकसामर्थ्यके दानके अभावमें भगवत्सेवापरायण भक्त या तो पुरुषोत्तममें लीन हो जाता है; या फिर वैकुण्ठ आदि भगवद्धारमोंमें, भौतिक देहके छूट जानेके बाद, अलौकिक दिव्य सेवोपयोगिदेह प्राप्त कर लेता है.

३) अत्र (सेवायां) फलं (अलौकिकसामर्थ्यं) वा, अधिकारो (सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु) वा (भवतु) कालः नियामकः न (भवति).

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें यह कहा गया था कि पुष्टि जीवोंको उनका फल भगवत्स्वरूपसे ही मिलता है—“कायेन तु फलं पुष्टी वहीं यह भी कहा गया था कि “भगवानेव हि फलं स यथाविभवेद् भुवि, गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्” अर्थात् यथाधिकार हृदयमें भगवद्गुणोंका अथवा नयनोंके समक्ष साक्षात् भगवत्स्वरूपका इस भूतलपर प्रकट होना पुष्टिजीवोंकी फलानुभूति है. भगवान् ही जब फल हैं; और वे यदि काल-कर्म-कर्ता-मन्त्र-द्रव्य-देश-स्वभाव आदि हेतुओं अथवा साधनों के अशून्य न हों तो, पुष्टिमार्गीय फलात्मिका सेवा अथवा अधिकारात्मिका सेवा का नियामक काल कैसे हो पायेगा ?

अलौकिकसामर्थ्य या तनुनवत्व के साथ भगवत्सेवा सम्पन्न हो पाती हो तो वह सेवाकी फलरूपता है. अन्यथा वह न होनेपर सेवाके कारण पुरुषोत्तममें सायुज्य या वैकुण्ठ आदि

भगवद्धामोंमें सेवोपयोगी नूतन दिव्य देह प्राप्त होता है, भगवत्सेवा करनेवाले भक्तके भौतिक देहके छूटनेके बाद. अतः ऐसी भगवत्सेवा फलरूपान होकर अधिकाररूपानी जाती हैं. फल हो या अधिकार, पुष्टिभक्तिमें भगवान् ही नियामक है, काल-कर्म-स्वभावादि नहीं.

४) (सेवायां) बाधकं तु उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्, भगवतः अकर्तव्यं चेद्.

काल-कर्म-स्वभाव यद्यपि फल या अधिकार में नियामक नहीं हैं, फिर भी, फलदान या अधिकारसम्पादन की भगवदिच्छाके न होनेपर भगवत्सेवामें उद्वेग प्रतिबन्ध अथवा भोग बाधक बन सकते हैं.

जैसे फल तीन माने गये हैं, सेवामें, ऐसे ही विघ्न भी तीन ही माने गये हैं. इनमें उद्वेग के अनेक रूप नवरत्न एवम् विवेकधैर्याश्रय में दिखलाये गये हैं. वहां आश्रयभावकी दृढताके लिए अष्टाक्षरका उच्चारण तथा लीलाभावना की बात समझायी गयी है. अतएव उद्वेग और उससे बचनेके उपायके बारेमें अब पुनः यहां किसी निरूपणकी आवश्यकता नहीं है. अतः इस सेवाफलके विवरणमें प्रतिबन्ध एवम् भोग रूप विघ्नोंका विचार होगा.

प्रतिबन्ध दो प्रकारके होते हैं : एक साधारण और दूसरा भगवत्कृत. साधारण प्रतिबन्धोंका निवारण लोकचातुरीसे करना चाहिये.

श्रीप्रभुवरणने अपने आत्मजोंको लिखे एक पत्रमें ऐसी लोकचातुरीका उपदेश दिया है "अन्यच्च यवनादयो ठाकुरद्वारे आगच्छन्ति यथापूर्वं भाषणमिलनप्रसादादिकं कार्यम् यद्यपि हार्दं न भवति, वाह्यतोपि कार्यम्". ऐसी लोकचातुरीका प्रयोजन निविघ्न भगवत्सेवाका निर्वाह ही होना चाहिये. आत्मसम्मानको खोकर सरकारी अफसरोंकी चापलूसीका नहीं. अतएव इसी पत्रमें सावधान भी किया गया है—“सावधानैः सहपरस्परस्नेहैः अवहिद्विष्टिसेवकपरैः स्थेयम्.”

भगवत्कृत प्रतिबन्धका निराकरण जीवके सामर्थ्यके बाहर होता है. अतः उसका विचार बादमें किया जायेगा. इसी तरह द्विविध भोगका विचार भी आगे किया जायेगा.

५) भगवतः सर्वथा अकर्तव्यं चेद् (भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धः तदा) गतिः न हि (भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यं, तदा अन्यसेवापि व्यर्था, तदा) यथा वा तत्त्वनिर्धार (आसुरोयं जीव इति) विवेकः (तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तव्यमिति, अन्यथा) बाधकानां (त्रयाणां साधन -) परिस्थानः (कर्तव्य इति) साधनं मतम् .

पुष्टिमार्गीय जीव देवी होनेके कारण कभी प्रवाहमार्गीय या आसुरी सृष्टिका हो नहीं सकता. फिर भी यह सम्भव है कि उसके देह-इन्द्रिय-प्राण-अन्तःकरणमें किसी समय या किसी जन्ममें आसुरभावका आवेश हो जाये. अतएव पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें—“आसवती भगवानेव शापं दापयति क्वचित्” के द्वारा पुष्टिजीवोंमें आसुरावेशके कारणरूपमें भगवदिच्छाको मान्य किया गया है. सुबोधिनी (३।२५।३२) में—“ये वा देव्यां सम्पदि जाताः तेषामपि (इन्द्रियाणि) देवरूपाणि भवन्ति आसुराण्यपि भवन्ति” कहा गया है. वहीं यह भी कहा गया है कि “ भक्तिदेवैरेव भवति नासुरैः” अतः जिस जन्ममें पुष्टिभक्तके देहेन्द्रियादिमें देवी

गुणोंका आवेश प्रबल नहीं होता, उस जन्ममें पुष्टिप्रभु, उस जीवसे फलात्मिका सेवा लेना नहीं चाहते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये. ऐसी स्थितिमें अन्य कोई रह नहीं जाता, जिसके आश्रय या भजन से भगवत्सेवामें पैदा होनेवाले विघ्न दूर हो पायें, या अन्य कोई उपाय शक्य बन पाये. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं—“तदा अन्यसेवापि व्यर्था”

भगवन्मार्गमें भगवदिच्छाके विना कोई विघ्न आ नहीं सकते और भगवदिच्छाके कारण आये हुवे विघ्नोंको कोई दूर नहीं कर सकता है. नवरत्नमें अतएव कहा गया है कि “अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनिवेदनं यैः कृष्णसात्कृतप्राणैः तेषां का परिदेवना !” अतः पुष्टिजीवको जब प्रभु संसारासक्तिमें फंसाये रखना चाहते हों तो अन्याश्रय या अन्यभजन से कुछ भी प्राप्त हो नहीं पायेगा.

तत्त्वदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकारणमें “कृष्णपदेन वहिर्भजनमेव मुख्यमिति निरूपितं 'यो वेद निहितं गुहायाम्' इति तु ज्ञानमार्गं” (कारिका १३) कहा गया है. भागवतार्थ प्रकरणमें भी भगवदवतारकालीन भजनका विकल्प ज्ञान माना गया है—“पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत् परिवर्तते” (१०।१११-११३). भक्तिवर्धिनी (४) में भी “व्यावृत्तोपि हरी चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा” कहा है. इसी तरह “सेवायां वा कथायां वा..” कारिकामें ‘सेवा और कथा’ को उत्तमकल्प माना गया है, तथा ‘सेवा या कथा’ को गौणकल्प माना गया है. अणुभाष्य (४।१।८) में—“एवं वहिःप्राकट्यमुक्त्वा आन्तरं तदाह. भावनौत्कटघदशायां व्यभिचारिभावात्मकसततस्मृतिरूपध्यानादपि हृदि प्रकटः सन्नासीनो भवतीत्यर्थः” कहा गया है.

इन सभी उद्धरणोंपर लक्ष्यपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सेवाफलमें वर्णित ‘ज्ञानमार्ग’ मर्यादामार्गीय ज्ञानवाला नहीं है, किन्तु पुष्टिमार्गीय ज्ञानको लेकर ही यहां ‘ज्ञानमार्ग’ शब्द प्रयुक्त हुआ है. पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवा भवित है तथा भगवद्गुणगान या भगवत्कथा ज्ञान है. भगवद्गुणानुवादकी प्रणालीसे हृदयमें सतत भगवद्ध्यान या भगवत्स्मृति को बनाये रखना ‘ज्ञान’ कहलाता है. निरोधलक्षणमें—“गुणेष्वविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवेरिणः संसारविरहकलेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम्” कहा गया है. अतः भगवान्के गुणानुवादसे ‘शोकाभाव’ सिद्ध होता है. यह पुष्टिमार्गीय विवेक है.

जिनसे यह कथात्मिका भक्ति भी न निभती हो, उनके लिये विवेकधैर्याश्रय तथा कृष्णाश्रय में प्रपत्तिमार्गका निरूपण किया गया है—“अलौकिकमनःसिद्धी सर्वथा शरणं हरि, एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्” (विवे. १३). इसी तरह “अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम... विवेकधैर्यभक्तत्यादिरहितस्य विशेषतः पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम” (कृष्णा. ७ और ९) कहा गया है.

पूर्णभक्तिके दो अंग माने गये हैं : एक बाह्य अंग माहात्म्यज्ञान और दूसरा आन्तर अंग सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह. अतः सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहके विना सेवा-कथाका निर्वाह शक्य नहीं होता. फिरभी माहात्म्यज्ञानपर अवलम्बित शरणागति-आश्रय-प्रपत्तिरूप उपाय शक्य हो तो

उसे अपनाना चाहिये. अतएव माहात्म्यज्ञानमूलक होनेके कारण प्रपतिमार्गको भी पुष्टि-मार्गमें ज्ञान माना जाता है.

प्रतिबन्ध जो भगवत्कृत प्रतीत न होते हों पर हमें पुष्टिभक्तोचित विवेक या धर्म से वञ्चित करते हों तो, उनसे बचनेके अनेक उपाय नवरत्न तथा विवेकधर्मश्रय में दिखलाये गये हैं. यथा—प्रार्थनात्याग, अभिमानत्याग, हठत्याग, अनाग्रह, सहिष्णुता, असामर्थ्यभावना, भगवत्लौलाभावना, मनवाणीसे सतत शरणभावना, अन्याश्रयत्याग, दृढ विश्वास तथा प्राप्त सुख-दुःखको ममताद्वेष-रहित स्वीकृति आदि.

उद्वेगके हेतुओं, साधारणप्रतिबन्धके हेतुओं तथा लौकिक भोगके हेतुओं का त्याग करनेपर सेवाका निर्विघ्न निर्वाह सुकर बन जाता है. उद्वेग और उसके विभिन्न हेतुओं के निवारणका उपाय नवरत्न ग्रन्थमें समझाया गया. साधारण प्रतिबन्ध तथा उसके हेतुओंके निवारणका उपाय विवेकधर्मश्रय ग्रन्थमें समझाया गया है. अब लौकिक क्षुद्र भोग और अलौकिक महान् भोग का प्रभेद तथा अन्य भी तत्सम्बन्धी विवेचन आगे किया जायेगा.

६) भोगे अपि बाधकानां परित्यागः एकं साधनं मतम्.

भोग दो तरहके सम्भव हैं: एक लौकिक भोग और दूसरा अलौकिक भोग. लौकिक भोग त्याज्य होता है. भगवान्को असमर्पित-अनिवेदित वस्तुओंका उपभोग भगवत्सेवामें बाधक बनता है. यह सिद्धान्तरहस्य (कारि. ४) में—“अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन, असमर्पित-वस्तुनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्” कह कर समझाया गया है. अतः असमर्पित-अनिवेदित वस्तुओंका उपभोग बाधक है और उनका परित्याग हमारे लिये एक साधनके रूपमें कर्तव्य है. ७) तथा भोगे परं निष्प्रत्यूहं साधनम् अपि मतं (यतः) महान् (अलौकिकस्तु) भोगः (फलानांमध्ये) प्रथमे सदा विशते (प्रविशति).

सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थमें जैसे असमर्पितके त्यागकी बात समझायी है, उसी तरह समर्पितके उपभोगकी आवश्यकता भी दिखलायी गयी है—“निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति...सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्धयति तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः” भगवान्को समर्पित भगवत्प्रसादरूप एक गन्ध वस्त्र अलंकार अन्न गृह तथा पारिवारिक जन, सांसारिक मोहके नहीं, किन्तु भगवद्भावके वर्धक होते हैं. ब्रह्मको समर्पित सभी कुछ ब्रह्मात्मक हो जाता है. जैसे गंदी नालीका जल गंगामें मिल कर गंगाजल बन जाता है. अणुभाष्य (३।३।३९) में अतएव कहा गया है—“सर्वनिवेदनपूर्वकं गृहेषु भगवत्सेवां कुर्वतां तदुपयोगित्वेन तेभ्यएव मुक्तिः भवतीत्यर्थः. एतादृशानां गृहा भगवद्गृहा एव आदिपदेन स्त्रीपुत्रपश्चादयः संग्रहयन्ते एतेन ज्ञानादिमार्गादुत्कष उक्तो भवति. बाधकानामपि साधकत्वात्” अन्यमार्गमें भोगके साधन अन्नवस्त्रगृहपरिवार आदि बाधक माने जाते हैं, पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवाके अंग बन जानेपर, इन्हें साधक माना जाता है. क्योंकि वे लौकिक आसक्तिको बढ़ानेके वजाय शनैःशनैः हमें अलौकिकसामर्थ्य अर्थात् सर्वेन्द्रियोंकी भगवत्परताकी ओर ही ले जानेवाले बनते हैं. निरोधलक्षण ग्रन्थमें इसे—“संसारवेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै कृष्णस्य

सर्ववस्तूनि भूमन् ईशस्य योजयेत्” कहा है.

भयवन्निवेदित वस्तुका भगवत्प्रसादके रूपमें उपभोग, सेवाके प्रथम फल अलौकिक-सामर्थ्यको प्राप्त करनेकी दिशामें अग्रसर होना है. अतः वह अलौकिक भोग होनेसे निष्प्रत्यूह-निर्वृष्ट है, महान् है.

८) सविघ्नः अल्पो (भोगः) बलात् घातकः स्यात्.

“यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्” (छान्द. व ७।२।४।१) इस श्रुतिमें मर्त्यत्वेन निन्दित अल्पभोगका परिहार भगवत्समर्पितके उपभोगसे शक्य बन जाता है. अतएव छान्दोग्योपनिषद्के इसी प्रकरणमें—“आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धीः ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विमोक्षः (७।२।६।२) वचनद्वारा आहारशुद्धिके उपलक्षणसे प्रत्येक भोगकी शुद्धिकी आवश्यकता दिखलायी गयी है, मर्त्य-अल्प-क्षुद्र लौकिक भोग कभी शोकमोहसे रहित नहीं होता है. अतः अनेकविध शोकमोहरूप विघ्नोत्ते युक्त अल्प भोग स्वयम् मर्त्य होनेपर भी मारक होता है. भगवत्सेवोचित भावका बलवान् घातक होता है. अतः लौकिक भोग त्याज्य है.

९) बलाद् एतौ (प्रतिबन्धको) सदा मत्तौ.

भक्तिवर्धिनी (६) में कहा ही गया है कि “तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्” अतः लौकिक भोग और भगवत्कृत प्रतिबन्ध भगवत्सेवामें बहुत बलवान् प्रतिबन्धक सदा होते हैं. इनमें लौकिक भोगका त्याग तो शक्य है पर भगवत्कृत प्रतिबन्धका निवारण शक्य नहीं है यह अब आगे कहा जायेगा.

१०) द्वितीये (भगवत्कृत-प्रतिबन्धे ज्ञानस्थित्यभावेच) संसारनिश्चयात् चिन्ता सर्वथा त्याज्या.

सर्वनिर्णय-प्रकरण (कारिका २४७) में यह दिखलाया गया है कि किन-किन स्थितियोंमें भगवत्सेवा छोड़ देनी चाहिये. यथा—

क) आसुरावेशके कारण हमारी इन्द्रियोंकी भगवत्सेवामें स्वतः प्रवृत्ति सम्भव न लगती हो तो हठपूर्वक उन्हें भगवत्सेवामें लगानेपर विक्षेप उत्पन्न हो जाता है. ऐसी स्थितिमें सेवा छोड़ देनी चाहिये.

ख) अतिवाधक्य या शारीरिक व्याधियों के कारण किसी व्यक्तिमें भगवत्सेवार्थ अपेक्षित शक्ति न रह जाती हो तो सेवा छोड़ देनी चाहिये.

ग) पारिवारिक सामाजिक या राजनैतिक दृष्टिसे जिनके अधीन होनेके कारण हम विवशतया भगवत्सेवा न कर पाते हों तो वह भी एक प्रतिबन्ध सेवामें सम्भव है.

घ) सेवा करते रहनेपर भी निरन्तर चित्तमें अन्यव्यासंग या व्यग्रता बनी ही रहती हो तो भगवत्सेवोचित भावना हृदयमें कदापि प्रकट नहीं हो पाती.

ङ) अन्य पारिवारिक जन भगवत्सेवार्थ अपेक्षित भावनामें रहित हों, या भगवत्सेवामें प्रति-कूल हों, पर वे हमारे द्वारा की जाती भगवत्सेवामें लौकिक हेतुओंके वश सहयोग देनेको बाधित होते हों तो, उन्हें वह सेवा पीडाजनक प्रतीत होगी. ऐसी परपीडाजनक भगवत्सेवा

नहीं करनी चाहिये.

श्रीमहाप्रभु स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा करते हैं कि इन स्थितियोंमें सेवा छोड़ देनी चाहिये. सेवा छोड़ देनेपर उसका अनुकल्प भगवत्कथा माना गया है. कथानुष्ठान पुष्टिमार्गमें भक्तिकी ज्ञानमार्गसे जुड़ी हुई सीमाकी तरह है. परन्तु यहां इस सीमाके भीतर भी रहना जो शक्य न हो तो माहात्म्यज्ञानमूलक प्रपत्तिमार्गमें अवस्थित होना चाहिये. एतदर्थं विवेक धैर्य और आश्रय को अपना देनेकी बात समझायी गयी है. पर जब वह भी शक्य न हो तो समझ लेना चाहिये कि इस जन्ममें प्रभु हमें संसारवेशसे छुटकारा देना नहीं चाहते हैं.

विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें अतएव—“अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः” कहकर तथा नवरत्न ग्रन्थमें—“चित्तोद्वेगं विधायापि हरिः यद्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्, तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः” (८-९) के उपदेशके अनुसार चिन्ताका त्याग कर शरणभावना करनी चाहिये.

११) नाहो (आद्यफलाभावे) तु (भगवतः आधिदैविकसेवा-) दातृता नास्ति.

सेवा निरन्तर करते रहनेपर भी अलौकिकसामर्थ्यके प्रकट होनेके कोई चिन्ह दिखलायी न पडते हो तो सेवाकी न्यूनता नहीं मान लेनी चाहिये. किन्तु भगवान्की आधिदैविकी सेवाके सुखदानकी इच्छा नहीं है, ऐसे समझना चाहिये. आधिदैविकसेवा-सुखकी पात्रता भगवान्की दातृतापर अवलम्बित है. यह तो कहा ही गया है कि पुष्टिमार्गीय फल या अधिकार की प्राप्ति भगवान्के देनेपर ही होती है, साधनाभिमानसे नहीं.

१२) तृतीये (भोगाभाव-सिद्धचभावे) तु गृहं बाधकम्.

स्वगृहमें निरन्तर सेवा करते रहनेपर भी भोगाभाव यदि सिद्ध न होता हो तो गार्हस्थ्य-गृहको ही बाधक समझना चाहिये. अतएव भक्तिवर्धनी और संन्यासनिर्णय ग्रन्थोंमें, ऐसी स्थितिमें, कथाश्रवण परिचर्या या गृहत्याग के अनुकल्पोंको अपना देनेकी बात समझायी गयी है.

१३) इयं (भगवतो दातृता) अवश्यं सदा भाव्या, अन्यत्सर्वं मनोभ्रमः, तदीयैरपि तत् (दातृताभावनं) कार्यं (यतो भगवान्) पुष्टो नैव बिलम्बयेत्.

नवरत्न ग्रन्थमें कहा गया था कि आत्मनिवेदन करनेवाले पुष्टिभक्तको कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. क्योंकि पुष्टिप्रभु भगवान्, किसी एकाद् जन्ममें लौकिक स्थिति जैसी स्थिति पुष्टिजीवकी करते भी हों, परन्तु गति कभी लौकिक या प्रावाहिकी नहीं करेंगे. अतः भक्तिके भलीभांति निर्वाह न होनेकी स्थितिमें अन्य पुष्टिमार्गीय भगवदीयोंके साथ बैठकर अपने आत्मनिवेदनका स्मरण-भावना करना चाहिये. “भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लोकिकी च गति, निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वया तादृशैः जनैः सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति” (१-२).

होता वही है जो भगवदिच्छा होती है. मिलता वही है जो भगवान् हमें देना चाहते हैं. भगवान्को फलदानेच्छा किसीके वसको बात नहीं है. वह ‘अवस्था’ है. उसपर किसीका जोर नहीं चलता है. भगवान् परन्तु दयालु भी हैं वे केवल सर्वेश्वर ही नहीं अपितु सर्वात्मा भी

हैं. अतः जिस जीवका पुष्टिमार्गमें वरण भगवान्ने कर लिया हो उसे पुष्टिभक्तिके दानमें अधिक विलम्ब नहीं करेंगे. इस तरह भगवान्के पुष्टिफलदाता होनेकी भावना सदा करनी चाहिये.

साथ ही साथ निरोधलक्षण ग्रन्थमें यह भी कहा गया था कि “महता कृपया यावद् भगवान् दययिष्यति, तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि” अतः जिनसे सेवा आदि न निभ पाती हो ऐसे दयनीय पुष्टिजीवोंके प्रति अन्य भगवदीयोंका भी यह कर्तव्य है कि वे भगवान्के ऐसे गुणों एवम् चरित्रों का कीर्तन करें कि जिससे साधारण पुष्टिजीवोंके हृदय और बुद्धि में भगवान्के पुष्टिफलदाता होनेकी आस्था एवम् धारणा दृढ हो जाये. यह जिससे सेवा-कथाभय आदर्श जीवन निभ पाता हो ऐसे एक पुष्टिजीवका दूसरे, जिससे नहीं निभ पाता, उसके प्रति कर्तव्य है. वालबोध ग्रन्थके उपदेशद्वारा श्रीमहाप्रभु अतएव भगवत्सेवार्थ असमर्थ जीवोंमें तदीयता और सदाश्रय के भावोंको उद्बोधित करना चाहते हैं.

जलभेद और पञ्चपद्यानि ग्रन्थमें अतएव वक्ता एवम् श्रोता की उत्तम-मध्यम-निम्न कक्षायें समझायी गयी हैं. उनके भलीभांति ज्ञात हो जानेपर जिस पुष्टिजीवसे सेवात्मिका भक्ति नहीं निभ पाती वह भी कथा-श्रवण-कीर्तन-स्मरण आदिकी प्रक्रियाके द्वारा अपने पुष्टि-भावोंके पोषणमें सक्षम हो पाता है.

१४) गुणक्षोभे अपि एतदेव दृष्टव्यम् इति मे मतिः.

भक्तिवर्धनी ग्रन्थमें यह दिखलाया हो गया है कि स्वगृहमें भगवत्सेवाकथामय जीवन-यापन सभी पुष्टिजीवोंके लिए शक्य नहीं होता. इसके अनुकल्परूप गृहत्यागके लिये आवश्यक भक्तिका व्यसनदशामें विकास भी अतएव बहुत दुर्लभ बात है. गृहत्यागका विकल्प किसी भगवदीयकी सत्संगतिमें रहकर भगवत्परिचर्या करना और भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तनमें सम्मिलित होना दिखलाया गया है. परन्तु जिस भगवदीयका सत्संग हम करना चाहते हों उसमें मानव-स्वभाव-सुलभ दोषदर्शन होनेपर भक्तिभावमें बाधा पहुंचनेकी आशंका उठी थी इसके परिहारार्थ एकान्तवासके औचित्यका भी वहां विचार किया गया था. एकान्तवासके वजाय भगवदीयकी संगतिमें ‘अदूरे-विप्रकर्षे’ की नीति बरतनेका सुझाव दिया गया था. क्योंकि अपरिपक्व सिद्धान्तबोधकी स्थितिमें एकान्तवास करनेपर कभी अपसिद्धान्तोंके स्वाध्यायकी सम्भावना रहती है.

स्वमार्गीय सिद्धान्त अतः स्वमार्गीय वक्ताके मुखसे सुननेका आग्रह रखना चाहिये. “भक्त्याचारोपदेशार्थानानावाक्यनिरूपकः” श्रीमहाप्रभुके ग्रन्थोंका ही स्वाध्याय करना चाहिये. सारे गुणक्षोभ इससे शान्त हो जायेंगे, ऐसा श्रीमहाप्रभुका आश्वासन है.

१५) अत्र कुसृष्टिः वा काचिदुत्पद्येत स. वै भ्रमः.

षोडशग्रन्थके उपक्रमरूप यमुनाष्टकमें—“ममास्तु तव सन्निधी तनुनवत्वम्” कह कर भगवत्सेवार्थ अपेक्षित देहकी नूतनताको प्रार्थनाके द्वारा भगवत्सेवाकी महत्ता दिखलायी गयी है. षोडशग्रन्थके उपसंहाररूप सेवाफल ग्रन्थका नामाभिधान ‘भक्तिफल’ ‘कथाफल’ ‘त्यागफल’

‘निरोधफल’ या ‘प्रपत्तिफल’ न कह कर ‘सेवाफल’ करना; तथा अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें सेवाका फल पुनः सेवाकी ही मानना भी, पुष्टिमार्गमें सेवाकी महत्ताका ही प्रमाण है।

सिद्धान्तमुक्तावली, पुष्टिप्रवाहमर्यादा, सिद्धान्तरहस्य, ‘भक्तिवर्धिनी तथा निरोध-लक्षण ग्रन्थोंमें शब्दशः; तथा अन्य ग्रन्थोंमें तात्पर्यशः सेवाके महत्त्वके पुनःपुनः उल्लेख द्वारा जो अभ्यास किया गया है, उसके आधारपर भी पुष्टिमार्गमें सेवाकी असाधारण महत्ता सिद्ध होती है।

चतुस्लोकीमें—“सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन” द्वारा की गयी कृष्णसेवाकी प्रशंसा, तथा निरोधलक्षणमें की गयी—“नातः परतरो मन्त्रः नातः परतरः स्तवः नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्” वचन द्वारा अन्य उपायोंकी निन्दा, द्वारा अर्थवादके विचारसे भी भगवत्सेवाकी महत्ता सिद्ध होती है।

श्रीमहाप्रभुके अन्य ग्रन्थोंमें भी यथा निबन्ध भाष्य या सुबोधिनी में सेवाका उल्लेख मिलता है, परन्तु भगवत्सेवाका सांगोपांग-सपरिकर स्वरूप जैसा यहाँ वर्णित हुआ है, वह अन्यत्र सुलभ नहीं है। सेवाका अन्तरंगरूप भाव-भावना है। सेवाके वहिरंगरूपमें आत्मसमर्पण, तनुवित्तजा सेवा, गृहस्थित वस्तु एवम् परिजनों का भगवत्सेवामें विनियोग; तथा अन्य भी नवधा भक्त्यंगभूत श्रवण-कीर्तनादि उपाय माने गये हैं। इन सारी बातोंका जैसा स्पष्ट एवम् सुसंगत विचार, अपूर्वतया यहाँ षोडशग्रन्थोंमें हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवा द्वारा किसी फलकी कामना नहीं जाती है क्योंकि सेवाका फल सेवा ही होती है। अतएव विवरणमें—“सेवायाः फलत्रयम्” न कह कर “सेवायां फलत्रयम्” कहा गया है— अतः तीनों ही फलावस्था षोडशग्रन्थमें मुख्यतया प्रतिपाद्य सेवाके अन्तर्भूत ही हैं। इस फलसंकीर्तनसे भी षोडशग्रन्थोंका तात्पर्य भगवत्सेवोपदेशमें ही पर्यवसित होता है।

अन्तिम तात्पर्यनिर्धारक लिंग उपपत्ति माना गया है। अन्य प्रमाणोंसे किसी एक बातका खण्डित होना सम्भव नहीं है, इस तरहका निरूपण करना ‘उपपत्ति’ कहलाता है। अतएव श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि इन सोलह ग्रन्थोंमें मुख्यतया प्रतिपाद्य भगवत्सेवाके स्वरूपको अन्यान्य साधनोंकी तुलनामें गौण बनानेवालेको पुष्टिकी सुन्दर सृष्टिमें कुसृष्टिरूप ही समझाना चाहिये—“कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः” ऐसे ही भ्रमोंके निवारणार्थ अन्तःकरणप्रबोध लिखा गया है।

इस तरह उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अर्थवाद, अपूर्वता, - फल और उपपत्ति रूप छहों तात्पर्यनिर्धारक लिंगोंके द्वारा यह निःसन्देहतया सिद्ध होता है कि पुष्टिजीवोंके लिये स्वगृहमें श्रीकृष्णके पुष्टिस्वरूपकी सेवा, ब्रजभक्तोंके भावोंका भावनात्मक अनुसरण करते हुये, निजतन-मन-धनका भगवान्में विनियोग; तथा उसके अनवसरमें एतद्भाववर्धिका भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन करना प्रथम एवम् चरम कर्तव्य है। यहाँ यहाँ भटकनेवाले चित्तकी सभी वृत्तियोंका निरोध भगवत्सेवा और भगवत्कथा में होना चाहिये। क्योंकि ‘ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहनिशम् !’ का नियम ध्रुव और अकाट्य है।

सेवाफल ग्रन्थका प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९७३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है। उस प्रथम संस्करणमें प्रकाशित न हो पानेके कारण सेवाफलकी जो तीन टीकायें जलभेदके साथ प्रकाशित हुई थी, उन टीकाओंको हमने यथास्थान यहाँ निविष्ट कर दिया है। इसके अलावा सेवाफलकी मूल कारिका तथा विवरण वहाँ पृथक्-पृथक् छपे थे, उन्हें यथामति हमने उपर-नीचे योजित किया है।

प्रथम संस्करणमें श्रीपुरुषोत्तमजीके वाद जिस “तदनुसारिणां” की टीका मुद्रित हुई थी, नामनिर्देशरहित, उस टीकाके लेखकका नाम हमें कोटायात्रामें मिल गया। श्रीमन्मथुराधीश मन्दिरके हस्तलिखित ग्रन्थगारकी रजिस्टर संख्या (२१०/३) की हस्तलिखित प्रतिमें इस टीकाके “श्रीमथुरानाथात्मज द्वारकेशकृत सेवाफल विवृति प्रकाश” नामका उल्लेख उपलब्ध होता है। कांकरोलीवाले महाराजश्रीके पास इन श्रीद्वारकेशजीके पुत्रके हस्ताक्षरोंमें लिखित एक प्रति विद्यमान है, ऐसा ग्रन्थपरिचय-लेखकको लिखे एक पत्रमें गोस्वामी श्रीब्रजेशकुमार (कांकरोली) सूचित करते हैं। श्रीवल्लभवंशवृक्षमें इन श्रीमथुरानाथात्मजश्री द्वारकेशजीका उल्लेख यों मिलता है: (प्रथम / २ गृह. जन्म वि. सं. १८५२). इसके अलावा कांकरोली—विद्याविभागमें स्थित श्रीब्रजभूषणजी (द्वितीय) की विद्वन्मण्डन टीकाका मंगलाचरण तथा यहाँ १४ वें क्रममें मुद्रित सेवाफलविवृतिप्रकाश टीकाका मंगलाचरण समान होनेसे, यह टीका श्रीब्रजभूषणजी विरचित है, ऐसा गोस्वामी श्रीब्रजेशकुमार महाराजश्रीका अनुमान है।

सेवाफल और सुबोधिनी की एकवाक्यताके प्रदर्शक (सुबो. ३।२५।३२-४०) अंशको हम नूतनतया यहाँ पाठकोके सुविधार्थ प्रकाशित कर रहे हैं।

प्रथम संस्करणके सम्पादक श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल ब्रज-दास सांकलिया थे। प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग गोस्वामी श्री १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (पोरबन्दर) ने दिया था। इन सभी महानुभावोंका इस पुनः प्रकाशनके अवसरपर हम हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं। श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

Editors' Note.

નવલ વિશેષ.

Sevaphala is the last and the most important of the famous Sixteen small Sacred Books of Shri Vallabbacharya. It clearly states the three sorts of realisations, according to one's 'adhikara,' viz., (1) spiritual power, which, going beyond the world, obtains a vision of God, and enjoys indescribable bliss with Him, or (2) Sayujya with Purushottama or the last (3) a body fit for service of God in Vaikuntha, Gokula etc. A detailed description of all these, and also of hindrances in their way will be found in the Sanskrit introduction and the commentaries.

It gives us very much pleasure to note that we have been able to collect all the rare commentaries yet known on this important work,—we hope the last one is of Shri Vrajanathaji, and to publish them all together. Moreover, we have secured several copies of many commentaries, and it gives us great satisfaction to find that our printed texts have become much better than the oldest manuscripts in our possession, on account of comparisons with and necessary corrections from other manuscripts of the same texts. Elsewhere we have noted various extra passages which we found in some Mss., after the text was printed; we have noted only those readings which gave quite different meanings and we have refrained from adding unnecessary 'other' readings.

We sincerely thank all who have kindly supplied us with these extremely rare Mss. The first among these is Pandit Gattulalaji's Library from which we got a large collection and we are highly obliged to Sheth Tribhuvandas Varjiwandas and Mr. Kashidas Dalal who allowed us the use of the same. Next Dr. S. K. Belvalkar M. A., Ph. D. favoured us with a loan of several Mss., including the extremely rare one of Jayagopala Bhatta from the Govt. collection in the Deccan College. Shri Vallabhaji and his Shastri Madhavji also supplied us with several Mss. Mr. Utsavlal Sankalchand also gave us one rare commentary and Mr. Tansukhram Suryaram also gave us some Mss. Mr. Lallubhai Chhaganlal gave us the use of his block of the photograph of Shrimadacharyaji. To all these, we offer our heartfelt thanks. H. H. Shri Jivanlalji Maharaja of Porebunder has put us under a deep debt of gratitude by supplying us with the necessary zeal and funds, without which this work could not have been published. We are also indebted to the manager of the N. S. Press for printing this work within eight weeks. With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love, at the Lotus Feet of Lord Krishna.

BOMBAY
19th December 1916. }

M. T. Telivala.
D. V. Sankalia.

ગત ઉષ્ણકાલની રાત્રીમાં સૌરાષ્ટ્રમાં આવેલા જૂનાગઢમાં શ્રીદામોદરજી તથા શ્રીમદન-મોહનલાલજીના મંદિરસ્થ હસ્તલિખિત પુસ્તક સંગ્રહના દર્શનનો લાલ ભગવદ્દર્મપરાયણ રા. રણજીડદાસ વૃન્દાવનદાસ પટવારી તથા રા. રણજીડદાસ શ્યામજીની સહાનુભૂતિથી મળ્યો હતો. મારી સાથે ચાર પાંચ સન્મિત્રો હતા જેથી ત્યાંના મંદિરમાં વિદ્યમાન સર્વ સાંપ્રદાયિક બંધોમાંના હસ્તલિખિત પુસ્તકોનું નિરીક્ષણ કરવાનો અર્પૂર્વ લાલ પ્રભુકૃપાથી મળ્યો. ઘણી વાર મેં શ્રવણ કર્યું હતું કે જૂનાગઢમાં દેવકીનન્દનલાલને ત્યાં શ્રીમહાપ્રભુજીની શ્રીમદ્ભાગવત ઉપર પ્રકટ કરેલી સૂક્ષ્મ ટીકા છે. એ સૂક્ષ્મ ટીકાના દર્શનનું અહોભાગ્ય પ્રાપ્ત કરવાની ઉત્કંઠા મને બહુ વાર થતી; પરંતુ એ ઉત્કંઠા શાંત કરવાનો પ્રસંગ અઘાપિ પર્યન્ત મળેલો નહિ. આ સમય ભગવદીય રણજીડદાસ શ્યામજી તથા ભગવદ્દર્મપરાયણ રા. રણજીડદાસ પટવારીએ સર્વ પ્રકારની અનુકૂલતા કરી આપી જેથી ઉક્ત પુસ્તકસંગ્રહનું યથેચ્છ નિરીક્ષણ થયું. શ્રીમહાપ્રભુજીની શ્રીમદ્ભાગવતના સમગ્ર સૂક્ષ્મ ટીકાના દર્શનનું સૌભાગ્ય તો અમને પ્રાપ્ત ન થયું, પરંતુ શ્રીદશમસ્કન્ધના આરંભના વિશેષ પત્રનું દર્શન થયું. પરંતુ ઉક્ત પુસ્તકસંગ્રહનું સાંગોપાંગ નિરીક્ષણ કરવામાં અને તેની સૂચિ તૈયાર કરવામાં અન્ય નવલ વિશેષ પણ જાણવામાં આવ્યું. ઉક્ત સંગ્રહમાં શ્રીસુષોધિનીની જુની સુંદર પ્રતો વિરાળ છે, તથા તે ઉપરનો પ્રકાશ શ્રીપુરુષોત્તમજીનો સારો છે. પરંતુ ત્યાં પણ દશમસ્કન્ધનો માત્ર ભાગ છે, પ્રકાશ નથી. નિબંધ ઉપર પણ આવરણલગાદિની પ્રતિઓ છે. શ્રીમદ્ભુલાભ્ય ઉપર કાશીસ્થ શ્રીગિરિધરજીનું વિવરણ તથા મરીચિકાવૃત્તિ વિના અન્ય કાંઈ નથી. પોંડશ અન્યનું સાહિત્ય સારા પ્રમાણમાં છે. અમે પ્રકટ કરેલાં દ્વાદશવિવરણસહિત સેવાદ્વયમાં જે વિવરણ નામરહિત હતા. તેમાં અન્તિમ નામરહિત વિવરણ શ્રીમદ્વિક્ર્દેશ્વરપ્રભુચરણના ચતુર્થ પુત્ર શ્રીગોકુલનાથજીનું છે એમ મને એઓશ્રીની શ્રીસંવોત્તમજીની બડી ટીકા વાચતાં માલૂમ પડ્યું હતું. પરંતુ શ્રીપુરુષોત્તમજીની પછી મુદ્રિત કરેલું વિવરણ કોનું તે જૂનાગઢના પુસ્તકસંગ્રહથી માલૂમ પડે છે. ઉક્ત વિવરણના કર્તા શ્રીમથુરાનાથાભજી શ્રીદ્વારકેશજી મહારાજ છે. એ વિવરણનો અન્તિમ ભાગ કાંઈક ત્રુટિત હતો. તે આ પ્રકારે છે:—'મગવદીયૈઃ સ્થેમ્' ને બદલે આમ વાચ્યું:—મગવદિચ્છાભાવનપરેણ સ્થેયમ્ । મગવદિચ્છાભાવનમાત્રે તુ શ્રીગોપીજનવલ્લભોસ્ત્રપુ: પુષ્ટાવજ્ઞી-કૃતામ્નાં સ્વયમેવોદ્વેગાદિકં નિવાર્ય યથાધિકારમેતદ્વન્યોક્તં ફલં દાસ્યતીતિ સિદ્ધમ્ ।

શ્રીવલ્લભપ્રમોર્નામોચારણાત્ પ્રાપ્તવુદ્ધિના ।

વિચારિતા મયાપ્યેષા પૂર્વટીકાનુસારતઃ ॥ ૧ ॥

इतिश्रीगोस्वामिमथुरानाथात्मजद्वारिकेशकृतसेवाफलविवृतिप्रकाशः समाप्तः ।

ખીજી આ શ્રીદ્વારકેશજી મહારાજના અને યોગિશ્રીગોપેશ્વરજીનાં ચિત્રનાં એકજળ ઉપર દર્શન કર્યો, અને શ્રીદ્વારકેશજીના અસુક પુસ્તકો ઉપરના હસ્તાક્ષરના પણ દર્શન થયાં. તે ઉપરથી મને હવે લાગે છે કે સંન્યાસનિર્ણયમાં છાપેલી ચોથી ટીકા આચાર્યશ્રીગોપેશ્વરજીના નામથી છાપેલી તે યોગિશ્રીગોપેશ્વરજીની છે. જે પ્રતિ ઉપરથી આ ચતુર્થ ટીકા છાપી તેના ઉપર શ્રીદ્વારકેશ્વરનામિદમ્ એમ લખેલું હતું, તે અને 'ચાચાશ્રીગોપેશ્વરજીકૃતટીકા' એમ લખેલું હતું. જે હસ્તાક્ષરમાં આ લખેલું હતું તે અને શ્રીદ્વારકેશજીના હસ્તાક્ષર એક જ હોવાથી, અને ઉભયના ચિત્ર સાથે હોવાથી શ્રીદ્વારકેશજી યોગિશ્રીગોપેશ્વરજીને જ ચાચા શ્રીગોપેશ્વરજી કહેતા હોય એમ સંભવ હોવાથી ઉક્ત ટીકા યોગિશ્રીગોપેશ્વરજીની છે એમ હવે મારી મતિ છે.

મૂલચન્દ્ર તેલીવાલા.

ग्रन्थसङ्ग्रहपरिचयः ।

१. श्रीमदाचार्यकृतं सेवाफलं तद्विवरणं च थावलप्राप्यटीकास्ताः सर्वा दृष्ट्वा मुद्रितमस्ति । तत्र विद्यमानाः पाठभेदाः श्लोकक्रमभेदाश्चास्माभिसत्रैव दर्शिताः ।
२. श्रीकल्याणरायकृतसेवाफलटीकायाः पुस्तकद्वयमस्माभिरुपलब्धम् । प्रथमं भा.भा. वे. भ.पं. गदूलालहस्तलिखितसंग्रहस्थम् । तत्र प्रथमं प्राचीनम्, प्रायः शुद्धम् । द्वितीयं 'डकनकोलेज' हस्तलिखितसंग्रहस्थं प्रायोशुद्धं तथापि पाठादिशोधनार्थं क्वचित् क्वचिदत्यन्तमुपयोमि ।
३. चाचाश्रीगोपेशटीकायाः पुस्तकत्रयं प्राप्तम् । तत्र पुस्तकद्वयं पं. गदूलालसंग्रहस्थम् । अन्यद् 'डकनकोलेजस्यसंग्रहस्थम् । इदं पुस्तकत्रयमपि प्रायःशुद्धं प्राचीनं च । एतटीकाया मुद्रणानन्तरमेकमन्यप्राचीनं पुस्तकं प्राप्तम्, तत्र विद्यमानाः पाठभेदाः परिशिष्टे दर्शिताः ।
४. श्रीदेवकीनन्दनकृतटीकायाः पुस्तकत्रयं पं. गदूलालसंग्रहस्थम् । तत्रैकं प्राचीनमन्यद्वयं नूतनम् । तत्र प्राचीनपुस्तकमवलम्ब्य यावच्छक्यं तावत्पर्यन्तं संशोध्य मुद्रितमस्माभिः ।
५. श्रीहरिरायकृतटीकायाः पुस्तकत्रयं मिलितम् । इदं शुद्धं प्राचीनं च । एकं केनचिद्व्येन वासुदेवेन स्वपठनार्थं लिखितमस्ति । इदं पुस्तकत्रयं पं. गदूलालसंग्रहस्थम् ।
६. श्रीवल्लभकृतटीकाया एकं पुस्तकं मिलितं पं. गदूलालसंग्रहस्थम् । इदं प्रायः शुद्धं प्राचीनं च । एतदपि यावच्छक्यं संशोध्य मुद्रितमस्माभिः । एतद्ग्रन्थमुद्रणानन्तरमस्या अन्यपुस्तकं मिलितम् । तत्र सेवाफलविवरणानुसारेण श्लोकक्रममादाय सैव टीका पुनर्लिखितेति प्रतिभाति । तत्र विद्यमाना उपयोगिपाठभेदाः परिशिष्टे दर्शिताः ।
७. श्रीपुरुषोत्तमकृतटीकायाः पुस्तकत्रयमुपलब्धम् । तत्र पुस्तकद्वयं पं. गदूलालसंग्रहस्थम् । तृतीयं डकनकोलेजसंग्रहस्थम् । एतत्पुस्तकं शुद्धं सूक्ष्मं पूर्वं लिखितं श्रीपुरुषोत्तमैः । परन्तु तत्सेवाफलटीका श्रीपुरुषोत्तमैः सविस्तरं पुनर्लिखितेति पं. गदूलालसंग्रहस्थादर्शद्वयदर्शनेनाकृष्टतया सिद्धीयते । पं. गदूलालसंग्रहस्थादर्शद्वयं समवलम्ब्य एतद्विवरणं मुद्रितमस्माभिः । एतन्मुद्रणानन्तरमेकमतिशुद्धं प्राचीनं पुस्तकमेतद्विवरणस्य मिलितम् । तत्रत्योपयोगिपाठभेदाः परिशिष्टे दर्शिताः ।
८. एतत्पुस्तकं पं. गदूलालसंग्रहस्थम् । अस्य कर्तृनाम न विद्यते । यथादृष्टमेव मुद्रितमस्माभिः । इदं श्रीपुरुषोत्तमविवरणानुसारिविवरणम् ।
९. लालभट्टकृतटिप्पण्याः पुस्तकद्वयमुपलब्धमस्माभिः । एकं डकनकोलेजसंग्रहस्थम्, द्वितीयं पं. गदूलालसंग्रहस्थम् । प्रथमं प्राचीनं प्रायः शुद्धम्, द्वितीयमपि तथैव, परन्तु नूतनमिति प्रतिभाति ।
१०. जयगोपालभट्टकृतटीकाया एकमेव पुस्तकं डकनकोलेजसंग्रहादुपलब्धम् । अस्मिन्पुस्तके ४३ तमं पत्रं तु न मिलति । इदं पुस्तकं ग्रन्थकृतो मूलमेवेति प्रतिभाति । तत्र एकवारं विवरणं समाप्य परमतखण्डनाय २० पत्राणि पश्चाद्दानेन लिखितानि । किं तस्य मतं तत्तु पूर्वं तेन स्वटीकायामेव दर्शितम् ।
११. लक्ष्मणभट्टकृतटीकाया एकं पुस्तकं श्रीगोकुलेशचरणपरागानुरागि'उत्सवलाल सांकलचन्द्र' इत्यनेन दत्तम् । इदं पुस्तकं ग्रन्थकृता स्वयमेव लिखितमिति प्रतिभाति ।
१२. अस्य विवरणस्य कर्तृनाम न विद्यते । अस्य पुस्तकमेकं गदूलालसंग्रहस्थम् । प्रायःशुद्धम् । परन्तु क्वचित्सन्दिग्धम् । यथादृष्टमेव मुद्रितमस्माभिः ।

अस्मिन्पुस्तकसंचये पं. गदूलालसंस्थायाः 'कार्याध्यक्ष काशीदास नारायणदास दलाल वकील, हाईकोर्ट, मुख्यनरदी श्रेष्ठ त्रिसुवनदास' इत्येषां महत्युपकृतिः । 'डा० बेलवलकर' इत्येतेषां महत्युपकृतिः पुस्तकप्रदानतोऽभूत् । अस्मिन्मन्त्रोत्सवलालस्यापि तथैवोपकृतिः । चतुर्थपंचमपीठाधीश्वर-गोस्वामिश्रीवल्लभलालानां माधवशास्त्रिणश्च हस्तलिखितशुद्धपुस्तकप्रदानतो महत्युपकृतिः, परन्तु मुद्रणानन्तरं तस्युक्तानां प्राप्तत्वाद्दुपयोगिपाठाः तत्र विद्यमानाः परिशिष्टे निवेदिताः ।

विवरणकृतां परिचयः ।

१. तत्रादौ श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटितं सेवाफलं द्वादशटीकायुतं संमुद्रयते । तत्र प्रथमं सेवाफल-विवरणं तु श्रीमदाचार्यकृतिरेव । स्वीयाननुगृहीतकामैः श्रीमदाचार्यचरणैस्तद् प्रकटीकृतमिति ।
२. द्वितीयं मुद्रितं विवरणं श्रीमत्कल्याणरायाणाम् । इमे श्रीकल्याणरायाः श्रीमदाचार्यश्रीवल्लभाधीश्वरद्वितीयकुमारश्रीमद्विठलेश्वरप्रभुचरणद्वितीयसुतुश्रीमद्गोविन्दरायाणां सूनवः । मार्गशीर्षकृष्ण-सप्तम्यां १६२५ वर्षे प्रादुर्भूताः । श्रीमद्हरिरायाणां पितृचरणा अपि ते एव । तेषामनेकग्रन्थाः सूक्ष्मा अपि सिद्धान्तमर्मबोधकाः सरलाश्च सन्ति । निबन्धोपरि टिप्पणी तेषां प्राचीनतमा, अधुनापि हस्त-लिखितग्रन्थाकारेण विराजते । उत्सवनिर्णायका अपि केचिद्ग्रन्थास्तैः प्रादुर्भविता नयनगोचरीभवन्ति । षोडशग्रन्थोपरि तेषां व्याख्यानानि दृश्यन्त अन्यान्यपि ।
३. तृतीयं व्याख्यानं चाचाश्रीगोपेशानाम् । इमे श्रीगोपेशाः श्रीमत्प्रभुचरणविठलेश्वराणां सप्तमपुत्रश्रीघनश्यामानां सूनवः, चचा वा चाचा चेतिप्रसिद्धाः । षोडशग्रन्थोपरि बहवक्षेपां टीकाः विद्यमाना इत्यन्ते । भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६५२ वर्षे प्रादुर्भूताः ।
४. चतुर्थं व्याख्यानं श्रीमद्देवकीनन्दनानाम् । के इमे देवकीनन्दनास्तस्य निःशंकतया विश्वेणुं वयं शकुमः । तथापि श्रीपुरुषोत्तमकृततद्विवरणोपन्यासाज्ज्ञायते यत् ते श्रीपुरुषोत्तमानां प्राञ्चः । श्रीमद्विठलेश्वरप्रभुचरणपञ्चमपुत्रश्रीरघुनाथानां सूनवः श्रीदेवकीनन्दना मार्गशीर्षशुक्लसप्तम्यां १६२४ वर्षे प्रादुर्भूताः । कदाचित् त एव एते, परन्तु तस्युत्रश्रीरघुनाथकृततत्त्वोत्रे तत्कृतग्रन्थानां प्रायः रसाधिष्ठाव्यावालबोधप्रकाशादिसर्वेषामपि नामानि गृहीतानि, तत्रास्य व्याख्यानस्य नामादर्श-नात्सन्देहः । श्रीदेवकीनन्दनानां पौत्रा अपि श्रीदेवकीनन्दना बभूवुः । तेपि १६८५ श्रावणशुक्लपूर्णि-मायां प्रादुर्भूताः । तेपि श्रीपुरुषोत्तमानां प्राञ्चः । कदाचित् तेष्यस्य प्रणेताः स्युः ।
५. पञ्चमं व्याख्यानं श्रीमद्हरिधनचरणानाम् । श्रीहरिराया इति प्रसिद्धा हि ते । तेषां प्रादुर्भा-वस्तु भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६४७ वर्षे । एषां ब्रह्मसम्बन्धसंस्कारस्तु श्रीविठलेश्वराणां चतुर्थलालैः श्रीवल्लभैः श्रीगोकुलनाथेतिप्रसिद्धैस्तैः कृतः । श्रीहरिरायाणामसंख्याताः सूक्ष्मग्रन्था इत्यन्ते । श्रीमद्हरिधनचरणस्वरूपे तु शुद्धपट्टिमार्गीयं फलरसकं रसात्मकं विप्रयोगात्मकं साक्षाद्ग्रन्थं मूर्तिमत् प्रादुर्भूतमनुभूयते । तेषां व्याख्यानानि सर्वाण्यपि भक्त्यनुगुणानि । निःसाधनजीवाननुगृहीतुमेव तेषां प्राकट्यमिति प्रतिभाति । अत एवात्र मुद्रितं तेषां सेवाफलव्याख्यानं भक्त्यनुगुणं सरलं भक्ति-निष्ठजनानुग्रहाय विराजते ।
६. षष्ठं श्रीविठलेश्वराणां सूनूनां श्रीवल्लभानाम् । काकाश्रीवल्लभजीतिप्रसिद्धा हि ते, श्रावण-कृष्णचतुर्दश्यां १७०२ वर्षे श्रीमत्प्रभुचरणज्येष्ठपुत्रश्रीगिरिधरतः पुरुषगणनया तृतीयसंख्यां विभूषयन्तः प्रोद्भूताः । श्रीसुबोधिनीलेखकारा अभ्येते एव । षोडशग्रन्थोपरि तेषामन्यानि व्याख्यानानि दृश्यन्ते । निरोधलक्षणविभूतिक्षेपामसत्सविधे वर्तते । इमे श्रीवल्लभाः श्रीदेवकीनन्दननन्दनाः, १६७२ माघ-

शुद्धसप्तम्यां प्रादुर्भूता इति केवाञ्चिन्मतं तज्जामनगरस्थश्रीमदनमोहनलालमन्दिरस्थश्रीसुबोधिनी-
लेखेतिश्रीतो विरुद्धवाचैवास्माकं ग्राह्यम् । भाषासाभ्येनापि निश्चीयते यत् श्रीसुबोधिनीलेखकृत्ति-
रेवेयं टीका लिखितेति । सेवाफलस्य तेषां श्रीसुबोधिनीनुसारिव्याख्यानं तदेव ज्ञापयति । एतेन
गीतातत्त्वदीपिकाकाराः श्रीवल्लभाः श्रीसुबोधिनीलेखकृतश्च श्रीवल्लभाः उभे भिन्नाः, यदि गीता-
तत्त्वदीपिकाकाराः श्रीवल्लभाः श्रीदेवकीनन्दननन्दना एव स्युरिति । पञ्चमगृहे द्वौ श्रीवल्लभौ
प्रादुर्भूतौ । तयोरेकः श्रीदेवकीनन्दननन्दनः १६७३ मार्गशीर्षशुद्धसप्तम्यां प्रादुर्भूतः । अन्यश्च
श्रीविठ्ठलरायसूनुः १७२९ कार्तिककृष्णद्वादश्यां प्रादुर्भूतः । स तु श्रीपुरुषोत्तमादर्वाचीन इति
न स लेखकृतः । जामनगरस्थश्रीमदनमोहनलालमन्दिरस्थश्रीसुबोधिनीलेखेतिश्रीतो ज्ञायते यदिने
श्रीवल्लभाः काकाश्रीवल्लभजीतिप्रसिद्धाः श्रीविठ्ठलेशसूनवः । तत्र श्रीपुरुषोत्तमात् प्राक्कालीनः
श्रीविठ्ठलेशसूनुरनं कोपि श्रीवल्लभः पञ्चमगृहे प्रादुरभूत् । तस्मात् श्रीरघुनाथवंश्यस्य कस्यापि
श्रीवल्लभस्य लेखकर्तृत्वं नैव समीचीनम् ।

७. सप्तमं श्रीमत्पुरुषोत्तमानाम् । श्रीमदाचार्यतः पुरुषगणनया सप्तमं संख्यां विभूषयन्तो
भाद्रपदशुद्धदशम्यामेकादश्यां वा १७२४ वर्षे प्रोच्यताः । तेषां विवरणं शास्त्रीयमन्वयार्थं शयतल-
स्पर्शमिति प्रतिभाति । विशेषतस्तेषां चरित्रजिज्ञासुभिः पुष्टिभक्तिसुधेतिमासिकपत्रिकायाः पञ्चमवर्षस्य
सूतीयांको द्रष्टव्यः । यावत्प्राप्यं बाह्यमान्तरं वा तेषां चरित्रादिक्रमस्वामिस्तत्रैव निवेशितमिति नात्र
पुनरनुद्यते ।

८. अष्टमं व्याख्यानं केवाञ्चिद्रोस्वामिनाम् । इदं व्याख्यानं श्रीपुरुषोत्तमानुसारिश्लोकान्वय-
मनुसरति ।

९. नवमं व्याख्यानं लालूभट्टानाम् । केचिदाचार्यज्ञातिजनसौलंगदेशीया विद्वांसो ब्राह्मणाः
श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुचरणैर्गोकुले समानीताः । तैः सह श्रीमत्प्रभुचरणैः कन्यादानव्यवहारो रक्षितः ।
एतादृशेषु ब्राह्मणेषु द्वौ भ्रातरौ गोविन्दकृष्णभट्टौ बभूवतुः, ययोर्भगिनी श्रीरुक्मिणी श्रीमत्प्रभुचरणैः
स्वपत्नित्वेन स्वीकृता । आत्रेयापस्तम्बविश्वनाथस्य पुत्रौ हि एतौ । विश्वनाथभट्टवंश्येषु कश्चिन्मधुसूदन-
भट्टो बभूव । तस्य मधुसूदनभट्टस्य सूनव एते लालूभट्टोपनामत्रालकृष्णदीक्षिताः । सत्रादसवाहं
जयसिंहस्याश्रिताः । सवाहं जयसिंहस्तु संवत् १६८८ वर्षे प्रादुर्भूतः, १७२८ वर्षे पञ्चत्वं गतः ।
अतोस्मिन्समये लालूभट्टा विद्यमाना आसन् । प्रायः श्रीमद्रोस्वामिनां दुहितृतो वंश्या भट्टा इत्युच्यन्ते ।
लालूभट्टा अपि तथैव । गोस्वामिश्रीगिरिपारिणां शिष्याः । तेषामनेकग्रन्था हस्तलिखिता दृश्यन्ते ।
तेषां लेखनशैली तु सरला वर्तते । तत्सारव्यमस्मिन् व्याख्यानेपि प्रकटीभवति । अणुभाष्यनिगूढार्थ-
प्रकाशिकाश्रीसुबोधिनीयोजनानिबन्धयोजनासेवाकौमुदीनिर्णयार्णवप्रमेयरत्नार्णवपोडशग्रन्थविवरणदयो
बहवो ग्रन्थास्तेषां प्रकाशकृत्तुं प्रतीक्षन्ते ।

१०. दशमं व्याख्यानं मठपतिजयगोपालभट्टानाम् । एते चिन्तामणिदीक्षितस्य सूनवः । ते
श्रीमत्प्रभुचरणश्रीविठ्ठलेश्वरद्वितीयकुमारश्रीगोविन्दरायज्येष्ठपुत्रश्रीकल्याणरायाणां शिष्याः । स्वकृत-
तैत्तिरीयभाष्ये वहिर्मुखमुखध्वंसं च स्वपरिचयमेवं कारयन्ति । 'प्रणमामि हरिं श्रीमद्रुद्रभाचार्यरुपिणम्,
श्रीविठ्ठलेश्वराख्यांश्च प्रभून् स्वाभीष्टसिद्धये । श्रीमद्रोकुलनाथान् श्रीमत्कल्याणरायगुरुचरणान् ।
नामनिवेदनदातृन् प्रणमामि सुदुर्मुहुः प्रेम्णा । तैलंगयज्वचिन्तामणितनयो मठपतित्वविख्यातः ।
जयगोपाल उपनिषदाग्रं वितनोति तैत्तिरीयाणाम् ॥', 'श्रीमद्रुद्रभाचार्यविठ्ठलेश्वरहरिं श्रीगोकुलेश्वरभूम् । नत्वा
भक्तिपथप्रचारचतुरान् श्रीकल्याणरायान् गुरुन् । तातभ्रातृपदान्बुजातयुगलं ध्यात्वा च सर्वार्हतं कुर्वे
ग्रन्थमहं वहिर्मुखमुखध्वंसाभिधं वैष्णवाः ।', 'तैलंगाभरणश्रीचिन्तामणिदीक्षितांगजतेन । जयगोपाल-

कृता कृतिरेषा चन्द्रतारकं जयतात् ।' भट्टेषु इमे लालूभट्टानामपि प्राञ्चः । अद्यापिपर्यन्तमज्ञातपूर्वा हि
ते । पं. गदूलाललेखेण्वपि तेषां न किमपि विद्यते । परन्तु एतेषां वैदुष्यं तु निर्विवादम् । बहवोपि
कृतयस्तेषामुपलभ्यन्ते । तैत्तिरीयभाष्यवहिसुखमुखध्वंसखिल्वमंगलकृतकृष्णकर्णाश्रुतटीकाशुद्धपुष्टि-
मार्गायसेत्रादयः प्रवन्धास्तेषां नयतगोचरीभवन्ति । सरस्वतिकृतसंगीतसूत्रटीकायाः पत्रद्वयं तनसुखरा-
मैर्गुजरातीपत्रदीपावल्यके संवत् १९७० वर्षे मुद्रितम् । भक्तिवर्धिन्याः स्वकृतटीकाया उपन्यासोस्मि-
न्नेव सेवाफलव्याख्याने तैः क्रियते । मुण्डकोपनिषद्भाष्यमपि तैः कृतमिति सम्भाव्यते इति तत्कृत-
तैत्तिरीयभाष्याज्ज्ञायते । सेवाफलव्याख्यानमपि तेषामतिरसिकं वर्तते । एतैरस्य व्याख्यानस्यान्तिम-
पत्राणि स्वकृतविवरणमेकवारं समाप्य पुनः श्रीहरिरायादिमतखण्डनाय पश्चाद्विखितानि । तेषां परमत-
खण्डनं नास्माकं सन्तोषप्रदम् । एतदग्रे स्पष्टीकरिष्यते ।

११. एकादशं व्याख्यानं मठेशलक्ष्मणभट्टानाम् । इमे लक्ष्मणभट्टाः मठेशश्रीनाथभट्टपुत्रगोपी-
नाथभट्टसूनवः । इमे तु सर्वथा अज्ञातपूर्वाः । यद्यपि ग्रन्थान्ते तेषां नाम न विद्यते तथापि तत्पुस्तकोपरि
'श्रीनाथभट्टस्य पुत्रश्रीगोपीनाथभट्टस्य पुत्रलक्ष्मणभट्टस्येद'मिति दृश्यते । एतेषामन्येपि ग्रन्थाः पं. गदू-
लालहस्तलिखितसंग्रहे दृश्यन्ते । तत्रापि ग्रन्थान्ते इतिश्री समाना ।

१२. अस्य विवरणस्य कर्तृनाम न विद्यते । अत एवास्माभिरन्ते मुद्रितम् । जयगोपालकृततदुपन्या-
सादिमे केपि प्राचीना इति निश्चीयते । प्रसिद्धासु सेवाफलटीकासु श्रीब्रजनाथकृता टीका नास्माभिरुप-
लब्धा । जामनगरे श्रीमदनमोहनलालमन्दिरस्थपुस्तकसंग्रहे तस्याः पुस्तकत्रयं विद्यते, परन्तु तन्म-
न्दिराधिष्ठातृश्रीअनिरुद्धानां कृपाऽभावात् सा टीका नास्माकं मिलिता । तेषु पत्रद्वयमपि प्रेषितं परन्तु
त्तरदानायापि तेषामवकाशो न मिलित इति प्रत्युत्तराभावादानुमीयते ।

अस्मिन्मुद्रणे त एव पाठाः रक्षिता ये केपुचिदपि आदर्शपुस्तकेषु विद्यन्ते । कुत्राप्यादर्शपुस्तकेऽनु-
पलभ्यमानः पाठस्तु, यत्रापि आदर्शो विद्यमानः पाठोऽस्माकमसमीचीनो भातः, तथापि नैव निवेशितः,
यतस्तथैव करणे कश्चिन्महाननर्थो भवति । केनचित् कुत्राप्यादर्शपुस्तकेऽविद्यमानः सावग्रहपाठनिवेशने-
नाशुद्धः कल्पितः पाठो निवेशितः, टीकाकारान् प्रति महानन्यायश्च कृतः । प्रार्थयामहे च सांप्रदायिक-
ग्रन्थमुद्रणकर्तारः प्राचीनादर्शो विद्यमानानेव पाठान् मुद्रणे रक्षन्तु, न तु स्वमनःकल्पितान्, यतो
यः पाठोऽस्माकमशुद्धः प्रतिभाति स अन्येषामत्यन्तसमीचीनो भातीति ।

अस्य यावत्प्राप्यटीकासमेतसेवाफलग्रन्थस्य मुद्रणव्ययो गोस्वामिवर्यश्रीजीवनलालैः सहर्षं कृत
इति तेषामुपकृतिं वयं सविनयं स्मरामः, प्रार्थयामहे चान्येपि गोस्वामिनः श्रीमन्तो वैष्णवाश्च एनाननु-
कुर्वन्ति । एतेषां गोस्वामिवर्याणां कृपयैव सेवाफलं द्वादशविवरणयुतं मुद्रितं सांप्रदायिकानां सुगमं
भविष्यतीति ।

मार्गशीर्षकृष्णनवमी,
श्रीमत्प्रभुचरणप्राकट्योत्सवः

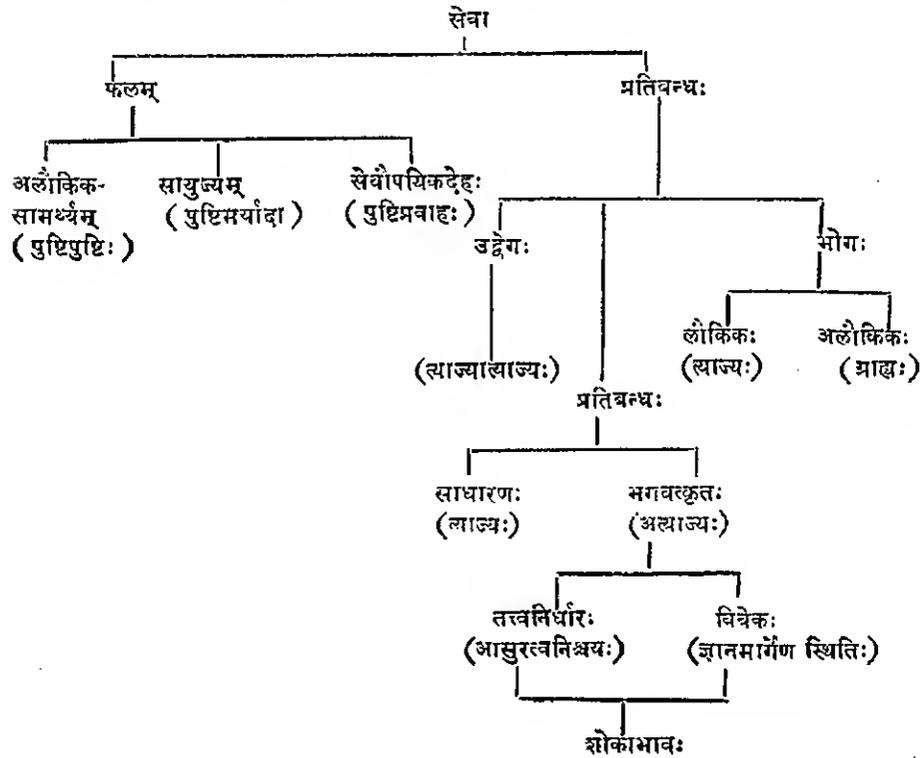
}

मूलचन्द्र तेलीवाला ।
धैर्यलाल सांकलीया ।

सेवाफलतापर्यम् ।

श्रीकृष्णं वरसुन्दरं मधुरिसामूर्तिं तदास्त्रप्रभृन् । सेवायां मकरन्दपानमधुषौ लोकोत्तरौ तत्सुते ॥
नत्वा तानखिलान् निगूढहृदयान् सेवारसास्वादकान् । ग्याख्यानानि विलोक्य तानि विवृतिं सन्दोहरूपान् यते

निःसाधनजनोद्धारप्रकटिततनुभिः श्रीमदाचार्यवर्यैर्निजजनाः स्वल्पेनैव प्रयासेन सर्व-
सिद्धान्तं जानीयुरितिकृपया षोडशग्रन्थाः प्रकटीकृताः । यद्यपि तं तमधिकारिणमुद्दिश्य
आचार्यैरेते ग्रन्थाः प्रणीतास्तथाप्याचार्याणां यावन्त्य उक्तयस्तासां न्यायरूपत्वात् तत्ता-
त्पर्यं सर्वथा सर्वदा त्रिकालाबाध्यमपरिच्छिन्नमिति तु निर्विवादं तद्व्यवस्थेयवृणाम् । यथा
नवरत्नो देवश्रीगोविन्दमुद्दिश्य प्रकटीकृतस्तथैव सेवाफलं श्रीविष्णुदासमुद्दिश्य प्रकटितम् ।
षोडशग्रन्थेषु सेवाफलग्रन्थस्त्वन्ते वर्तते । अस्य ग्रन्थस्य निगूढार्थत्वात् सकलपुरुषार्थ-
पर्यवसानप्रतिपादकत्वात् स्वयमेवाचार्यास्तं विवृण्वन्तः । विवरणसहित एव सेवाफलग्रन्थो
महानुभावैस्सैस्सैर्गोस्वामिभिर्भट्टैश्च यथाशक्ति यथामति विवृतः । तत्र मिलितानां द्वादशविवर-
णानां संग्रहोत्र कृतः । यद्यप्येतासां टीकानां विषयोयं ग्रन्थस्तथाप्यस्य गूढार्थत्वं तु नैवापैति ।
आदौ तावद्यथा बालबोधोस्माभिः पूर्वं पुष्टिभक्तिसुधायां प्रस्तरेण स्पष्टीकृतस्तथैव-
मपि ग्रन्थं प्रस्तरेण स्पष्टीकरिष्यामः, एतेनास्य ग्रन्थस्याशयो विशेषतः सुगमो भविष्यतीति ।



सेवा—नृणामालयन्तिकनिःश्रेयससिद्ध्यर्थं श्रीमदाचार्यैः पूजामार्गाद्भिन्नः सेवामार्गः
स्नेहप्रधानः प्रवर्तितः । अस्मिन् मार्गे स्नेहस्य प्राधान्यं न विधेः । सेवाशब्दार्थः श्रीमदा-
चार्यैः सर्वनिर्णयेपि दर्शितः । 'भक्तिशब्दस्य धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमिति' । अनर्थमूला-
हन्ताममताया नाशं विना चित्तस्य प्रवणं भगवति न भवतीत्येतदर्थं प्रथमं तनुजवित्तज-
सेवोपदिश्यते श्रीमदाचार्यैः । अहन्तारूपस्य देहस्य ममतारूपस्य वित्तस्य विनियोगो
यदा भगवति सर्वांशेन भवति तदा तादृश्यहन्ताममताया विपरिणामो भवति, चित्तस्य
सर्वतः सम्बन्धे निवृत्ते तस्य भगवति स्थितिर्भवति । भगवदीयस्य तदाहन्ताममतापि
भगवदीया भवति । सा तु न बाधिका, प्रत्युत परमफलसाधिका । देहवित्तस्य भगवति
विनियोगः साक्षाच्छ्रीमद्रोपीजनवल्लभोपदिष्टप्रकारेण महाप्रतिज्ञारूपसर्वस्वसमर्पणद्वारा
श्रीमदाचार्यैः स्वशरणागतजीवानां कृतः । तदैव ते जीवा भगवदीया भूत्वा ज्ञाननिष्ठजीवानां
परमकष्टेनासाध्यं जीवन्मुक्तिब्रह्मावबोधरूपमवान्तरफलमनायासेन प्राप्तवन्तः । एतादृक्
प्रकारेण चित्तप्रवणद्वारा यदा भगवदीयस्य सेवा मानसी आधिदैविकी भवति, तदा सा
स्वतःफलरूपा भवति । तादृशां विरलभक्तानां तु सेवां विना न किमप्यपेक्षितम् । एत-
देवोक्तं श्रीभागवते 'मधुद्विदसेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रिति । ईदृशी स्वतःफलरूपा
सेवा केवलभगवदनुग्रहैकलभ्या । अतोस्मिन् ग्रन्थे यत्फलमुच्यते तत्पुष्टिमार्गीयसेवाया एव,
न केवलमर्यादामार्गीयाया वा केवलप्रवाहमार्गीयाया वा । अत्र श्रीहरिराया वा श्रीमदाचार्यैः
केवलाया मानसा एव फलमुच्यत इति विचार्य तस्याः फलत्रयमुक्तवन्तः । श्रीपुरुषोत्तमाः
तनुजवित्तजसहितमानसीसेवायाः फलमुच्यत इति विचार्य तस्याः फलमुक्तवन्तः ।
केचित्पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादापुष्टिप्रवाहसेवायाः क्रमेण फलत्रयमुक्तमाचार्यैरिति वदन्ति । सर्वैरपि
सिद्धान्तमुक्तावलीप्रोक्ता सेवोपन्यस्यते । श्रीमदाचार्याणां वाचां निगूढार्थत्वात् विवरण-
काराणां भिन्नभिन्नाधिकारवत्त्वात् यादृशोधिकारस्तादृशी स्फूर्तिरिति सर्वेषां मतानामाचार्या-
शयाविरुद्धत्वात् सर्वेषामविरोधस्तु सिद्ध एव । अयं सेवामार्गस्तु केवलप्रेमप्रधानः,
नैवान्न क्रियाया वा ज्ञानस्य प्राधान्यम् । भगवद्भावतां सर्वेषामत्राधिकारः । एतादृशी-
पुष्टिमार्गीयसेवायाः फलत्रयमुच्यते, उत्तममध्यमसाधारणभेदक्रमेण । तत्रोत्तमायाः फलम-
लौकिकसामर्थ्यं पुष्टिपुष्टेः । सायुज्यं मध्यमायाः पुष्टिमर्यादायाः । सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठा-
दिषु साधारणायाः पुष्टिप्रवाहायाः । जयगोपालभट्टास्तु एतत्क्रमं नैवांगीकुर्वन्ति । तेषां
मते तु सायुज्यमेव परमं फलम्, अलौकिकसामर्थ्यादि गौणं फलम् । लक्ष्मणभट्टास्तु
अत्यन्तरंगान्तरंगबहिरंगानां सेवानां क्रमेण फलं दर्शयन्ति ।

अलौकिकसामर्थ्यम्;—भगवता सहगामादिसामर्थ्यं मुख्यानामिवेतिश्रीकल्याण-
रायाः । अलौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेति श्रीगोपेक्षाः । श्रीमद्रजशोक्तरीत्या इतर-
प्रमाणगोचरमितरसाधनाप्राप्यं सर्वात्मभावैकलभ्यभजनानन्दानुभवलक्षणमिति श्रीदेवकी-

नन्दनाः । भगवतः कोटिसूर्याग्निरूपस्यात्यन्तिकफलदित्सायां सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रभो-
हृदयप्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यमिति श्रीहरिधनचरणाः । सर्वाभोग्यसुधेतिश्रीवल्लभाः । पर-
प्राप्तिविवरणश्रुत्युक्तभगवत्स्वरूपानुभवे 'प्रदीपवदावेश' इति सूत्रोक्तरीतिकभगवदावेशजा
योग्यता यया रसात्मकस्य भगवतः पूर्णस्वरूपानन्दानुभव इति श्रीपुरुषोत्तमाः । तदनु-
सारिणश्चानुक्तत्वात् तथैव । साक्षात् श्रीवृन्दावनादौ श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनस्पर्शनादिकृति-
क्षमत्वमितिलालूभट्टाः । कस्यचिदेतत्सङ्घाते कस्यचिदेतद्देहपातोत्तरं वृन्दावनादिष्वलौकिक-
सङ्घातेन प्रियतमभगवत्सङ्गम इति जयगोपालभट्टाः । भगवत् इवालौकिकमेव ज्ञान-
क्रियाभ्यां सामर्थ्यं जगद्ध्यापारवर्जमिति लक्ष्मणभट्टाः । साक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपम्, हीन-
जीवस्योत्तमभगवता सह साम्येन रती रसोद्बोधश्चेतिविवृतिटिप्पणीकाराः ।

इदं त्ववधेयम् । अत्र सर्वेषां टीकाकाराणां मतानि प्रायो भिन्नानीत्यतोनीयते
यदत्राचार्यैर्न किमपीदमित्यतया विवक्ष्यते । जयगोपालभट्टं विना सर्वेपि टीकाकारा
अलौकिकसामर्थ्यमुत्तमफलत्वेन मन्यन्ते । नैवेदं फलं जीवकृतिसाध्यम्, परन्तु केवल-
भगवदनुग्रहैकसाध्यम् । ब्रह्मानन्दात् समुद्भूत्येदं फलं भगवता वृतेषु विशेषकृपया दीयते ।
कीदृशं तद्दानं तन्निश्चेतुं नैव शक्यते, भगवदिच्छाधीनत्वात् तस्य । एतत्फलं तु गोपवधू-
सदृशस्वतन्त्रप्रेमात्मकोत्कटभक्त्या परमसंतुष्टेन भगवता विशेषानुग्रहख्यापनाय कचिद्
दीयते । कोटिब्रह्माण्डादीनामखिलनियामकः सन्नप्यत्र स्वेच्छया भक्तमनोरथपूरणाय
भगवान् तद्वश्यो भवति । अखिलं जगत् स्वेच्छया लीलया नर्तयन्नपि परमाद्रिद्रौ भूत्वा
भक्तमनोरथानुसारेण तद्वशः सन् स्वयं नृत्यति भगवान् । सर्वज्ञो भूत्वापि यशोदायाः
सन्निधौ महामुग्धवत् तिष्ठति । भक्तमम्बरीषं स्वयं रक्षन्नपि भक्तापराधक्षमाकरणाय
स्वस्याशक्तिं कथयन् दुर्वाससं प्रति भक्तवश्यतां प्रकटयति । अखिलं विश्वं स्वमायया
बन्धयन्नपि श्रीमन्मातृचरणानां भक्त्यतिशयेन स्नेहातिशयेन तद्वशः सन् स्वयं श्रीमद्यशोदाया

१ ननु किमर्थं भगवानेतावत्कृत्वा बन्धनरूपो जात इति चेत् तत्राह एवमिति । एवमपकारिणि
लोके स्वकीयत्वमात्राभिमानेनापि एतावतीसभूतपूर्वा कृपां करोतीति स्वस्य भक्तवश्यता प्रदर्शिता । प्रदर्शन-
स्यापि प्रयोजनमाह हरिणेति । स हि सर्वदुःखहर्ता तत्प्रसिद्धार्थमसम्बन्धेन दुःखहर्तृत्वेतिप्रसंगात् संसार-
विलयः स्यादिति सम्बन्धार्थकृपालुतां प्रदर्शयति । कृपा च सर्वधर्मधर्मिभ्यो वलिष्ठेति वक्तुं भक्तवश्यता-
शब्देनैवोक्ता । ननु भक्त्या चेदमर्थमिणामुपमर्दः क्रियते तदा स्वरूपस्य प्रच्युतत्वात् फलाभावात् प्रदर्शन-
मपि व्यर्थं स्यादित्याशंक्याह स्ववशेनापीति । स हि स्ववश एव, न केनाप्युपमर्दः । अनेन फलसाधकत्व-
मुक्तम् । फलरूपत्वमाह कृष्णेनेति । नन्वेवं कृते अन्यो महान् ब्रह्मादिर्न मंस्यते, ततो माहात्म्यस्य
न्यूनभावान्न तथा फलत्वमित्याशंक्याह यस्येदं सेश्वरं वश इति । तत्तदधिष्ठातृदेवतासहितं सर्वं यस्य
जगत् वशे । अतो नान्यभावनं केनचिदपि कर्तुं शक्यमिति भावः । नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यंगसंभ्रया
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् । एवं स्वमनोरथे सिद्धे-।

दाम्ना बद्धो भवति । ईदृशं किञ्चित्प्रकारकं सामर्थ्यं यत्र भक्त्यतिशयेन प्रेमातिशयेन
भगवान् भक्तवश्यः सन् तत्कामान् पूरयति तत्र प्रकटीभवति । इदमेवोत्तमं फलं
श्रीमदाचार्याणामभिप्रेतमिति नात्र संशयः । श्रीमद्रोकुलनाथानां श्रीमत्पुरुषोत्तमा-
नामप्ययमेवाभिप्रायः । 'सोश्नुते' श्रुतिरपि भक्तस्य विविधरसभोगचतुरेण रसेश्वरेण
भगवता सह भोगं निरूपयन्ती भक्तस्य प्राधान्यं भगवतो गौणत्वं स्पष्टमेव कथयति ।
प्राप्तं फलं यावत्पर्यन्तं स्वाधीनं न भवति तावत्पर्यन्तं तस्य फलत्वमपि न प्रकटी-
भवति । रसशास्त्रेपि रसाधिक्ये पुंभावः प्रतिपाद्यते । अर्थाद्भगवतो गौणत्वं भक्तस्य
प्राधान्यं यत्र भवति तत्रैवालौकिकसामर्थ्यं प्रकटीभवति । स्वस्य स्वातन्त्र्यं पालयन्
भक्ताधीनो भूत्वा तन्मनोरथान् पूरयन् स्वस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वं महामाहात्म्यं च
प्रकटीकुर्वन् भगवान् श्रीकृष्ण एव परमफलरूपोऽलौकिकसामर्थ्यरूपः श्रीमदाचार्याणां
हृदयशेषे नित्यं रमते स्म । बहिरपि श्रीमदाचार्याणां सन्निधौ अखिललीलाविशिष्टो
भगवान् कृष्णो रममाणः प्रकटयति भक्तवश्यतां प्रदर्शयन् निरन्तरं स्वदृग्विषयो भवति ।
एतादृशं भगवतः परमं फलं वाञ्छनसागोचरं सत् शब्दैः कथं प्रतिपादयितुं शक्यते ।
अनुभवैकवेद्यत्वात् तस्य । अत एवाचार्यैः तादृशनिगूढत्वप्रदर्शनाय 'अलौकिकसामर्थ्य'-
मिति परमनिगूढशब्दप्रयोगः कृत इति प्रतिभाति । अत्रापि सर्वेषां टीकाकाराणाम-
विरोधस्तु अनुक्तसिद्ध एव । सर्वेषां भिन्नाधिकारवत्त्वात् भगवतः स्वतन्त्रेच्छत्वाच्च कीदृशं
दानं भगवान् करिष्यति तत्र ज्ञातुं शक्यम् इति । श्रीपुरुषोत्तमचरणैस्तु अविरोधप्रकारो-
तिसुन्दरतया प्रतिपादितः, अतस्तदभास्माभिरत्रानूद्यते । एतत्सर्वं भगवतो नानाविध-
प्रवेशहेतुकत्वाद्भगवदिच्छयाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादुपपन्नमिति ।

सायुज्यम्;—सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, सहभावः गोपाना-
मिवेति श्रीकल्याणरायाः । भक्त्या मामभिजानातीत्युक्तो भगवत्स्वरूपे लय इति श्रीगोपेश-
श्रीदेवकीनन्दनश्रीपुरुषोत्तमाः लालूभट्टाश्च । विवृतिटिप्पणीकारा अपि तथैव । संयोगानु-
भवसामर्थ्यम्, भगवता सह सततस्थितिरेव सार्वदिकसंयोगरसानुभव इतिश्रीहरिधन-
चरणाः । सोश्नुत इतिश्रुत्युक्तसहभावेन भगवता सह भोग इतिश्रीवल्लभाः । शुद्धपुष्टिमार्गीयं
भेदसम्बन्धघटितं केवलेन हि भावेनेत्यादिवाक्यैरत्युत्तमकृपया ब्रह्मभावज्ञानवैराग्यनिरपेक्ष-
प्रेमासक्तिव्यसनरूपकेवलभावजनितभगवत्सहभावविशिष्टमार्वाकालिकसर्वकामभोगरूपमिति
जयगोपालभट्टाः । उभयविधमपि सायुज्यमितिलक्ष्मणभट्टाः । तथा चात्र द्विविधं सायु-
ज्यम् । रूढार्थकं यौगिकार्थकं च । तत्राद्यं ज्ञानमिश्रितानामेकत्वरूपम्, अभेदरूपं
भेदात्यन्ताभावरूपमात्मनैक्यम् । शुद्धभक्तानामपरम्, भेदतस्तद्वत्सखित्वतस्तदानन्दानु-
भवात् । पूर्वत्र देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि विहायेह स्वात्मनैव केवलेन तदानन्दानुभवः,

१ यत्र च भक्तस्य स्वातन्त्र्यं तदिच्छानुसारेण भगवत्कृतिर्यथा दामोदरलीलायां सा पुष्टिः । नि. ३०२.

अपरत्र सहैव तैरिति सार्थकतैषाम्, अन्यत्र नेति । अप्रापि पूर्ववदविरोधस्तु सिद्ध एव । व्याख्यानस्य प्रकारद्वयम् । एकं शास्त्रीयम्, अपरं भक्तिमार्गीयम् । श्रीहरिरायादयो भक्तिसरणीमनुसृत्य यौगिकार्थकं सायुज्यमङ्गीकुर्वन्ति । श्रीपुरुषोत्तमादयः शास्त्रीयसरणी-मनुसरन्तो रूढार्थकं सायुज्यमङ्गीकुर्वन्ति, तथापि यौगिकार्थसायुज्यग्रहणे नैव तेषां प्रद्वेषः, प्रत्युत सम्मतिरपि वर्तते, यतः तैरपि निबन्धे 'आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यये'त्यत्र तथैव सायुज्यशब्दो यौगिकार्थे व्याख्यातः । श्रीपुरुषोत्तमरीत्या विचार्यमाणे इदं सायुज्यं पुष्टिमर्यादायाः फलं भवति । श्रीहरिरायरीत्या विचारिते तु इदमपि फलं मानस्याः शुद्धपुष्टेरेवेति भेदः । अत्रेदमपि ध्येयम्, शास्त्रीरीत्या जीवस्य प्राप्यफलस्य विचार्यमाणे सायुज्यपर्यन्तं बुद्धिरारोहति, तदतीते अलौकिकसामर्थ्ये तु न । अत एवाचार्याः प्रायः सर्वत्र फलं निरूपयन्तः सायुज्यशब्दं प्रयुज्जन्ति । स्वस्मिन् लयं कारयित्वा अनुग्रहविशेषेण पृथगाविर्भावयित्वा यदा फलं दातुं प्रभुरिच्छति, तदा भक्तस्य तदनुभवोपि नैव स्वरूपेण, परन्तु भगवत्कृततत्प्रवेशहेतुकः, प्रभुरेव तस्यानुभवात्मा तदैव भवति । तस्यामवस्थायां यत्र सर्वोपि व्यवहारो भगवदीय एव, आत्मत एव इदं सर्वम्, तत्र द्वैताद्वैतयोः प्रश्नो नैवोत्तिष्ठति । तथापि भेदेनानुभवं विना भक्तिरसस्यानुभवो सामान्यतो न भवतीति विचार्य श्रीगोकुलनाथश्रीहरिरायादिभिर्द्वैतविशिष्टाद्वैतपक्षः क्वचिदुप-न्यस्तः । वास्तवं श्रीमदाचार्यप्रतिपादितं शुद्धाद्वैतमेवाखण्डितं तेषां मते भवति । तथापि तत्पक्षमनुसृत्य तैः सायुज्यशब्दस्तथैव यौगिकार्थे व्याख्यातः । अतो न कुत्रापि विरोधः । अत्र जयगोपालभट्टास्तु श्रीहरिरायवत् सायुज्यशब्दं यौगिकार्थकमङ्गीकुर्वन्तः सायुज्यमेव परमं फलमलौकिकसामर्थ्यादि गौणं फलमिति मन्यन्ते; तन्नैवास्माकं मन-स्यायाति । विप्रयोगस्य परमफलत्वं संयोगस्य मध्यमफलत्वं यच्छ्रीहरिधनचरणैः प्रोक्तं तदपि परमाग्रहेण खण्डयन्ति । परन्तु तत्रापि दृष्टिभेदत एव विचारवैषम्यं भासते । श्रीहरि-रायादयः विप्रयोगमेव परमफलत्वेन मन्यन्ते, संयोगादयस्तेषां मते व्यभिचारिभावाः, विप्रयोगस्तु स्थायिभावः । श्रीमत्प्रभुचरणाः संयोगं परमफलत्वेन मन्यन्ते, तत्र संयोगः स्थायिभावः, विप्रयोगादयः व्यभिचारिभावाः । आचार्यास्तु 'आन्तरं तु महाफलं'मित्यत्र विप्रयोगस्य महाफलत्वं दर्शयन्ति । अत्र विरोधस्तु नैवाणुरपि । आचार्याणां विप्रयोगरूपत्वात् श्रीमत्प्रभुचरणानां संयोगरूपत्वादुभयरूपेण प्रभुः फलरूपेण उभय-द्वारा प्रकटीभवन् स्वीयानां मनोरथान् पूरयिष्यन् निजां सुधां वर्षयिष्यति कथं केति न ज्ञातुं शक्यते । अतः सर्वमत्र प्रतिक्षणनूतनत्वात् रमणीयमेव । किञ्च, रसरूपः प्रभुरेव परमं फलम् । रसस्योभयदलविशिष्टत्वात् संयोगरूपेण विप्रयोगरूपेण वा फलत्वं तस्य नैव व्यभिचरति । यस्य निष्ठा विप्रयोगे भवति स तं प्रधानीकृत्य संयोगं मध्यमफलत्वेन मन्यते, यथा श्रीहरिरायादयः । यस्य निष्ठा संयोगे भवति स तं प्रधानीकृत्य विप्रयोगं

मध्यमफलत्वेन मन्यते, यथा जयगोपालादयः । श्रीमदाचार्यास्तुभयदलविशिष्टमपि प्रभुस्वरूपं परमफलरूपं मन्वानाः विप्रयोगस्य क्वचित्प्राधान्यं दर्शयन्ति, क्वचित्संयोगस्य । उभयस्य परमफलत्वे तु नैव सन्देहः, तथापि यादृशं भगवता दानं तादृशी रुचिरुत्पद्यते । अतो भगवतो रसरूपत्वात् तस्य च भावविभावानुभावैः पुष्टत्वात्, स्वपूर्णप्राकट्यकरणायै-वात्र विविधमतप्रदर्शनं भगवता स्ववृत्तभगवदीयद्वारा कृतमिति प्रतिभातीति सर्वं समञ्जसम् ।

सेवोपयिकदेहो वैकुण्ठादिषु;—सेवायां क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात् सेवानुपयोगे अन्यैः तादृशसाक्षादसाधुभवकर्तृभिः क्रियमाणायः सेवाया उप समीपे योगः सम्बन्धः तद्वत्पक्ष्यादिशरीरप्राप्तिरिति श्रीहरिधनचरणाः । देहेन्द्रिया-सुहीनः पुरुषस्त्रीपशुपक्षिवृक्षाद्याकृतिः संस्थानविशेष इति श्रीपुरुषोत्तमचरणाः । व्यापि-वैकुण्ठादौ पार्षदादिदेहप्राप्तिरिति लालुभट्टाः । 'गोकुलं वनवैकुण्ठमिति कृष्णोपनिषदुक्तेः प्रपञ्चातीतभगवन्निवासस्थानं व्यापिवैकुण्ठान्तर्गतं बृहद्वनं नन्दीश्वरं चोच्यते । आदिपदेन श्रीवृन्दावनश्रीमद्रोवर्धनादि च । तत्र सायुज्यफलादानेधिकारः सेवोपयिकदेहरूपो वाथवा भवतीत्यर्थः । वैकुण्ठान्तरस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपभगवत्लोकत्वाभावाद् गोकुल-स्यैव तादृग्भगवत्लोकत्वाद् वैकुण्ठपदेन श्रीगोकुलम्, आदिपदेन वृन्दावनादिकं चाभि-प्रेतमिति जयगोपालभट्टाः । अप्राकृतभूतभौतिकतृणलतौषधिवृक्षपशुपक्ष्यादिदेहः अधि-कारात्मा, तत्र सेवोपयोगी बोध्यः, वैकुण्ठपदेन मुख्येऽमुख्ये च । आदिपदेन स्वर्गादिषु विष्णोः स्थानेष्वपि तथेतिलक्ष्मणभट्टाः । अलौकिकदेहवयोरुणादिकमिति विवृतिटिप्पणी-काराः । रमाप्रार्थितवैकुण्ठक्षीरोदश्वेतद्वीपेषु भगवत्सेवायोग्यदेहप्राप्तिरिति श्रीगोपेशाः । तथैव श्रीदेवकीनन्दनाः । आदिपदेन श्रीमथुरावृन्दावनादिकं ग्राह्यमिति श्रीवल्लभाः । आदिपदेन भूलोके उद्धवादीनामिव गवादीनामिवेति वा सेवोपयोगिदेहप्राप्तिरिति श्रीकल्याणरायाः । अत्रेदं ज्ञेयम् । श्रीगोपेशाः श्रीदेवकीनन्दनाः क्रमेण मर्यादाभक्तेः प्रावाहिकभक्तेः फलं वदन्ति, अन्ये तु पुष्टिभक्तेः साधारणभक्तेर्वा फलं वदन्तीति दृष्टिभेदतस्तारतम्यम् ।

उद्वेगः—सेवायां क्रियमाणायामन्यत्र गमनेच्छादिरिति श्रीकल्याणरायाः । मनसः सेवायां क्रियमाणायामुत्कृष्टो वेगः, सर्वथा तत्रास्थिरता बाहिर्मुख्यमिति श्रीहरिधनचरणाः । मनसोन्यपरतेति श्रीवल्लभाः । उच्चैर्भयं चलनं वा, सेवायां क्रियमाणायाम् दुष्टादिभ्यो मनसो भयं पापादिना बुद्धेश्चाञ्चल्यमिति द्विप्रकारकमुद्वेगं श्रीपुरुषोत्तमा आहुः । भगव-त्सेवासमये चित्तक्लेशप्रदश्चाञ्चल्यविशेष इतिलालुभट्टाः । अन्ये तु विशेषं न कञ्चनाहुः । अयमुद्वेगः सेवायां प्रतिबन्धरूपत्वात् त्याज्यः । आचार्याः प्रथममुद्वेगादित्रयं ससाधनं त्याज्यत्वेनोक्त्वाप्ये तत्याज्यत्वात्याज्यत्वविभागं च कृत्वा पश्चाद्द्वयोः साधारणप्रतिबन्ध-लौकिकभोगयोः त्याज्यत्वं निरूपितवन्तो न उद्वेगस्यापि, अत उद्वेगस्य कश्चिद्विन्न एव प्रकारोभिमत इति विचार्य श्रीपुरुषोत्तमास्तस्या अनुक्तेः कारणं दर्शयन्त उद्वेगस्यामुकांशेन अत्याज्यत्वमपि सूचयन्ति ।

प्रतिबन्धः—सेवासमये लौकिकवैदिककार्यान्तरासक्तिरन्यकृतान्तरायादिश्चेति श्री-
कल्याणरायाः श्रीहरिरायाश्च । वेदनिन्दा म्लेच्छबलिष्ठबहिर्भुजनि तोपद्रवश्चेति श्रीगोपेशः ।
कायसान्यपरतेति श्रीवल्लभाः । तत्प्रतिकूलो निग्रह इति श्रीपुरुषोत्तमाः । सेवायां रुचौ
सत्यामपि तत्समये लौकिकवैदिककार्यादिकार्यासक्तिरूप इति श्रीपुरुषोत्तमास्तदनुसारि-
णश्च । प्रतिबन्धकं तूदासीनं दुःखसुखे प्रयच्छतीति लात्तूभट्टाः । अयं प्रतिबन्धो द्विविधः ।
साधारणो भगवत्कृतश्च । साधारणो बुद्ध्या त्याज्यः । भगवत्कृतस्तु न । भगवत्कृत-
प्रतिबन्धे तत्त्वनिर्धारविवेकौ साधनरूपौ, तेन फलं शोकाभावः, न मुक्तिः । विशेषस्तु
स्पष्टः, टीकासु दर्शितत्वादत्रानुपयोगित्वाद् विस्तरभयाच्च नानूद्यते । तत्त्वनिर्धाररूप
आसुरत्वनिश्चयः, भगवान् फलं न दास्यतीति विवेकश्च स्पष्टतया टीकाकारैरनूदितौ ।

भोगः—लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधः । लौकिकस्त्याज्यः । लौकिकभोगस्तु गृह-
त्यागं विना न सिध्यतीत्यतो 'भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग' इत्याचार्यै-
रुक्तम् । अलौकिकभोगस्तु ग्राह्यः । भगवन्निवेदितानां भोगोऽलौकिकभोगः । अलौकिक-
सामर्थ्यमिति प्रायः सर्वे वदन्ति, श्रीवल्लभास्तु प्रथमफलं सेवोपयोगिदेह इति वदन्ति ।
भगवत्स्मरणसहितकृतभोगस्तु नैव बाधकः ।

एवं सेवायाः फलं बाधकं चोक्त्वा आचार्याः स्वोक्तेः सर्वदा भावनमुप-
दिशन्ति । यद्यपि भावना न स्वकृतिसाध्या तथापि कर्तव्येति तथैव सर्वैरनूद्यते ।
गुणक्षोभेपि तद्भावनमेव कर्तव्यम्, अन्यत् सर्वं मनोभ्रमः । गुणक्षोभशब्दस्तु टीका-
कारैर्द्विधा सामान्यतो व्याख्यातः । केचिदश्रुपुलकादिशोभ इति वदन्ति, अन्ये तु
सत्त्वरजस्तमसां शोभ इति वदन्ति । उभयथापि भगवच्छरणभावनमेवाचार्याणां स्पष्टम-
भिमतमिति तु नैव सन्देहः । तदीयैरपि तदेव कर्तव्यम्, फलाविलम्बाय, यतोऽधुना
जीवानां पुष्टिमर्यादायामेवाङ्गीकारः । यथाहुः श्रीहरिधनचरणाः 'साम्प्रतं तु पुष्टिमर्या-
दायामेवाधुनिकानामङ्गीकाराद्भजनसिद्धिविलम्बसद्भावेन तावत्पर्यन्तं प्रोषितभर्तृकाया इव
फलप्रतिबन्धभावनं सर्वदा कार्य'मिति । अत्राचार्यैरुक्तं 'अवश्येयं सदा भाव्या सर्व-
मन्यन्मनोभ्रमः' इति वाक्यं पुष्टिमार्गीयस्याधुनिकस्य कीदृशं कर्तव्यमिति स्पष्टतया ज्ञाप-
यति । सर्वप्रमाणातीतो वाङ्मनसागोचरः सर्वतत्रस्वतत्रो भगवान् केनचित्साधनेन प्राप्यते
इति तु नैव वक्तुं शक्यम् । अत एव भगवत्प्रापकत्वेन किञ्चित्साधनं भगवदतिरिक्तं पुष्टिमार्गे
वर्तते इत्यपि तु वक्तुं नैव शक्यम् । साम्प्रतं वेदमार्गस्य प्राय उत्सन्नत्वात् सोऽपि भक्ति-
मार्गस्य पुष्टिमार्गस्याङ्गत्वेनात्रैव प्रविशति । अतः पुष्टिस्थितो भगवान् मर्यादास्थितसाध-
नैर्नैव प्राप्तुं शक्यते, अत एवोभयथा पुष्टिमार्गस्य निःसाधनत्वं स्फुटं प्रतीयते । तथापीदं
विचारणीयम् । श्रीहरिरायश्रीपुरुषोत्तमादिभिरधुनानवतारदशा प्रचलतीति प्रतिपाद्यते,
साम्प्रतं जीवानां पुष्टिमार्गीयाणामङ्गीकारोपि पुष्टिमर्यादायामेव भवतीत्यपि तैरेवोच्यते ।

तेन यद्यपि जीवैर्भगवत्प्रेरणं विना किमपि कर्तुं स्वबलेन नैव शक्यते, तथापि
भगवत्प्रेरणया भगवद्बलेन यच्छक्यं भवति तदवश्यं कर्तव्यम्, स्वनिर्वाहाय प्रोषित-
भर्तृकावत् । यद्यपि एतत्फलरूपं भावनं भगवत्कर्तृकमेव तथापि एतदेव भगवच्छरण-
भावनं कर्तव्यं न तु तूष्णीं स्थेयम् । पुष्टिमार्गस्य भगवद्रूपत्वाद्भगवतो विरुद्धधर्माश्रयवत्त्वात्
तस्यापि तथात्वादस्मिन् मार्गे भासमानो विरोधोऽपि विरोधाभास इवालंकाररूप एव । साधन-
फलरूपो भगवानेव । तथाहुः श्रीमत्प्रभुचरणा निवन्द्ये 'भक्तिमार्गे तु भगवान् स्वत एव
यदा भक्तेषु सर्वं सम्पादयति स्वीयत्वेन, तदा भक्तः स्वाङ्गीकारं सर्वात्मना ज्ञात्वा स्तुत्या-
दिषु स्वाधिकारं जानाति ततः स्तौति । अथवा सर्वात्मना स्वाङ्गीकारज्ञानेनान्तरानन्दे
पूर्णे बहिरपि सर्वेन्द्रियेषु प्राकट्यसमये वाचि स निर्गच्छन् स्तुतिरूपो भवती'ति । यावन्ति
साधनानि तानि न भगवत्प्रापकाणि, तेषां स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वात् । विशेषस्तु
स्थलसंकोचाद् गुजरातुवादे प्रतिपादयिष्यत इति ।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

मार्गशीर्षकृष्णनवमी,

श्रीमत्प्रभुचरणप्राकट्योत्सवः

मूलचन्द्र तेलीवाला ।
धैर्यलाल सांकलीया ।

३८ तमे पृष्ठे प्रकाशितसेवाफलविवृतिव्याख्यानान्ते अधोलिखितो-
शोऽधिक उपलभ्यते श्रीमन्मथुराधीशग्रन्थागारे (२१०/३) क्रमांकित
सन्दर्भसूच्याम् :-

"भगवदिच्छाभावनमात्रे तु श्रीगोपीजनवल्लभो अस्मत्प्रभुः पुष्टावंगीकृतात्मनां
स्वयमेवोद्वेगादिक निवार्य यथाधिकारमेतद्ग्रन्थोक्तफलं दास्यति इति सिद्धम् ।

श्रीवल्लभप्रभोर्नामोच्चारणात्प्राप्तबुद्धिना ।

विचारिता मयाप्येषा पूर्वटीकानुसारतः ॥

इति श्रीगोस्वामिमथुरानाथात्मजद्वारिकेशेन कृतः सेवाफलविवृतिप्रकाशः समाप्तः

॥ श्रीगोपीजनवल्लभार्पणम् ॥

मिति कार्तिक सुदि ४ सवत्सर १९३५ ।

पुस्तक मथुरादास को लिखन कियो हरिदास ।

मन्दिर श्रीमथुरेश को दंडोतिसिला पास ॥

॥ सेवाफलं सविवरणम् ॥

यादृशी सेवना प्रोक्ता तस्मिद्धौ फलमुच्यते ।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥१॥
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

सेवायां फलत्रयम् अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो^१ वेकुण्ठादिषु.

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥२॥
अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्नहि ।
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥३॥
बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम् ।
निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विनश्यते सदा ॥४॥

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् उद्वेगः प्रतिबन्धो भोगो वा. त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः. भोगो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्च. तत्र लौकिकस्त्याज्य एव. अलौकिकस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति, प्रतिबन्धोऽपि द्विविधः साधारणो भगवत्कृतश्च, तत्र आद्यो बुद्ध्या त्याज्यः. भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धः तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्. तदा अन्यसेवापि व्यर्था. तदा आसुरोऽयं जीव इति 'निर्धारः'. तदा ज्ञान-मार्गेण स्यात्तव्यं शोकाभावायेति 'विवेकः'.

ननु साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाह—

सविघ्नोऽल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ ।

'सविघ्नो अल्पो घातकः स्याद्' इति सविघ्नत्वाद् अल्पत्वाद् भोगस्त्याज्यः. 'एतौ' प्रतिबन्धकौ.

१. 'सेवोपयोगिदेह' इत्यपि पाठः

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥५॥

द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः. ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाह 'द्वितीय' इति. नत्वाद्ये वातृता नास्ति.....
'आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति. तदा सेवा नाधिदैविकी इत्युक्तं भवति.

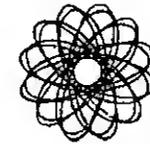
.....तृतीये बाधकं गृहम् ।

भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः

अक्षरयेयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥६॥
तदीयंरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।
गुणक्षोभेऽपि दृष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥७॥
कुसुष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ।

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितं सविवरणं सेवाफलं ॥

॥ समाप्तम् ॥



॥ सुबोधिन्येकवाक्यतया सेवाफलस्वरूपनिर्णयः ॥

सुबोधिन्यां सेवनास्वरूपम्:

एकमनसः पुरुषस्य सर्वेन्द्रियाणां सत्त्वमूर्तौ भगवति या स्वाभाविकी वृत्तिः सा भक्तिः इति... ये देव्यां संपदि जाताः तेषामपि देवरूपाणि (इन्द्रियाणि) भवन्ति आसुराण्यपि भवन्ति. एकस्मिन्नेव गोलके उभयमपि तिष्ठति. यानि पुननिषिद्धे लौकिके च रज्यन्ते तानि वलाद् विहिते प्रवर्तमानान्यपि न परितुष्टानि भवन्ति इत्यासुराणि. तत्र भक्तिः देवैरेव भवति नासुरैः किञ्च तान्यपि कर्मयोगज्ञानादिवहुरूपे वैदिके कर्मणि प्रवर्तमानानि पूर्ववासनायाऽभ्यासात् भवन्ति. तेषामपि यदि फलावस्था भवति तदा सत्त्व एव शुद्धसत्त्वरूपे भगवत्स्वरूपे प्रवर्तमानानि स्वभावतो भवन्ति..... वस्तुतस्तु गुणातीते भगवति स्वाभाविकी वृत्तिरिति भगवच्छास्त्रम्, "मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्"..... इत्यादिवाक्यैः सर्वा भगवतः सामग्री निर्गुणा..... मनोपि द्विविधं देवासुरविभेदेन. तत्रासुरं संकल्पविकल्पात्मकं नानाभावापन्नं मननात्मकमेव..... मनसा तु द्वितीयेन न भाव्यमेव तथासति इन्द्रियाणां पूर्वोक्ता वृत्तिः न स्यात्. अत एकस्वभावापन्नं मनो यस्य तस्यैव भक्तिः. अन्येषां तु यथाकथञ्चित् क्रियमाणा भगवति खण्डशो वृत्तिरक्षयत्वात् बहुभिर्जन्मभिः पुष्टि गता अन्तिमजन्मनि भक्तिरूपां वृत्तिं जनयिष्यति इति न काव्यनुपपत्तिः. वृत्तिः तन्निष्ठता न्तु ग्रहणमात्रम्..... फलरूपे जन्मनि सा अनिमित्ता भवति स्वतन्त्रा, भगवन्निमित्ता वा, भगवतः सकाशात् फलानि निमित्तानि. या अनिमित्ता सा भक्तिः भवतीत्युत्तरेण सम्बन्धः, किञ्च सा चेद् भागवती भवति, साक्षाद् भगवन्तं विषयीकरोति भगवद्भावं वा षड्गुणरूपतामापद्यते.... मुक्तेस्सायुज्यादपि इयं भक्तिः गरिष्ठा (सुबो. ३।२५।३२-३३)

सुबोधिन्याम् अलौकिकसामर्थ्यस्वरूपम्:

तादृशभक्तानां ज्ञानिनामिवाग्रिमकृत्यमाह प्रकारद्वयेन. तत्र प्रथममाह त्रिभिर्नैकात्मतामित्यादिभिः. जीवतां साधनावस्था फलरूपा तथा परा. सायुज्यं च तृतीयं स्यादतो नोत्क्रान्तिप्रापणे. तत्र प्रथमं भक्तानां साधनावस्थामाह-

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्
मत्पादसेवाभिरता मदीहा ।
येन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥

इयं फलरूपा भक्तिर्ज्ञातव्या. ते भक्ता यावज्जीवन्ति च तावत्फलरूपां भक्तिं कुर्वन्तीत्यर्थः. फलरूपता तदैव भवति यदा भजनाद्रसोऽभिव्यक्तो भवती. तस्या अभिव्यक्तेः निदर्शनं भगवत एकात्मतां सायुज्यरूपं फलं न स्पृहयन्ति. प्रार्थना तु दूरे. ते भक्तेषु विरलाः प्रसंगाभिरूप्यन्ते. केचिदिति दुर्लभाः तेषां कायवाङ्मनोवृत्तिः स्वभावत एव भगवति भवतीत्याह मत्पादेत्यादिना. मम पादसेवायामेव अभिरतिर्मनोवृत्तियेषाम्. सर्वतो गत्वा भगवत्कार्यं कर्तव्यमिति पदभ्यां सेवेत्यर्थः. अन्यस्तु सुखं गमनानन्तरसाध्यम्. इयं मनोवृत्तिरिति रूपिता. कायिकीमाह मदीहा इति. मत्सम्बन्धिन्त्येव ईहा चेष्टा येषाम्. तेषां वाचनिकीमाह अन्योन्यत इति.....

तेषां फलावस्थामाह-

पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंस-
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि विख्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥

ते मे रूपाणि पश्यन्ति. निरन्तरं भगवत्साक्षात्कारो भवति. यथा मित्रैस्सह शीडन्ति प्रथमतः पश्यन्ति. भगवतो रूपाणि वर्णयति रुचिराण्यवतंसानि कर्णाभरणानि येषाम्. अनेनवृन्दावननादौ भगवत्साक्षात्कारो भवतीत्युक्तम्. प्रसन्नानि वक्त्राणि अरुणानि लोचनानि येषामिति..... रूपाणीति परमोपासकानामेकं रूपं कदाचित् साक्षात्कृतं भवति. तेषां तु वहूनि. तानि च दिव्यानि लौकिकबुद्ध्या न गृहीतानि. अलौकिकभावं वा प्रकटयन्ति. तान्प्रत्येव प्रकटानीति. तथा सति नातिप्रसक्तिः तेषामन्यदोयव्यावृत्त्यर्थं निदर्शनान्तरमाह वरप्रदानीति. न ह्यन्येन वरं दातुं शक्यते. प्रसन्नरूपादेतेषां वैलक्षण्यमाह साकं वाचमिति. जीवन्त एवैते एतस्मिन्नेव लोके भगवता सह स्पृहणीयां वाचं वदन्ति. यथा मित्रैस्सह इष्टालापाः क्रियन्ते. (सुबो. ३।२५।३४-३५)

सुबोधिन्यां सायुज्यस्वरूपम्:

ततस्तेषां सायुज्यमाह-

सर्वेशनीयान्यवैश्वर-
विलासहासोभत वामसूक्तं ।
हृतात्मनो हृतप्रार्णारच भक्तिः
अनिच्छतो गतिमर्षी प्रयुक्ते ॥

तैः पूर्वोक्तरूपैः अनुभवसमय एव आनन्दजनकैः दर्शनीया अवयवा येषाम् उदारो विलासः, हासपूर्वकमीक्षितं वामं मनोहरं सूक्तं वाक्यं च येषाम्, तैः हृतान्तःकरणानां वशीकृतेन्द्रियाणां च सा पूर्वोक्ता भक्तिः, तामनिच्छतोप्यर्णवीं गतिं सायुज्यं प्रापयति. भक्तस्य चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं चतुरूपत्वं च साध्यते. तत्र, दर्शनीया अवयवाः कामपूरकाः, उदारो विलासः अर्थजनकः, हासपूर्वकमीक्षितं धर्मजनकम्, वामसूक्तानि मोक्षजनकानि. कामो हि विषयसौन्दर्येण अन्तःशक्त्या च सिध्यति, अतो दर्शनीयेति विशेषणं बहिरलौकिकसौन्दर्यार्थम्. विलासो हि अर्थस्य नानाप्रकारकत्वाय, उदारत्वं तस्य सर्वोपकारकत्वाय, भगवतो हि लीला सर्वेषां सर्वपुरुषार्थदायिनीति भगवत्त्वम्. हासो देहादौ अध्यासजनकः अन्यथा निरन्तरं धर्मो न सिध्येत्. हासपूर्वकं च ज्ञानं धर्मजनकमेव. सूक्तं हितकारी अविद्यानाशकम्. वामं परमानन्ददायकमिति. सूक्ष्मा हि गतिरेकरूपानन्दस्वरूपा, रूपाणि च अनन्तानन्दरूपाणि, अतएवानिच्छा, अतएवान्तःकरणेन्द्रियाणां च तैराकर्षणं सर्वेन्द्रियसुखरूपत्वात्. स भगवान् स्वगृहं गच्छन् तानपि रयति, ते तु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति, भक्तिस्तु फलावश्यंभाविनी कालादिनामप्यगम्यम् अतिसूक्ष्ममेव भगवदात्मकं फलं प्रयच्छति. (सुबो. ३।२५।३६)

सुबोधिन्यां वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेहस्वरूपम् :

एवं सायुज्यरूपं फलमुक्त्वा सालोक्यादिरूपं फलमाह—

अथो विभ्रूतिं मम मायाविनस्ता—
मैश्वर्यमष्टांगमनुप्रविष्टाम् ।
श्रियं भागवतीं वाऽस्पृहयन्ति भद्रां
परस्य ते मेऽनुवते नु लोके ॥

अथो इति. सा चेद् भक्तिर्मध्यमा भवेत्, ततोयं भिन्नप्रक्रमः. अथो मम मायाविनो विभ्रूतिं पुत्रधनादिरूपां स्वर्गादिरूपां च. न तत्र भोग्यमस्तीति मायाविन इत्युक्तम्, सर्वस्यापि विषयस्य भगवदीयानां भगवदधीनत्वाय षष्ठी. तामित्यलौकिकीं सर्वलोकसिद्धां वा. ऐश्वर्यमणिमादि, अष्टांगानि यस्येति सर्वैश्वर्यप्राप्तिः, भगवद्भजनमनु भगवन्तमनु प्रविष्टां श्रियं सर्वामेव सम्पत्तिं मोक्षपर्यन्ताम्, भागवतीं च भगवत्कृतसम्पत्तिं च वेत्यनादरे, सर्वमेव वा अस्पृहयन्ति, भद्रां मोक्षसम्पत्तिमपि. मध्यमा भक्तिः फलावश्यं प्रयच्छति इति, यद्यन्यत्र तेषां भोगो न रोचते तदा वैकुण्ठ एव तेष्यो भोगं प्रयच्छतीत्याह परस्य मे तेऽनुवते नु लोके इति, परस्य कालादक्षराच्च, लोके व्यापिवैकुण्ठे, सर्वमैश्वर्यादिकमश्नुवते. (सुबो. ३।२५।३७)

सुबोधिन्यां फलाधिकारयोः कालानियम्यत्वरूपम् :

ननु लोकानां कालभयस्य विद्यमानत्वात् 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इति स्वस्थानत्यागात् किं वैकुण्ठलोके विषयानुभावेन इत्याशंक्याह—

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नक्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो देवमिष्टम् ॥

.....शान्तं रूपं यस्येति सर्वदोषविवर्जिते वैकुण्ठे वा. अहमेव परो येषां ते न नक्ष्यन्ति, क्षीणपुण्याः नश्यन्ति पतन्ति वा. न वा हेतिः कालचक्रं तान्.....भक्षयति. तत्र हेतुः.....कालस्य यत्र विषयस्तत्र प्रवर्तते. तस्याष्टौ विषयाः—विषयाः, देहः, पुत्राः, मित्राणि, गुरवः, सम्बन्धिनः, इष्टदेवता कामश्चेति. तस्मिन् लोके नैते सन्ति किन्न्वेतेषां कार्यमहमेव करोमि. अतएव तेषामहमेवाष्टविधः. नहि कालो मां विषयी करोति. तेषां मदन्यः कोपि नास्ति देहादिः. प्रियो हि विषयो भवति. वैकुण्ठस्तु मद्रूप इति तत्राहमेव विषयः. सारूप्यस्य च प्राप्तत्वात् देहोप्यहमेव. देहेन विषयेषु भुज्यमानेषु प्रकृतिः सूयते इति मुताः भवन्ति. तत्र विषयभोगेनापि अहमेव भवामि. पुत्रस्नेहस्त्रत्यैः मय्येव क्रियते. तत्र बाह्योपि सखा अहमेव, तत्रत्यानां पुरुषाणां मद्रूपत्वात्. एते चत्वार एहिकाः पारलौकिकाश्चत्वारः. गुरुरूपदेष्टा वैकुण्ठं त्वहमेव. गुरोरुपदेशानन्तरं ये तत्र हितार्थं यतन्ते ते बान्धवाः सुहृदः, सुहृत्कार्यं तु तत्रत्यैरेव क्रियत इति. देवं देवता, पूज्यः, फलदाने स प्रयोजकः. फलं च इष्टम्. अतः तेषां नाशाभावः उचित एव. (सुबो. ३।२५।३८)

सुबोधिन्यां फलनिष्कर्षः

.....एवं भेदत्रयं निरूपितं सायुज्यं, वैकुण्ठः जीवनमुक्तिश्चेति
(सुबो. ३।२५।३९-४०)

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण-विरचित - सुबोधिन्येकवाक्यतया सेवाफल-
स्वरूप-निर्णयः ॥

॥ समाप्तः ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीकल्याणरायविरचितसेवाफलोक्तिविवृतिसमेतम् ।

श्रीमदाचार्यमार्गेण सेव्यमानोऽस्मदीश्वरः ।

निवारयतु नृस्तापान् सुखसन्दोहसिद्धये ॥ १ ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यमार्गोक्तप्रकारेण सेव्यमानो भगवानितोषिकं किञ्चित् फलं दास्यति मुक्तिमेव वेति सन्दिग्धचेतसां समाधानार्थं श्रीमद्वल्लभाचार्याः सेवासिद्धौ फलं निरूपयन्ति यादृशी सेवनेति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

भक्तिमार्गे सेवा मया यादृशी प्रकर्षेणोक्ता 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति तत्सिद्धौ सत्यां यत् फलं भवति तदुच्यते ।

अस्य ग्रन्थस्य गूढार्थत्वाद्विवरणमपि श्रीमदाचार्याः कृतवन्तः ।

सेव्यमानो भगवान् प्रसादानुसारेणोत्तममध्यमसाधारणप्रकारेण फलं प्रयच्छतीति त्रैविध्याद्विवरणे सेवायां फलत्रयमित्युक्तम् ।

तत्रोत्तमं फलमाहुः अलौकिकसामर्थ्यमिति । भगवता सह गानादौ सामर्थ्यं, मुख्यानामिव । मध्यमं फलमाहुः सायुज्यमिति । सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यं सहभावः, गोपानामिव । साधारणं फलमाहुः सेवोपयोगी देहो चैकृण्ठादिष्विति । आदिपदाद्भूलोके उद्धवादीनामिव ।

सेवासिद्धौ सत्यां यदि भगवानलौकिकं देहादिकं सम्पादयति तदा फलविश्वको मनोरथोन्योपि सिध्यतीत्याहुः अलौकिकस्येति ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

अलौकिकस्य योग्यस्य शरीरादेदाने सति अधिकारसम्पत्तौ सत्यां पूर्वोक्तं फलं प्राप्नोतीत्यर्थः । हीति युक्तश्चायमर्थः । एतत् फलं साधनानां साधनासाध्यत्वात् । चोप्यर्थे ।

चाल्प इतिपाठे साधारणहीनमध्यमयोः कथञ्चित्सिद्धावपि भगवदानं विनोत्तमं फलं न सिध्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

कालकर्मवशादिदं कदाचिद्भवेदित्याशंक्याहुः फलं वेति ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

भजनानन्दलक्षणफले तदधिकारयोः कालो नियामको दाता प्रतिबन्धको वा न भवतीत्यर्थः ।

सेवासिद्धौ व्यवस्थया फलमुक्त्वा सेवासाधनदशायां बाधकान्याहुः उद्वेग इति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

सेवायां क्रियमाणायामन्यत्र गमनेच्छादिरुद्वेगः । सेवासमये लौकिकवैदिककार्यान्तरासक्तिः अन्यकृतान्तरायादिश्च प्रतिबन्धः । भोगो विषयाणाम् ।

एते त्रयः प्रत्येकं बाधकाः । तेनैतेषां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । लौकिकोऽलौकिकश्च । लौकिको लोकसिद्धः । यथा लोकाः स्वार्थमुच्चावचान् पदार्थानानीय भोगं कुर्वन्ति स लौकिको बुद्ध्या त्याज्यः । एतेन श्रुतिस्मृतिपुराणादिसिद्धो भोगो व्यावर्तितः । अलौकिको भगवदत्तः अम्बरीषादेरिव । स तु साधारणमध्यमोत्तमफलेषु प्रथमफले प्रविशति, यथा सेवोपयोगिदेहं दत्त्वा सेवां कारयित्वा प्रसादत्वेन दत्तानां भोगं कारयति भगवान् स अलौकिकभोगो न त्याज्यः । प्रतिबन्धोपि द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्र साधारणः पूर्वमुक्तः । स बुद्ध्या त्याज्यः । यस्य यत्साधनस्य च प्रतीकारो न सम्भवति स भगवत्कृतः । स यदा भवति तदा भगवान् फलं न दास्यतीति ज्ञातव्यम् ॥ २ ॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

अकर्तव्यं भगवतः । अस्य श्लोकस्य विवरणं भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य विवेक इत्यन्तम् । तदान्यसेवापि व्यर्थेति । महादेवनारदादीनां भक्तिदातृत्वश्रवणान्महादेवादिसेवया सेवातत्फलसिद्धिर्भविष्यतीत्याशया कृता महादेवादिसेवापि व्यर्था, नैतत्फलसाधिकेत्यर्थः । तदेति । तदा आसुरः आसुरावेशवान् आसुरभाववान् वायं जीव इति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः । जीवस्यासुरत्वे सेवायां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तदा कथं ममैवं भवतीति शोकाभावाय भगवानीश्वरः स्वेच्छया सर्वं ददाति मम प्रायेण मुक्तिमेव दास्यतीति ज्ञात्वा ज्ञानमार्गेण श्रवणमनननिदिध्यासनानि कुर्वता श्रेयमित्यर्थः । यथा तत्त्वनिर्धारो भवति तथायं विवेको वा साधने इत्यर्थः । अत्रायं भावः । दुःसंगाद् वाहिर्मुख्ये भक्तापराधे वा भगवान् प्रतिबन्ध करोति तदा अन्यसेवया स्वतो वा मुख्यं फलं न भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु साधारणो लौकिको भोगः किमर्थं त्याज्यः, भोगेनैव सेवा कर्तव्येत्याशंक्याहुः सविघ्नोल्पो घातक इति ।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ४ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम् ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ५ ॥

सविघ्नत्वात् सर्वथा न सिध्यति । जायमानोप्यल्पसुखजनको भवति, भावघातकोपि भवति, अतस्त्याज्यः । ननु सावधानतया स्थितेन भोगप्रतिबन्धकोर्बाधकत्वमित्यत आहुः सावधानेपि भोगप्रतिबन्धौ वस्तुसामर्थ्यादेव प्रतिबन्धकौ सम्मतावित्यर्थः । बाधकानामिति श्लोक एवं योजनीयः । बाधकानां परित्यागः कर्तव्यः । भोगेऽप्येकं परमुत्कृष्टमेकं भोगं विहाय तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । यतो निःप्रत्यूहं यथा स्यात्तथा महान् भोगः प्रथमे प्रविशति । पूर्वं व्याख्यातमेतत् । ज्ञानस्थितीति । ज्ञानमार्गेण स्थितावपि प्रतिबन्धे या चिन्ता तद्भावार्थमित्यर्थः । अत्रायं भावः । पूर्वं ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमित्युक्तम् । अधुना श्रीकृष्णप्रसादाभावान्मुक्तिरपि न भवतीति स्वस्य संसारनिश्चयात् फलार्थं चिन्ता न कर्तव्येत्यर्थः । ननु पूर्वकृतसेवायाः सत्त्वात् फलं कथं न भवेदित्याशंक्याहुः आद्येति । आद्येन भगवता भगवत्कृतप्रतिबन्धेन फलाभावे कायवाङ्मनोभिस्तत्परतया कृतत्वाभावात् सा सेवा नाधिदैविकी, कायवाङ्मनोभिस्तत्परतया कृतत्वेपि भक्तापराधादिना भगवांश्चेत्तां न मन्येत तदा सा सेवा नाधिदैविकी भवति, भगवद्भामिनी न भवति । आधिदैविक्या एवैतत्फलसाधकत्वात् । भोगेति । गृहपरित्यागः गृहासक्तिपरित्याग इत्यर्थः । द्वितीय इति । द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्धस्तस्मिन् सति फलं कथं स्यादिति चिन्ता संसारनिश्चयात् सर्वथा त्याज्येत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

ननु प्रतिबन्धसाधारणभोगयोः सत्त्वेपि साधनकरणे फलं स्यादित्याशंक्याहुः न त्वाद्ये इति ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीयं बाधकं गृहम् ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

आद्ये भगवत्कृतप्रतिबन्धे भगवतो दातृता नास्ति । तृतीये साधारणभोगे गृहासक्तिर्बाधिकेत्यर्थः । अवश्येयमिति । इयं रीतिरवश्या, कर्तुमशक्यापि फलार्थं सदा कर्तव्यत्वेन भाव्या । अन्यत् सर्वसाधनं मनोभ्रमः स्वान्तर्भ्रान्तिरित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु भगवदीयानां स्वत एवैतत्फलं भविष्यति किमर्थं पूर्वोक्तं कार्यमित्याशंक्याहुः तदीयैरिति ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

भगवदीयैरपि पूर्वोक्तसाधनं कार्यम् । मर्यादायामंगीकारात् । ननु भक्तिमार्गप्रवेश-
मात्रेण क्वचित् फलं दृश्यत इत्यत आहुः पुष्टाविति । पुष्ट्यंगीकारे तु भगवान् विलम्बं
नैव कुर्यात्, तेन शीघ्रं फलसिद्धिरित्यर्थः ।

रजस्तमोभ्यां मनसः क्षोभेपि एतदेव साधनं कर्तव्यत्वेन द्रष्टव्यमित्याहुः गुण-
क्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

मम निश्चय एतावानेवेत्याहुः मे मतिरिति ॥ ७ ॥

ननु साधनानां बहूनां सत्त्वात् किमिति एतदेव साधनमित्यत आहुः कुसृष्टिरत्रेति ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

अत्रास्मिन्फले कुसृष्टिः कुत्सितानां साधनानां या सृष्टिः कल्पना उत्पन्ना स्यात्
सा भ्रम एव इत्यर्थः ॥ ७ ॥

सेवाफलोक्तिविद्युतेः स्वाचार्याणां यथामति ।

कृता कल्याणरायेण विद्युतिः स्वसुखाय च ॥ १ ॥

इति श्रीवल्लभचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता सेवाफलोक्ति-
विद्युतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सेवाफलम् ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविद्युतिटिप्पणीसमेतम् ।

स्वमार्गोक्ततनुवित्तजायाः सेवाया मानसीसेवाफलमिति सिद्धान्तमुक्तावल्यां श्रीमदा-
चार्यचरणोक्तेर्निबन्धे तु भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यत इत्युक्तेः सन्दिहानान्
स्वानुपदिशन्ति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी यत्प्रकारिका सेवना सेवा प्रोक्ता स्वग्रन्थेषु पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादामर्या-
दाभेदैर्मया विविच्योक्ता तत्सिद्धौ तस्यां स्वफलजननस्वरूपयोग्यतायां सत्यां तत्प्रकारकं
फलमुच्यत इत्यर्थः ।

तत्र प्रथमं भगवदर्थं निरूपधिसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि
जाते यन्मुख्यं फलं भवति तदाहुः ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

अलौकिकस्य स्वरूपानन्दस्य, दाने वितरणे, हि निश्चिते सति, तथा च
भगवतश्चिकीर्षिते सतीत्याशयः । आद्यः स्वरूपानन्दानुभवात् प्रथममुत्पन्नो मनोरथः
'यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले गोपिकानां तु' इत्यादिना निरूपितस्वरूपो
लिप्साविशेषः सिध्येत् सद्विषयकः स्यादित्यर्थः । इत्थञ्च प्रेमोत्पत्त्या सिध्येत् तद्विषयकः
स्यादित्यर्थः । चेति मनोरथश्च स्यात् सिद्धश्च स्यादित्याशयः । इत्थञ्च प्रेमोत्पत्त्यनन्तरं
भगवतः स्वरूपानन्ददित्सायां फलरूपस्वविषयसहितस्य मनोरथस्योत्पत्तिः । दित्साया
अभावे तु तदनुत्पत्तौ पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवायाः पुरुषोत्तमसायुज्यं फलं भवतीति ध्येयम् ।
वक्ष्यन्ति चेममर्थं न त्वाद्ये दातृता नास्तीत्यनेन ॥ १ ॥

एवं पुष्टिपुष्टिभजनस्य फलमुक्त्वा पुष्टिमर्यादामर्यादाभजनयोः फलमाहुः ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः ।

फलं पुष्टिपुरुषोत्तमसायुज्यं पुष्टिमर्यादाभजनफलमित्यर्थः । वेत्यनादरे । अधिकारो

रमाप्रार्थितवैकुण्ठक्षीरोदश्वेतद्वीपेषु भगवत्सेवायोग्यदेहप्राप्तिः मर्यादाभजनफलमित्यर्थः ।
नेति । अत्र फलत्रये कालो न प्रतिबन्धक इत्यर्थः ।

विघृतौ सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवौपयिकदेहो
वैकुण्ठादिष्वित्यनेन निघामक इत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । अलौकिकसामर्थ्य-
मलौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेत्यर्थः ।

मूले सेवायां प्रतिबन्धकान्यपराण्याहुः ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

उद्वेगः श्रवणे कीर्तने भगवद्दर्शनसेवायां च जराव्याधिजनितापाटवेन स्वतो-
प्रवर्तमानानामिन्द्रियाणां प्रसङ्ग प्रवर्तनाद्विक्षेप इत्यर्थः । प्रतिबन्धो वेदनिन्दा म्लेच्छव-
लिष्ठबहिर्मुखजनितोपद्रवश्च, साधारणो भगवत्कृतो बाहिर्मुख्यरूपश्चेति द्विविधो-
पीत्यर्थः । भोगो रूपरसगन्धशब्दस्पर्शानां लौकिकविषयाणामत्यासत्तया सेवनमित्यर्थः ।
त्विति । एतन्नयं तु प्रतिबन्धकं भवेदेव । कालस्तु न स्यादित्यर्थः ।

विघृतौ सेवायां प्रतिबन्धकत्रयं उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वेत्यनेन
बाधकमित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः ॥ २ ॥

मूले प्रतीकारमाहुः बाधकानामिति ।

बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम् ।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ३ ॥

बाधकानामुद्वेगसाधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगसाधनानां परित्यागः कर्तव्य
इत्यर्थः । तत्र उद्वेगसाधनं प्रसङ्गेन्द्रिययोजनम् । वेदनिन्दायाः म्लेच्छकृतोपद्रवस्य
बलिष्ठबहिर्मुखकृतोपद्रवस्य च जननात् साधारणप्रतिबन्धसाधनं स्वस्मिन् भक्तत्वस्फूर्ति-
निबन्धनो हठगर्वविशेषः । लौकिकभोगसाधनं रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः । तथा च
तत्साधनत्रयं त्यजेदित्यर्थः । लौकिकालौकिकसाधनयोलौकिकभोगसाधनस्य त्यागः
कर्तव्यो न त्वलौकिकभोगसाधनस्येत्याहुः भोग इति । भोगे यत्साधनद्वयं तत्रैकं
तथा तादृशं लौकिकभोगरूपं प्रतिबन्धजननात् त्यक्तव्यमित्यर्थः । परं द्वितीयं साधनं पूर्वोक्तप्रे-
मान्तसेवारूपं निष्प्रत्यूहं निर्गतः प्रत्यूहः प्रतिरूपो भोगो यस्मात्तत्तथा । एवञ्च त्यागहेतोः
प्रतिबन्धस्याजननात् त्यक्तव्यमित्यर्थः । ननु भोगः प्रतिबन्ध इत्युक्तम् । तथा च तज्जननात्
कथं न त्यक्तव्यमत आहुः महानिति । पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवालक्षणं साधनं कारयित्वा
भगवता दत्तो दुःखविशेषसुखविशेषानुभवलक्षणो 'यच्च दुःख' मित्यादिना निरूपितस्य मनो-
रथस्य विषयतामापन्नो भोगो महान् खेष्टतम एवेत्यर्थः । कथमिष्टतमत्वमत आहुः प्रथम

इति । प्रथमे उत्तमफले विशते प्रविष्टो भवति । तथा च फलरूपः । अत एव न प्रतिबन्धरूप
इति । तत्साधनं न त्यक्तव्यमिति भावः । रसिकानुभवाद्देव'मान्तरं तु महाफल'मिति श्रीमदा-
चार्यचरणोक्तिरानुसन्धेयेति दिक् । भोगेपीत्यपिशब्दात् प्रतिबन्धेऽप्येकमेव त्यक्तव्यम् ।
द्वितीयस्य तु भगवत्कृतत्वेन तत्त्यागस्य शशविषाणायमानत्वादिति ध्येयम् ।

विघृतौ त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । साधा-
रणो भगवत्कृतश्च । तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्यः । अलौकिकभोगस्तु फलानां
मध्ये प्रथमे प्रविशतीत्यनेन विशत इत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । त्रयाणां साधनेति
साधनपरित्यागान्मूलोच्छेदो भवेदतः पुनरुद्गमो न स्यादित्याशयः । तथा च यत्रैतन्नित्यस्य
त्याग उच्यते तत्र साधनसहितस्य त्यागो ज्ञेय इत्यभिप्रायः । त्याज्य एवेति । लौकिक-
भोगस्तु असन्दिग्धं त्याज्य एव, परन्तु अलौकिको न त्याज्य इत्याशयः । तत्राद्य इति ।
साधनसहितस्त्याज्यः । तथा च साधारणप्रतिबन्धसाधनस्य गर्वविशेषस्य बुद्ध्या त्यागात्
ससाधनस्यापि तस्य त्याग इत्यर्थः ॥ ३ ॥

मूले भगवत्कृतप्रतिबन्धे यत् कर्तव्यं तदाहुः ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

हि निश्चयेन सर्वथा सर्वप्रकारैर्भगवतः सर्वसमर्थस्यापि चेदकर्तव्यं फलदानं
न चिकीर्षितं चेदित्यर्थः । ननु भगवदीयकुलोत्पन्नस्य पित्रादिशिक्षया बाल्ये कृतभगवत्सेवा-
कस्यानवरतमसच्छास्त्राभ्यासादाविर्भूतबाहिर्मुख्यस्यापि 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्व-
नुष्ठिता'दिति वचनात् सेवामेव निर्वन्धेन हठेन कुर्वतः किं स्यादत आहुः गतिर्न हीति ।
प्रतिबन्धस्य जागरूकेत्वाद्यावरफलाभाव इत्यर्थः ।

विघृतौ भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति
मन्तव्यम्, तदान्यसेवापि व्यर्थेत्यन्तेन 'नही'त्यन्तो ग्रन्थो व्याख्यातः । तथाचोक्तं
निबन्धे 'सर्वथा चेद्भरिक्पा न भविष्यति यस्य हि । तस्य सर्वमशक्यं स्यान्मार्गोस्मिन्सुत-
रामपी'ति मूलमुक्त्वा स्वयमेव व्याचक्षिरे 'परमत्र न सर्वेषां मुख्यफलाधिकारः, किन्तु
येषु भगवत्कृपा । कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयत' इत्यनेन । इत्यञ्चैतन्मार्गारुचिरेव
भगवत्कृतप्रतिबन्धः । इदमेव बाहिर्मुख्यमिति विभावनीयम् । 'बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं
प्रसीदत्विति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेरेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य
उन्निनीषति एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषती'ति श्रुतेश्च भगवानेवासच्छास्त्र-
प्रवर्तनेनासुरावेशं सम्पाद्य बाहिर्मुख्यरूपं प्रतिबन्धं करोतीत्यप्यनवरतं निरन्तरमनुसन्धेयम् ।

तदान्येति । यदा बाहिर्मुख्यमाविर्भूतं तदा कृता तु व्यर्थैव । किन्त्वन्या वृत्ते कृता सापि व्यर्था निःफलेत्यर्थः ।

मूले अतः परं तेन किं विधेयमत आहुः ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

यथा यत्प्रकारको वा विकल्पेन तत्त्वनिर्धारस्तज्जीवनिष्ठस्यासुरत्वस्य निश्चयः । तथा च आवेशासुरत्वनैसर्गिकासुरत्वयोर्बाह्यशासुरत्वप्रकारको निश्चयस्तस्मिन् सति विवेको ज्ञानं साधनं शोकात्पत्तौ कारणं मतं सर्वप्रमाणसम्मतमित्यर्थः । वेति विकल्पवाचकमव्ययं देहलीदीपन्यायेनोभयत्रान्वेति । तथा च तत्त्वनिर्धारोपि वैकल्पिकः, साधनमपि वैकल्पिकमेव । इत्यञ्चावेशासुरत्वप्रकारको यदि निश्चयः तदा संसृतिरेवेतिभावः । वक्ष्यन्ति चेममर्थं द्वितीये सर्वथेत्यनेन ।

विवृतौ तदा आसुरोऽयं जीव इतिनिर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तद्व्यं शोकाभावाद्येतिविवेक इत्यनेन मतमित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । तदेति । यदा बाहिर्मुख्यमाविर्भूतं तदैवेत्यर्थः । विवेकः साधनमिति व्याचक्षते । तदा ज्ञानेनेति । यथावेशासुरत्वनिर्धारस्तदा ज्ञानमार्गेण ज्ञानजनकोपायेन स्यात्तद्व्यं वर्तितव्यम् । शोकाभावाय शोकात्पत्त्या इति । अस्मिन्नर्थे विवेकः साधनं भवतीत्यर्थः । तथा च सत्यलोकस्थितिरक्षरानन्दो वा नास्य फलमिति भावः । यद्यप्येवंविधदुर्भगः स्वमार्गबाहिर्मुखोन्धतमः प्रेक्षितां, का क्षतिः ? तथापि स्वमार्गीयभगवद्भक्तरेतोऽजन्तुरयमिति तदुद्भवदयार्द्रहृदयाः श्रीमदाचार्यचरणास्तादृशेषुपदिशन्तीति ध्येयम् ॥ ४ ॥

मूले लौकिकभोगस्य साधारणप्रतिबन्धस्य च त्यागे प्रयोजकं रूपमाहुः ।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ ।

सविघ्न आधिव्याधिलक्षणप्रैत्यूहसहितः । अल्प आशुतरविनाशीत्यर्थः । साधारण इति । साधारणो वेदनिन्दादिः । साधारणप्रतिबन्धस्य तदाहुः घातेति । घातकः घातजनकः । बलात् सामर्थ्यात् । स्यात् भवेत् । तथा च साधारणप्रतिबन्धो बलवद्घातकः स्यादित्यर्थः । तथा हि वेदनिन्दात्वस्य बलात् हीनेषु जन्मरूपं घातं करोति । म्लेच्छबाहिर्मुखकृतोपद्रवादस्य सर्वस्वहानिं शरीरघातं च बलादेव कुर्वते । अतो हेतोः साधारणप्रतिबन्धोत्पत्त्यात् सविघ्नत्वाच्च भोगः सदा निरन्तरमेतौ प्रतिबन्धकौ मतौ साधनसहितौ त्याज्यत्वेन सम्मतादिति भावः ।

विवृतौ साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहुः सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति । सविघ्नत्वाद्दल्पत्वाद्भोगस्त्याज्यः । एतौ

सदा प्रतिबन्धकावित्यनेन मतावित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । साधारण इति । साधारणो वेदनिन्दादिः साधारणप्रतिबन्धः भोगो लौकिकरूपरसादिसेवनं कथं कुतो हेतोरित्यर्थः । सविघ्नत्वादिति । द्वाभ्यामाभ्यां हेतुभ्यां भोगस्त्याज्यः । शिष्टाद् घातकत्वरूपाद्धेतोः साधारणः प्रतिबन्धस्त्याज्य इत्याशयः । ननु सविघ्नत्वमल्पत्वं च भोगापकर्षजनकम्, न तु सेवायाः । तथा साधारणप्रतिबन्धनिष्ठं घातकत्वं चतुर्वर्गस्यापकारजनकम्, न तु विशिष्यं सेवाया एवेति किमनयोः त्यागप्रयोजकं रूपमित्याशंकायामाहुः एताविति । प्रतिबन्धकत्वमेव त्यागप्रयोजकम् । सविघ्नत्वादिकथनं तु भोगसाधारणप्रतिबन्धस्थदोषोद्घाटनार्थम् । तथा च सेवाप्रतिबन्धकत्वाच्च त्याज्यावेव । निरसर्गदुष्टत्वादपि त्याज्यावित्याशयोनुसन्धेयः ।

आवेशासुरस्य विवेकसाधनमिति प्राशुक्तमिदानीं नैसर्गिकासुरस्य का गतिरित्याकांक्षायामाहुः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

अस्योत्पत्तिकाल एव भगवताऽसुरत्वसम्पादनान्नैसर्गिकासुरः । तथा च भगवान् तस्मिन् तदानीमेव स्वमार्गात् सर्वप्रामाणिकमार्गेभ्यश्च बाहिर्मुख्यलक्षणप्रतिबन्धं कृतवान् । इत्यञ्च वेदनिन्दादिसाधारणप्रतिबन्धाद् द्वितीये भगवत्कृते एवंविधप्रतिबन्धे निर्धारिते सतीत्यर्थः । चिन्ता जन्ममरणदुःखनिवृत्तिर्मम केन प्रकारेण स्यादिति विचारः सर्वथा सर्वप्रकारेण प्रमाणैर्युक्तिभिश्चेति यावत् । सा त्याज्या न कर्तव्या । तत्र हेतुः । संसारनिश्चयात् । संसृतेरवश्यंभावस्य निश्चितत्वादित्यर्थः । तथा च 'दैवी सम्पद्मोक्षाय' 'निबन्धायासुरी मता' इत्यादिप्रमाणैस्तस्मादपरिहार्यैर्न त्वं शोचितुमर्हसी'त्यादिप्रामाणिकयुक्तिभिश्चाधेः समाधिः सम्पादनीय इति भावः ।

विवृतौ ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाहुः द्वितीय इति । द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इत्यनेन निश्चयादित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । ज्ञानेति । 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा' इति भगवद्भचनात् सहजासुराणां ज्ञानमार्गेपि स्थितिर्न भवतीत्याशयः ॥ ५ ॥

मूले 'अलौकिकस्य दाने ही'त्यनेन भगवतः स्वरूपानन्ददित्सायां मनोरथः सफलो भवेदित्युक्तम् । यदि स न सिध्येत् तदा का गतिरित्याकांक्षायामाहुः ।

न त्याये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

नाये त्वित्यन्वयः । तथा चाद्याभावे त्वित्यर्थः । इत्यञ्च तत्फलमनोरथाभावे तु भगवतो भजनानन्ददित्सा नास्तीति भावः ।

विवृतौ आव्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति तदा सेवा नाधिदैविकीत्युक्तं भवतीत्यनेन नास्तीत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । न त्वाद्य इति मूलमाद्यफलाभाव इत्यनेन व्याख्याय दातृता नास्तीति मूलं व्याचक्षते भगवतो दातृत्वं नास्तीति । फलितार्थमाहुः तदेति । यदा फलसहितस्य मनोरथस्याभावस्तदाधिदैविकीसेवाभजनानन्दो न भवेदिति । अयमर्थो न त्वाद्ये दातृता नास्तीति मूलेन कथितोस्तीत्यर्थः । इत्थञ्च प्रेमान्तसेवया पुरुषोत्तमसायुज्यं भवतीति भावः ।

मूले बाधकानां परित्यागइत्यनेन तत्साधनत्यागपूर्वकस्तत्प्रतिबन्धकतत्याग उक्तः । तत्र लौकिकभोगसाधनीभूतरूपसगन्धस्पर्शशब्दानां त्यागे प्रतिबन्धकमाहुः तृतीये बाधकं गृहम् । भोगस्य तृतीयप्रतिबन्धकत्वात् तत्साधनमपि तृतीयं साधनं तत्परित्यागोपि तृतीयः परित्यागः । तथा च तस्मिन् गृहं प्रतिबन्धकमित्यर्थः । इत्थञ्च रूपादित्यागो गृहत्यागाधीन इति भावः ।

विवृतौ भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इत्यनेन गृहमित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । भोगेति । भोगाभावः ससाधनभोगपरित्याग इत्यर्थः ।

मूले पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादाभजनानां फलं प्रतिबन्धकं तत्प्रतीकारं चोत्त्वा व्याख्याय चेदानीं सर्वामुपदिशन्ति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।

अवश्यं स्वस्व वश्या न । तथा च स्वकृत्यसाध्या भगवदनुग्रहैकसम्पाद्येति यावत् । इयं श्रीमदाचार्याणां हृदि अनवरतमुत्पद्यमानत्वात् साक्षात्कृतस्वरूपा भावनारूपा मानसी सेवा, सदा निरन्तरं, भाव्या सम्पादनीयेत्यर्थः । तथा च स्वरूपानन्दसाधनीभूतभावविशेषसिध्यर्थमनवरतं भावना कर्तव्येत्याशयः । इदमेव मनसः प्रधानं कार्यमित्याहुः सर्वमिति । मनसा यदन्यत् किञ्चित् प्रमारूपमपि कार्यं जन्यते तत् सर्वमपि भजनानन्दापर्यवसायित्वाद् भ्रम एवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

तर्हि चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः किं सम्पादनीयमित्याकांक्षायामाहुः ।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

मनसोनुचरैश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैस्तत्कार्यं मनःकार्यमेव सम्पादनीयम् । तथा च श्रीमदाचार्यमार्गपक्षपातादविरतं सेव्यस्वरूपेष्वविर्भूतस्य संकल्पप्रतिभातस्य वा भगवतो दर्शनसेवादिना स्वस्वव्यापारेण मनःकार्यरूपा भावनाख्या मानसी सेवा सम्पादनीयेति भावः । इत्थञ्च चक्षुरादिसर्वेन्द्रियैरपि स्वस्वव्यापारो भगवति सम्पादनीयो, 'भगवता सह संलग्न' इत्याद्युक्तप्रकारेणेति ध्येयम् । ननु कियच्चिरमेवंकृतिरतआहुः पुष्टाविति ।

पुष्टिर्भावः तस्मिन् सिद्धे सति स्वरूपानन्दः सत्त्वरमेव भवेन्न तु विलम्बं कुर्यादित्यर्थः । तथा च भावोत्पत्तिपर्यन्तमेवंकृतिरितिभावः ।

पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इतिन्यायात् कदाचित् कमपि प्रतिबन्धकमाशंक्य तत्प्रतीकारमाहुः ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणाः प्राकृतसत्त्वरजस्तमांसि, तत्कृतक्षोभो मार्गान्तररुचिः, लौकिकविषयलोभैतन्मार्गारुचय इत्यर्थः । एतदेवास्मदुक्तं 'भवश्येयं सदे'तिपद्यमेव द्रष्टव्यम् । तथा चैतत्पद्योक्तसाधनेनैव सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिरितिभावः । ननु सत्सु प्राकृतगुणेषु निरन्तरक्रियमाणायामपि भावनायां भावो नोत्पत्स्यत इति चेत् ? सत्यम् । यावत्कालं मनस्याविर्भूय भगवानन्तःकरणसम्बद्धो न भवति तावदविद्याया विद्यमानत्वाद् गुणा अपि सन्ति । तथा चानिश्चमेवंकृतौ कृपालुर्भगवानाविर्भूयान्तःकरणसम्बद्धः सन् अविद्यामेव नाशयेत्, तदा सुतरां गुणनाशः, ततो निरन्तराया भावोत्पत्तिरितिध्येयम् ॥ ७ ॥

सोक्तप्रमेये निःसन्दिहानेनैव श्रेयमिति खानुपदिशन्ति ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ।

कुसृष्टिः दूषणाभासः, अत्रास्मदुक्तौ, वेत्यनादरे, वस्तुतस्तु नोत्पत्स्यत एवेत्याशयः । काचिद्दुःसंगेन भगवदस्मरणनिबन्धनक्षणिकासुरभावेन वा काचिदुत्पद्येत जायेत चेद्, वै निश्चयेन, स तु भ्रम एव भ्रान्तिरेवेत्यर्थः । तथाचोत्तरक्षणोत्पत्स्यमानविशेषदर्शननाशत्वात्किञ्चित्करेतिभावः ॥ ७ ॥

**इति श्रीविठ्ठलेश्वरात्मजश्रीघनश्यामतनयश्रीगोपेशगोखामिविरचिता
सेवाफलविवृतिटिप्पणी सम्पूर्णा ॥**

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीदेवकीनन्दनविरचितविवृतिटिप्पणीसमेतम् ।

करुणाचार्यचरणवरुणं शरणं मम । यत्पथे सुकथे सेवाफलं कृष्णः प्रयच्छति ॥ १ ॥

ननु स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणसेवायाः फलान्तरकथनं कथमुपपद्यत इति चेत् । इत्थम् । यावज्जीवं तथा क्रियमाणसेवया देहावसाने जीवस्य या गतिर्भवति सात्र फलपदेनोच्यते । तच्च फलमाधुनिकभजनानुस्यूतसर्वात्मभावप्राप्यविशिष्टभजनानन्दात्मकमेवेति न तस्य सेवातिरिक्तत्वमायाति येन फलान्तरत्वमुच्येत । 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवर'मिति भगवद्वचनादन्ते या मतिः सा गतिरिति न्यायाच्च सेवाफलं सेवैवेति नोक्तविरोधः शंक्नीयः । तत् कीदृशं किमिति जिज्ञासायामाचार्याः किञ्चित् स्वमतसिद्धं तत् सार्धैः सप्तभिः श्लोकैर्निरूप्य सुगमत्वाय स्वयमेव विवृण्वन्ति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी सेवनेति । प्रोक्तेति । मयेत्यध्याहार्यम् । तेन स्वसिद्धान्ते यादृशी सेवना मया प्रोक्ता, तादृशी सेवना विवरणे वक्ष्यमाणफलप्राप्तिका भवति, न तु प्रमाणान्तरसिद्धा, मतान्तरसिद्धा वा तथा । अन्यथा तत्र तत्र क्वचिदुक्ता प्रसिद्धा भवेत् । अत्र तु साक्षादाचार्योक्तत्वादनुभवसाक्षिकत्वाच्च न काचिदसंभावनेति ज्ञाप्यते । सापि यावज्जीवमविच्छेदेन कृता, स्वफलदानं तु कियत्कालं कृत्वा परित्यक्तापीत्याहुः तत्सिद्धाविति । सिद्धिरत्र यावज्जीवं निर्वाहः । तदुक्तमाचार्यचरणैः 'सेवायां वा कथायां वे'ति । फलमिति । एकवचनं त्रितयाभिप्रायेणेत्याहुः सेवायां फलत्रयमिति । अत्रायं भावः । भक्तिमार्गे पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन जीवेषु भगवदंगीकारः त्रिविधः । तेनाधिकारिभेदेन सेवा त्रिविधा, ततः फलमपि त्रिविधं क्रमेणोक्तम् । तत्रादौ पुष्टिसेवाफलमाहुः अलौकिकसामर्थ्यमिति । अत्रायमाशयः । श्रीमद्वज्रजस्रोत्तरीत्या सर्वात्मभावैकलभ्यभजनानन्दानुभवलक्षणं फलमलौकिकमुच्यते । तस्येतरप्रमाणगोचरत्वमितरसाधनाप्राप्यत्वमलौकिकत्वम् । तदनुभवयोग्यतालक्षणोधिकारश्च सामर्थ्यपदेनोक्तः । तस्यातिगोप्यत्वाय तथोक्तिः । द्वितीयफलं सायुज्यम् । तदत्र पुरुषोत्तमे वेदितव्यम्, न त्वक्षरे । अक्षरसायुज्यं तु केवलमर्यादायां ज्ञानादिनापि भवतीति ततः पुष्टेर्विशेषकथनावश्यकत्वात् । सायुज्यानन्तरमपि पुष्ट्या कदाचिदाद्यमलौकिकं फलमपि भगवान् प्रयच्छेदित्यपि ज्ञेयम् ।

अन्यथा पुष्टिसेवाफलं सायुज्यमात्रं न वदेयुः । भक्तौ तद्वासनाया अभावात् । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति भगवन्नियमाच्च । तेन पुष्टिमर्यादायामादौ सायुज्यम्, मध्ये भजनानन्दानुभवः, अग्रे पुनः पूर्वसायुज्यमित्युक्तं भवति । अतो मध्यमफलत्वम् । तृतीयं फलं वैकुण्ठादिदेहः । आदिपदेन भूमावपि तथा भावनायां तादृशदेहप्राप्तिरुक्ता । तत्राप्युच्चनीचदेशभेदा बहुवचनेनोक्ताः । व्यापिवैकुण्ठस्य सायुज्यापेक्षया दुर्लभत्वेन साधारणफलत्वकथनस्यायुक्तत्वाद्वात्र रमाप्रार्थित एव स इत्यवगम्यते । तत्र कदाचिन्नाद्यफलसंभावनेति साधारणफलत्वम् । अत एव वैष्णवव्रतानामेकादश्यादीनां फलत्वेन स्मृतिपुराणेषु स एवोच्यते ।

ननु सायुज्यवैकुण्ठयोः प्रमाणसिद्धत्वेन तदर्थं जीवप्रयत्नः संभवति, आद्यफलस्य तु लोकवेदातीतत्वेन प्रमाणाद्यगोचरत्वान्न स्वकृतिसाध्यत्वम्, यत् पुनः तत्साधनं तस्यापि तथात्वम्, अतः कथमाद्यमनोरथः सिध्येदित्यत आहुः अलौकिकस्य दान इति ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥१॥ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

अलौकिकमाद्यफलं तस्य दाने, अर्थाद्भगवता कृते सति तन्मनोरथः सिध्येत्, न त्वन्यथापीत्यर्थः । आद्य इति । सायुज्यवैकुण्ठमनोरथापेक्षया स आद्य इत्यर्थः । अल्प इति पाठे यद्यपि लीलामध्यपातिभक्तानुभवैकवेद्यफलसंबन्धिमनोरथो जीवस्य साधनतः स्वरूपतश्चाल्प एव । अप्यर्थे चकारः । तथा चाल्पोपि तथापि स्वतः प्रभुदानेन तत्सिद्धिः । सिध्येदिति प्रार्थने लिङ् । आचार्यप्रार्थनया प्रभुः संपादयेदेवेति भावः । आद्यफलस्य स्वरूपैकसाध्यत्वे प्रसिद्धिमाह द्विशब्दः । ननु भगवानपि तादृशाधिकाराभावे मनोरथं कथं पूरयेदित्यत आहुः न काल इति । अत्र फले इत्यधिकारे वा ॥ १॥ ॥

अग्रे प्रतिबन्धकत्रयोक्तिरिह साधनदशायामेव । तदुक्तं मूले बाधकानां परित्यागेति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम् ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ३ ॥

तद्विवरणं त्रयाणां साधनपरित्याग इति । साधने सति स्वरूपतः त्यक्तुमशक्यत्वात् । भोगेऽप्येकमित्यादि विशते सदेत्यन्तविवरणं भोगो द्विविध इत्यारभ्य प्रविशतीत्यन्तेन । तदनुसारेण मूलमेवं योजनीयम् । त्यजेदिति क्रियापदमध्याहार्यम् । यथा प्रतिबन्धद्वये एकस्त्याज्योपरो न, तथा भोगेऽपि एकं लौकिकं भोगं त्यजेदपरमलौकिकं न । यतो निःप्रत्यूहमनन्तरायभूतम् । तत्र हेतुः महानिति । अलौकिकभोगः स्वरूपतो लौकिकत्वादल्पोपि फलतो महान्, अलौकिकत्वात् । अतो न त्याज्य इति भावः । अलौकिकत्वे निमित्तमाहुः प्रथम इति । प्रथमे आधुनिकभजने सदा निरन्तरं विशते, भजननिर्वाहकत्वेन तदंगतां प्राप्नोतीत्यर्थः । एतदेव विवरणे स्फुटीकृतम् ।

अलौकिकभोगस्तु फलानां सेवाफलांगभूतवस्तूनां मध्ये प्रथममङ्गं प्रतिबन्धा-
भावस्तत्र विशतीति न तत्यागः । तथा चोपपादितमेकादशस्कन्धे । 'कायेन वाचे'ति
श्लोकविवरणे ॥ ३ ॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

अकर्तव्यं भगवत इति श्लोकविवरणं भगवत्कृतश्चेत्यारभ्य विवेक इत्य-
न्तेन । अयमर्थः । आसुरस्यापि दैवाद्भगवदीयसंगे जाते सेवायां प्रवृत्तिर्भवति । तेन केन-
चित्प्रकारेणानिवार्यप्रतिबन्धे जाते स भगवत्कृत इति ज्ञातव्यम् । तेनाग्रे फलाभावश्च ।
तेनान्यकृतापि सेवा प्रतिबन्धात् पूर्वं कृता सापि व्यर्था । तस्यासुरत्वनिर्धारश्च । तदा
तज्जनितशोकाभावाय ज्ञानमार्गेण सर्वं तत्त्वं बुद्ध्या स्थितिः विवेकः साधनम् । यद्यप्यासुर-
प्रसंगोत्र न वक्तव्यः, तथापि कश्चिदेवं भगवदीयेष्वपि दृश्येत चेत्तदा तथा भावनीयम्, न तु
स्वीयस्य भगवानेवं करोतीति प्रभौ दोषारोपः कर्तव्य इति ज्ञापयितुं तदुक्तिरिति ज्ञायते ॥४॥

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

सविघ्नोल्प इत्यस्य विवरणे सविघ्नत्वादल्पत्वादिति । साधारणभोगः
सविघ्नो विघ्नसहितः । तादृशोऽल्पः, स्वरूपतः फलतश्च । सोपि न त्यज्यते चेत्तदा
घातकः सेवाप्रतिबन्धकः स्यात् । अतः सर्वथा त्याज्यत्वाद्बलादाग्रहादपि एतौ
साधारणभोगप्रतिबन्धकौ मतौ, त्याज्याविति शेषः । तदुक्तं विवरणे सदा प्रति-
बन्धकाविति । द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्धः । तत्र ज्ञानमार्गेण
स्थानव्यमिति चिन्तानिवृत्तिसाधनं पूर्वमुक्तम् । तदसंभवे साधनान्तरमाहुः द्वितीये
सर्वथेति श्लोकार्थेन । तदाभासो ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाहेति ।
तत्प्रतीकोग्रे द्वितीय इति । विवरणमाद्यफलाभाव इत्यादि भवतीत्यन्तम् ।
आद्यफलं जीवस्य दैवत्वं, तदभावे भगवतो दातृता नास्ति, तदा आधि-
दैविकी फलसम्बन्धिनी सेवापि नेत्यर्थादुक्तं भवति । तत्सर्वं द्वितीयप्रतिबन्धे जाते
ज्ञात्वा सर्वयोक्तफलविषयिणी चिन्ता त्याज्या । तत्र साधारणो हेतुः । संसारनिश्चया-
दिति । 'तानहं द्विपतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्' इति भगवदुक्तसंसारस्य निश्चया-
दन्यथा न भवतीति सर्वथेत्युक्तम् । न त्वाद्य इति । आद्ये पूर्वोक्तसाधारणप्रतिबन्धे
दातृता भगवतो नास्तीति न, किन्तु वर्तते, अतः तन्निवृत्तये चिन्ता कर्तव्या, न तु
द्वितीय इव सर्वथा त्याज्येति भावः । एवमाद्यद्वितीययोर्व्यवस्थामुक्त्वा तृतीयः साधारण-

भोगकृतः प्रतिबन्धस्तत्र कर्तव्यमाहुः । तृतीये बाधकं गृहमिति । अलौकिकभोगेन
साधारणभोगपरित्याग आनुषंगिकः पूर्वमुक्तः । अन्यथा अलौकिकभोगो न स्यात् । उभयो
रेकाधिकरणत्वाभावात् । यदि साधारणभोगं त्यक्तुं न शक्यात् तदा सेवाप्रतिबन्धकत्वेन
तन्मूलभूतं गृहं त्यजेदित्याशयेन तद्विवरणं भोगाभावस्तदेत्यादि ।

ननु त्यागतः प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रेण सेवाया असम्भवे तदधिकारिणां कथं तत्फल-
प्राप्तिः । तदभावे च द्वितीयतुल्यता स्यात् । जीवस्य दैवत्वमपि व्यर्थं भवेत् । तस्मादत्र
त्यागोक्तित्वात्पर्यं किमिति न बुध्यत इति चेत्, इदमाभाति । सेवाधिकारिणां मध्ये येषां
गृहमनुकूलम्, तेषामन्यतः प्रतिबन्धः साधारणः, तेन तन्निवृत्तिः कर्तुं शक्या । ततः सेवया
तत्फलप्राप्तिः । भोगश्च तेषामप्रतिबन्धहेतुरलौकिकत्वादिति पूर्वमुक्तम् । येषां पुनः
गृहमेव प्रतिबन्धकम्, तेषां तत्परित्यागादेव लौकिकभोगनिवृत्तिः । त्यागोपि सन्न्यासनिर्ण-
योक्तप्रकारेण भक्तिमार्गीयो ज्ञेयः, न तु कर्ममार्गीयो ज्ञानमार्गीयो वा । एवं सति तत्फल-
प्राप्तिरग्रे तेषामपीतिमनने तु नोक्तविरोधः शकनीयः ॥ ५॥ ॥

अग्रिमश्लोकद्वयस्य विवरणाभावादेवं योजना ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

इयमुक्तरीतिः । अवश्यं स्वतो भावयितुमशक्यापि मदुक्तत्वात् सदा
भाव्या । अवश्यं भाव्येति वा । यत्र यथा दृश्येत तत्र तथा भाव्येत्यर्थः । ततः किमि-
त्यत आहुः सर्वमिति । उक्तरीतितोन्यत् सर्वं मनोभ्रम इति ज्ञायत इत्यर्थः ।
सर्वैः कथमेवं नांगीक्रियत इत्याशंक्याहुः तदीयैरिति । भ्रमसंबन्धिभिरासुरैस्तत् कार्यं
कर्तव्यमित्यर्थः । भक्तिमार्गीयैस्तु मदुक्तिभावनायां विलम्बो न कर्तव्य इत्याहुः पुष्टौ
नैवेति । कदाचिदासुरस्यापि सेवाप्रतिबन्धे जातेपि भगवद्गुणश्रवणादिना प्रेमलक्षणं
पुलकादि दृश्यते तत्र किं भावनीयमित्यत आहुः गुणक्षोभेपीति । क्षोभोऽश्रुपुलकादिः, स
तु गुणवस्तुस्वभावादासुरस्यापि भवतीति गुणमाहात्म्यमेव । अत एतत्पूर्वोक्तमेव तत्रापि
द्रष्टव्यं भावनीयमित्यर्थः । उक्तविश्वासार्थमाहुः मे मतिरिति । मतिः सम्मतिः ।
भ्रमस्वरूपमाहुः कुसृष्टिरिति ॥ ७॥ ॥

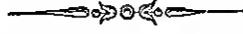
यथामति कृता सेवाफलोक्तिविवृतौ मया । टिप्पणी पर्वणीवेन्दुः प्रकाशयतु सर्वतः ॥ १ ॥
यदत्रानुचितं किञ्चिदलेखि मतिमान्यतः । क्षम्यतां तत्प्रहस्यार्थैः शिशौ धूर्तमिवेप्सितम् २

इति श्रीदेवकीनन्दनकृता सेवाफलोक्तिविवृतिटिप्पणी समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीहरिरायकृतसेवाफलोक्तिविवृतिसमेतम् ।



श्रीकृष्णं कुलदैवतं तदनु च श्रीवल्लभाख्यान् निजान् ।
आचार्यानिथ विठ्ठलेश्वरमहं नत्वा प्रभुं सर्वथा ॥
श्रीगोविन्दमतीवभावविवशं तातं स्वमर्यादया ।
ख्यातं मत्फलजातहेतुमधुना किञ्चिद्दाम्यक्षमः ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्याः स्त्रीयानां बहुलग्रन्थावलोकनप्रयासमसहमानाः संक्षेपेणैव स्वमा-
गीयसेवाफलप्रतिबन्धसाधनानि निरूपयन्तः प्रथमं फलं निरूपयन्ति यादृशी सेवनेति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी यादृक्प्रकारिका स्वतःपुरुषार्थत्वेन कालपरिच्छेदेनावश्यकर्तव्यत्वेना-
करणे प्रत्यवायजनकत्वज्ञानेन क्रियमाणस्वसाधनभूततनुवित्तयुतसेवाद्वययुतमानससेवना भा-
वरूपा सदानन्दसेवा मया प्रकर्षेण मुख्यतया फलरूपतया चोक्ता निरूपिता सिद्धान्त-
मुक्तावल्यां 'चेतस्तत्प्रवर्णं सेवे'ति । तस्याः सिद्धौ यावज्जीवनिर्वाहेण प्रपञ्चविस्मृतियु-
ततदासक्त्या व्यसनरूपत्वसिद्धौ यत्फलं तदुत्पाद्यं फलत्वेनाभिमतम्, तदुच्यते
निरूप्यत इत्यर्थः । ननु सेवायाः सर्वत्र ग्रन्थेषु फलरूपत्वोक्तेस्तत्फलोक्तिरनुपपन्नेत्याशं-
क्याहुर्विवरणे सेवायां फलत्रयमिति । सेवायामेव क्रियमाणायामेतत्रयं भवतीति ।
तदुत्तरमपि सेवासत्त्वेन तन्मध्यपतितया न तस्याः स्वतःपुरुषार्थत्वहानिरित्यर्थः । अत
एव सेवायामित्यत्र षष्ठीमनादृत्य सप्तमी विभक्तिरुक्ता । तत्रयमेवाहुः अलौकिसामर्थ्यं
सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति । तत्रालौकिकसामर्थ्यं हि भगवतः
कोटिसूर्याग्निरूपस्यात्यन्तिकफलदित्सायां सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रभोर्हृदयप्रवेशे तदनुभव-
सामर्थ्यम् । तच्च न शरीरान्तरे सम्भवतीति तादृशसामर्थ्यवच्छरीरप्राप्तिर्भ्रम्या । सा च
प्रभुणैवापारकरणेनैव सम्पाद्यत इति प्रभुसंपादितालौकिकशरीरनिष्ठस्वरूपानुभवक्षमसामर्थ्य-
मेव प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यं मुख्यं फलमित्यर्थः । अत एवोक्तं प्रभुभिः श्रीयमुनां प्रति
प्रार्थयद्भिर्भमास्तु तव सन्निधौ तनु नवत्व'मिति । नवत्वं च तादृक् सामर्थ्यमेव । अत एव
तनुनवत्वमेवोक्तं न तु नवतनुत्वमिति । तथा च यथा व्रजरत्नानां सर्वदा लीलासुखमनु-

भवतामन्ते तादृक् सामर्थ्यमेव सम्पादितं येन स्वदत्तस्वरूपानुभवो निष्प्रत्यूहं भवति
नान्यावस्था । तथान्यत्रापि तदनुग्रहतः परमानुरागेण तथा फलदित्सायां पूर्वदेहं
स्ववियोगाग्निना शुद्धं विधाय तस्यैवालौकिकत्वं सम्पाद्य तत्र तादृक् सामर्थ्यं प्रकटयती-
त्यलौकिकसामर्थ्यमेव मुख्यं फलमितिभावः ।

प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यं मध्यमं फलमाहुः सायुज्यमिति । सह युनक्तीति
सयुक् तस्य भावस्तत्त्वम् । भगवता सह सततस्थितिरेव सार्वदिकसंयोगरसानुभव इति
यावत् । तथा च लक्ष्मीवदन्तर्हृगोपिकावद्वा भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपदखिलपुण्य-
पापक्षयद्वारा पाञ्चभौतिकदेहं निवर्त्यालौकिकं दत्त्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो
निष्कास्य खलिलानुभवः प्रभुकारितो मध्यमं फलमिति भावः । मध्यमत्वं चास्य
विप्रयोगरसानुभवमपेक्ष्य तदुत्कर्षस्य सहृदयानुभवसाक्षिकत्वात् ।

उभयसाधारणमधिकाररूपं तृतीयं फलमाहुः सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठा-
दिष्विति । सेवायां क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात् सेवानुपयोगे अन्यैः
तादृशसाक्षाद्रसानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायाम् सेवाया उप समीपे योगः, तद्वत्पक्ष्यादि-
शरीरप्राप्तिस्तृतीयं फलमित्यर्थः । तस्य चान्तररमणानुकूलत्वात् फलत्वम्, बहिः साक्षात्
सम्बन्धाभावादधिकाररूपत्वमित्यर्थः । अत एव 'प्रायो वताम्बे'त्यत्र मुनीनां पक्ष्यादिश-
रीरप्राप्त्या स्वाधिकारानुसारेण सेवा तद्रसानुभवयोग्यता चेति निरूपितम् ।

एवं फलत्रयं निरूप्य आद्यफलस्य दुर्लभत्वं निरूपयन्तः फलत्रैविध्ये हेतुं च
समर्थयन्तो दानमात्रसाध्यत्वं प्रथमफलस्य निरूपयन्ति अलौकिकस्येति ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्ननोरथः ॥ १ ॥

अलौकिकस्य स्वविरहानुभवक्षमसामर्थ्यस्य दाने भगवता स्वाग्रहेण दुःखानु-
भवरूपतया तदनिच्छायामपि तथा सम्पादने, चकारात् तदेहेन्द्रियादिषु स्वस्वरूपस्थापने
सति आद्यः प्रथमफलविषयकः संस्काररूपसमर्पणसमयक्रियमाणो मनोरथस्ताप-
क्लेशानन्दप्राप्तिरूपः सिध्येदित्यर्थः । हीति युक्तोयमर्थः । यतो लीलास्थितेष्वपि
केषाञ्चिदेव रासमण्डलमण्डनायमानानां तद्दानम् । अत एवान्तर्गृहगतानां प्रतिबन्ध इत्यतः
केवलप्रभुदानैकसाध्यत्वमिति भावः ॥ १ ॥

अतः परं सायुज्यसेवोपयोगिदेहाप्तिरूपयोः फलतदधिकाररूपमध्यमावान्तरफलयोः
पूर्वफलवदनियतत्वाभावात् कदाचित् कालसाध्यत्वं ज्ञानादीनामिवाशङ्क्येत तदभावार्थमाहुः
फलं वा ह्यधिकारोवेति ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

फलं सायुज्यम् । अधिकारः सेवोपयोगिदेहाप्तिः । अत्रैतदुभयोः फलयोः

कालो न नियामकः सत्यादिरूपः फलदः कलिरूपः प्रतिबन्धको वा नेत्यर्थः । एतेन कालानियम्यत्वेनैतत्फलस्य नित्यत्वमपि सूचितम् । अत एव कपिलदेवैरपि 'नो निमिषो लेडि हेतिरि'ति निरूपितम् । अत्र वाशब्दद्वयमधिकारस्यापि फलरूपतया तत्समकक्षत्व-
बोधनाय ।

एवं सोपपत्तिकं फलत्रयं विविच्य प्रतिबन्धकत्रयं विवेचयितुं निरूपयन्ति उद्वेग इत्यादि ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

मूले बाधकमित्येकवचनेन मिलितानामेव बाधकतेत्याशंक्याहुः विवरणे सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति । उद्वेगो नाम मनसः सेवायां क्रियमाणायामुत्कृष्टो वेगः सर्वथा तत्रास्थिरता बाहिर्मुख्यमिति यावत् । स च सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकतया प्रतिबन्धकः । तस्मिन् सति क्रियमाणसेवायाः केवलकायिकीत्वान्मानसीत्वाभावेन प्रतिबन्धेनानाधिदैविकीत्वात् । एवमुद्वेगं निरूप्य प्रतिबन्धभोगौ निरूपयन्तः अथमं प्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन पाठक्रममनपेक्ष्यार्थक्रमेण भोगं निरूपयन्ति भोगो द्विविध इति । भोगे द्वैविध्यं लौकिकालौकिकभेदेनेति तदाहुः लौकिकोऽलौकिकश्चेति । तत्र लौकिको लौकिकपदार्थानां भगवत्सम्बन्धरहितानां स्वत आसक्त्या भोगः । अलौकिकस्तु प्रभुसम्बन्धी । स तु प्रतिबन्धक एव न भवति । तस्य फलानां मुख्यमध्यमसाधारणानां मध्ये प्रथमफलेऽलौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानुभवरूपरसभोगे प्रवेशात् । यतः सर्वेन्द्रियैस्तत्सम्बन्धिपदार्थेष्वनुभूयमानेषु तत्र तत्र स्थितो रसात्मा प्रभुरेवानुभूयत इति भावः । एवं भोगं निरूप्य प्रतिबन्धं निरूपयन्ति प्रतिबन्धोपीति । साधारणः सर्वसाधारणः, सेवायां लौकिकवैदिककार्यान्तरव्यासक्तिः । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्यासुरमात्रविषयत्वेनासाधारणत्वादनित्यत्वेनावक्तव्यत्वाच्च त्रय एव बाधका उद्वेगलौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धा इत्यर्थः । ननु कथमेतेषां सिद्धानां त्याग इत्याशंक्याहुः त्रयाणामिति । उद्वेगलौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धकानां त्रयाणां साधनं तज्जननहेतुभूतं तस्य परित्यागः कर्तव्यः, हेतुच्छेदे पुरुषव्यापारात् । सिद्धस्य स्वरूपलाभे त्यागानर्हत्वात् । नहि केनापि स्वसामग्रीसम्पादितं सुखदुःखादि किञ्चिदपि स्वयत्नशतेनापि त्यक्तुं शक्यते । ननु साधारणप्रतिबन्धे सेवायां लौकिकवैदिककार्यापत्तिरूपे साधनस्य लोकवेदसिद्धतयाऽशक्यत्यागत्वात् कथं तत्याग इत्याशंक्य तदुपायमाहुः तत्राद्य इति । तत्र साधारणभगवत्कृतप्रतिबन्धयोराद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायचातुर्येण त्याज्य इत्यर्थः । बुद्धिस्तु सेवायां प्रतिबन्धत्वेन यदापतति लौकिकं वैदिकं तस्य पूर्वमेव सेवानवसरसमयमवेक्ष्य निर्धारो विधेयो यथा न सेवां प्रतिबन्धाति । तथा च पुत्रविवाहादेस्तथैव लग्नादि विधारणीयम्

१ फलेषु प्रथमफले अलौकिकसामर्थ्ये तत्प्रवेशस्य वक्तव्यत्वात् प्रवेशश्चालौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानुभवस्य रसभोगरूपत्वादिति पाठान्तरम् । २ लाभेनेति वृत्तीयान्तः पाठः ।

यथा न सेवाप्रतिबन्धः । परोपकारादेस्तु धर्मस्य गौणधर्मत्वज्ञानेन त्यागः । कालान्तरे वा करणम् । एवमन्यत्रापि सर्वत्र हरिचरणरतिप्रतिबन्धविभङ्गनी बुद्धिरनुसन्धेया । यद्वा । कदाचिदावश्यकलौकिकवैदिककार्यापाते तत्प्रयत्नसम्भवेन त्यागः कथं शक्यत इत्यत आहुः बुद्धयेति । शरीरादिना तत्कार्यकरणेपि तत्र बुद्धिर्न स्थाप्येत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं साधारणप्रतिबन्धं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धं निरूपयन्ति ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

अकर्तव्यमिति मूले । विवृत्तौ भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इति । भगवतः सर्वसमर्थस्यापि स्वतन्त्रेच्छतया यस्मिन्न किञ्चिदपि कृतिविषयः सर्वथा सर्वप्रकारेण प्रार्थनायामपि तदा गतिर्निस्तारो न सर्वथा फलाभाव इत्यर्थः । हीति युक्तोयमर्थः । सर्वमार्गफलदातुः प्रभोः प्रातिकूल्ये केनापि मार्गेण फलासिद्धेः । अत्रायमाशयः । भक्तिमार्गे विशिष्टेच्छायाः कारणत्वान्न सामान्येच्छारूपमूलेच्छया मर्यादया वा फलासिद्धिः प्रतिबन्धो वा । किन्तु स्वयमंगीकृत्य यस्मिन् जीवे प्रभुर्यदा यथेच्छति, तदा तत्र तथा करोतीति वस्तुस्थितिः । तथा च भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य निरन्तरं सेवां कुर्वतोपि कदाचिदुःसंगादिनाऽतिपक्षपातिप्रभु-
प्रियप्रद्वेषेण तद्गोहे प्रभोरतिक्रोधेन प्रार्थनयापि क्षमासम्भावनारहितेन तस्मिन् प्रभुः फलप्रतिबन्धं करोतीति स भगवत्कृतप्रतिबन्धः । तस्मिन् सति सर्वथा सर्वमार्गफलाभाव इत्यर्थः । ननु भगवत्कृतप्रतिबन्धेऽप्यन्येषां फलदातृणां सेवया फलान्तरं भविष्यतीत्याशंक्याहुः तदान्यसेवेति । यदा 'फलमत उपपत्ते'रिति न्यायेन सर्वत्र फलदातुः प्रभोः प्रातिकूल्यं तदान्येषामपि तदधीनानां फलदानृत्वाभावात् तत्सेवापि फलासाधकत्वाद् व्यर्थेत्यर्थः । ननु सर्वथा फलाभाव आसुरेष्वेवेति कथं दैवस्य भगवत्कृतप्रतिबन्धे तथात्वमित्याहुः तदासुरोद्यमिति । जीवानां हि सृष्ट्यादावपि 'निबन्धायासुरी मते'ति वाक्येन भगवत्कृतप्रतिबन्धादेवासुरत्वम् । यच्च यदा प्रभुः कर्तुमिच्छति तदैव भवतीति तदा तस्मिन्नेव समयेऽयं यस्मिन्नेवंप्रतिबन्धः स जीव आसुरः सेवादिना दैवत्वेन प्रतीतोपि आसुर एवेति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः । एतेनैतत्प्रतिबन्धस्वरूपविद्धिः सर्वथा दुःसंगादिषु सावधानैः श्रेयमित्युक्तं भवति ।

ननु तादृशस्य पश्चात्तापे शोकोत्पत्त्या पूर्वं भक्तिमार्गीय इति तदभावार्थं तत्त्वनिर्धारोपायभूतं विवेकरूपं साधनमाहुः यथा वेति ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं भवति ॥ ३ ॥

वाशब्दोनादरे । येनैव प्रकारेण । नात्राग्रहः । एतत्तत्त्वनिर्धारस्य शोकाभावमात्रार्थत्वात्तत्रौपनिषज्ज्ञानमपेक्षितम्, किन्तु यथाकथञ्चित् सांख्ययोगेनान्येन वा भाषाप्रबन्धादिनोपायेन तत्त्वनिर्धारं विधाय शोकाभावार्थं विवेकः सम्पादनीय इत्यर्थः । विवेकस्तु

ममैतदेव प्रभुणा कृतं सर्वं ब्रह्मात्मकं कोहं किञ्च साधनं किं फलं को दाता को वा भोक्तेत्यादिरूपः । तमेव च तत्त्वनिर्धारोपायं विवृतौ विशदयन्ति ज्ञानमार्गेणेति । ज्ञानमार्गेण ज्ञानसाधनोपायेन स्यात्तद्व्यमित्यर्थः । किञ्च ज्ञानस्थित्यापि न तन्मार्गीया मुक्तिः, किन्तु शोकाभाव एवेत्याशयेनाहुः शोकाभावायेति ॥ ३ ॥

अतः परं यदर्थमेषां निरूपणं बाधकानां तत्प्रयोजनमाहुः बाधकानामिति ।

बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम् ।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

बाधकानामुद्देश्यभोगप्रतिबन्धानां परित्यागः परितस्त्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । भोगस्य बाधकत्वेन त्याज्यत्वमुक्त्वाऽलौकिके तदभावमाहुः भोगेपीति । भोगेऽप्येकमलौकिक-भोगरूपं फलप्रविष्टतया तथा तेनैव प्रकारेण, परं प्रतिबन्धयोः परं भगवत्कृतप्रति-बन्धलक्षणमशक्यत्यागत्वेन विहाय तथेत्यर्थः । ननु भोगयोरपि तुल्यतामाशङ्क्य तस्मिन्नलौ-किके वैलक्षण्यमाहुः निष्प्रत्यूहमिति । अलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रथमफले भगवत्स्वरूपानन्दानुभवरूपे भोगे क्रियमाणे प्रत्यहोन्तरायः केनापि कालादिनापि न कर्तुं शक्यत इति निष्प्रत्यूहं स एव सिध्यति । लौकिके तु सर्वथा तदभाव इति महद्वैलक्षण्यमित्यर्थः । अत एवोक्तं प्रभुभिः सन्न्यासनिर्णये 'हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपर' इति । केञ्च महानिति । स्वरूपतः फलतः साधनतश्च महान् । विषयानन्दब्रह्मानन्दापेक्षया राजानन्दस्य महत्त्वादित्यर्थः । अत एव फलेष्वपि प्रथमफल एवालौकिकसामर्थ्यरूपे ऋषेण प्रविशते प्रविशतीत्यर्थः । किञ्च सदेति । त्रैकालिकाबाधविषयत्वादित्यर्थः ॥४॥

एवमलौकिकभोगे वैलक्षण्यं निरूप्य लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धावेकीकृत्य तद्ध-र्मनिरूपणपुरःसरं वैलक्षण्यं निरूपयन्ति सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति ।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्दलादेतौ सदा मतौ ।

लौकिको हि भोगः सविघ्नो विघ्नसहितः, कर्मकालादिभिस्तत्र विघ्नसम्भवात् । अल्पश्च । स्वरूपतः फलतः साधनतश्च परिच्छिन्नत्वादित्यर्थः । साधारणप्रतिबन्धो हि घातकः । सेवाकालोपरोधकतया तद्घातकः । एतौ भोगसाधारणप्रतिबन्धौ सविघ्नत्वात्प-त्वघातकत्वादिभिर्धर्मैर्हेतुभूतैस्त्यागमप्यर्हंत इत्याशयेनाहुर्विवृतौ ननु कथमित्यारभ्य घा-तकः स्यादित्यन्तम् । सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगः प्रतिबन्धश्च घातकत्वाच्च त्याज्य इत्यर्थः ।

एवं लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धयोस्त्यागहेतुभूतं धर्ममुक्त्वा भगवत्कृतप्रतिबन्धे त्यागासम्भवेन ज्ञानमार्गस्थित्यानधिकारिणो मन्दमतेः फलचिन्तया शोको भवतीति तदभावाय चिन्ता न कर्तव्येत्याहुः द्वितीय इति ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे सर्वथा सर्वप्रकारेणान्यतोपि फलसम्बन्धाभावाच्चिन्ता फलविषयिणी त्याज्येत्यर्थः । तत्र हेतुमाहुः संसारनिश्चयादिति । संसारोऽहन्ता-ममतात्मा सर्वानर्थमूलं प्रवाहपथफलरूपः, तस्य निश्चयाद्भगवत्कृतप्रतिबन्धे संसार एव, न फलान्तरमितिनिश्चयादित्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रतिबन्धविचारमतिविचार्यत्वेन विधायोद्देश्यरूपप्रथमप्रतिबन्धेन फलाभावे भगवतो दातृत्वाभावं हेतुत्वेन निरूपयन्ति नन्वाद्यइति मूले विवृतावाद्यफललेति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

आद्येन प्रतिबन्धेन फलाभाव इत्यर्थः । नन्विति विरोधोक्तौ । आद्ये उद्देश्यरूपप्र-तिबन्धे भगवतः सर्वसमर्थस्याप्यन्तःकरणैकसम्बन्धितया तद्विक्षेपरूपोद्देश्ये क्रियमाणे सेवाया अमानसीत्वेन भगवत्सम्बन्धाभावादानाधिदैविकीत्वे तत्प्रयुक्तः प्रभोः फलदातृत्वाभाव इत्यर्थः । अन्यथा सर्वदोषनिवारकस्य फलदातृत्वाभावो न घटेत् । एतदेव विवृतौ विशदयन्ति तदा सेवेत्यादि । एवमुद्देश्यबाधकमुक्त्वा भोगबाधकं विवृण्वन्ति तृतीय इति । तृतीये लौकिकभोगे गृहमेव बाधकमित्यर्थः । अत्रायमाशयः । भोगो हि सर्वथा बाधकः, भगवद्वैमुख्यसम्पादकत्वादिन्द्रियादीनां वैफल्यापादकत्वाच्च । स च यावद्ब्रह्मस्थितिः, यत्नेनापि निवर्त्यमानो न निवर्तते । गृहस्य सर्वथा बाधकत्वात्तत्र स्थितावंशतोपि भोगसम्भवाद्गृहपरित्यागः । कृष्णार्थप्रयोगेण तदासक्तिपरित्यागो वा भोगाभावाय विधेय इत्यर्थः । एतदेव च विवृतौ विवृतं भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इति । अत एवास्मदाचार्यैर्निबन्धे निरूपितं भगवद्बोचोत्वादरूपेण 'गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचक' इति ।

एवं फलत्रयं प्रतिबन्धत्रयं च निरूप्य निजान् प्रत्येतद्विचारमेवाहर्निशं कर्तव्यत्वेन वक्तुमुपसंहरन्ति अवश्येयमिति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

इयं फलत्रयी प्रतिबन्धत्रयी चावश्य्या, न स्वशक्या । भक्तिमार्गे फलप्रतिबन्धप्राप्ति-निवृत्त्योः केवलभगवदधीनत्वात् । तथापि सदा निरन्तरं भाव्या कर्तव्यत्वेन विचारणीया, विचारे हि भावनायाः साधनत्वात् कदाचित् फलसिद्धिः, प्रतिबन्धतश्च साधनतया स्थिति-सिद्धिरित्यर्थः । ननु फलान्तरं प्रतिबन्धान्तरं वा भक्तिमार्गे किञ्चिद्भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः सर्व-मन्यदिति । एतत्फलत्रयं प्रतिबन्धत्रयं चापहायान्यत्सर्वं फलप्रतिबन्धादिकल्पनं मनो-भ्रमः स्वान्तर्भ्रान्तिरित्यर्थः । अत्रेदमुक्तं भवति । भक्तिमार्गे सेवाया उत्तममध्यमसाधारणाधि-कारक्रमेण एतत्फलत्रयमेव, न मोक्षादिः । प्रतिबन्धकं चोद्देश्यादिकमेव, न पापादिकमिति ।

‘स्वपादमूलं भजत’ इति वाक्यात् । तथा चैतत्फलविहिताशैरेतत्प्रतिबन्धसावधानैरन्यतो निश्चिन्तैः सर्वैः सेवैव विधेयेति भावः ॥ ६ ॥

नन्वेतत्फलप्रतिबन्धकादिनिरूपणं तदाश्रितान्प्रति घटते तदीयदेहादेरामत्वात्, तदीयानां तु देहेन्द्रियादेः साक्षात्पुरुषोत्तमसमर्पितत्वेन फलरूपप्रभुसम्बन्धात् प्राप्तफल-
तया तान्प्रति फलप्रतिबन्धनिरूपणं व्यर्थमित्याशंक्य आहुः तदीयैरपीति ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

तदीयैः कृतात्मसमर्पणैरपि तत्फलप्रतिबन्धकादिभावनं कार्यमवश्यकर्तव्यम् । पुष्टिमर्यादायामंगीकारेण फलविलम्बाद्भजनं कारयित्वैव फलदानात् । अविलम्बस्तु केवल-
पुष्टावेवेत्याहुः पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति । पुष्टौ केवलपुष्टौ मर्यादाभावेन साक्षा-
दंगीकारान्न विलम्बः । साम्प्रतं तु पुष्टिमर्यादायामेवाधुनिकानामंगीकाराद्भजनसिद्धिविल-
म्बसद्भावेन तावत्पर्यन्तं प्रोषितभर्तृका इव फलप्रतिबन्धभावनं सर्वदा कार्यमित्यर्थः ।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्यतिदिशन्ति गुणक्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

तदीयानां गुणक्षोभोपि विलम्बादेव निमित्ताद् देशान्तरस्थपतिकाया इव भवति । तत्राप्येतदेव फलप्रतिबन्धकादिभावनं साधनत्वेन द्रष्टव्यम् । एतद्विचारेण चित्तस्य प्रभु-
परतया गुणक्षोभोपि न भविष्यतीत्यर्थः । ननु गुणक्षोभनिवर्तकानि साधनान्तराणि भविष्य-
न्तीत्याशंक्याहुः मे मतिरिति । विचारे क्रियमाणेऽस्मन्मतेरत्रैव पर्यवसानान्नान्यत्साधन-
मित्यर्थः ॥ ७ ॥

नन्वत्र काचित् कुसृष्टिरूपघटे, तदीयत्वे नियमेन फलसम्भवात्, तदवैयर्थ्यापत्ति-
भिया प्रतिबन्धासम्भवाच्च, तदीयत्वे ह्युभयाभावादेवं न निरूपणमुचितमित्याशंक्याहुः
कुसृष्टिरिति ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

अत्रास्मिन्नर्थे वाशब्दोवधारणार्थः । अत्रैव या कुसृष्टिरूपघटे सा सर्वथा दोषा-
भावाद्भ्रम एवेत्यर्थः । अनुपपत्तिपरिहारस्तु पुरैव प्रभोः स्वतन्त्रेच्छत्वनिरूपणेन कृत इति
तत एव विभावीयमिति दिक् ॥ ७ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणान्जदासानुदासश्रीहरिरायविरचिता
सेवाफलविवृतिटिप्पणी सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीवल्लभविरचितटीकासमेतम् ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

यादृशी यत्प्रकारिका ‘चेतस्तत्प्रवण’मित्यारभ्य ‘कृष्णमेव विचिन्तये’दित्यन्ते-
नोक्ता । तत्सिद्धाविति । तस्याः सेवायाः मानसीत्वरूपफलावस्थासिद्धौ फलमुच्यते
फलं निरूप्यत इत्यर्थः । कुत्रेत्याकांक्षायामाहुः टीकायां सेवामिति । फलत्रयमिति ।
फलतावच्छेदकत्रयमित्यर्थः । यथा स्वर्गस्य फलत्वं तदवच्छेदकं चामृतपानादिकं तथा मान-
ससेवायाः फलत्वं तदवच्छेदकं चेदं फलत्रयम् । सेवार्थां फलत्रयमित्यनेन पूर्वार्थार्थे
उक्तः । उत्तरार्थार्थमाहुः अलौकिकसामर्थ्यमिति । मूलेऽलौकिकस्यैत्यलौकिकस्य
सामर्थ्यस्य । अलौकिकसामर्थ्यं सर्वाभोग्यसुधा । तस्या दाने । आद्य इति ।
आद्यो मनोरथो ‘भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चे’त्यादिभिरुक्तः पूर्वोक्तसुधा-
भोगरूपः सिध्येत् पूर्णो भवतीत्यर्थः । अनेन शृंगाररसस्य पूर्वदलानुभव उक्तः । चका-
रादलौकिकसामर्थ्येनैव तदुत्तरदलानुभवोपि भवति । स तु परितो गलनरूपवर्णनेनाभि-
रमणात्मको ज्ञेयः । एतेन दीयमाना सुधा साधनं भुज्यमाना सुधैव तु फलमिति सूचि-
तम् । वेणुगीते ‘वर्णनायां मुखे समागच्छन्ती मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोती’ति निरूपितम् ।
‘वर्णयन्त्योभिरेभिर’ इत्युत्तरदलानुभवोपि सुधापूर्णेनैव निरूपितस्तत्साम्मतिसूचनाय हि-
शब्दः ॥ १ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

फलं वा ह्यधिकारो वेत्यस्यार्थमाहुः सायुज्यमित्यादिना । मूले फलं वेति ।
सायुज्यस्य सोश्रुतइत्यादिश्रुतौ फलत्वेनैव प्रसिद्ध्या फलपदं सायुज्यवाचकम् । तथा च
द्वितीयं फलं सायुज्यमित्यर्थः । तृतीयं फलमाहुः अधिकार इति । एतदर्थमाहुः टीकायां
सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति । अत्र आदिशब्देन श्रीमथुराश्रीवृन्दावनादिकं
ग्राह्यम् । मूले न काल इति । अत्र सेवोपयोगिदेहे कालो न प्रेरकः । यथा लीलासृष्टिस्था
आम्रवृक्षादयो न कालप्रेर्याः, किन्तु भगवदिच्छयैव पुष्पयन्ति फलन्ति च, एवं जंगमा
अपि सेवोपयोगिनो देहाः भगवदिच्छयैव अवयवादिसम्पत्तिं लभन्ते ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

उद्वेग इति । श्लोकार्थमाहुः सेवायामिति । उद्वेग इति । मनसोन्यपरता उद्वेगः । कायस्थान्यपरता प्रतिबन्धः । इन्द्रियाणामन्यपरता भोगः । इदं त्रयं बाधकम् । तनुवित्तजसेवायां फलजननसामर्थ्यस्य भक्तिरहस्यभजनस्य बाधजनकं विसामग्रीहेतुः प्रतिबन्धकमिति मूलार्थः ॥ २ ॥

अकर्तव्यमित्यारभ्य विशते सदेत्यन्तस्यार्थमाहुर्विवरणे त्रयाणामित्यारभ्य विवेक इत्यन्तेन । त्रयाणामिति । उद्वेगसाधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगानामित्यर्थः । साधनेति । एतत्रयाणामेव बाधकत्वात् । ननु कथमेतत्रयस्यैव बाधकत्वं न तु पञ्चानामित्यतो व्यवस्थामाहुः भोग इत्यादिना । लौकिक इति । अनिवेदितपदार्थानां समर्पणं विना विषयासक्त्योपभोगो लौकिको भोगः । अलौकिक इति । निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरलौकिको भोगः । तत्राद्य इति । आद्यो लोककृतः साधारणः । बुद्ध्या इति । विभावनयेत्यर्थः । फलानां मध्ये इति । यस्य फलत्रयमपि भवति तस्य सेवोपयोगिदेहरूपे प्रथमे फले प्रविशति सम्बद्धो भवतीत्यर्थः । एतद्भोगस्यैतत्फलसाधकत्वेन पूर्वं फलसम्बन्धः । तदुत्तरं च दासधर्मत्वेनैतत्करणादुत्तरं सम्बन्धः । इत्थञ्च पूर्वोत्तरमपि फले व्याप्तो भवतीति प्रोपसर्गार्थः । अयं मूले सदेत्यव्ययार्थो ज्ञेयः । निःप्रत्यूहमिति हेतुगर्भम् । यतोयमदृष्टादिकृतविघ्नाभावाच्चिःप्रत्यूहं सिध्यत्यतो महा-नित्यर्थः । यद्यपि पाठक्रमेण सेवोपयोगिदेहस्य तृतीयफलत्वम्, तथाप्यनुक्रमानुरोधत्वात् तस्य प्राथम्यमेव सिध्यति । किञ्चित्साधिकारत्वेन निरूपणादपि तथा । भगवत्कृतप्रतिबन्धश्चेदिति । श्रवणकीर्तनादिना हरिश्रेष्ठदये निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति । तस्या अभ्यासे तस्यां भक्तिरहस्यभजनरूपं सामर्थ्यं सिध्यति । क्रियमाणेपि श्रवणकीर्तनादौ हरिश्रेष्ठं निविशेत तदाभ्यासो न भवति । तेन जाता तनोरन्यपरता या स भगवत्कृतप्रतिबन्धः । तदा भगवत्कृतप्रतिबन्धे अन्यसेवा महापुरुषादिसेवा व्यर्था निःफलेत्यर्थः । अपिना भगवत्सेवापि तथेति ज्ञेयम् । क्रियमाणेपि श्रवणादौ चेन्न हरिनिवेशस्तदेत्यर्थः । पूर्वमेव ज्ञानादिमार्गप्रवृत्तौ तु नासुरत्वमिति बोध्यम् । नन्वासुरत्वे श्रवणादौ प्रवृत्तिरेव कथमित्यत आहुः । जीव इति । स जीव आसुरस्तस्यान्तःकरणं तु दैवमतः प्रवृत्तिरिति भावः । ननु तर्हि किमासुरेण कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः तदा ज्ञानमार्गेणेति । अन्तःकरणस्य दैवत्वे इत्यर्थः । अन्तःकरणस्यासुरत्वे तु संसारनिश्चयान्छोकाभावं वक्ष्यन्तीति ज्ञेयम् । शोकाभावसाधककंसोपदिष्टज्ञानमार्गेणेत्यर्थः । विवेक इति । आद्यो बुद्ध्या त्याज्यः द्वितीये त्वासुरज्ञानमार्गेण स्थेयमिति द्वयोः प्रतिबन्धयोर्विवेकः इत्यर्थः ।

भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य विवेक इत्यन्तेनाकर्तव्यमित्यस्य विवरणं ज्ञेयम् । इत्थञ्चोक्तत्रयाणामेवात्र बाधकत्वम् । अलौकिकभोगस्य प्रथमे प्रवेशान्न बाधकत्वम् । भगवत्कृतप्रतिबन्धेपि सामर्थ्यानुत्पाद एव न तु जातस्य बाधोत्पत्त्यापि न बाधकत्वम् । प्रतिबन्धकत्वं तु भवत्येव । प्रतिबन्धो विसामग्रीतद्देतुः, प्रतिबन्धक इत्यत्र विसामग्रीपदस्य सामग्रीवाधाल्यन्ताभावोभयवाचकत्वादिति बोध्यम् ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथापरम् ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

मूले श्लोकद्वययोजना । भगवतः सर्वथा सेवायां सामर्थ्यं अकर्तव्यं चेत् तदा गतिः फलं न हि न भवतीत्यर्थः । ननु तदा तस्य किं साधनं शोकाभावायेत्यत आहुः यथा वेति । येनात्मतत्त्वनिर्धारो भवति तादृशो विवेकः आत्मानात्मविवेकः शोकाभावसाधनं मतमित्यर्थः । 'तस्माद्भेदे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि मानु शोचै'त्यत्र तस्य ज्ञानस्य शोकाभावहेतुत्वकथनान्मतमित्युक्तम् । भोगेऽप्येकमिति । जाल्यभिप्रायेणैकवचनम् । अपरमिति । न परमपरम्, हीनम्, बाधकत्वात्त्याज्यमित्यर्थः । ननु कथं न द्वितीयो बाधकस्तत्राहुः निःप्रत्यूहमिति । निर्विघ्नम् । हेतुगर्भमिदम् । यतो निर्विघ्नं यथा भवति तथा सिध्यति, अदृष्टादेर्बाधकत्वाभावात् । अतो महान् । एतादृशो भोगः प्रथमे फले सेवोपयोगिदेहे सदा विशते, पूर्वमुत्तरं च सम्बद्धं भवतीत्यर्थः । पाठक्रमं दृष्ट्वा अलौकिकसामर्थ्यं प्राथम्यं मन्वानस्य भ्रमनिरासाय टीकायां फलानां मध्य इत्युक्तम् । यस्य फलत्रयमपि भवति तस्य यत्प्रथमं फलं सेवोपयोगिदेह इत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥

सविघ्नोल्पो धातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

सविघ्न इत्यत्र टीकायां सविघ्नत्वादिति । अत्रापि सविघ्नपदं हेतुगर्भम् । तथाचायमर्थः । धातको लौकिकभोगः, यतः सविघ्नः, अतोल्पः स्यादिति हेतोस्ताज्य इति । एताविति । साधारणभगवत्कृतौ बलादेतोः सदा प्रतिबन्धकौ मतौ । मनस इन्द्रियाणां चान्यपरतारूपादुद्वेगभोगौ सामर्थ्यबाधकौ । नन्वन्यपरतारूपाविमौ तु कारणस्यैव बाधकौ । तनुजसेवैवानभ्यस्ता भवत्यतो बलिष्ठत्वात् प्रतिबन्धनामकावेव जातावित्यर्थः । ज्ञानस्थित्यभाव इति । पूर्वोक्तानुरज्ञाने स्थित्यभावे । द्वितीय इतीति । द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे जाते । मूले संसारनिश्चयादिति । अत्र संसारपदं देहादिपरम्, तथा च 'विरोचनोक्तदेह एव मह्य' इत्यादिरूपनिश्चयादित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु सेवोपयोगिदेहस्य कथमधिकारत्वम्, अधिकारत्वे वा कथं फलत्वमित्यत आहुः नन्वाद्य इति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

नन्विति कोमलामत्रणे । आद्ये सेवोपयोगिदेहरूपफले सति या भवति फलद्वय-
दातृता सा सेवोपयोगिदेहरूपाद्यफलाभावे नास्तीत्याद्यफलस्याधिकाररूपतेत्यर्थः । तथा
च यस्याद्यफलमेव फलं तं प्रत्याद्यस्य फलत्वमेव । यस्य च पुनरपि सायुज्यादिफलं
तं प्रति आद्यफलस्याधिकारत्वमेवेति भावः । एतेन फलत्रये तारतम्यमपि सूचितमिति
बोध्यम् । टीकायां तदा सेवेति । आद्यफलाभावेत्यर्थः । मूले तृतीय इति । लौकिक-
भोगरूपप्रतिबन्धके सति बाधकं गृहं सेवाप्रतिबन्धकं लौकिकभोगसङ्गकं भार्यादि त्याज्य-
मिति शेषः । अवश्येयमिति । इयं प्रतिबन्धकत्रयी फलत्रयी च सदा निरन्तरं भाव्या
विभावनीया । भावनया प्रतिबन्धककृतप्रतिबन्धनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः । सर्वमिति ।
ज्ञानादीनां साधनत्वं तत्साध्यमोक्षस्यैव फलत्वमिति मनोभ्रममात्रम् ॥ ६ ॥

ननु 'तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे' इत्यनेनात्मनिवेदिनां प्रति-
बन्धकभयाभावात् किं निवर्तनेनेत्यत आहुः तदीयैरपीति ।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

भगवदीयैरपि पूर्वोक्तत्रयीद्वयविभावेन प्रतिबन्धनिवर्तनं कार्यमेव । तत्र हेतुमाहुः
पुष्टाविति । तथा सति पुष्टौ मर्यादांशत्यागे भगवान् विलम्बं न कुर्यादित्यर्थः । अन्यथा
तु यद्यपि निवेदनपदार्थो न नश्यति तथाप्यलौकिकदेहप्राप्तौ विलम्बो भवत्येवेति । ननु गुणै-
श्चित्तक्षोभे भावनाया असम्भवात् कथं तन्निवृत्तिरित्यत आहुः गुणक्षोभेपीति । सोप्येतेनैव
निवर्तिष्यत इति भावः । ननु गुणक्षोभनिवृत्त्यर्थं हंसावतारेण एकादशस्कन्धे प्रकारान्तर-
मुक्तमित्यत आहुः इति मे मतिरिति । मन्मत्तिसिद्धोयं प्रकारः । तथाच मर्यादापुष्टि-
भेदेन व्यवस्थेति भावो द्रष्टव्यः ॥ ७ ॥

ननु स प्रकारो भगवदुक्तः, अयं च पौरुष इति कथं तुल्यवत्त्वमित्यत आहुः कुसृष्टिरिति ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥ ॥

वाशब्दोनादरे । ममापि वाक्पतित्वाद्वा मद्वाक्ये पूर्वोक्ता अन्या वा काचित्
कुसृष्टिः किमुत्पद्येत ? नोत्पद्येतेत्यर्थः । यदि चेदुत्पद्येत तदा तस्य तादृशं ज्ञानं भ्रम एव ।
तद्वोधनार्थं नास्मत्प्रवृत्तिः, किन्तु 'सात्विका भगवद्भक्ता' इत्युक्तानां तादृशमेव बोधना-
र्थमेवास्मत्प्रवृत्तिरिति भावः ॥ ७ ॥ ॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतसेवाफलविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतसेवाफलविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यचरणौ तत्कृपाचलात् ।

सेवाफलोक्तिविवृतेर्विवृतिं वितनोत्ययम् ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः श्रुतिब्रह्मसूत्रगीताश्रीभागवततात्पर्यगोचरस्वसिद्धान्तस्य
तनुवित्तजसेवात्मकस्य साधनस्य भगवत्प्रेमात्मकसेवासिद्धिपर्यन्ततां संक्षेपेण सिद्धान्त-
मुक्तावल्यां बोधसौकर्यार्थं निरूप्य सेवाफलग्रन्थे तथैव तत्फलं निरूपयितुं प्रतिजानते
यादृशीत्यादि ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी यत्प्रकारिका सेवना सेवा, ष्यासन्नथो युजिति युजन्तत्वाद्धारणा
विनिगमनेत्यादिवत्स्वीत्वम्, प्रोक्ता सिद्धान्तमुक्तावल्यां व्युत्पादिता, तत्सिद्धौ तस्या-
स्तत्रोक्तमानसीसेवासाधकतायां सत्यां फलं यत् प्राप्यत्वेन विवक्षितं तदुच्यते इत्यर्थः ।
अस्य ग्रन्थस्य संक्षिप्तत्वेन दुरूहत्वात् स्वयमेव गृह्णन्तो व्याकुर्वन्ति सेवायां फल-
त्रयमित्यादि । अत्र सेवायामिति सत्यर्थया सप्तम्या साधनसाध्यरूपयोर्द्वयोरपि सेवयोः
सत्ता विवक्षितेति बोध्यते । तेन साधनरूपाया आवर्तने तन्निर्वाहः, साध्यरूपायाश्च
निरन्तरस्थैर्यै विवक्षितं भवतीति सूच्यते । फलत्रयमित्यनेन मूले यादृशीति सेवाविशे-
पणेन यत्तदोर्भिलसम्बन्धस्मारणात् फलपि तादृशमिति प्रकारबोधकं विशेषणं स्मार्यते ।
तथा च तत्रोत्तममध्यमजघन्यभेदेन बाह्यमानस्योर्यैविध्यस्य सिद्धत्वाद्वापि फलत्रय-
मुच्यत इत्यर्थः । तर्हि किं तत्फलत्रयमित्यपेक्षायां टीकायां तत्स्वरूपं विभजन्ते अलौकिक-
सामर्थ्यमित्यादि । तत्रालौकिकसामर्थ्यं नाम परप्राप्तिविवरणश्रुत्युक्तभगवत्स्वरूपानुभवे
'प्रदीपवदावेश' इतिसूत्रोक्तरीतिकभगवदावेशजा योग्यता यया रसात्मकस्य भगवतः पूर्ण-
स्वरूपानन्दानुभवः । श्रीदेवकीनन्दना अप्येवमाहुः । श्रीहरिरायास्तु भगवद्विरहानुभव-
सामर्थ्यमित्याहुः । श्रीकल्याणरायास्तु भगवता सह गानादिसामर्थ्यं मुख्यानामिवेत्याहुः ।
चचागोपीशास्त्रलौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेत्याहुः । एतत्सर्वं भगवतो नाना-
विधप्रवेशहेतुक्त्वाद्भगवदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादुपपन्नम् ।

सायुज्यं 'भक्त्या मामभिजानाती'त्युक्तो भगवत्स्वरूपे लयः । चचा अप्येवम्, श्रीदेवकीनन्दनाश्च । श्रीहरिरायास्तु सह युनक्तीति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यं संयोगानुभवसामर्थ्यमित्याहुः । श्रीकल्याणरायास्तु गोपानामिवेति विशेषमाहुः ।

सेवोपयोगिदेहोक्षरात्मको देहेन्द्रियासुहीनः पुरुषस्त्रीपशुपक्षिवृक्षाद्याकृतिः संस्थानविशेषः । तदेतत् फलत्रयं त्रिविधसेवायां यथायथं बोध्यमित्यर्थः ।

ननु 'यथाकृतु'रिति श्रुतौ तत्कतुन्यायस्योक्तत्वात् संन्यासनिर्णये 'भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवे'दित्याचार्यैरपि तदंगीकारान्यायत एवात्रापि तादृशफलप्राप्तिसिद्धेर्विशेषतस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनमित्याकांक्षायां तत्र हेतुं वदन्ति मूले अलौकिकस्य दाने हीत्यादिपादत्रयेण ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा,

अत्र हिर्हेतौ । चोवधारणे । यतो हेतोरलौकिकस्य सम्पदाविर्भावाधिकरणोत्तरीतिकस्याक्षरात्मकविग्रहस्य दान एव आद्य आदौ भव उत्तमफलविषये विद्यमानो मनोरथः निश्चयशब्दोक्तकामचारात्मकः सिध्येत् । अदाने तु फलं वा हि निश्चयेन अधिकारो वा सिध्येदित्यनुषज्यते । तथा च 'लोकवत्तु लीला कैवल्य'मिति न्यायेन भगवता अलौकिकस्य सम्पदाविर्भावसूत्रोक्तदेहस्य दाने एव तत्सम्बन्धिफललाभात् तत्कतुन्यायमात्रेण पूर्वस्य सिद्धिरित्यतस्तत्रिरूपणमित्यर्थः । वाद्वयमनादरे । तेन तत्कतुन्यायेन कदाचित् तद्वयं भवतीति बोधितम् ।

नन्वधिकारस्य कार्यान्तरयोग्यतारूपत्वात् तस्य च साधनदशायामपि सत्त्वात् कथं फलत्वमित्यत आहुः ।

न कालोन्नियामकः ॥ १ ॥ इति ।

अत्रैत्यधिकारः । तथा च कालनियम्यत्वाभावेनानावृत्त्या नित्यत्वादस्यापि फलत्वं निःप्रत्यहमित्यर्थः । एतन्नये एकं दानहेतुकमन्यद्वयमपि भगवदनुग्रहैकहेतुकम् । मर्यादामार्गे निर्गुणाक्षरविद्यया तादृशतत्प्राप्तेः सगुणया सन्मनोमयदहरादिविद्यया च 'जक्षन् क्रीडन् रममाण'इत्यादिनोक्तैश्वर्यपर्यन्तप्राप्तेरेव श्रावणात् ततोधिकस्य सेवोपयोगिदेहादेस्तत्र केवलया भक्तिरहितमर्यादया वक्तुमशक्यत्वात् । तथा तदुपगमे 'यमेवैष' इत्यादिश्रुतेर्भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इत्यादिस्मृतेश्च विरोधस्य दुष्परिहरत्वाच्च । अतस्तन्नयमत्रोच्यत इति भावः । अत्राद्यस्य दानेन सिद्धौ 'रुद्रादीनां वचः श्रुत्वे'त्यादिकृष्णोपनिषन्मन्त्रा बृहद्गमनीयकथा 'संकल्पो विदितः साध्यः' इति कुमारिकाः प्रति भगवद्वाक्यं प्रमाणत्वेन बोध्यम् । द्वितीये च 'नैकात्मतां म' इत्यारभ्य 'गतिमर्णीं प्रयुक्त' इत्यन्तं कपिल-

वाक्यम् । तृतीये च 'को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोश्चै'रिति जयविजयौ प्रति सनकादिवाक्यं ज्ञेयम् । तयोः पातस्तु भगवदिच्छात एवेति तत्रैव निबन्धे प्रतिपादितमिति न कश्चित्सन्देहः ॥ १ ॥

ननु भवत्वेवमनुग्रहैविध्यात् फलत्रैविध्यम्, तथापि 'नित्यं हरौ विदधत' इति वाक्ये कामक्रोधादीनामपि भगवति नित्यं विधाने तन्मयत्वस्योक्तत्वात् तन्मयत्वे च सायुज्यस्यैव युक्तत्वात् सिद्धान्तमुक्तावल्याम'प्युभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'त्यनेन मानस्या एव फलत्वेनोक्तत्वात् तथापि तन्मयतायाः सिद्धौ तस्यैव युक्तत्वात्कथं तदभावो येन तृतीयं फलमित्यत आहुः ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यादिति ।

सेवायां क्रियमाणायामिति शेषः । किं तावतेत्याकांक्षायां तेषां स्वरूपं टीकाया विवृण्वन्ति सेवायां प्रतिबन्ध इत्यादि । प्रतिबन्धो नाम विसामग्री तज्जनकः प्रतिबन्धकः । तदत्रोद्वेगादित्रयम् । तत्रोद्वेगो नाम उच्चैर्भयं चलनं वा । ओविजी भयचलनयोः । तदत्र सेवायां क्रियमाणायाम् दुष्टादिभ्यो मनसो भयं वा पापादिना बुद्धेर्भावत्वं वा । अत्र द्वितीयमद्वेषजन्यम् । एतदुभयमप्यान्तरमतो द्विविधोप्युद्वेगो बाह्यसेवाफलरूपाया मानसीतत्समानाधिकरणविरुद्धसामग्रीरूपस्तत्प्रतिबन्धकः । प्रतिबन्धो नाम तल्लक्षीकृत्य वा तत्प्रतिकूलो वा निग्रहः । प्रतिबन्धे प्रातिकृत्ये वा । बन्ध बन्धने । सोत्र सेवायां स्वौ सत्यामपि शरीरादिसामर्थ्ये सत्सति सेवाकरणे तले लौकिकैर्दिककायिकादिव्यापाररूपो बाह्यसेवासामानाधिकरण्यात् तद्विरुद्धसामग्र्यात्मकस्तत्स्वरूपप्रतिबन्धकः कादाचित्कः । भोगो नाम सुखदुःखसाक्षात्कारोभयवहाररूपः प्रसिद्धो देहेन्द्रियोभयनिष्ठत्वादुभयविधसेवाविसामग्रीरूपो बलिष्ठः स्वभावतः प्राप्तः । तथा च तेषां सेवाविरुद्धकायिकवाचिकमानसिकसामग्र्युत्पादकत्वेन मानस्या जघन्यत्वात्पादनात् तथा तन्मयताया असिद्धौ सुखेन तृतीयस्य फलस्य सिद्धिरित्यर्थः ।

ननु भवत्वेवं तथापि यदत्र मुख्यं फलं तत्तु दानैकसाध्यमित्युक्तम् । दानं तु पूर्वं ज्ञातुमशक्यम् । तथा सति स्वतःपुरुषार्थत्वेन सेवाकरणे एव किं फलं भविष्यतीति सन्देहः कथं निवर्तेतित्यत आहुः ।

तु बाधकमकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि यथा वा इति ।

तुः शंकानिरासे । बाधकं पूर्वोक्तं त्रयमकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेत् तदा हि निश्चयेन गतिर्न, प्राणानां देहादुत्कर्मणं न । मनसो वा भगवद्भ्यतिरिक्ते गतिर्न, किन्तु 'वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्चै'त्यधिकरणोक्तन्यायेन भगवत्वेव लयः । 'ता नाविद'त्रि-

त्युक्तरीत्या भगवदेकतानत्वं हि निश्चयेन । एतेन मुख्यफलभवनविषयकसन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः । यथाचेति भिन्नं वाक्यम् । अत्रापि बाधकं भगवतः अकर्तव्यं चेदित्यन्वेति । तथा च यथा येन प्रकारेण सेवा, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तथा तेन प्रकारेण बाधकं भगवतोर्कर्तव्यं चेत्तदा, वा फले विकल्पः, सेवा मध्यमा चेन्मध्यमम्, जघन्या चेज्जघन्यं फलमित्येवं सन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः । अथवा । ननु सेवा हि भक्तिमार्गीयं साधनम् । भक्तिमार्गश्चानुग्रहैकलभ्यः पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थापितः, निबन्धे च 'सर्वथा' चेद्धरिष्ठा न भविष्यति यस्य हि । तस्य सर्वमशक्यं हि मार्गोस्मिन् सुतरामपीत्यनेन । एवं सत्यस्मिन् मार्गे प्रतिबन्ध एव कथं येन फलत्रैविध्यमित्यत आहुः तु बाधकमित्यारभ्य यथावेत्यन्तत् । अत्र त्रीणि वाक्यानि, तेषु त्रिष्वपि बाधकपदं चेत्पदं चान्वेति । तथा च बाधकं पूर्वोक्तं भगवतः अकर्तव्यं चेत्तदा प्रतिबन्धस्याभावान्नतिर्मध्यमं फलं भवति । बाधकं सर्वथा चेत्तदा न हि निश्चयेन सेवाफलमेव न । बाधकं यथा तथा चेत्तदा वा विकल्पः । तथा चैवं भगवदिच्छातस्त्रैविध्यमित्यर्थः ।

तर्हि विकल्पे किं कार्यमित्यत आहुः ।

अतस्त्वनिर्धारोऽविवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

बाधकानां परित्याग, इति ।

अत्रोक्तवाक्यद्वयस्य त्रयस्य वाऽसन्दिग्धत्वाद् अतस्त्वनिर्धार इत्यादिकं व्याकुर्वन्ति । त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति । त्रयाणां पूर्वोक्तानां बाधकानां यत्साधनमतस्त्वनिर्धारविवेकरूपं तस्य परित्यागः सर्वथा त्यागः कर्तव्यः । तत्रप्रतियोगिभूततत्त्वनिर्धारविवेकयोरभ्यासेन तयोः प्रागभावानिवृत्तिः सम्पादनीया, ध्वंसो वा । तथा च नवीनतदुत्पादकसाधनत्यागे यथा भोजनपरित्यागे पूर्वाजीर्णस्य निवृत्तिः भाविनश्चानुत्पत्तिस्तथा तत्त्वनिर्धारे जाते बुद्धिदोषरूपस्योद्वेगस्य निवृत्त्या विवेके च जाते प्रतिबन्धभोगयोर्निवृत्त्या तयोर्निःशेषनाशः सम्पादनीय इत्यर्थः ।

ननु बाधकत्यागे कर्तव्ये भोगत्याग आगतः, तथाकृते शरीरस्थितेर्बलादेश्चासम्भवात् सेवाया एवासिद्धिः, प्रतिबन्धस्य चादृष्टजन्यत्वात् तत्त्यागस्याशक्यत्वमिति सेवासिद्धिरेव दुर्धटेत्याशंकायां तदर्थं विभागमाहुः भोगेपीत्यादि ।

भोगेऽप्येकं तथा परम् ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

अपि समुच्चये । भोगे, अपि शब्दात् प्रतिबन्धे, एकं परित्याज्यमिति शेषः । तथेति वैधर्म्ये दृष्टान्तः । यथा भोगप्रतिबन्धयोरेकं परित्याज्यं तथा परं द्वितीयं निःप्रत्यूहं विग्रहजन्यम् । भोगस्य निःप्रत्यूहत्वे हेतुर्महान् भोगः प्रथमे विशते इति ।

प्रतिबन्धस्य तथात्वे हेतुः सदेति । तदेतत् सर्वं मन्दादेर्दुष्करं दुर्ज्ञेयं चेति तदर्थं गृह्यन्तो व्याकुर्वन्तः प्रतिलोमक्रममादाय प्रथमतो भोगं विभजन्ते भोग इत्यादि । भोग उक्तरूपो द्विप्रकारकः । तयोर्मध्ये लोकासक्तिजन्मा सार्वदिकत्वेन बलवद्बाधकत्वादवरयं त्यक्तव्य एवेत्यर्थः । ततो न्यूनं प्रतिबन्धं विभजन्ते प्रतिबन्धोपीत्यादि । तस्य कादाचित्कत्वेन स्वल्पत्वात् पूर्वं तत्त्यागप्रकारमाहुः तत्रेत्यादि । तयोः प्रतिबन्धयोर्मध्ये आद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायचातुर्येण त्याज्यः । यद्यपि तत्त्वनिर्धारविवेकौ पूर्वं प्रतिबन्धविघातकत्वेन सूचितौ तथापि न तावन्मात्रेण निवृत्तिः, किन्तु बुद्धिरपि तत्सहकारित्वेनापेक्षिता । अतस्तथा त्याज्य इत्यर्थः । ननु भवत्वेवं तथाप्यलौकिकभोगात्यागे किं बीजमित्याकांक्षायां तत्र बीजमाहुः अलौकिक इत्यादि । तुः शंकानिरासे । अलौकिको भगवद्भक्तप्रसादत्वेन क्रियमाणो भोगः फलानां मध्ये प्रथमे आद्यमनोरथात्मके प्रवेशं प्राप्नोत्यतो निःप्रत्यूहत्वात् त्याज्य इत्यर्थः । अयमेव हेतुर्मूले महानिति पदेनोक्तो बोध्यः । द्वितीयप्रतिबन्धस्य निःप्रत्यूहत्वे यो हेतुः सदा पदेनोक्तस्तं व्युत्पादयन्ति भगवत्कृत इत्यादि । सेवायां स्वस्य रुचेः सामग्रीसम्पत्तेश्च सत्त्वेपि यदा पुनः पुनस्तद्विघटनेन तन्निर्वाहाभावः सेवायामरुच्यादिर्वा स भगवत्कृतप्रतिबन्धः । तत्रैव हि स्वस्थान्येषां च 'दैवमत्र विघातक'मिति बुद्धिरुदेति । तादृशः स चेद्धवेत् तदा भगवान् फलं पूर्वोक्तं त्रिविधमपि सेवाफलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तेन सेवाप्रतिबन्धवता युक्तिभिर्विचारणीयम् । तदान्येषां गुर्वादीनां सेवां चेत्तदर्थं कुर्यात्तदा सापि व्यर्था । एतत्फलरूपार्थविरहितेति मन्तव्यमिति पूर्वेण सम्बन्धः । तदायं जीव 'एवं पञ्चविधं लिंग'मिति चतुर्थस्कन्धवाक्योक्तश्चेतनायुक्तसंघात आसुर इति निर्धारः कार्य इति प्रायपाठादायाति । तदा ज्ञानमार्गेण स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मत्वभावनपरेणास्थूलादिसदाद्युपासनपरेण वा स्थातव्यं शोकाभावाय । आत्मज्ञानस्य शोकनाशकत्वश्रावणात्तथा स्थितौ तस्मिन् संघाते निवृत्ते एतस्याक्षरसायुज्यं वा तत्र स्थितिर्वा भवतीति विवेकः सेवाफलात् पृथक्करणमित्यर्थः ।

अत्रैतद्बन्धदर्शनेन ममेदं प्रतिभाति । आसुरजीवा हि पुष्टिप्रवाहमर्यादायां 'जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे प्रवृत्तिं चेति वर्णिता' इत्युक्तलक्षणका अज्ञदुर्ज्ञेभेदेन द्विविधा निरूपिताः । ते तु नोपदेशार्हाः । 'सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः । भवान्तसम्भवा दैवात् तेषामर्थे निरूप्यत' इति प्रतिज्ञावाक्येन तथा निश्चयात् । अतःपरं 'प्रवाहेपि समागत्य पुष्टिस्थितैर्न युज्यते । सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यत' इत्युक्तोवशिष्यते । यथा अलीखानादिः । अतस्तादृशं तद्देशं प्रति वायमुपदेश इति ॥ ४ ॥

एवमलौकिकभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धयोस्त्यागानर्हत्वे बीजं 'व्याख्याय साधारण-प्रतिबन्धलौकिकभोगयोस्त्याज्यत्वे बीजं वक्तुमवतारयन्ति ।

सविज्ञोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

साधारण इत्यादि । कथमिति हेतुरूपप्रकारबोधकम् । तथा चैतयोस्त्यक्त-
व्यताप्रयोजकः प्रकारः क इत्यर्थः । अन्यथा त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति पूर्व-
ग्रन्थविरोध आपद्येतेति । व्याकुर्वन्ति सविघ्नत्वादित्यादि । कालादिकृतविघ्नसाहित्यात्
स्वरूपतः साधनतः फलतश्चात्पत्वात् तथेत्यर्थः । एवं भोगे त्याज्यत्वबीजद्वये व्याख्याते
शिष्टो घातकरूपो हेतुः साधारणप्रतिबन्धनिष्ठ इत्यर्थादेव बोधितम् ।

ननु प्रतिबन्धकत्यागप्रकारस्य पूर्वमुक्तत्वात्पुनस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः
बलादेताविति । व्याकुर्वन्ति एतावित्यादि । यत एतौ लौकिकभोगसाधारण-
प्रतिबन्धौ सदा क्षणे क्षणे प्रतिबन्धकावतो बुद्ध्या उपायचातुर्येण बलाद् दृढात्
त्याज्यौ । यथाधिकं भुक्तं चेन्ममेदानीन्तना सेवा गता, मया गानाद्यासक्त्या जागरः
कृतश्चेदिदानीं निद्रायाति, तस्मादेवं न विधेयमित्येवं बुद्ध्योपायचातुर्येण सर्वथा त्यक्त-
व्याविलेपतदर्थं पुनः कथनमित्यर्थः । द्वितीये सर्वथेति व्याकुर्वन्ति । द्वितीय
इत्यादि । पूर्वं भोगप्रतिबन्धयोरुभयोरुक्तत्वात् कोत्र द्वितीय इति शंकानिरासयैतदुक्तम् ।
ननु भगवत्कृते प्रतिबन्धे यादृशी स्थितिरपेक्षिता सा तु पूर्वं विवृतेवेति पुनस्तदुक्तेः किं
प्रयोजनमत आहुः ज्ञानेत्यादि । तथा च पूर्वोक्तादपि यो हीनः सिद्धान्तमुक्तावल्यां
'भक्त्यभावे त्व'ति कारिकयोक्तस्तस्य संसारेत्यन्ताभिनिवेशनिवृत्त्यर्थमिदमित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु पूर्वमुद्देशादित्रयं ससाधनं त्याज्यत्वेनोक्तत्वात् तत् त्याज्यत्वात्याज्यत्वविभागं च
कृत्वा पश्चाद्द्वयोरैवावश्यं त्याज्यत्वं यन्निरूपितं न तूद्देश्यापि, तत् कुत इत्याकांक्षायामाहुः ।

न त्वाद्ये दातृता नास्तीति,

अत्र प्राञ्चः पाठं द्विधांगीकुर्वन्ति केचिन्नन्विति । केचिच्च न त्वेति । तत्रापि नु इति
भिन्नं पदं निश्चयार्थकमिति मम प्रतिभाति । आद्ये उद्देशे । तुः शंकानिरासे । नु निश्च-
येन वा न, चिन्ता फलसाधनविषयिणी न त्याज्या । तत्र हेतुः । दातृता नास्तीति ।
अदातृता नास्तीति वा । तदेतद्व्याकुर्वन्ति । आद्यफलेत्यादि । आद्यं यत् फल-
मलौकिकसामर्थ्यरूपं, तस्याभावे अप्राप्तौ, भगवतो दातृत्वं नास्ति, तदा तस्मिन् दानसमये
सेवा अनाधिदैविकी ।

उद्देशो हि मानसो, मानस्या एव विरुद्धसामग्रीजनकः, सा दानसमये 'चेतस्त-
त्प्रवणं' 'ता नाविदन्' इतिवद्भवति लीनं न करोति, तेन सा सेवा अनाधिदैवि-
कीत्युक्तं भवति । अत उद्देशे तन्निवृत्त्यर्था चिन्ता भगवद्भावनरूपा न त्याज्या, किन्तु

सदा कर्तव्यैव । द्वितीयपक्षे उद्देशेन कृत्वा फलाभावे मुख्यफलाप्राप्तौ भगवतोऽदातृत्वं
नास्ति किन्तु तदोद्देश्यदशायां सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवति । अतस्तस्या आधिदैविकीत्व-
सम्पादनायोद्देशेगनिवृत्त्यर्था चिन्ता न त्याज्या किन्तु कार्यैव । तथा चोद्देशस्य मुख्य-
फलातिरिक्तफलाप्रतिबन्धकत्वाद् मुख्यफलस्य केवलं दानमात्रसाध्यत्वाद् दित्सायाश्च
'अनिच्छतो गतिमर्षी प्रयुक्त' इतिवाक्येन 'कहिंचित् स्म न भक्तियोग'मिति वाक्येन
च ज्ञातुमशक्यत्वान्नोक्तमित्यर्थः । अत्रानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति कथनेन सेवाया
अनाधिदैविकीत्वसम्पादकत्वरूपमुद्देश्याज्यतावीजमप्युक्तं ज्ञेयम् ।

ननु तत्त्वनिर्धारविवेकाभ्यां प्रतिबन्धत्यागे यतमानस्यापि त्रयाणां त्याज्यबीजं जान-
तोपि यदा न प्रतिबन्धनिवृत्तिः तदानेन किं कार्यमित्यत आहुः ।

तृतीये बाधकं गृहमिति ।

तदेतद्विवृण्वन्ति भोगाभाव इत्यादि । उद्विग्नः साधारणप्रतिबन्धोपि निरुपधि
प्रथाकथञ्चन भक्तिमान् सेवेत तदापि तृतीयं फलं भक्तिमत्त्वाद्भवति तस्मिन्नपि भोगो
लौकिकः प्रतिबन्धं करोति । अतस्तृतीये भोगरूपे प्रतिबन्धेऽशक्यत्यागे सति भगवता
गृहत्याग एवानेन प्रकारेण बोध्यत इत्यनुसन्धाय बाधकभूतं गृहं त्याज्यम् । यतो
भोगाभावस्तदैव सिद्ध्यति यदा गृहपरित्यागः । तथा च तदानीमयमेवोपायो
नेतर इत्यर्थः । अयं त्यागो न भक्तिमार्गीयसंन्यासरूपः, अधिकाराभावात्, किन्तु 'तादृश-
स्यापि सततं गेहस्थानं विनाशन'मित्यादि भक्तिवर्धिन्युक्तभक्तिसाधनसम्पादनार्थं इति
ज्ञातव्यम् । एवमत्र यावान् कठिनांशः सोत्र स्वयं व्याख्यातः ।

अतःपरं य एवं गृहत्यागमपि न कर्तुं शक्यात् तदर्थं मूले उपायमुपदिशन्ति ।

अवश्येयं सदा भाव्येत्यादि ।

इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी च अवश्या, यथायथं भगवदनुग्रहैकलभ्यत्वा-
द्भवद्द्विचारमात्रसाध्यत्वाच्च अवश्या, न स्वकृतसाधनाधायता । अतः सदा भाव्या
प्रतिबन्धोपस्थिताववश्यत्वेनैव स्वदैव्याय तदा तदा विचारणीया । अत्र सदापदेनेदमेव
बोध्यते, न तु कालनैरन्तर्यम् । 'निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वदे'त्यादीनां विरोधापत्तेः ।

सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

फलस्य स्वकृतसाधनायत्तत्वभावनं प्रतिबन्धस्य स्वकृतसाधनान्तरनाश्यत्वभावनं च
मनोभ्रमश्चित्तवाहिर्मुख्यसम्पादकं चाञ्चल्यमात्रम्, भगवदिच्छां विना कथमपि केनापि
किञ्चिदपि कर्तुमशक्यत्वात् । 'एष उ एव साधु कर्म कारयती'त्यादिश्रुत्या तथा बोधनात् ।
'अनन्याश्चिन्तयन्तो मा'मिति वाक्ये तादृशां योगक्षेमवहनस्य स्वकर्तव्यताया उक्तत्वाद्
प्रतिबन्धनिवृत्त्यादियोगक्षेमस्यापि भगवतैव कर्तव्यत्वादेकादशस्य विशेष्याये 'जातश्रद्धो
मत्कधासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु । वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेप्यनीश्वरः ॥ ततो

भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः । जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदकांश्च गर्हयन्नि-
त्यन्तेन तथा करणस्याज्ञापनाच्च ॥ ६ ॥

ननु यद्येवं तदा भावनस्यापि किं प्रयोजनम् । नहि जीवकृतया भावनया सत्य-
संकल्पो भगवान् स्वविचारितादन्यथा किमपि करोति । तथा सति किं भावनोपदेशेनेत्यत
आहुः तदीयैरपीत्यादि ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

एते हि तदीयाः, सर्वसमर्पणात् सर्वप्रकारेण भगवत एव भावनाच्च भगवदीयाः,
तैरपि तदुक्तं भावनं कार्यम् । तत्र हेतुः । पुष्टौ अनुग्रहविषये, भगवान्नैव विलम्बयेत् ।
एतत्कृत्या विलम्बं न कारयेत्, न कुर्याद्वा । रामो राज्यमचीकरदितिवत् स्वार्थं णिच् ।
तथा च पुष्टिमर्यादायां स्वयमेव साधनानामुपदेशादस्मात् साधनद्वारा बोद्धिधीर्षति, तानि
विना वा न वेति न ज्ञातुं शक्यते, अतो विलम्बाभावादायामुपदेश इत्यर्थः ।

ननु 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे । चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो
निबन्ध्यत' इत्येकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् चित्तजा गुणाः कालकर्मस्वभाववशात् क्षुभ्य-
माणाः प्रतिबन्धन्त्येव तदा किं कार्यमित्यत आहुः गुणक्षोभेपीत्यादि ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणक्षोभोपि परंपरया भगवदिच्छाधीन इति तत्रापि एतदेव भगवत्कृतं विलम्बन-
मेव कारणत्वेन द्रष्टव्यम् । इति मे मतिः । इदमस्माभिरैवोच्यते । अत्र नान्यस्य
सम्मतितिरित्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र हेतुः कुसृष्टिरित्यादि ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

शास्त्रे तदर्थं साधनान्तरोपदेशदर्शनाद्विरुद्धयुक्तिसृष्टिरत्र वा विकल्पेनोत्पद्येत, परं
स विकल्पोधिकारभेदानवधानाद् वै निश्चयेन भ्रमः । भगवता 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम
माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति त' इति गुणमूलनिवृत्त्ये स्वप्रपत्ति-
मात्रस्यैव साधनस्योक्तत्वात् । साधनान्तरकरणे च निःशेषतन्निवृत्त्यभावात् । भगवत्कृत-
विलम्बभावने तु भगवानेव शरणमिति बुद्ध्युत्पत्तेः । अतोस्माभिरिदं भगवदभिप्रेतमेवोच्यत
इति तथेत्यर्थः ॥ ७ ॥

इति तत्प्रेरणप्राप्तबुद्धिस्तु पुरुषोत्तमः ।

सेवाफलोक्तिविद्युतेर्विवृतिं चैवमुज्जगौ ॥ १ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणैकतानश्रीपीताम्बरात्मजस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य
कृतौ सेवाफलविवृतिप्रकाशः सम्पूर्णः ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

विवृतिविवरणसमेतम् ।

नत्वा श्रीब्रह्मभाचार्यान् विद्वेशान् निजान् गुरुन् ।

सेवाफलस्य विवृतिव्याख्यानं वितनोम्यहम् ॥ १ ॥

अथ दैवोद्धारप्रयत्नात्मानः श्रीमदाचार्या निजानां सुखेन सिद्धान्तमुक्तावत्युक्त-
सेवायाः सिद्धये तत्फलप्रतिबन्धसाधनानि निरूपयन्तः प्रतिज्ञां कुर्वन्ति यादृशी सेव-
नेति । एतद्बन्धस्यातिसंक्षिप्तत्वेन दुर्बोध्यत्वात् स्वयमेव विवृतिं रचयन्तः सेवाया निजग्रन्थेषु
फलत्वांगीकारेण तत्फलेष्वन्येषूच्यमानेषु सेवायाः साधनतामाशङ्क्य साधनताभ्रमं वारयन्तः
फलनामान्याहुः सेवायामिति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

सेवायां फलत्रयम्, अलौकिकसामर्थ्यम्, सायुज्यम्, सेवोपयो-
गिदेहो वैकुण्ठादिषु । सर्वत्र साधनान्ते फलम् । फले लब्धे साधनत्यागः । अत्र
सेवासाधकसेवायां क्रियमाणायामित्युक्तया न तद्भ्रमस्यावकाशः । यादृशी सिद्धान्तमुक्ता-
वत्यां कथिता मानसी सेवा, तत्सिद्धौ मानसीत्वे सिद्धे, तस्यां यत्फलत्रयमलौकिकादि,
तदुच्यते । आद्यफलस्यालौकिकसामर्थ्यस्य प्रभुणा दाने कृते, चकारात्तद्देहेन्द्रियादिषु
स्वरूपे स्थापिते, आदौ उक्तमफले जातो मनोरथः सिध्येत्, तस्यादाने फलं सायुज्यं वा
सिध्येत्, अधिकारः सेवोपयोगिदेहो वा सिध्येदित्यग्रिमेणान्वयः । हि युक्तोयमर्थः ।
अत्र द्वौ वाशब्दौ पूर्वफलतुल्यत्वबोधकौ ॥ १ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्, उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा ।
फलमिति । आद्यफलमनियतम्, परमानुग्रहैकलभ्यत्वान् । एवं चाद्यस्य दानैकहेतुत्वम् ।
फलद्वयस्य साधारणानुग्रहहेतुत्वम् । नन्वधिकारस्य सेवापूर्वकाले स्थितत्वात्कथं फलत्वमित्यत
आहुः न काल इति । अस्मिन्नधिकारे सत्ययुगादिरूपः कालो नियामको न । अतः
कालानियम्यत्वात्फलताधिकारस्य । एवं सोपपत्तिकं फलत्रयमुक्त्वा प्रतिबन्धकत्रयमाहुः
मूले उद्वेग इति, विवृतिं सेवायामिति । उदधिको वेगः भयम्, अपराधादिना मन-
श्चाञ्चल्यं वा पापादिना । स च सेवाऽरुचिसम्पादनेन बाधकः । प्रतिबन्धश्च सेवायां रुचौ

सत्यामपि तत्समये लौकिकवैदिककायिकादिकार्यासक्तिरूपः । स च तत्समयरोधनेन बाधकः । भोगश्च शरीरवृत्त्यनुसारेणाभ्यवहारशयनादिरूपः । सोपि पूर्ववद्बाधकः ॥ २ ॥

ननु फलानामनुग्रहलभ्यतयानुग्रहस्य च भगवदिच्छाधीनत्वात्सेवायां क्रियमाण्यां मम फलं भविष्यति न वेति सन्देहः कथमपेयादतस्तन्निवारणाय तु बाधकमित्यारभ्य यथा वेत्यन्तमाहुः ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

यथा वाऽतत्त्वनिर्धारोऽविवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

बाधकानां परित्यागः,

त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भगवतो बाधकत्रयं न करणीयं चेत् तर्हि मनस अन्यत्र गमनं न, फलं तु यथा वा । येन प्रकारेण सेवा तथा तेन प्रकारेण फलमिति सन्देहाभावः । यद्वा भक्तिमार्गो भगवदनुग्रहलभ्यः । तस्मिन् कथं प्रतिबन्धकत्रयमित्यतस्तु बाधकमित्यादि यथा वेत्यन्तमाहुः । वाक्यत्रयमत्र । बाधकं पूर्वोक्तं भगवतोर्कर्तव्यं चेत्तदा गतिर्नाम सेवायां सायुज्यम् ॥ १ ॥ बाधकं चेत् सर्वथा तदा न हि फलाभाव इत्यर्थः ॥ २ ॥ यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्यथा बाधकं तथा चेत्तदा वा नाम फले विकल्पः ॥ ३ ॥ तथा चैवं भगवदिच्छयानुग्रहस्य त्रैविध्यात् फले त्रैविध्यम् । तथा च यस्य जीवस्य यादृशोधिकारः स तादृशीं सेवां करिष्यति, तस्य स्वाधिकारयोग्यं फलं च भविष्यतीति सन्देहाभावः । एवं फलविकल्पे प्राप्ते किं कार्यमत आहुः अतत्त्वनिर्धार इत्यारभ्य बाधकानां परित्याग इत्यन्तम् । विवृतौ त्रयाणामिति । त्रयाणामुद्देशादीनां साधनस्यातत्त्वनिर्धारस्याविवेकस्य च तत्त्वनिर्धारस्य विवेकयोरभ्यासेन सर्वतस्त्यागः कर्तव्यः । ननु तत्त्वनिर्धारविवेकौ किंरूपौ? तथा हि, तस्य लोकवेदप्रसिद्धस्य पुरुषोत्तमस्य भावस्तत्त्वम्, तस्य निर्धारणं निर्धारः । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' 'स हैतावानास,' 'अखण्डं कृष्णवदित्यादिभिः सर्वत्र भगवद्भावनम् । विवेकस्तु 'हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यतीति सर्वत्र भगवत्कृतिः । ननु बाधकानां मध्ये भोगस्यापि त्यागे जाते तं विना शरीरस्थितेरसम्भवात् सेवाया असिद्धिमाशङ्क्य त्यागे व्यवस्थामाहुः भोगेपीति ।

भोगेऽप्येकं तथा परम् ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विद्यते सदा ॥ ४ ॥

भोगो हि द्विविधः, लौकिकोऽलौकिकश्च । तत्र लौकिकस्याज्य एव । प्रतिबन्धोपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्चेति । तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्यः । अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति । भगवत्कृतश्चेत्प्रतिबन्धस्तदा भगवान्फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदान्यसेवापि व्यर्था । तदासुरोयं जीव इति निर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तव्यं

शोकाभावायेति विवेकः । भोगप्रतिबन्धयोरैकं परित्याज्यम् । अपिशब्देन प्रतिबन्धस्य ग्रहणम् । तथा परं द्वितीयं निष्प्रत्यूहं विघ्नरहितम्, तत्र हेतुः, महान्भोगः । एवं प्रतिबन्धरूपं वस्त्वपि निष्प्रत्यूहम् । तत्र हेतुः, सदेति । एतत्सर्वं मनसि कृत्वा विवृतौ तात्पर्यमाहुः सूचिकटाहन्यायेन । पूर्वं भोगद्वैविध्यमाहुः भोग इति । लौकिका-लौकिकभेदेन भोगो द्विधा । तत्र अलौकिको भोगो लौकिकासक्तिरूपत्वात् सेवासमय-रोधकत्वात्त्याज्यः । एवं लौकिकभोगं निरूप्य हेतुसहितमलौकिकभोगं निरूपयन्ति तथेति । विवृतौ अलौकिकेति । अलौकिको यो भोगः स तु फलत्रये यदाद्यमलौकिकसामर्थ्यं तस्मिन् सति भगवदत्तप्रसादेन भवतीति तत्प्रवेश उक्तः । एवं च तस्यात्याज्यत्वे बीज-मुक्तम् । एवं द्विप्रकारकं भोगं निरूप्य द्वितीयप्रतिबन्धस्य निर्विघ्नत्वे यो हेतुर्मूले सदा-पदेनोक्तस्तं विवृतौ भगवत्कृत इत्यादिना विशदयन्ति । सेवायां प्रवृत्तस्य यदा दुःसङ्गा-दिना भगवदीयद्रोहे कृते प्रभुः स्वयं प्रतिबन्धं करोति, तदा सेवयामरुचिर्भवति, तदा सर्वथा फलाभावः, तदा तदुपायार्थमन्यसेवनं न कर्तव्यम्, व्यर्थत्वात्, तदायं जीव आसुर एव । दैवजीवे सर्वथा फलाभावाभावात् । तदा एतादृशे प्रतिबन्धे चिन्तानिवृत्त्यै आदि-सृष्टौ भगवान् जीवं यथा विचारितवांस्तथैव निजेच्छया करिष्यतीत्यादिरूपेण ज्ञानमार्गेण स्यात्तव्यम् । एवमलौकिकभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धयोरत्याज्यतामुक्त्वा साधारणप्रतिबन्ध-लौकिकभोगयोस्त्यक्तव्यत्वे विवृतौ बीजमवतारयन्ति साधारणेति ! साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकाङ्क्षायामाह सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति । ननु लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ केन हेतुना केन प्रकारेण च त्यक्तव्याविति व्याकुर्वन्ति सविघ्नइति । लौकिको भोगः सविघ्नत्वाल्पत्वाभ्यां हेतुभ्यां साधारणोऽत्याज्यः । घातकत्वेन हेतुना साधारणः प्रतिबन्धस्त्याज्यः । नन्वेतत्त्यागप्रकारस्तत्त्वनिर्धारविवेकरूपः पूर्वमुक्त इति पुनः किमर्थमुच्यते ? सत्यम् । पूर्वं यदुक्तः स तु नवीनतदुत्पादकसाधनत्यागरूपः । अयं तूत्पन्नयोस्त्यागप्रकारोत् उच्यते ।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्वलादेतौ सदा मतौ ।

सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्यः । एतौ सदा प्रतिबन्धकौ । वलादिति । यत एतौ सदा क्षणेक्षणे सेवासमयरोधकत्वेन मतौ ज्ञातौ । अतो वलाद्दृढाद्बुद्धोपायचातुर्येण त्याज्यौ । तत्स्वरूपं श्रीपुरुषोत्तमा आहुः । तथाहि, 'यथाधिकं भुक्तं चेन्ममेदानीं तना सेवा गता, मया गानाद्यासत्तया जागरः कृतश्चेदिदानीं निद्रायाति, तस्मादेवं न विधेयमिति । प्रकृतमनुसरामः । अतःपरं ज्ञानस्थित्ययोग्यानां भगवत्कृतप्रतिबन्धे स्थितिप्रकारमाहुः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्याऽसंसारनिश्चयार्त् ॥ ५ ॥

द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः । ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावाधमाह द्वितीय इति । द्वितीय इति भगवत्कृतप्रतिबन्धे ज्ञानस्थितावपि पुष्टिमार्गीयफलविपयिणी चिन्ता सर्वथाऽ-

त्याज्या । कुतः ? असंसारनिश्चयात् । अत्रायमर्थः । 'अस्मिन्पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यत' इति वाक्येन अलीखानादिरिव जन्मान्तरे उद्धरिष्यति ।

एवं भोगप्रतिबन्धौ त्याज्यत्वेन विचार्य उद्देगत्यागे बीजं वदन्ति नन्विति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति तदा सेवानाधिदैविकी-
त्युक्तं भवति । अत्र पाठद्वयम् । नन्विति, न त्विति । नु निश्चयेन, आद्ये उद्देगे
सति फलविषयिणी चिन्ता न त्याज्या । तत्र हेतुमाहुः भगवतो दातृता नास्ति ।
एतदेव विवृतावाद्येत्यादिनोक्तम् । एवं च सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकत्वादुद्देगोपि
त्याज्यः, यदिच्छाकृतो यस्तूद्देगः, स एवैनं निवारयिष्यतीतिविचारेण त्याज्यः । एवं
जानतोपि यथाकथञ्चित्सेवायां प्रवृत्तस्य यदा लौकिकभोगः प्रतिबन्धं करोति तदा कर्त-
व्यमाहुः तृतीय इति । विवृतौ तदपि भोगेत्यादिना व्याचक्षते । भोगाभावस्तदैव
सिध्यति यदा गृहपरित्यागः । तृतीये भोगरूपे प्रतिबन्धे गृहमेव त्यजेत्, कृष्णा-
र्थमेव गृहं प्रयुञ्जीत । तथा कृते भोगस्यलौकिकत्वं सिध्येदिति लौकिकभोगस्त्यक्त एव ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ।

एवं कठिनांशं स्वयं व्याकृत्य गृहत्यागेऽसमर्थानां यत्कर्तव्यं तदाहुः अवश्येति ।
इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी चावश्या, अतो बाधकानामुपस्थितौ स्वदैन्यसिद्धये
सदा विचारणीया । अन्यत्सर्वमिदं साध्वसाधु वा मत्कृतमित्यादिरूपं मनोभ्रमः चित्त-
बाहिर्मुख्यमेवेति ज्ञेयम् । ननु भगवान् सत्यप्रतिज्ञः, यथा पूर्वं विचारितवांस्तथैव करिष्य-
तीति किमेतेनेत्याशंक्याहुः तदीयैरिति । एते हि समर्पणेन तदीयाः । स्वकीयानां सर्वं
चिन्तनं भगवत एव करणीयम् । अतो भगवदीयैरपि तदुक्तभावनं कार्यम् । एतेनानन्य-
शरणान् ज्ञात्वा पुष्टावनुग्रहे भगवान् बाधकेषु सत्स्वपि नैव विलम्बयेत्, फलं दद्यादेव ।
ननु चित्तजानां गुणानां क्षोभे विचारे क्रियमाणेषु प्रतिबन्धो भवेदेव तदा यत्कार्यं
तदाहुः गुणेति । सत्त्वादिगुणेषु क्षुभ्यमाणेष्वपि भगवत्कृतः प्रतिबन्ध एव कारणमिति
द्रष्टव्यम् । तदापि भगवदिच्छाविचारणमेवोपायो नान्यः । मम मतेरत्रैव पर्यवसानम् ।
सर्वमन्यन्मनोभ्रम इति पूर्वमुक्तत्वात् । अत्रास्मिन्विषये काचिदुत्पद्येत् कुसृष्टिशुक्तिः
भगवत्कृतप्रतिबन्धस्य निवारणे अन्योप्युपायोस्त्येतद्रूपा मनसि जायेत तदा सापि भ्रमरूपै-
वेतिज्ञेयम् । एतेनानन्यभावनपूर्वकं भगवदीयैः श्येयम् ॥ ६ ॥ ७ ॥ ॥

इतिश्रीसेवाफलविवृतिव्याख्यानं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

लाल्भट्टोपनामश्रीबालकृष्णदीक्षितविरचितटिप्पणीसमेतम् ।

श्रीराधावदनेन्दुश्रीपानभक्तचकोरकम् ।

मोवर्धनधरं वन्दे ब्रजराजकिशोरकम् ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्यवर्यश्रीविह्वलेशकृपाबलात् ।

सेवाफलस्य विवृतेर्विवृतिं वितनोम्यहम् ॥ २ ॥

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

सेवायां फलत्रयमिति । सेवायां सिद्धायां सत्याभित्यर्थः । मूले यादृशी
सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते इत्यत्र सिद्धावितिकथनात् सिद्धस्यैव सर्वत्र
फलसाधकत्वात् । तथा च यादृशी सेवना तृतीयस्कन्धे देवहूतिं प्रति कपिलदेवेन 'देवानां
गुणालिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्वं एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु यां ॥ अनिमित्ता
भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'त्यनेन भक्तिशब्देनोक्ता, तस्याः सिद्धौ मुख्यमध्यमहीना-
धिकारभेदेन फलत्रयं ज्ञेयम् । तदेव फलत्रयमाहुः अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं
सेवौपधिकदेहो वैकुण्ठादिष्विति । अलौकिकसामर्थ्यं तु साक्षात् श्रीवृन्दा-
वनादौ श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनस्पर्शनादिकृतिक्षमत्वम् । 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंसप्रसन्न-
वक्रारुणलोचनानि । रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ती'तिवाक्या-
दिह 'पश्यन्ति त' इति तच्छब्देन 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता
मदीहाः' इति पूर्वश्लोके उक्ता मोक्षाभिलाषिणो गृह्यन्ते । तेषां मोक्षान्तपुमर्थानभिलाषात्
स्वतन्त्रसेवैकाकांक्षया अलौकिकसामर्थ्यं भवति । तेषां पूर्वोक्तभक्त्या प्राकृतलिङ्गशरीरं
नश्यति । 'जरयत्याशु या कोश'मितिवाक्यात् । ततो लिङ्गशरीरनाशे सति भगवद्दर्शनाद्य-
भावे प्रसक्ते सायुज्ययोग्यतायां यदि भगवान् कृपयति तदा दिव्यान्यलौकिकेन्द्रियाणि
सम्पादयति, ततस्तैर्भगवद्दत्तैरप्राकृतेन्द्रियैः 'पश्यन्ति ते मे' इति श्लोकोक्तं दर्शनादि
सिध्यति । तदेतदुक्तं मूले ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

अर्थस्तु अलौकिकस्येन्द्रियवर्गस्य दाने भगवता कृते सति आद्यः 'पश्यन्ती'-
त्यादिश्लोकत्रयोक्तेषु त्रिषु फलेषु प्रथमो मनोरथो भगवद्दर्शनादिविषयकः सिध्येत्,
फलपर्यवसायी भवतीति भगवद्दर्शनादेः परमफलत्वम् । 'अक्षण्वतां फलमिद'मितिश्रुति-

रूपगोपिकावाक्यात् । अक्षण्वतामिन्द्रियवतामित्यर्थः । तस्मादलौकिकेन्द्रियदानं भगवत्कर्तृकमपेक्षितम्, अन्यथा पूर्वोक्तभक्त्या 'जरयत्याशु या कोश'मितिवाक्याल्लिङ्गशरीरभङ्गे दर्शनादिकं न सिध्येदिति भावः । न च मास्तु दर्शनादि, सायुज्यमेवास्त्वितिवाच्यम् । 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि'दितिवाक्येन तेषां तदनभिलाषात् । इह एकात्मतां न स्पृहयन्ति, अपि तु दर्शनादिकमेव स्पृहयन्तीत्यर्थादायाति । 'मत्पादसेवाभिरता' इति वाक्यात् । अत एव मूले स्पृहापदपर्यायः मनोरथशब्दः उक्तः । अत एव वृत्रासुरेणोक्तं 'न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे' इति । अर्थस्तु अपुनर्भवं मोक्षमपि त्वां विरहय्य न कांक्षे अपि तु त्वामेव फलत्वेन कांक्षे इति । एतदेव श्रीब्रजसुन्दरीभिरुक्तं 'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम' इति । परो मोक्षः सायुज्यादिरिति सुबोधिन्यां व्याख्यातं च । अत इन्द्रियवतामिदमेव रसात्मकं पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम् । 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चे'ति सुबोधिन्यां सर्वेन्द्रियभोग्यत्वेन कथनात् । अत एवाक्षण्वतामित्यस्य सुबोधिन्यां 'मात्मलाभात् परं विद्यते'तिश्रुतेर्मोक्षस्यैव पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम्, तद्रहितानां तु मोक्ष एव फलमिति व्यवस्थापितम् । पुष्टिभक्तास्तु भगवद्देन्द्रियाणि लब्ध्वा सकलेन्द्रियैः रसात्मकं स्वरूपमनुभवन्ति । न ह्येतादृक्त्वं सायुज्यादाविति । 'ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा संघातस्य विलीनत्वा'दितिनिबन्धात् । अत एव 'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इत्यनेन सालोक्यादीनामग्रहणमुक्तम् । न च मोक्षसुखाज्ञानान्न गृह्णन्तीतिवाच्यम् । 'मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतो न्यत्कालविभुत'मितिवाक्ये सेवया पूर्णा इत्युक्त्या तेषां भगवता सभाजनात्, अन्यथा अज्ञत्वान्न गृह्णन्तीति भगवान् तेषां निन्दामेव कुर्यान्न स्तुतिम् । अतो ज्ञायते भगवत्सेवायां मोक्षादप्यधिकरसोस्तीति । 'मधुद्विद्रसेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रिति वाक्याच्च । अतः फलदशायामाधिदैविकवृन्दावनादौ या फलरूपा भगवत्सेवा सा मोक्षादप्युत्कृष्टा । अतः सा भगवता परमानुग्रहभाजनाय तादृशाधिकारिणे पुष्टिभक्ताय दीयते, न तु सर्वेभ्यः भक्तेभ्य इति ज्ञेयम् । 'अस्त्वेवमंग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति शुकवाक्यात् । इह भक्तियोगमित्यस्य फलरूपपुष्टिभक्तियोगमित्यर्थो ज्ञेयः । एतस्मिन् श्लोके मुक्तिं ददाति भक्तिं न ददातीत्युक्त्या भगवत्कर्तृकदानं विना तादृशी भक्तिर्न प्राप्यत इत्युक्तं भवति । अत एवात्रापि मूले अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथ इत्यनेन दानमेवोक्तम् ।

तथा च सिद्धमेतत् । अलौकिकसामर्थ्यरूपं फलं पुष्टिमार्गीयसेवायामेव, फलद्वयं तु मर्यादाभक्तानाम् । ननु तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्ये 'देवानां गुणलिंगाना'मित्यत्र भक्तेर्लक्षणमुक्त्वा 'पश्यन्ति ते मे' इत्यादिना भक्तिफलत्वेन फलत्रयमुक्तम् । तत् कथ-

मुच्यते सेवायां फलत्रयमिति चेत् । न । भक्तिशब्देन सेवाया एवाभिधानात् । भज सेवायामितिधात्वर्थोत् । 'लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्,' 'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे,' 'सालोक्यसाष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः' 'स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इत्यत्रादौ भक्तिपदमुक्त्वा, मध्ये सेवनपदं पठित्वा अग्रे स एव भक्तियोगाख्य इति भक्तिपदमुक्तम् । अतोपि ज्ञायते भक्तिशब्देन सेवैव । 'देवानां गुणलिंगाना'मितिलक्षणमुक्त्वा 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहा' इत्यत्र 'सेवाभिरता' इत्यनेन सेवैवाभिहिता, अतोपि भक्तिशब्देन सेवैव । तदुक्तं निबन्धे सर्वनिर्णये, 'भक्तिशब्दस्य धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमे'ति । तथा च प्रेमसेवा भक्तिशब्दार्थः । इयमेव प्रेमसेवा मानसी सेवेत्युच्यते 'चेतस्तत्प्रवर्णं सेवे'ति सिद्धान्तमुक्त्वावल्यां मनोवृत्तेः सेवात्वकथनादत्रापि 'मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु ये'त्यनेन मनोवृत्तेर्भक्तित्वकथनात् । अतो 'यादृशी सेवना प्रोक्तेत्यत्र सेवनाशब्देन मानसी सेवोच्यते । तस्याः सिद्धौ अलौकिकसामर्थ्यरूपं फलं भवति, तस्यास्तारतम्ये गौणं फलद्वयमुक्तम् । अतो भक्तिशब्देन मुख्यतया मानसी सेवाभिधीयते ।

इदं त्ववधेयम् । 'देवानां गुणलिंगाना'मिति भक्तेः स्वरूपलक्षणमुक्त्वा, 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरतामदीहा' इत्यनेन भक्तेः कार्यलक्षणमुक्तम् । तथा च मोक्षान्तपुमर्थस्पृहाराहित्यसम्पादकत्वं तादृग्भक्तित्वमिति भक्तेः कार्यलक्षणम् । एवं सति सर्वपुमर्थान् भक्ता न स्पृहयन्तीत्युक्ते भगवत्स्वरूपमात्रं स्पृहयन्तीति सिध्यति । एवं सकलपुरुषार्थाभिलाषशून्ये पुरुषोत्तमस्वरूपमात्रफलाभिलाषिणि भक्ते परमानुग्रहपरवशो भगवान् स्वरूपात्मकफलप्राप्तये तत्फलप्राप्त्यनुकूलमलौकिकसंघातं सम्पाद्य स्वयं फलरूपेण सर्वेन्द्रियविषयो भवति । तदेतदुक्तम् । अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः इति मूले, अलौकिकसामर्थ्यमित्यनेन टीकायां विवृतं च । ननु तृतीयस्कन्धे अलौकिकविग्रहप्राप्तिसंज्ञेति कथमत्राचार्यैरलौकिकसामर्थ्यं फलत्वेनोक्तम् । तर्कप्रमाणकमिति चेत्, श्रूयताम् । 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंस प्रसन्नवक्रारुणलोचनानी'त्यनेन भगवद्दर्शनादीनां फलत्वेनोक्तिरत्र मानम् । अन्यथा तादृग्मलौकिकसंघातं विना 'पश्यन्ति ते मे' इत्यत्रोक्ता दर्शनाद्युक्तिर्विष्येत । लौकिकेन्द्रियवर्गस्य निवृत्तत्वात् । 'जरयत्याशु या कोशं निर्गीर्णमनलो यथे'तिवाक्यात् । अतो दर्शनाद्यन्यथानुपपत्त्या अलौकिकदेहेन्द्रियप्राप्तिराक्षिप्यते । सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिः । तथा च सिद्धमलौकिकसामर्थ्यरूपमुत्तमं फलमुत्तमानाम् ॥ १ ॥

एवमुत्तमाधिकारिणामुत्तमफलमुक्त्वा मध्यमाधिकारिणां फलमाहुः सायुज्यमिति । 'मद्भक्तिं लभते परां' भक्त्या मामभिजानाती'त्युक्त्वा 'विशते तदनन्तर'मित्यत्रोक्तं सायु-

ज्यमित्यर्थः । इदं मध्यमं फलम्, अलौकिकसामर्थ्यापेक्षया हीनम्, सेवौपयिकदेहापेक्षयो-
त्तमम् । अतो मध्यमम् । अलौकिकेन्द्रियवर्गस्य दानसापेक्षत्वान्मध्यमानां तदलाभे सायुज्यं
भवति । तदुक्तं मूले, फलं चेति ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

फलशब्देन सायुज्यम् । साधारणमर्यादया सर्वेषां भक्तिमतां तत्प्राप्तेः । 'हृतात्मनो
हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वी प्रयुक्त' इति तृतीयस्कन्धवाक्यात् । न चात्र
वाक्ये 'अनिच्छत' इतिपदेन मोक्षेच्छाशून्यानां पुष्टिभक्तानां ग्रहणात्तेषामेव सायुज्य-
लाभोस्तीतिवाच्यम् । मोक्षस्पृहयैव तैर्मगवद्भक्तेः कृतत्वात् । अनिच्छाकथनं तु भक्तिमहिम्ना
कदाचित्तादृशभावोदयात् । न ह्ययं भावस्तेषां सार्वदिकः । अतो भगवति प्रेमाप्येतेषां
सोपाधिः । मोक्षदानृत्वेन भगवति जातत्वात् । अत एतेषां सायुज्यप्राप्तिर्भवति । एतच्च
तृतीयाध्यायभाष्ये स्फुटम् । पूर्वोक्तालौकिकसामर्थ्यरूपफलाधिकारिणां तु भगवति निरुपा-
धिकं प्रेम । सायुज्यादिपुमर्थस्य स्पृहाराहित्येनैवोत्पन्नत्वात् । अतो भगवत्स्वरूपस्य सकले-
न्द्रियास्वाद्यत्वेन तेषामपेक्षितत्वाद्दलौकिकसंघातं दत्त्वा सर्वेन्द्रियास्वाद्यो भवति, येषां
मोक्षदातृत्वेन सोपाधिकं हरौ प्रेम तेषां सायुज्यमिति विवेकः ।

एवं मध्यमानां फलमुक्त्वा हीनानां फलमाहुः सेवौपयिकदेहो चेति । व्यापि-
वैकुण्ठादौ पार्षदादिदेहप्राप्तिरित्यर्थः । 'अथो विभूतिं मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टांगमु-
प्रवृत्तम् । श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेशुवते तु लोके' इतिकपिलवाक्यात् ।
एतदाभासे 'सालोक्यादिरूपं फलमाहे'ति सुबोधिन्यामुक्तत्वात् ।

अत्र केचिद्वैकुण्ठशब्देन व्यापिवैकुण्ठेतरवैकुण्ठानां ग्रहणमिति वदन्ति । तत्र ।
'व्यापिवैकुण्ठे सर्वमैश्वर्यादिकमश्रुवत इत्यर्थ' इति सुबोधिन्यामुक्तत्वात् । न चालौकिक-
सामर्थ्यं मुख्यफले तादृशविग्रहप्राप्तिरुक्ता, एवं तृतीयेपि सेवौपयिकदेहस्याप्राकृतस्य प्राप्ति-
रुच्यते, अतः प्रथमतृतीययोः साम्यमापत्तिमिति वाच्यम् । प्रथमफले भगवतः सर्वेन्द्रिय-
भोग्यत्वेन तद्भोगानुगुणदेहलाभः, तृतीये तु सेवामात्रयोग्यदेहलाभ इति विशेषवैलक्षण्यात् ।

इदमत्र ज्ञेयम् । अलौकिकसामर्थ्यरूपं फलं व्यापिवैकुण्ठान्तर्वर्तिनि आधिदैविके
वृन्दावनवृहद्वनादौ प्राप्यते । 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतसे'त्यस्य व्याख्याने वृन्दावनादौ
भगवत्साक्षात्कारो भवतीति सुबोधिन्यामुक्तत्वान्मूले अधिकारशब्देन सेवौपयिकदेहो
गृह्यते, तादृशदेहस्य सेवाधिकाररूपत्वात् ।

एवं फलत्रयमुक्तम् । तत्रालौकिकसामर्थ्यरूपं फलं पुष्टिभक्तानाम् । सायुज्यं सेवौ-
पयिकदेहो मर्यादाभक्तानाम् । अत एव नवमनिबन्धे 'देहभावे दृढे तु स्याद्भक्तानां
कृष्णदासता । सायुज्यं वान्यथा तस्मिन् गंगातीरे न संशय' इत्यनेन गंगासेवातः सायुज्य-
सेवौपयिकदेहप्राप्तिरुक्ता । सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'मर्यादास्थस्तु गंगायां श्रीभागवततत्पर'

इत्यनेन मर्यादास्थस्य तु गंगासेवनमुक्तम् । अत एव 'मर्यादाभक्तिमार्गस्य काष्ठा गंगा
परा मते'ति निबन्धे उक्तम् । अत एव मर्यादाभक्तेः सायुज्यादिफलम् । पुष्टिभक्तेस्तु
नित्यलीलाप्रवेशरूपं फलमिति स्पष्टमेव तृतीयचतुर्थाध्यायभाष्ये निरूपितमिति दिक् ।

न कालोत्र नियामकः । अत्र फलत्रयेपि कालो न नियामकः । फलत्रयं
कालपरिच्छेदं न भवतीत्यर्थः । 'न कर्हिचित्मत्पराः शान्तरूपे नक्ष्यन्ति नो निमिषो
लेढि हेति'रिति कपिलवाक्यात्, 'मत्परा न नक्ष्यन्ती'त्युक्त्या मत्परशब्देन फलत्रयप्राप्तानां
ग्रहणात् ॥ १॥ ॥

कार्यमात्रप्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणतास्वीकारात् सेवासिद्ध्यर्थं सेवाप्रतिबन्धा दूरी-
कर्तव्या इति तदर्थं प्रतिबन्धकाच्चिरूपयन्ति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम् ।

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्, उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा । उद्वेगो
भगवत्सेवासमये चित्तक्लेशप्रदश्चाञ्चल्यविशेषः । स च भगवत्सेवां प्रतिबध्नाति । **भोगः**
सुखसाधकतया विषयासक्तिसम्पादकत्वेन भगवदासक्तिविरोधात् सेवाविरोधी । एतत्प्रति-
बन्धकद्वयं दुःखसुखसाधकं प्रतिबन्धरूपम् । 'प्रतिबन्धकं तूदासीनं दुःखसुखे प्रयच्छ-
ती'त्यस्य न नामान्तरेण निर्देशः, किन्तु प्रतिबन्धशब्दवाच्यतैव । 'कायेन वाचा
मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावा'दित्यत्र वाचनसोर्विशिष्टकार्यमादाय इन्द्रिये-
भ्यः पृथक्तया गणनात् । एवमुद्वेगभोगयोरपि दुःखसुखप्रदत्वेन विशिष्टत्वात् पृथङ्-
निर्देशः । अन्यथा प्रतिबन्धकशब्देनैव उद्वेगभोगयोर्ग्रहणसम्भवात् पृथङ्नामनिर्देशो
व्यर्थः स्यात् । **त्रयाणामिति ।** उद्वेगप्रतिबन्धभोगानां यानि साधनानि हेतवस्तेषां
परित्यागः कर्तव्यः । साधनपरित्यागे प्रतिबन्धानामनुत्पत्तेः । मूले बाधकानां
परित्याग इत्यस्य तेषां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति व्याख्यानं टीकायाम् ।
प्रतिबन्धकेषु भोगशब्देन लौकिको भोगो ग्राह्यो न त्वलौकिक इत्याहुः **भोगो**
द्विविध इत्यारभ्य लौकिकस्त्याज्य एवेति व्याख्यानं टीकायाम् । मूलार्थस्तु
भोगे लौकिकालौकिकभोगे एकं लौकिकभोगात्मकं परं प्रतिबन्धक-
मिति । तत्राद्य इति । साधारणप्रतिबन्धभगवत्कृतप्रतिबन्धयोर्मध्ये आद्यः साधारणप्रति-
बन्ध इत्यर्थः । तस्य स्वरूपं तु सुखदुःखाजनकत्वेन सेवाप्रतिबन्धकत्वम् । यथा सेवा-
समये उदासीनेन वागादिव्यवहारः क्रियते स सेवां प्रतिबध्नाति, उद्वेगभोगौ तु दुःखसुख-
जनकौ, सेवाप्रतिबन्धकाविति विवेकः । बुद्ध्या त्याज्य इति । चातुर्येणेत्यर्थः । तथा च
व्यवहारचातुर्येण सेवानवसरे लौकिकं कार्यं तथा कर्तव्यं यथा सेवानवसरे तादृशं वागादि-
व्यवहारकार्यमेव न पतेदित्यर्थः । अथवा साधारणप्रतिबन्धो वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च । स

तु बुद्ध्या त्याज्यः, बुद्धिपूर्वकं तस्य त्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । अलौकिकभोगस्त्विति । भगवत्सेवार्थं मुखदुर्वासनादिदोषनिवृत्तये ताम्बूलभक्षणादिरूपः, भगवद्भामित्वादलौकिकः । 'मन्निष्टं निर्गुणं स्मृतं'मितिवाक्यात् । 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा' इति श्लोके भगवदर्थं कृतस्य दन्तधावनादेरपि भगवद्धर्मत्वस्य नवयोगिप्रसंगे कविनोक्तत्वात् । 'धर्मान् भागवतान् ब्रूते'ति प्रश्लोपकृतात् । श्रीमत्प्रभुचरणैः स्वतन्त्रे तथा व्याख्यानाच्च । फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीति । साधनत्वेन प्रविशतीत्यर्थः । अलौकिकसामर्थ्यरूपफलसाधको भवतीति यावत् । अतोयमलौकिकभोगो न त्याज्यः । तदुक्तं मूले ।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ।

अर्थस्तु महान् भोगः पूज्यो भोगो भगवत्सेवार्थमंगरागलेपादिरूपः निष्प्रत्यूहं निर्विघ्नं यथा स्यात्तथा प्रथमेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे फले प्रविशति, तत्फलसाधको भवतीति यावत् । साधारणप्रतिबन्धस्य बुद्ध्या त्याज्य इत्यनेन निवृत्त्युपाय उक्तः ॥२॥३॥

एवं भगवत्कृतप्रतिबन्धकस्यापि निवृत्त्युपायो वक्तव्य इत्याशंक्य नास्य कश्चिन्निवृत्त्युपाय इत्याहुः भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य विवेक इत्यन्तेन । तदा भगवान् फलं न दास्यतीति । सेवाफलं मुक्तिरूपं न दास्यतीत्यर्थः । तदान्यसेवापीति । मुक्तिप्राप्त्यर्थमन्यस्य तीर्थादेरित्यर्थः । तत्र हेतुः । तदाऽसुरोद्यमिति । आसुरस्य तु 'निबन्धायासुरी मते'ति भगवद्वाक्यात् तस्य मुक्तिर्न भवतीति तीर्थादिसेवापि व्यर्थेति भावः । तदुक्तं मूले ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हीति ।

ननु यस्य भगवत्कृतः प्रतिबन्धः स आसुरः, तस्य सर्वथा मुक्तिर्नास्तीति निरूपितम्, तर्हि फलाशाराहित्यजनितक्लेशः स्यात्, तत्क्लेशनिवृत्तिः कथं स्यादित्याशंक्य क्लेशनिवृत्त्युपायमाहुः तदा ज्ञानमार्गेणेति । येनाहमुत्पादितः तेन परमेश्वरेण यद्विचारितं तथैव भविष्यतीति मया दुःखं त्याज्यमित्यादिज्ञानरूपेण साधनेन नैश्चिन्त्येन श्रेयमित्यर्थः । तदुक्तं मूले ।

यथा चा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ।

साधनमिति शोकाभावसाधनमित्यर्थः । एवं साधारणप्रतिबन्धो बुद्ध्या त्याज्य इत्युक्त्वा भगवत्कृतप्रतिबन्धस्याशक्यत्यागत्वात् तज्जन्यशोकनिवृत्तये ज्ञानमार्गेण श्रेयमित्युक्तम् ॥ ४ ॥

अतःपरं भोगरूपप्रतिबन्धनिवृत्त्युपायमाहुः साधारणो भोगः कथमित्यारभ्य त्याज्य इत्यन्तेन । भोगस्य सुखहेतुत्वेन त्याज्यत्वं न मनस्यायातीत्याशंक्याहुः ।

सविघ्नोत्पोघातकः स्यादिति ।

सविघ्नत्वादत्पत्वाद्भोगस्य त्याज्यत्वम् । भोगस्य सविघ्नत्वमल्पत्वं च मुहुर्मुहुर्विचार्य त्यागः कार्य इति भावः । साधारणप्रतिबन्धस्य तु घातकत्वात्त्याज्यत्वम् । साधारण-

प्रतिबन्धश्च वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च । स च महादोषरूपत्वात् सेवासिद्धेर्घातको भवति । अत एव वेदनिन्दायाः पापानां च जन्मान्तरसम्पादकत्वं निबन्धे सेवाप्रकरणे उक्तम् । 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा । नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायत' इति । एतस्य सर्वेषु सेवाधिकारिषु सम्भवात् साधारणत्वम्, सकलसत्कार्यभात्र-प्रतिबन्धकत्वाच्च साधारणत्वम् । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु असुरमात्रविषयकत्वादसाधारण इति विशेषो ज्ञेयः । एतौ सदा प्रतिबन्धकाविति । लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ सदा सेवाप्रतिबन्धकौ । लौकिकभोगस्य वेदनिन्दारूपपापरूपसाधारणप्रतिबन्धस्य च सर्वदा सम्भवात् सर्वदा प्रतिबन्धकत्वमित्यर्थः । तदुक्तं मूले ।

बलादेतौ सदा मताौ ।

सदा प्रतिबन्धकौ मतावित्यर्थः । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्याशक्यत्यागत्वादनिवार्यत्वेन आसुरजीवस्य सेवाफलाभाव इति निरूप्य तत्कृतशोकनिवृत्तये ज्ञानमार्गेण स्थितिः कार्येति पूर्वं निरूपितम् ।

अतःपरं येन ज्ञानमार्गेणैपि नाश्रयितुं शक्यस्तस्यासुरस्य चित्तस्वास्थ्यप्रकारमाहुः ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाहेति । यस्यासुरस्य ज्ञानस्थित्यभावस्तस्य चिन्ताऽभावसम्पादनार्थमित्यर्थः । द्वितीय इतीति । भगवत्कृतप्रतिबन्ध इत्यर्थः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

अर्थस्तु प्रतिबन्धयोर्मध्ये द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे चिन्ता न कर्तव्या । तत्र हेतुः । संसारनिश्चयादिति । मम संसार एव फलं परमेश्वरेण विचारितं न मुक्तिः । अत आशैव न रक्षणीया । 'निबन्धायासुरी मता' इति वाक्यात् । एवं च चिन्तापि न कार्येति । एवं प्रकारेण स्वास्थ्यं मनसि सम्पादनीयमितिभावः ।

एवमासुरस्य भेदद्वयम् । तत्र 'ज्ञानमार्गेण स्यात्त्वमित्येकः प्रकारः पूर्वं टीकायामुक्तः । मूले अकर्तव्यं भगवत इत्यारभ्य विवेकः साधनं मतमित्यन्तेनोक्तः । द्वितीयप्रकारस्तु 'ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाहे'त्यनेन टीकायामुक्तः । मूले द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयादित्यनेनोक्तः । एवं द्विविधस्याप्यासुरस्य सेवाफलाभावो निरूपितः, शोकाभावप्रकारश्चोक्तः ॥ ५ ॥

अतः परमुद्देगरूपप्रतिबन्धे किं कार्यमित्याकांक्षायामाहुः न त्वाद्ये दातृता नास्तीति ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

आद्ये त्रिषु बाधकेषु आद्ये उद्देगरूपे प्रतिबन्धे तु चिन्ता न त्याज्येति पूर्वस्थाम्यां

चिन्तापदत्याज्यपदाभ्यामन्वयः । तथा चोद्वेगरूपप्रतिबन्धस्य निवारयितुं शक्यत्वेन तत्रि-
वृत्त्युपायचिन्तां कृत्वा उद्वेगो निवर्तनीय इत्यर्थः । असाध्ये हि चिन्तात्यागो विधेयः ।
'तस्मादपरिहार्येयं न त्वं शोचितुमर्हसी'ति वाक्यात् । साध्ये तु चिन्ता रक्षणीयैव ।
यद्युद्वेगरूपप्रतिबन्धनिवृत्तिर्न स्यात्तदा किं स्यादित्याकांक्षायामाहुः । **आद्यफलाभाव**
इति आद्येन फलाभाव इति तृतीयातत्पुरुषः । आद्यशब्देन प्रतिबन्धेषु **आद्य** उद्वेग-
रूपस्तेन कृते फलाभावे **भगवतो दातृत्वं नास्ति**, भगवान् सेवाफलं न दास्यतीत्यर्थः ।
तत्र हेतुः । तदा सेवा नाधिदैविकीत्युक्तं भवति । 'मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु
या । अनिमित्ता भागवती भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी'ति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात् सेवाया
भगवत्परमनोवृत्तिरूपत्वेन तत्र चित्तस्थैर्यस्यापेक्षणादुद्वेगे च चित्तस्थैर्यनाशात् सेवाया
आधिदैविकीत्वं न स्यात्, अत उद्वेगनिवृत्तिः कर्तव्येति तात्पर्यम् । पूर्वं **त्रयाणां**
साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तं टीकायाम्, **बाधकानां परित्याग** इत्युक्तं
मूले । ततश्चोद्वेगत्यागः प्रतिबन्धत्यागो भोगत्यागश्चेति त्यागत्रयमनुमतं भवति । तेषु
तृतीयस्य भोगत्यागस्योपायमाहुः **भोगाभावस्तदैवेत्यादिना** । मूले **तृतीये बाधकं**
गृहमित्युक्तम् । अर्थस्तु **तृतीये भोगत्यागे गृहं बाधकम्** । गृहस्थस्य सर्वा-
त्मना भोगत्यागासम्भवादिति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।

अर्थस्तु इयमुद्वेगादिप्रतिबन्धकत्रयी अवश्यया स्ववश्या न भवति । अतः **सदा**
भाव्या विचारणीया, एतत्प्रतिबन्धकत्रयाः साधनपरित्यागो विचार्यः । एतत्प्रति-
बन्धकत्रयात् सावधानतया श्येयमिति तात्पर्यम् । ननु तर्हि प्रतिबन्धकत्रयसम्भवात्
सोपायं सेवामार्गं त्यक्त्वा ज्ञानादिमार्गं एवानुष्ठेय इत्याशंकापनुदन्तो ज्ञानादिमार्गेण
सेवासाध्यं फलं न भवतीत्याहुः **सर्वमन्यन्मनोभ्रम** इति । सेवातिरिक्तज्ञानादिरूपं
साधनं तु न सेवासाध्यफलसाधकम् । अतोत्र पूर्वनिरूपितफलत्रयाकांक्षिभिरन्यत्साधनं
कार्यमितिज्ञानं भ्रममात्रमित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु पुष्टिमार्गीयस्य भगवदनुग्रहपात्रस्य भगवत्पुष्टिस्वभावात् सेवाफलं सर्वथा भवि-
ष्यत्येव प्रतिबन्धकत्रयी त्वप्रयोजिकेति किमर्थं तद्विचारः कर्तव्य इत्याशंक्य तादृशस्यापि
एतत्प्रतिबन्धकत्रयी विचारणीयैवेत्याहुः **तदीधैरपि तत्कार्यमिति** ।

तदीधैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

तदीधैः पुष्टिमार्गीयैरपि तत्कार्यम् । प्रतिबन्धकत्रयीभावनं कार्यम् । किमर्थं कार्य-
मित्याकांक्षायामाहुः **पुष्टौ नैव विलम्बयेत्** । यद्यपि पुष्टौ फलाभावो नास्ति, तथापि
फलविलम्बस्तु प्रतिबन्धकत्रयेण भवेदतः पुष्टौ पुष्टिमार्गे न विलम्बयेद्विलम्बं न कार-

येत्, प्रतिबन्धकत्रयादसावधानश्चेत् स्यात्तदा विलम्बो भवेत्, अतः प्रतिबन्धकत्रयीभावनं
मुहुर्मुहुः कृत्वा त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । सोपि शीघ्रमेव, न विलम्बेन । एत-
द्विलम्बे फलविलम्बो भवेदितिभावः ।

ननु प्रतिबन्धकत्रयसाधनपरित्यागेपि सर्वत्र गीताभागवतादौ प्रकृतिगुणानां
सत्त्वरजस्तमसां प्राबल्यस्योक्तत्वात्तत्क्षोभकृतः सेवाप्रतिबन्धो भवेत्तदर्थं किं कर्तव्य-
मित्याकांक्षायामाहुः **गुणक्षोभेपीति** ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणानां क्षोभेपि एतदेव मदुक्तमेव द्रष्टव्यं विचारणीयमिति । एतद्विचारे
साधनपरित्याग एवोपायत्वेन स्फुरेत् । गुणक्षोभसाधनं तु सगुणवस्तुसंगः । सगुणं वस्तु
भगवतैकादशे निरूपितं पञ्चविंशत्याये । एवं सति सगुणवस्तुस्वरूपं ज्ञात्वा तत्संगस्य
त्यागः कर्तव्यः । व्यवहारनिर्वाहस्तु 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत'मित्यादिवाक्याद्भगवत्सम्बन्धि-
पदार्थस्य निर्गुणत्वाद्भगवदुपभुक्तशिष्टपदार्थैः कर्तव्यः । तथा सति गुणक्षोभदोषोपि न
भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु भगवदीयाः पदार्था निर्गुणाः, तैः सम्बन्धदोषपरिहार उक्तः, स च न
सम्भवति, सर्वस्यापि पदार्थस्य गुणत्रयात्मकत्वमितिसांख्यसिद्धान्तादित्याशंक्याहुः ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

भगवच्छास्त्रविरुद्धत्वात् सांख्यसिद्धान्तोक्तप्रमेयकथनं **कुसृष्टिः** । अतस्तादृशज्ञानं
भ्रम एव । यद्यपि सर्वपदार्थस्य सगुणत्वं, तथापि भगवत्सम्बन्धिपदार्थस्य निर्गुणत्वमेव ।
'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्' 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' 'निर्गुणं मदपाश्रय' मित्यादिवाक्येभ्य
इति भावः ।

सेवां पुष्टिपथप्रोक्तां कारयित्वा निजां फलम् ।

ददातु प्रथमं देवो बालकृष्णो मदीश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्भोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविठ्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन
लाट्भट्टोपनामबालकृष्णदीक्षितेन विरचिता सेवाफलविवृति-
टिप्पणी समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतविवरणसमेतम् ।

बार्हवर्हलसन्मौलि वेषुवादविशारदम् ।
दुःखं दलयतादुच्चैस्त्रिभंगललितं महः ॥ १ ॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यास्तत्सुतान् विद्वलेश्वरान् ।
विवृत्या सहितं सेवाफलं व्याख्यायते मया ॥ २ ॥
गीताभागवतादावप्युक्तं पण्डितबुद्धिगम् ।
पुष्टिसेवाफलं ज्ञात्वा विचारे त्वक्षमान् निजान् ॥ ३ ॥
विबोधयिषवश्चक्रुर्ग्रन्थं सेवाफलाभिधम् ।
सम्यग्विवरणोपेतं श्रीमदाचार्यपण्डिताः ॥ ४ ॥
षड्गुणाः सप्तमो धर्मी सर्वधर्म्यधिको ब्रजे ।
यथा विराजते नित्यं तत्सेवायाः फलं तथा ॥ ५ ॥
सर्वसेवाफलेभ्योत्र ज्ञायतामधिकं पुनः ।
इति ज्ञापयितुं सार्धसप्तपद्यैर्निरूपितम् ॥ ६ ॥

अथ श्रीभगवद्गीताश्रीभागवताणुभाष्यभागवततत्त्वप्रदीपसुबोधिन्यादिसमाकलना-
समर्थैः कैश्चिदतिकृपाभाजनैः स्वीयभगवदीयैः पृष्ठाः श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वमार्गीयसेवाफलं
निरूपयन्ति यादृशी सेवना प्रोक्तेत्यादि सार्धपद्येन ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

एतस्य विवरणं तु सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवो-
पयिकदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति । अत्र सेवायामिति तु यादृशी सेवना
प्रोक्ता तत्सिद्धावित्येतस्य विवरणम् । फलत्रयमिति तु फलमुच्यते इत्यस्य विव-
रणम् । अलौकिकसामर्थ्यमित्यादि अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्ये-
न्मनोरथ इत्यारभ्य अधिकारो वेत्येतदन्तस्य च विवरणं बोध्यम् ।

अथ व्याख्या । यादृशी 'कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता,
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धौ तनुवित्तजे' त्यादिना स्वतनुजस्ववित्तजसेवया प्रेम्णि
जाते आसक्तिस्वरूपतत्प्रवणचेतस्वरूपा फलरूपा मानसी सेवेति सिद्धान्तमुक्त्वाव्युक्त-
प्रकारा सेवना सेवा मया प्रोक्ता तस्याः सिद्धौ पूर्णतयाविर्भावे सति यत्फलं
भवति तदुच्यते कथ्यते इत्यर्थः । ननु सिद्धान्तमुक्त्वावल्यां तु स्वतनुजस्ववित्तज-
सेवोत्तरं प्रेमोत्पत्तिः कण्ठरवेण नोक्तेति कथं भवतोच्यते इति चेत्? अत्रोच्यते ।
'यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते, बीजभावे द्दे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवण-
कीर्तनादित्युपक्रम्य 'बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, अव्यावृत्तो भजे-
त्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिरित्यादिना स्वतनुजस्ववित्तजसाधनरूपसेवामुक्त्वा 'ततः
प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेदित्यनेन साधनरूपसेवोत्तरं प्रेमोत्पत्तिरुक्त्वा,
तदनन्तरमासक्तिरुक्त्वा, तदनन्तरं व्यसनं चोक्तं श्रीमदाचार्यवर्यैर्भक्तिवर्धिन्यामिति ।
एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोपरत्रापि प्रवर्तते इति न्यायं मनसिकृत्यास्मत्प्रभुभिः सिद्धान्त-
मुक्त्वावलीविवृत्यावुक्तमेतेन निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि
जाते सा भवतीति मयाप्युक्तमित्येवेहि । तत्किं फलमित्याकांक्षायामिदमिदं फलमिति
फलत्रयं विवक्ष्य आद्यं फलमाहुर्मूले अलौकिकस्य दाने हीति । एतद्विवरणं
त्वलौकिकसामर्थ्यमिति । अत्र द्वितीयात्पुरुषस्त्वसम्भव्येव, तृतीयापञ्चमीषष्टी-
तत्पुरुषाणां सम्भवित्वेपि क्लिष्टार्थता सम्भवतीत्यलौकिकाय सामर्थ्यमिति चतुर्थीतत्पुरुषा-
श्रयणादलौकिके सामर्थ्यमलौकिकसामर्थ्यमिति सप्तमीतत्पुरुषाश्रयणाद्वा अलौकिकविषयक-
सामर्थ्यं यावदलौकिकसम्बन्धजनितसुखदुःखानुभवविषयकशक्तेति यावदित्यर्थो ज्ञेयः ।
एवं च सति 'निःप्रत्यूहो महान्भोगः प्रथमे विशते सदे'ति मूले, तथा च 'अलौकिक-
भोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीति तद्विवरणे चोक्तो ह्यलौकिकभोगस्य प्रथमफले
प्रवेश उपपन्नो भवेत्, तस्याप्यलौकिकपदेन संग्रहात् । कर्मधारयाश्रयणे तु सामर्थ्यमात्र-
स्यैवालौकिकत्वात्तदतिरिक्तालौकिकभोगादेरलौकिकसामर्थ्यरूपत्वाभावादलौकिकपदेनासंग्र-
हादलौकिकसामर्थ्यरूपप्रथमफले प्रवेशोक्तिरसंगता स्यात् । तस्मान्चतुर्थीतत्पुरुषः सप्तमी-
तत्पुरुष एव वात्र साधुतरो न कर्मधारय इति बोध्यम् । यद्वा । न लौकिकमलौकि-
कम्, अलौकिकं च तत्सामर्थ्यं चेति कर्मधारय एवास्तु । न च पूर्वोक्तदूषणापत्तिरिति
वाच्यम् । अलौकिकभोगस्त्वलौकिकसुखदुःखसाक्षात्कारस्तु फलानां मध्ये प्रथमे फलेऽ-
लौकिकसामर्थ्येऽधिकरणरूपे प्रविशति प्रविष्टो भवति, तदर्थमेवालौकिकसामर्थ्यस्य भग-
वता दानात् । एवं च न पूर्वोक्तदूषणापत्तिरिति दिक् । एवं च विवरणे मूलस्थालौकिक-
पदस्थालौकिकविषयकसामर्थ्यपरत्वेनालौकिकसामर्थ्यपरत्वेन वा व्याख्यानात् कस्यचि-
देतत्संघाते कस्यचिच्चेतदेहपातोत्तरं वृन्दावनादिष्वलौकिकसंघात एव वा ह्यलौकिक-

विषयकसामर्थ्यरूपसालौकिकसामर्थ्यरूपस्य वा फलस्य दाने वितरणे स आद्यः प्राथमिकः सत्संगादिनेदं प्रथमतयोत्पन्नः प्रियतमभगवत्संगमविषयको भक्तस्य मनोरथः स हि निश्चयेन सिध्येन्मनोरथविषयीभूतपदार्थप्राप्त्या पूर्णो भवेत्, तददाने तु न पूर्णो भवेदित्यर्थः । तथा च मनोरथविषयीभूतप्रियसंगमसाधकं प्राथमिकं फलमलौकिकविषयकसामर्थ्यप्राप्तिरिति बोध्यम् । अल्पः सिध्येन्मनोरथ इति पाठे त्वलौकिकस्यालौकिकविषयकसामर्थ्यस्यालौकिकसामर्थ्यस्य वा अदाने हि निश्चयेन विप्रयोगोद्रेके सति कदाचित् कदाचिन्मनसि जायमानत्वादल्पः स्वल्पो मनोरथः प्रियसंगमविषयकः सिध्येदित्यर्थो ज्ञेयः । चकारेणैतद्दान एवान्योपि मनोरथः सिध्येदिति व्याख्येयम् । अत्रैवं ज्ञेयम् । प्रथमतो मूलेच्छया 'यमेवे'ति श्रुतेर्निरूपधिरसरूपसपरिकरभगवत्कृपया शुद्धपुष्टिमार्गीयं वरणम्, तदनु सत्संगादिना प्राथमिको भगवत्संगममनोरथः, तदनु शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयः, तदनु भगवत्प्रासिजनकतिरोहिततापक्लेशानन्दाविर्भावाय शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यकृतं निवेदनम्, ततस्तदुपदिष्टोस्मिन्मार्गे गोपिकानामेव गुरुत्वमिति फलप्रकरणीयसिद्धान्ता 'दथ च गोपीभावेन ये भक्ता' इत्याद्यादिपुराणवाक्याच्च मूलरूपशुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्याणां व्रजभक्तानां यो भावस्तत्सजातीयभावभावनापूर्वकं स्वतनुजस्ववित्तजसाधनरूपसेवाकरणेन दृढतरकथाश्रवणादिना वा कस्यचिद्विना प्रेमोत्पत्तिं देहपाते 'स्वयं समुत्तीर्ये'ति श्लोके 'सदनुग्रहो भवा'नित्युक्तत्वात् प्रेमवदाचार्यस्थभगवदनुग्रहबलेन प्राप्तालौकिकदेहे रसमार्गीयत्वात् पूर्वानुरागमारभ्य सकलप्रेमावस्थाविर्भावः । कस्यचित्तु भगवदिच्छया प्रेमासक्त्यनन्तरमेव पूर्वानुरागजविरहेणैव व्यसनं विनैव देहपाते प्राप्तालौकिकदेहे व्यसनाद्यवस्थाविर्भावः । कस्यचित्तु चैव प्राकृतदेहे प्रेम्णि जाते तदप्राप्त्या पूर्वानुरागजविरहाविर्भावः, ततः स्वसेव्यस्वरूपे वा स्वप्नादौ वातिभायेन साक्षादपि वा प्रभुदर्शने 'चक्षुःप्रीतिः स्मृता तत्रातीवादरनिरीक्षण'मिति लक्षणानुसाराद्भगवद्विषयकः परमादरपूर्वकनिरीक्षणरूपश्चक्षूरागरूपप्रथमप्रेमावस्थाविर्भावः । ततश्चित्तासंगः प्रियतमे नित्यं चित्तस्य विश्रम' इति लक्षणानुसारात् 'ततः प्रेम तथासक्ति'रित्युक्तत्वात् प्रेमोत्तरोत्पन्नासक्तिस्वरूपतत्प्रवणचेतस्वरूपचित्तासंगरूपद्वितीयप्रेमावस्थाविर्भावः । इयमेवावस्था सेवापदवाच्या । 'अथावस्था निरूप्यन्ते रसावस्थानसूचिकाः । वीजांकुरः पल्लवश्च वृद्धिर्विस्तर एव च । अवस्था द्वितयेन स्याच्चक्षूरागादिषु क्रमात् । चक्षूरागो मनःसंगः संकल्पो जागरस्तथा । तनुता विषयद्वेषो लज्जात्यागस्ततःपरम् । उन्मादमूर्छामरणान्येता दश दशाः स्मृता' इत्युक्तत्वाच्चक्षूरागचित्तासंगाभ्यां वीजरूपप्रथमप्रेमावस्थोक्ता । ततः 'संकल्पस्तु मनोरथ' इति लक्षणानुसारात्कदा प्रियसंगमे एवमेवं भविष्यतीत्यादिमनोरथरूपसंकल्पस्वरूपतृतीयप्रेमावस्थाविर्भावः । एतावता किञ्चिदुल्लसितः पूर्वानुरागजन्यो विरहः । अथायमलौकिकविषयत्वादलौकिको विरहः प्रलयानलादप्यतिदुःसहो भावीति लौकिक-

सामर्थ्यवता शरीरेण मनसा च सोढुमशक्यो देवकृतसम्भोगो मानुषजात्या स्त्रियेवेति भगवता तापक्लेशविशिष्टालौकिकविरहरसभोगसामर्थ्यं प्रथमतो दीयते । तदनूच्छ्वासनिश्वासस्मृत्याद्यनुभावविशिष्टो 'निद्राछेदस्तु निद्राया अभावः परिकीर्तित' इति लक्षणानुसाराद्निद्राछेदरूपश्रुतार्थप्रेमावस्थाविर्भावः । आभ्यां संकल्पनिद्राछेदाभ्यामंकुरावस्थोक्ता । ततस्तनुता निखिलांगानां दौर्बल्यं परिकीर्तित'मिति लक्षणानुसारात् पाण्डुत्वाद्यनुभावविशिष्टतनुतास्वरूपपञ्चमप्रेमावस्थाविर्भावः । ततो 'विषयेभ्यो निवृत्तत्वमरतिर्विषयान्तरे' इति लक्षणानुसाराच्चक्षुर्निर्मिलनासहनशीलताद्यनुभावविशिष्टविषयनिवृत्तिरूपषष्ठप्रेमावस्थाविर्भावः । आभ्यां तनुताविषयनिवृत्तिभ्यां पल्लवावस्थोक्ता । एतावत्पर्यन्तमासक्तिकार्यमेव । अत एव 'सोहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृह्यारुचि'रित्यनेन गृह्यारुच्युपलक्षिता विषयनिवृत्तिरुक्ता श्रीमदाचार्यैर्भक्तिवर्धिन्याम् । ततो 'दैहिकान्सकलान् भावान् निजां व्रीडां च दैहिकीम् । परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि । लौकिकं वैदिकं चापि तत्कर्ता व्यसनी मत' इति दशमस्कन्धीयभागवततत्त्वदीपसिद्धान्तसिद्धलौकिकवैदिकप्रियप्राप्तिसाधनकरणरूपव्यसनविर्भावः । ततः पुनः प्रियप्राप्तिसिद्धत्वज्ञानेन 'उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं स्वमवोचते'ति दशमस्कन्धपद्यव्याख्यानसुबोधिन्युक्ताप्रतीकार्यदुःखस्वरूपव्यसनान्तराविर्भावः । येन विना प्रियतमांगसंगं क्षणमात्रमपि स्थातुं न शक्नोति, तेन प्रियतमांगसंगं च प्राप्नोत्येव । अत एव 'यदा स्याद्भ्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव ही'त्यनेन तत्रैवानुपदमेवोक्तं व्यसनोत्तरमेव कृतार्थत्वमप्रतीकार्यदुःखरूपव्यसनपदवाच्यान्यव्यसनप्राप्त्या । अत एव व्रतरूपव्यसने जाते प्रियप्राप्तिरेव जाता श्रीमतीनां कुमारीणाम्, तदनन्तरं चाप्रतीकार्यदुःखरूपे व्यसने जाते एव च प्रियतमांगसंगो जात इति श्रीभागवते स्पष्टमेव । अत्र कृष्ण इति विषयसप्तमी निमित्तसप्तमी वा, 'चर्मणि द्वीपिन'मित्यत्रेव । तथा च कृष्णविषयकं कृष्णनिमित्तं वा यदा प्रथमव्यसनोत्तरमप्रतीकार्यं तापसहितं दुःखरूपं क्लेशपरपर्यायं द्वितीयं व्यसनं स्यात्तदा 'लज्जात्यागोतिवैश्यात् व्रपानाशोभिधीयत' इति लक्षणानुसारादाकस्मिकहसनरोदनाद्यनुभावविशिष्टत्रपानाशस्वरूपसप्तमप्रेमावस्थाविर्भावः । तद'न्वचेतनेषु प्रश्नादिरुन्मादः परिकीर्तित' इति लक्षणानुसारादाकाशालिंगनाद्यनुभावविशिष्टोन्मादरूपाष्टमप्रेमावस्थाविर्भावः । आभ्यां व्रपानाशोन्मादाभ्यां वृद्ध्यावस्थोक्ता । ततः 'प्रलयो रागदुःखादेरिन्द्रियास्तमयो मत' इति लक्षणानुसाराद्निश्चेष्टत्वाद्यनुभावविशिष्टमूर्छापरपर्यायप्रलयरूपनवमप्रेमावस्थाविर्भावः । ततः 'प्राणत्यागोतिदुःखेन मृतिस्तु परिकीर्तित'तिलक्षणानुसारान्मृतिरूपदशमप्रेमावस्थाविर्भावः । आभ्यां मूर्छामृतिभ्यां विस्तरावस्थोक्ता । तथा चैतादृशानुभावविशिष्टव्यसनोत्तरं प्राकृतदेहपाते सच्चिदानन्दस्वरूपालौकिकदेहलाभे च सति भगवत्स्वरूपानन्दप्राप्त्या कृतार्थः स्यादित्यर्थः । अत एवदमप्रतीकार्यदुःखमेव प्रार्थितं निरोधलक्षणाख्ये ग्रन्थे श्रीमदाचार्यचरणैर्ध्वं दुःखं यशोदाया नन्दा-

दीनां च भोक्त्रे । गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचिदित्यादिना । अत्रेदमपि ज्ञेयम् । येषां त्वलौकिकं शरीरं तेषां तु व्यसनानन्तरं प्रभुसंगम एव, न दशमदशाप्राकट्यम् यथा रासमण्डलमण्डनानाम् । येषां तु लौकिकं शरीरम्, तेषां तु व्यसनानन्तरं दशमदशो-दयो भवत्येव, यथान्तर्गृहगतानाम् । इदमेव ज्ञापयितुमन्तर्गृहगतानां लीला । अन्यथा ब्रजस्थानां सर्वेषामप्यलौकिकशरीरमिति तासामप्यलौकिकशरीरवत्त्वात्तथाकृतिर्व्यर्था नीरसा च स्यादितिदिक् । 'नन्वन्ते या मतिः सा गति'रिति प्रेमवदाचार्यानुग्रहवलेनात्यसह्येन पूर्वानु-रागजभगवद्विरहेण वा तत्क्षणमेव देहपाते प्रियसंगमो भविष्यत्येव । अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादा भज्येतेति किमर्थमलौकिकसामर्थ्यदानं किमर्थं वा न तत्तद्दशानु-भावनमिति चेत् । अत्र वदामः । 'रसो वै स' इति श्रुतेः प्रभो रसरूपत्वाद्दशमर्यादैव स्वस्वरूपदानमित्यलौकिकसामर्थ्यदानं तत्तद्दशानुभावनं चेति जानीहि । अपि च, तत्क्षण-मेव देहपाते चक्षुरागादिक्रमेणानुभावाभावदर्शने रसमार्गीयभगवदीयानां सन्देहः स्यात्को वेद रसस्वरूपभगवत्प्राप्तिरेतस्याथवान्यस्वरूपभगवत्प्राप्तिरिति । तदर्थमेव कस्य-चिदलौकिकसर्वावस्थानुभवोत्रैव कार्यते प्रभुणा । तथा सति तत्तदवस्थानुभवस्य प्रत्यक्षतो दृश्यमानत्वेन सर्वेषां रसस्वरूपप्राप्तेर्निश्चयादेतन्मार्गीया प्रवृत्तिरपि निःप्रत्यूहा भवेत्, तदर्थमत्रैवालौकिकसामर्थ्यदानं तत्तद्दशानुभावनं चेत्यलं पल्लवितेन । एवमेवालौकिक-सामर्थ्यं साक्षाद्गन्दावनादिष्वपि दीयत इत्यग्रे व्यक्तीभविष्यति । यद्वा, योस्मिन्मार्गे समायाति तस्य तु 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः । अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः । व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत् सदा । ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेदिति भक्तिवर्धिन्यां तनुजवित्तजसेवाकरणे प्रेमासक्तिर्व्यसनानि भवन्तीत्युक्तत्वात्तद-नन्तरं तत्र 'यदा स्याद्द्वयसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव ही'त्युक्तत्वाच्च व्यसनप्राप्तेः कृतार्थी-करणस्वभावात् प्राथमिको मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयको भवति । तत्र व्यसनाविर्भावे महातापोदयात्तत्सहनं लौकिकसामर्थ्येन कर्तुमशक्यमतिदुःसहत्वादिति भगवता व्यसना-विर्भावादव्यवहितपूर्वं तत्समकालमेव वात्रालौकिकसामर्थ्यं दीयते व्यसनसहनार्थम् । एवं चालौकिकस्य दाने हि । हि निश्चयेनालौकिस्यालौकिकसामर्थ्यस्य दाने आद्यः प्राथमिको मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयकः सिद्ध्येन्निसंपन्नो भवेत्, व्यसनप्राप्तिः स्यादिति यावत्, तददाने स न निष्पद्यत इत्यर्थः, । तथा च शुद्धपुष्टिमार्गीयस्य प्रेमासक्तिरूपायां सेवायां सिद्धायां प्रथमफलमलौकिकसामर्थ्यप्राप्तिरिति श्रीमदाचार्यैरेतस्य प्रथमफलत्व-मुक्तमिति भावः ।

अथैतादृशविप्रयोगजनितदेहपातोत्तरं तु बाह्याभ्यन्तरभेदेनेदानीं तु देहस्य लौकिक-त्वात्स्थायिभावात्मकभगवत्सम्बन्धेनान्तःकरणस्यैवालौकिकत्वाच्चान्तरे च भावि परम-काष्ठापन्नं फलत्रयेपि मुख्यफलरूपं द्वितीयं फलमाहुः फलं वेति । अत्र विवरणे फलपदस्य

सायुज्यत्वेन व्याख्यानाद्वितीयं फलं सायुज्यरूपं वा भवेत् । अत्र वाशब्दो विक-ल्पार्थः । यद्यतिकृपाविशिष्टमूलाचार्यरूपश्रीमद्ब्रजभक्तैंगितविशिष्टा प्रभोस्तादृङ्मूलेच्छा स्यात् । अत्र सायुज्यं शुद्धपुष्टिमार्गीयमेव विवक्षितम्, न त्वन्यत् । शुद्धपुष्टिमार्गीय-सेवाफलस्यैव निरूपणात् । ननु सायुज्यमेकविधमेव शास्त्रान्तरेषु श्रूयते, न त्वन्यप्रकारक-मतो न त्वन्यदिति निषेधो नोपपद्यत इति चेत् । अत्र वदामः । द्विविधं तावत्सायुज्यं स्थूलतया । तत्रैकभेदसम्बन्धघटितम्, द्वितीयं तु भेदसम्बन्धघटितम् । तत्राद्यं 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'त्यादिश्रुतिप्रमाणसिद्धम्, साधारणानुग्रहात् केवलमर्यादारूपमेकविधमेव । द्वितीयं तु त्रिविधम् । तत्रैकं 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे'त्यादिगीतावाक्यसिद्धम् । ब्रह्मभावो-त्तरसामयिकोत्तरमाकस्मिककृपाजनितपरमभक्तिलाभजन्यभगवदानोत्तरसामयिकभगवत्प्रवेश-रूपगृहादिप्रवेशवत् । प्रवेशस्य भेद एव सम्भवाद्भेदघटितत्वं ज्ञेयम् । द्वितीयं तु 'ब्रह्मविदाप्रोती'त्यादिश्रुतिसिद्धम् । ब्रह्मभावोत्तरसामयिककस्मिकोत्तरकृपाजनितभक्ति-लाभजन्यभगवत्प्रवेशरूपसायुज्योत्तरं तत्सहभावविशिष्टसर्वकामभोगरूपम् । भोगोत्तरं स्वस्मिन्प्रवेशश्च मर्यादासंवलितत्वात् । तृतीयं तु 'केवलेन हि भावेने'ति वाक्येन 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति वाक्येन चात्युत्तमतमकृपया ब्रह्मभाव-ज्ञानवैराग्यादिनिरपेक्षप्रेमासक्तिर्व्यसनरूपकेवलभावजनितभगवत्सहभावविशिष्टसर्वकालिक-सर्वकामभोगरूपं च । तत्र गीतोक्तप्रवेशरूपसायुज्ये पुरुषोत्तमप्रवेशमात्रमेव फलम्, विशेष-कृपाऽभावात् । न चाक्षरज्ञानमार्गसायुज्यात् को विशेष इति वाच्यम् । अक्षरज्ञानमार्गे त्वभेदेन गणितानन्दाक्षरसायुज्यम् । पुरुषोत्तमज्ञानमार्गे तु भेदेनागणितानन्दपुरुषोत्तम-सायुज्यम्, भेदेनानुभूयमानमिति विशेषस्य जागरूकत्वात् । अत एवाचार्याश्चतुर्थसन्ध-निबन्धे 'सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनानुभवात्तत' इत्युक्तवन्तः । किञ्चाक्षरस्य धर्मरूप-त्वाद्धर्मसायुज्यम् । पुरुषोत्तमस्य तु धर्मत्वादेतत्सायुज्यस्य धर्मिसायुज्यरूपत्वाच्चास्या-धिक्यस्यैव विशेषरूपत्वाच्च । ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगरूपसायुज्ये तु मर्यादा-रूपब्रह्मभावोत्तरं सर्वकामभोगस्य मर्यादापुष्टिरूपत्वात् प्रमाणानुरोधिपुरुषोत्तमेन सहो-त्सर्गतो मर्यादापुष्टिरूपमहिषीसजातीयसर्वकामभोग एव । न तु शुद्धपुष्टिमार्गीयो ब्रज-भक्तसजातीयसर्वकामभोगः । न च 'ब्रह्मविदाप्रोती'त्यत्र ब्रह्मभावोत्तरं सर्वकाम-भोग एव श्रूयते, न तु परमभक्तिलाभ इति ब्रह्मभावोत्तरसामयिकभक्तिलाभोत्तरं सर्वकामभोगः कथं भवतोच्यत इति वाच्यम् । 'सह ब्रह्मणे'त्यत्राप्रधानतृतीया-निर्देशात् । तत्राप्रधानत्वं तु 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतत्र इव द्विजे'त्यादिप्रमाणैर्भक्त-विषय एव भगवतो, नान्यविषय इति मध्ये परमभक्तिर्भवतीति तथोक्तत्वात् । ननु श्रुतिवलेन ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगेपि विनैव भक्तिं परब्रह्मणोप्रधानत्व-मंगीक्रियतामिति चेत् ? न । 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहये'दिति वाक्या-

दितिहासपुराणादिषु कुत्रापि भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गे ब्रह्मणोप्रधानत्वस्याश्रयमाणत्वात् । अपरञ्च, यदि ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगो विनैव भक्तिं स्यात्तदा त्वदुक्तं घटेतापि, न तु तथा । यतस्तादृशसर्वकामभोगस्य पुरुषोत्तमज्ञानजन्यभगवत्प्रवेशरूपसायुज्यसाध्यत्वात् । तत्र पुरुषोत्तमज्ञानं च भक्तिसाध्यम् । 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे'त्यारभ्य 'विशते तदनन्तर'मित्यन्तेन प्रघट्टकेन भगवता पुष्टिमर्यादामार्गे एवमेव सिद्धान्तितत्वात् । अन्यथा सर्वेषामेव ब्रह्मभावापन्नानां सर्वकामभोगः प्रसज्येत, नियामकाभावात् । अतो ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगस्य भक्तिं विना जायमानत्वाभावादप्रधानत्वं परब्रह्मणो भक्तिकृतमेव, न तु भक्तिं विना कुत्रापि मद्दुक्तमेव साधीय इति दिक् । अत एवास्वातथ्यभिया 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति भगवतो भक्तियोगदानाभावः श्रूयते यस्य कस्यचिदिति दिक् । तृतीये सायुज्ये तु वेदमर्यादासंवलनाभावात् प्रमाणातीतस्वरूपेण प्रमाणातीतभक्तानां प्रमाणातीतसर्वकामभोगः । एवञ्च चतुर्विधसायुज्यस्यापि प्रमाणसिद्धत्वेन प्रकृते सायुज्यपदेन भेदघटितसायुज्येषु तृतीयमेव सायुज्यं विवक्षितम् । इदमेव च शुद्धपुष्टिमार्गीयं सायुज्यमिति । अत्र 'प्राणेन सायुज्यं सलोकतामाप्नोती'त्यादि-श्रुतिप्रयोगाद्युजिर् योग इति धातोर्'बहुलं छन्दसी'ति बाहुलकाद्भावे किपा युक्शब्द-सिद्धिः, ततः सहशब्देन समासः, ततो वोपसर्जनस्येति सहशब्दस्य सादेशः, ततो भावे व्यञ्जप्रत्ययश्च । यद्वा । सहयुनक्तीति सयुक् किप्चेतिसूत्रेण कर्तरि किप्, सयुजो भावः सायुज्यं सहभाव इति ज्ञेयम् । अत्रेदं तत्त्वम् । कदाचिदतिक्रपायां पुरुषोत्तमप्रवेशमात्र-लक्षणसायुज्यवतो ब्रह्मभावजनितप्रवेशोत्तरं सर्वकामभोगरूपसायुज्ययोग्यतावत्तथापि शुद्ध-पुष्टिफलप्राप्तिः केषाञ्चिद्भवति, मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादिति न्यायात्, न तु सर्वेषाम् । अन्यथा मार्गभेदकरणवैयर्थ्यापात इत्यवधातव्यम् । नन्वेतादृशशुद्धपुष्टिफलप्राप्तिश्चेत्केषाञ्चिद्भवति तर्हि तत्सायुज्यं किमर्थं दत्तमिति चेत् ? स्वस्य स्वतन्त्रेच्छत्वादि ज्ञापयितुमिति गृह्यतेति सर्वं चतुरस्रम् ।

अथ यस्मिन् जीवे यादृशी कृपा तस्मिन्तादृशफलदानौपयिकभावप्राकट्यपूर्वक-सेवया तादृग्भगवद्रूपं फलमिति सिद्धान्तः, तथा च यस्मिन् ब्रजभक्तरत्नैगितविशिष्टा भगवत्कृपा देहपातोत्तरक्षण एव साक्षादंगसंगविषयिणी तस्य तु पूर्वोक्तप्रणाल्यैतद्देहे तत्क्षण एव मनसि स्वप्नादौ वैतद्देहपातोत्तरं तु वृन्दावनादौ चाविलम्बेन साक्षादंगसंग एव भवति । यस्मिन्स्तु देहपातोत्तरक्षण एव न साक्षादंगसंगविषयिणी कृपा, किन्तु विलम्बेन, तस्यापि प्रेमोत्पत्त्यभाव एव वा प्रेमासक्त्यनन्तरमेव भगवदिच्छया वा देहपाते प्राप्तालौकिकदेहे प्रेमाद्यवस्थाविर्भावेन व्यसनाद्यवस्थाविर्भावेन वा विलम्बेन च साक्षादंगसंग एव भवति । यस्मिन्स्तु दास्यसखित्वाद्यधिकारविषयिणी कृपा तस्य तु तादृग्भावपूर्वकसेवया पूर्वोक्त-प्रणाल्यैतद्देहपातोत्तरं वृन्दावनादौ दास्यसखित्वाद्यधिकारविशिष्टालौकिकदेहप्राप्तिरूपं

तृतीयं फलं भवतीत्याहुः अधिकारो वेति । सायुज्यरूपफलदानेनाधिकारविशिष्टदेह-प्राप्तिर्वा भवतीत्यर्थः । अत्र सेवौपयिकदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति विवरणोक्त-वैकुण्ठपदेन 'गोकुलं वनवैकुण्ठ'मिति कृष्णोपनिषदुक्तेः प्रपञ्चातीतभगवन्निवासस्थानं व्यापिवैकुण्ठान्तर्गतं वृहद्दत्तं नन्दीश्वरं चोच्यते । आदिपदेन श्रीवृन्दावनश्रीमद्भोवर्धनादि च । तत्र सायुज्यरूपफलादानेऽधिकारः सेवौपयिकदेहरूपो वाथवा भवतीत्यर्थः । वैकुण्ठा-न्तरस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपभगवलोक्त्वाभावाद् गोकुलस्यैव तादृग्भगवलोक्त्वाद् वैकुण्ठ-पदेन श्रीगोकुलम्, आदिपदेन वृन्दावनादिकं चाभिप्रेतमिति बोध्यम् । अत्रालौकिक-सामर्थ्यं यथावान्तरफलरूपम्, मुख्यफलं तु मुख्यसायुज्यमेव, एवमेवाधिकारिदेह-प्राप्तिरूपं तृतीयं फलमप्यवान्तरफलरूपमेव, मुख्यं फलं त्वधिकारिदेहद्वारैवात्रापि मुख्य-सायुज्यमेव । स्वदत्ततादृगधिकारिदेहकृत 'त्वत्पुष्टि'मिवातीकथनं च ब्रह्मयज्ञोस्त्वि'त्यादिरूप-प्रियतमसेवासन्तुष्टश्रीमद्ब्रजभक्तरत्नानुग्रहेणैवेति बुध्यस्व । अत एवालौकिकस्य दाने हीत्यत्राधिकारो वेत्यत्र च फलपदाप्रयोगः सायुज्य एव च फलपदप्रयोगश्च । अत्रातिरहस्यत्वाच्छ्रीमदाचार्यरत्नैरलौकिकसामर्थ्यसायुज्यवैकुण्ठादिपदानि परोक्ष-वादत्वेनैव प्रयुक्तानीति ज्ञेयम् । ननु यत्र परशुरामशचीपतिविरिञ्चिवदलौकिकसामर्थ्य-भोगाधिकारा दृष्टास्तत्र न सर्वदा दृष्टा इति सामर्थ्यभोगत्वाधिकारत्वसामान्यादेतेषामपि नाशः स्यादिति न परमफलत्वमेतेषामित्याशंक्याहुः न कालोत्र नियामक इति । अत्रालौकिकसामर्थ्यभोगाधिकारेषु सर्वोत्तमप्रभुप्रीत्याधायकत्वात् काल आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिदैविको वा नियामको न भवति, भगवन्नियम्यत्वादित्यर्थः । दृश्यते लोकेषु प्रभुदत्तसामर्थ्ये भोगेधिकारे वाधिकारिणो नियामकत्वाभावः । अत एवोक्तं सगुणस्यैव कालाधीनत्वम्, न गुणातीतस्येति 'मन्त्रिणं निर्गुणं स्मृत'मित्यादिना प्रभुणै-कादशे । तस्मान्नैषां कालाधीनत्वमिति त्रयाणां फलत्वं निःप्रत्यहमित्यास्तां तावत् ।

यद्वा, अलौकिकस्यालौकिकविषयसामर्थ्यस्य दाने हि निश्चयेन जातो य आद्यः शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयात्पूर्वमेवैतन्मार्गीयसत्संगादिनेदं प्रथमतयोत्पन्नो मनोरथः सिध्येत् सिद्धो भवेदित्यर्थः । स आद्यो मनोरथः क इत्याकांक्षायामाहुः फलं वा ह्यधिकारो वेति । फलरूपो वाधिकाररूपो वा । नात्र सन्देह इति भावः । अत्र फल-विषयकोधिकारविषयको मनोरथोपि फलवदधिकारवदेव सुखजनक इति ज्ञापयितुं रूप-केण निरूपणमिति दिक् । तथा च ब्रजभक्तभावसजातीयभावेः शुद्धपुष्टिमार्गे भजनं कर्तव्यमिति सिद्धान्तः सम्पन्नः । तत्र ब्रजभक्तेषु 'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नम' इति वाक्यादनन्यपूर्वाः कुमार्यो भगवति पतिभावयुक्ताः । अन्तर्गृहगतारूपा अन्यपूर्वास्तु 'जारधर्मण सुखेहं सुदृढं सर्वतोधिकम् । मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे'ति वृहद्भामनपुराणादथ च 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगता, मत्कामा रमणं जार-

मस्वरूपविदोबलाः । ब्रह्म मां परमं प्राणुः संगच्छतसहस्रश' इति दशमस्कन्धीयैकादश-
स्कन्धीयभगवद्वाक्येभ्यो भगवत्युपाधिरूपजारभावयुक्ताः । अप्रतिबन्धेन प्रभुसमीपं गता
अन्यपूर्वास्तु सर्वभावप्रपत्तिपूर्वकनिरुपधिप्रियत्वभावयुक्ताश्च भगवति । तत्र परकीयायामेव
रसस्य परमा काष्ठेति रसशास्त्रसिद्धान्तादनन्यपूर्वाणां नन्दाधीनानां भगवति पतिभाव-
युक्तानां कुमारीणामथ च निरुपधिप्रियत्वभावयुक्तानां नित्यसिद्धानां जारभावयुक्तानां च
श्रुतिरूपाणां चान्यपूर्वाणां परकीयात्वात् परकीयात्वधर्मविशिष्टत्वेनैव परमकाष्ठापन्नरसरूप-
भगवत्प्राप्तिः । न तु कुमारीणां स्वीयात्वेनान्यपूर्वाणां तु परकीयात्वेनेति भेदः । तथा
सति विवाहितानामेव स्वीयात्वात् श्रीभागवते कुमारीभिर्भगवतो विवाह उक्तो भवेत् ।
अन्यपुराणादिषु मूलमाधवमाहात्म्ये रुक्मिणीविवाहात्पूर्वं कुमारीणां भगवता समं विवाहः
श्रुतो यद्यपि तथापि स कल्पान्तरीयांशावताररूपश्रीकृष्णविषयकः । तत्कल्पियश्रीकृष्ण-
स्वरूपस्यांशत्वात् तस्यापि स्वरूपस्य पूर्णत्वेनैव व्यासचित्तप्रसादो जातः स्यात् । तस्मा-
त्सारस्वतादिकल्पान्यकल्पीयावतारा अंशावतारा एवेति जानीहि । निरूपितं चैतत्सविस्तरं
मत्कृतबहिर्मुखमुखमर्दनाख्ये ग्रन्थे इति तत्रैवावलोकनीयम् । ननु यदि भगवति
पतिभाव एव कुमारीणां तदा महिषीप्राप्यप्रमाणानुरोधिभगवत्स्वरूपप्राप्तिः स्यान्न तु
लोकवेदातीतप्रमाणानुरोधिस्वरूपप्राप्तिः स्यादथ च तदनुरोधेनाश्रुतोपि विवाहः
कल्पनीयः स्यादिति चेत् । अत्र भ्रूमः । 'कात्यायनि महाभागे महायोगिन्यधीश्वरि ।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।' 'भूयान्नन्दसुतः पति'रिति मन्त्रयोर्नन्दसुत एव
पतित्वप्रार्थना भावना च । स श्रीमान्नन्दसुतस्तु ब्रजे 'एकादशसमास्तत्र गूढार्चिः सवलो-
वस'दिति तृतीयस्कन्धीयश्रीमदुद्धववाक्यादेकादशवर्षपर्यन्तमेव स्थितः । तदुत्तरं तु
मथुरायामेव गतः । यज्ञोपवीतं च वैश्यानां द्वादशे वर्षे, यज्ञोपवीतं विना च न विवाहः ।
स विवाहोपि तज्जातीयानामासुरपैशाचगान्धर्वभेदेन त्रिविधः । तत्रापि वैश्यस्यारुरो मुख्यः ।
तत्र द्रव्यादानादासुरः, छलेन कन्याहरणात्पैशाचः, गान्धर्वस्त्वन्योन्यानुरागेण 'त्वं मे
भार्या त्वं मे पति'रितिसमयरूपः । एवं चात्र यज्ञोपवीतकालाभावेन प्रभोर्यज्ञोपवीताभावा-
देकादशवर्षाभ्यन्तर एव च कुमारीणां भगवत्सम्बन्धाच्च कोपि विवाहो नात्र वक्तुं शक्यः ।
तथा च विवाहजनितपतित्वाभावान्न महिषीप्राप्यस्वरूपप्राप्तिर्न वा विवाहकल्पनेति बुध्यस्व ।
न च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादाभंग इति वाच्यम् । भगवत्सकाशात् प्रमाणा-
तीतफलप्राप्त्या तासां पतित्वप्रार्थनैव जाता, न तु विवाहजनितपतित्वप्रार्थनेत्युन्नयनात् ।
अन्यथा 'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः' इत्यत्र विवाहोलेखोपि कृतः स्यात् ।
तस्मादन्याधीनतानिवारणार्थं निःशंकतया सर्वदा मिलनार्थं च 'स वै पतिः स्यादकुतोभयः
स्वयं समन्ततः पाति भयातुरं जन'मित्युक्तलक्षणपतित्वमेव प्रार्थितं ताभिर्न तु विवाह-
जनितपतित्वमिति । अत एव प्रमाणातीतायां रासलीलायामेव तासामाकारणम् । यतश्च

न विवाहितपतिभावना प्रभावत एव च न तासामन्यपूर्वाभिः सह लीलायामीर्ष्यादिकं
जातम् । विवाहितपतित्वे सति त्वीर्ष्यादिकं कासाश्चिदपि सर्वदावश्यमुद्भवेदेव, सत्य-
भामादिवत् । न च 'तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्, यैकापहृत्य गोपीनां
रहो मुंक्तेऽच्युताधर'मित्यत्रेर्ष्या तासामपि श्रूयत एवेति वाच्यम् । नेयमीर्ष्या सहभोगेपि
त्वेकैव मुंक्ते इत्यस्मिन्नंशे ईर्ष्या । तथा च समानशीलव्यसनरूपा सखी भूत्वा प्रियविप्र-
योगजनितात्यसह्यास्मद्विप्रयोगजनितं दुःखं ज्ञात्वापि यदस्मान् विहाय मुंक्ते तत् क्षोभं
जनयतीति सखीत्वप्रयुक्ततस्त्रेहजनितेर्ष्या, न तु सपत्निभावजनितेति निर्णयात् । अत
एव 'ददशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखी'मित्यत्रे तस्यास्तासां च सखीभाव उक्तः ।
अत एवात्रे तत्सहभावेन रासलीला, अन्यथा तथा सहान्याभिः सह वा रासलीलायाम-
मर्यादरसो न स्यात् । तस्मादस्मदुक्ताभिप्राय एवात्र । विवाहितपतिना सपत्नीसहभावकृत-
लीलायां तु बहिरीर्ष्यादिभावादशैनेप्यन्तरीर्ष्यासंवलनं तिष्ठत्येव लोके राजमहिषीणाम् । अत
एव वासरदाननियमोपि तत्र, अत्र तु सर्वदा सर्वसंवलितत्वेनैव लीलाकरणादिति महदेव
वैलक्षण्यमित्यास्तां तावत्प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तया । एवं चैतादृशपतिभावेनानन्यपूर्वाणां
कुमारीणां जारभावेनान्तर्गृहगतानां निरुपधिप्रियत्वभावेन च रासमण्डलमण्डनानां च
परमकाष्ठापन्नरसरूपभगवत्प्राप्तिः, तथा च 'गोपीभावेन ये भक्ता' इत्यादिपुराणवाक्यात्
तादृशभावसजातीयभावेनैवाधुनिकानामपि तादृशभगवत्प्राप्तिरिति सिद्धम् । तत्रायं रसो-
परिच्छिन्न इत्यपरिच्छिन्नस्वरूपसर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यः । तत्र जारभावो न सर्वभावप्रपत्तिरूपः
कामैकमात्रपूरकत्वेनैव तस्योद्भवात्, परिच्छिन्नस्वरूपत्वात् । अत एव तेन भावेनास्य
रसस्य न प्राप्तिरिति तासां प्रतिबन्धोपि जातः । तस्य देहस्य च सगुणभावाश्रयत्वेन
सगुणत्वादेव तस्यागानन्तरमेव सर्वभावप्रपत्त्या निर्गुणतादृशस्वरूपप्रियप्राप्तिस्तासामजनि,
अन्यथा तद्भावस्य सर्वभावप्रपत्तिरूपत्वेन निर्गुणत्वे तच्छरीरस्य च निर्गुणत्वे तेनैव
शरीरेण प्रियप्राप्तिः स्याद्रासमण्डलमण्डनानामिव । अत्राधिकपूर्वपक्षसमाधानानि तु फल-
प्रकरणीयसुबोधिण्यामवलोकनीयानि । तथाचातिप्रतिकूलद्वेषादिभावेनापि चेत् प्रभुयोर्गोन्द्र-
प्राथ्या मुक्तिं ददाति तदातिप्रेमसंवलितजारभावेन कथं न गुणातीतरसरूपस्वरूपं
दद्यात् । परन्वेतदेहपातानन्तरमेव सर्वभावप्रपत्तिमुत्पाद्यैव दास्यति । एतादृशस्वरूपस्य
सर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यत्वात् । एवं च सति यद्येतदनन्तरमपि सर्वभावप्रपत्तिरेव भाविनी,
तर्हि भगवति सर्वभावप्रपत्तिरेव कार्या, न तु जारभावः । 'प्रक्षालनाद्धि पंकस्ये'ति न्यायात् ।
यदि कुत्रापि सर्वोपमर्देन जारभाव एवोदेति तदा भगवदिच्छैव तथा, परन्तु सर्वभाव-
प्रपत्तिमुत्पाद्यैव तत्रापि फलं दास्यतीति ज्ञेयम् । न च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति
प्रतिज्ञाविरोध इति वाच्यम् । सर्वभावप्रपत्तिलभ्यप्रभुरूपप्राप्तौ जारभावजन्यकामपूर्तिरूप-
फलस्याप्यन्तर्भूतत्वात् प्रतिज्ञाविरोधाभावात्, तस्माज्जारभावेन भगवद्भजनं न कर्तव्यमेव ।

अत एव सर्वभावप्रपत्तिरहितानां रासमण्डलमण्डनानामपि कामपूर्तिरूपफलमपि दत्तं प्रभुणा, अन्यथा तत्र दत्तं स्यात्, ततो ज्ञायते सर्वभावप्रपत्तिलभ्ये फले तदप्यन्तर्भूतमिति । न च पतिभावेपि न सर्वभावप्रपत्तिः, पतित्वभावस्यापि परिच्छिन्नत्वादिति शंकनीयम् । पतिव्रतानां पत्यौ भगवत्ताज्ञानपूर्वकभजनस्य विहितत्वात् सर्वत्र सर्वदा सर्वसमयेषु च मम पतिरेव गतिरिति सर्वभावप्रपत्तेः सत्त्वात् । एवं च सति यत्र विवाहिते लौकिकेपीयं रीति-स्तत्रालौकिके साक्षाद्भगवति पतिभावे सर्वभावप्रपत्तिरिति किं वक्तव्यमिति । न च तर्हि महिषीणां कुतो न सर्वभावप्रपत्तिजनितं फलं जातमिति वाच्यम् । विवाहरूपसंस्कारस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वादिति दिक् । तथा चानन्यपूर्वकुमार्यभिप्रेतकुमारीसजातीयपतिभावे-नान्यपूर्वव्रजसीमन्तिनीनिष्ठनिरुपधिप्रियत्वभावेन वा भजनं कर्तव्यमिति निष्कर्षः । तत्रेदं भजनं श्रीमद्भक्तभजनोपेक्षया स्वातन्त्र्येण न कर्तव्यम्, यत एतादृशभावेन भजने 'मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् । जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति मर्मणी'त्यादि पुराणेऽर्जुनं प्रति भगवता स्वसपर्यां गोपिका एव जानन्तीत्युक्तत्वाद्भक्तभक्ता एव गुरवः । तथा च तत्समकक्षतया स्वातन्त्र्येण भजने गुरुहेलनरूपापराधः प्रसज्येत । तथा च भगवान् फलं न दद्यात् 'दाचार्यं मां विजानीया'दिति वाक्यात् । किञ्च, 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः । या माभजन् दुर्जरोहशृंगलां संवृश्य तद्गः प्रतियातु साधुने'त्यादिफलप्रकरणीयप्रभुवाक्यादयं प्रभुरेतदधीन एव सर्वदा क्रीत-जनवन्न त्वन्याधीनः, अतोपि न तदुपेक्षया भजने फलप्राप्तिः । न च 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतत्र इव द्विज । राधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः । नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा । ये दारागारगुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्वक्तुमुत्सहे । मयि निर्वदहृदयाः साधवः समदर्शिनः । वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सस्त्रियः सत्पतिं यथे'त्यादिनाम्बरीषादिभक्ताधीनत्व-मपि श्रूयते, न त्वम्बरीषादेरेतत्स्वरूपप्राप्तिरिति वाच्यम् । 'भक्तिभेदो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते । स्वभावगुणभेदेन पुंसां भावो विभिद्यत' इतिवाक्याद्भक्तिमार्गोनेकविधः, तेषु च भक्तिभेदेष्वेतासां भक्तिरत्युत्तमा, परमकाष्ठापन्नस्वरूपलाभात् । अत एवैताः परं तनुभृतो ननु गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः । वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य' । अत्रैता गोपवध्वः परमतिशयेन तनुभृत इत्य-नेनान्ये भक्ता अतिशयेन तनुभृतो न भवन्तीत्युच्यते । नन्वत्र किं कारणमित्याकांक्षाया-माहुः गोविन्द एवेति । गोविन्द एव निरूढभावाः, न त्वन्यस्मिन् । निरूढः वक्तु-मशक्यो भावो यासां ताः । यथा निरूढशब्दे व्युत्पत्तिर्न कर्तव्या तादृगर्थभावात्तथैतासां भावेपीति भावः । गोगोकुलेन्द्रवाचकेन गोविन्दपदेन च धर्मिमात्रपरतासां निरूपिता । नन्वन्यभावभक्ता अपि महिष्यादयो धर्मिपरा एवेत्याशंकायामाह निखिलात्मनीति ।

निखिलानामन्येषां धर्मिणां धर्माणामप्यात्मा मूलरूपधर्मोत्थः । तादृशत्वं श्रीयशोदा-नन्दने श्रीकृष्ण एव, 'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मना'मिति वाक्यात् । तथा चान्ये धर्मिपरा अपि न निखिलात्मस्वरूपश्रीकृष्णरूपधर्मिपरा इति भावः । नन्वेवं किमित्ययं भावः स्तूयते, भिन्नरुचिर्हि लोक इति न्यायाद्यस्य यद्रीचते स तमेव भावं तमेव स्वरूपं च सर्वोत्कृष्टं जानातीति चेत्तत्राह वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनय इति । पूर्वं संसार-भयेन मुनयः मननशीला भूत्वा प्राप्तज्ञाना निवृत्ताविद्याः शुक्रादयोपि यद्यस्मात्कारणात् वाञ्छन्ति यं भावम् । तथा च येन निःशेषाविद्याभाववन्तस्त एवान्यप्रकारकं भावमन्यप्रकारकं भगवत्स्वरूपं च सर्वोत्कृष्टत्वेन परमकाष्ठापन्नं जानन्तीति भावः । किञ्च, वयमपि वैश्या-पेक्षयोत्कृष्टाः क्षत्रियाः लौकिका अपि वाञ्छामः । यतोनुभावदर्शनं विना नोत्कृष्टं मन्यते कोपि कमपि । तस्माद्यत्र लौकिकालौकिकानां वाञ्छास्वभावस्तत्स्वरूपमेव तदासक्ताश्च सर्वोपरि विराजमाना इति किं वाच्यमेतत्भावस्यैतत्स्वरूपस्य तन्निष्ठानामासां सर्वाधिकत्व इति निर्गवः । अतः कारणादनन्ताः कथा यस्यासावनन्तकथः श्रीकृष्णस्तस्मिन् यो रसोद्बोधाभाववान् तस्य ब्रह्मजन्मभिः सहस्रमुखचतुर्मुखदिजन्मभिः किम् ? न किमपी-त्यर्थः । यद्वा, जन्मभिः पुनःपुनर्जन्मभिरनन्तकथारसस्य तस्य किं ब्रह्म अक्षरस्वरूपम् ? न किमपि । तेषां मनसि ब्रह्मस्वरूपमप्रयोजकं भासत इत्यर्थः । तथा चानन्तकथारस-निष्ठत्वे जन्मैव वरम्, न तु मुक्तिरिति । तथा चैतन्मार्ग एतासामेव गुरुत्वेनान्यस्वरूपस्या-न्याधीनत्वेप्येतासां भावस्य सर्वोत्तमत्वात् परमकाष्ठापन्नरूपभगवत्स्वरूपमेतदधीन-मेवेत्यपि विचार्यासामेवातिदैन्येन दास्यकरणे तत्स्वरूपप्राप्तिस्तदनुग्रहेण, न तु स्वातन्त्र्ये-णेति ज्ञेयम् । अपरं च 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौ-षधीनाम् । या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विद्युग्याम्', 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्षणशः । यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रय'मित्या-दिना व्रजभक्ताः स्वजनस्यार्यपथस्य च परमकाष्ठापन्नस्य त्यागेन मुकुन्दस्य मोक्षदातुरपि पदवीं येन मार्गेण भगवान् गच्छति तं मार्गमेव तच्चरणरेणुसंबलितं भेजुर्न तु मुक्तिम् । तथा च मुक्त्यपेक्षयापि भगवच्चरणरेणुरेव सर्वोत्कृष्ट इति सिद्धम् । एवं चैतादृक्चरणरेणोरेता-दृशानुभावज्ञापने व्रजसीमन्तिन्य एव गुरव इत्येतासामनुवृत्त्यैव भगवच्चरणरेणुप्राप्तिरिति श्रीव्रजभक्तचरणरेणुसम्बन्धि गुल्मलतौषधिजन्मापि प्रार्थितमतिदीनतया श्रीमदुद्धवैवन्दनं च तच्चरणरेणोरेव कृतमन्यथा गुर्ववज्ञाकृतघ्नताजनितापराधेन न भगवच्चरणरेणुप्राप्ति-रिति दिक् । तस्मादेतासां गुरुत्वादेतदधीनत्वाच्च तच्चरणरेणुदास्येनैवैतादृशभगवत्प्राप्तिर्ना-न्यथेति निःप्रत्यहम् ।

स्यादेतत् । अयं सर्वोपि यत्नो रसरूपप्रभुस्वरूपफलप्राप्त्यर्थमेव । 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवती'ति श्रुत्या रसरूपभगवत्प्राप्तेरेव परमफलत्वात् । सा =

प्राप्तिस्तेनैव सर्वभावेन परमानन्दमश्नुते' इति नाद्विन्दूपनिषच्छ्रुत्या 'सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति तैत्तिरीयोपनिषच्छ्रुतेश्च सर्वभावप्रपत्तिलभ्यसर्वकामभोग-रूपा । स च पूर्णसर्वकामभोगोपि तेषां ब्रजसीमन्तिनीसदृशभावेनैव, नान्यभक्तभावसजातीयभावेन । एतदतिरिक्तस्थले प्रसुरंशेनैव, न तु पूर्णस्वरूपेणेति । तथा च तरुक्रमनया भजने क्रियमाणे ब्रजसीमन्तिनीदास्यकरणेपि मनसि तत्समताभावनासत्त्वात् कापट्य-सिद्धौ तासां गुरुरूपत्वेन सकपटभजने फलसिद्धेरभावस्तत्समकक्षता च स्यादिति चेत्, अत्र ब्रूमः । परमकाष्ठापन्नरसरूपो भगवान् हि लोकेतिरहस्यतमां पुष्टिलीलां यत् प्रकटित-वान् तत्किमर्थमिति पृच्छामः । न च 'आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते । कल्पं सारस्वतं प्राप्य ब्रजे गोप्यो भविष्यथ । पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले । वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले । जारधर्मेण सुखेहं सुखं सर्वतोधिकम् । मयि सम्प्राप्य सर्वेषु कृतकृत्या भविष्यथे'ति बृहद्भामनपुराणोक्तेः श्रुतीनामनुग्रहार्थमिति वाच्यम् । अनुग्रहस्य श्रुतिनिमित्तप्रदर्शितप्रकृत्यतीतलोकेपि कर्तुं शक्यत्वात् । न च 'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः । दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम् । ते सर्वे स्त्रीत्व-मापन्ना समुद्भूताश्च गोकुले । हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवादि'ति । 'अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे । भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम् । कृष्णस्य रमणार्थं हि सहस्राणि च षोडश । गोप्यो रूपाणि चक्रुश्च तत्राक्रीडन्त केशव'मित्यादि पद्मपुराणोत्तरखण्डमहाकौर्मादिवाराहपुराणादिवचनसिद्धदण्डकारण्यवास्तव्यमहर्षीणामनु-ग्रहार्थमित्यपि वाच्यम् । दण्डकारण्यस्थमहर्षीणामपि तत्रैव स्त्रीदेहं सम्पाद्य रामरूपेणैव न रमणं कृतम्, किन्तु तद्देहापातानन्तरं स्त्रीदेहं सम्पाद्य ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिवृन्दावन एव श्रीकृष्णरूपेणैव रमणं कृतम् । एवं च तद्देहापातानन्तरमलौकिकदेहं सम्पाद्य श्रुतिप्रदर्शित-वृन्दावन एव कुतो नानुग्रहं कृतवानिति प्रश्ने तवोत्तराभावात्, न च स्वतन्त्रेच्छे भगवा-निति वाच्यम् । 'अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः । भजते तादृशीः क्रीडायाः श्रुत्वा तत्परो भवेदि'ति फलप्रकरणीयवाक्याद्भक्तानुग्रहार्थमेवैतादृशलीलाविशिष्टप्रभुप्राकट्यात् । प्रपञ्चे निःप्रयोजनकप्राकट्यस्याश्रुतत्वाच्च । न चानुग्रहं विना नैतादृशफलप्राप्तिरित्यनुग्रहेण प्रापञ्चिकजीवानामप्येतद्देहातोत्तरं तादृशफलदानं तत्रैव स्थित्वा कुतो न करोतीति वाच्यम् । भगवान् हि रसरूपस्वरूपं प्रापञ्चिकजीवानामपि केषाञ्चिद्वातुं विचारितवान् स्वमुख्यभक्तेच्छापूर्वकस्तेच्छया । तत्र रसरूपभगवत्प्राप्तिस्तु रसरूपभावेनैव योग्या, नान्यादृशभावेन, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति वाक्यात् । तत्र रसरूपभावस्वरूपं साधनं वेदादिषु कुत्रापि नोक्तमतः प्रपञ्चे वृन्दावनं रसरूपस्वरूपं रसरूपं परिकरं च तत्राप्यनु-गुणं रसरूपं साधनं च प्रकटं कृत्वा तादृशसाधनेन तादृशस्वरूपप्राप्तिं महर्ष्यादीनां कृत-वान् प्रभुः, तदन्तरं तादृशसाधनस्याविर्भावादतिभाग्यवतां जीवानां तदनुष्ठाने तत्स्वरूप-

प्राप्तेर्निःप्रत्युहत्वमिति तथाकरणाभावात् । न च रसरूपभावमत्रादत्त्वानुग्रहेणैव कुतो न तादृक्फलदानमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रेच्छेन भगवतैव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजा-म्यहं'मित्युक्तत्वात् तादृक्प्रतिपत्तिं विना तादृशानुग्रहाभावात् तादृशफलदानाभावात् प्रपत्ते-रपि तत्रैव दानेन प्राकट्यवैयर्थ्यमिति पूर्वमेवोक्तम् । न च 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति मुण्डकोपनिषद्वाक्याद् विनापि साधनं भगवत्प्राप्तिरिति वाच्यम् । एतद्वाक्यानुपदोक्त 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो, न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्, एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधामे'तिवाक्य 'एतैरुपायैर्यतते' इत्युक्तेः पूर्ववाक्येन मर्यादीयसाधनमात्र-निषेध एव, न तु एतैर्मन्मनसि स्थितैरुपायैर्ब्रजभक्तसजातीयभावादिभिः यः कश्चन यतते तस्य भगवद्दृशीकारकसर्वात्मभावरूपबललाभादेश आत्मा ब्रह्मरूपं हृदये प्रकटं धाम विशते प्रविष्टो भवतीत्यर्थान्न मर्यादातीतसाधननिषेध इति त्वदुक्तेरनवकाशात् । अन्यथा फलत्वव्याहतिः । यत्किञ्चित्साधनसाध्यस्यैव फलत्वात् । तस्मादतिभाग्यवत्तराणां जीवानामेतादृशसाधनेनैवैतादृशफलप्राप्त्यर्थमेतादृशोवतार इति । एवं च ब्रजभक्तसमानभावे-नाभजने तत्फलप्राप्तेः कस्याप्यभावादेतादृशमार्गप्राकट्यवैयर्थ्यापातः स्यात् । अत एव 'स्त्रियो वा पुरुषो वापि भर्तृभावेन केशवम् । हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशय' इति बृहद्भामनपुराणे । 'येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा सुहृदो दैवमिष्ट'मित्यादिना श्रीभागवते चोक्तम् । अन्यथैतादृगवाक्यं व्यर्थं स्यात् । तस्माद्ब्रजभक्तसजातीयभावेनैव भजनं कर्तव्यम् । परन्तु ब्रजभक्तदास्यपूर्वकमेव, न तु स्वातन्त्र्येण, ब्रजभक्तानामेतन्मार्ग-गुरुत्वात्प्रभोस्तदधीनत्वाच्चेति निष्कर्ष इति सर्वं समञ्जसम् । न च प्रभोर्ब्रजभक्ताधीनत्वेन तदास्यकरणेपि यदि ताः प्रतिबन्धं कुर्युः प्रभोः स्वस्वरूपदाने स्त्रीस्वभावसिद्धप्रसुरेर्ष्या तदा कथमेतादृशफलप्राप्तिरिति वाच्यम् । रसरूपप्रभोरेव फलत्वात् रसस्य च विभावानु-भावव्यभिचारिसमूहरूपत्वात् तत्र विभावत्वेन ब्रजभक्तानां रसरूपप्रसुत्वात् तेषामप्यनु-मत्यैवैतादृगमार्गप्राकट्यस्य जातत्वेन तत्कृतेर्ष्या प्रतिबन्धाभावात् । किञ्च, यत्रैव लौकिको नायकोनेकनायकानामेककालावच्छेदेन रसदानं कर्तुं न शक्नोति तत्रैवर्ष्यापि सम्भवति । अत्र तु प्रभोरलौकिकत्वात् 'कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः । रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोपि लीलये'त्यत्रेवानन्तरूपत्वेन सर्वेषां रसदानकरणसमर्थत्वात् केष्याविकाशः, यतः सर्वत्रैव सर्वानुभववेद्य एव प्रभुः सर्वदा विराजते । ननु प्रभू रस-रूपस्तदन्तर्गतश्च ब्रजभक्ता विभावत्वेनास्मदादिप्रपत्तिश्च ब्रजभक्तदास्यविशिष्टभगवद्विषयक-सर्वात्मभावेन । एवं च भगवद्रूपरसानुभवे सिद्धे तत्समये कैतासां दास्यं स्यास्यति । न च तदुत्तरमेतासां दास्यं मास्त्विति शंक्नीयम् । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति मर्यादाभंगपत्ते-रिति चेन्न, अलौकिकरसभोगानुकूलसामर्थ्यस्य प्राप्या रसरूपभगवद्भोगस्य ब्रजभक्तदास्य-

भोगस्य चैककालावच्छेदेनैव सम्भवेन 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादाया अभंगात् । न 'चाचार्यं मां विजानीयादि'त्यनेनाचार्यस्य भगवत्त्वेन तद्दास्यपूर्वकमेव जीवैर्भगवद्दास्यं क्रियते साधनदशायाम्, फलदशयां तु भगवद्दास्यमेव तिष्ठति, न त्वाचार्यदास्यम्, तत्र केयं मर्यादा, तथात्रापि भविष्यतीति वाच्यम् । सर्वेषां भगवद्रूपाणां नित्यत्वेनाचार्यरूपस्य भगवद्रसानुगुणभगवल्लीलान्तर्गतत्वात् स्वरूपस्य चालौकिकसामर्थ्येन तद्दास्यकरणस्यापि सम्भवात् । एवमेव सर्वभावप्रपत्या भजनमिति प्रभुदत्तालौकिकविषयकसामर्थ्येन सर्वविध-लीलास्वप्येतस्य भजनकर्तुः सान्निध्यं सिद्धम् । किं बहुनांशावतारादिलीलायामप्यंशेनैव च भक्तोपि तत्तल्लीलानुभवं करोतीति न कस्यामपि लीलायामेतादृशभक्तासहभावो भगवतः । न चैवं श्रीनारायणादिभक्तस्यापि श्रीनारायणे सर्वभावप्रपत्तेः सत्त्वात् सर्वत्र तत्सहभाव-प्राप्तौ पुरुषोत्तमसहभावोपि स्यादिति वाच्यम् । 'ये यथा मां'मित्यप्येवामिति पदेन पुरुषोत्तमत्वेनांगुल्या स्वस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकमुक्तत्वादेतस्याः प्रतिज्ञायाः पूर्णपुरुषोत्तम-मात्रसम्बन्धित्वात्, अन्यथा दण्डकारण्यस्त्रधीणामपि तेनैव स्वरूपेण रसदानं कृतं स्यात् कोसलेन्द्रकुमारेण । किञ्चित्तस्याः प्रतिज्ञायाः सर्वभगवत्स्वरूपसम्बन्धित्वे पूर्णत्वांशत्वादिविभागोपि न स्यात् । न चेष्टापत्तिः, तदान्यस्वरूपाणामंशरूपश्रीकृष्ण-स्वरूपाणामपि श्रीमता व्यासेनोक्तत्वेन चित्ताप्रसादो न स्यादिति सर्वमनवद्यम् । एवञ्चैक-भक्तसम्बन्धिन्या अपि लीलाया न परिच्छेदस्तर्हि सर्वभक्तसम्बन्धिन्या लीलायाः परिच्छेदः केन कर्तुं शक्येतेति किं वाञ्छानसागोचरमाहात्म्येषु प्रभुतत्परिकरतद्भक्तेषु विचारचातु-र्येण । किञ्च 'त्रैलोक्ये भगवद्भक्ताः के त्वां जानन्ति मर्मेणि । केषु वा त्वं सदायत्त-केषु प्रेम तवातुलमि'ति श्रीमदर्जुनेन पृष्ठो भगवानुवाच 'न तथा मे प्रियतमो ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव । न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम । भक्ता ममानुरक्ताश्च कति सन्ति न भूतले । किन्तु गोपीजनः प्राणाधिकप्रियतमो मम । न मां जानन्ति मुनयो योगिनश्च परन्तप । न च रुद्रादयो देवा यथा गोप्यो विदन्ति माम् । न तपोभिर्न वेदैश्च नाचारैर्न च विद्यया । वशोस्मि केवलं प्रेम्णा प्रमाणं तत्र गोपिकाः । मन्माहात्म्यं मच्चर्या मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् । जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति मर्मेणि । निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते । ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम् । मम भक्तास्तु ये पार्थ न मे भक्तास्तु ते मताः । मम भक्तस्य ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मता' इत्यादि-पुराणप्रवृत्तकान्मद्भक्तपूजाभ्यधिकेति श्रीभागवताद्ब्रजभक्तानां भक्तशिरोभूषणत्वात् प्रभोरतिप्रियत्वाच्चापि एतासां दास्यं कर्तव्यम् । एवञ्च सति एतद्दास्यकरणे प्रभोरत्या-नन्दाविर्भावेन तासामत्यानन्दाविर्भावान्मनसि सन्तोषेण तदनुग्रहात् तत्पूर्वोक्तं फलं भगवान् ददातीत्यपि तद्दास्यकरणम् । तथा चैतासां गुरुत्वात् प्रभोरेतदधीनत्वाद्भक्त-शिरोभूषणत्वादतिप्रियत्वाच्च सर्वथैतद्दास्यकरणपूर्वकमेव प्रभुदास्यकरणमिति सिद्धम् ।

अथ श्रीमत्स्वामिन्यादीनां सर्वासां समतयैव दास्यं कर्तव्यमथवा न्यूनाधिकभावेनेति पृच्छसि चेत् । अत्रोच्यते । 'यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा । सर्व-गोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभे'ति पद्मपुराणवचनात् । अथ च 'त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या तत्र वृन्दावनं पुनः । तत्रापि गोपिकाः पार्थ तत्र राधाभिधा ममे'त्यादिपुराणवचनात् । 'सर्वश्रेष्ठा गान्धर्व्युवाचे'ति गोपालतापिन्युपनिषच्छ्रुतेश्च गान्धर्व्यपरनामिकायां श्रीस्वामि-न्यामेव सर्वपेक्षया भगवतो ममतातिशयात् तत्रैव निजदास्यं मुख्यतया स्थापयित्वाऽ-न्यासु ब्रजसीमन्तिनीषु 'मोहितां दुःखितां सखीमि'त्यादिना सखीत्वोक्तेः सख्याश्च समानशीलव्यसनवत्त्वात् तासां स्वामिनीसमानशीलव्यसनवत्त्वात् तासां श्रीमत्स्वामिन्या अतिप्रियतमानां दास्यमपि स्वामिन्यनुग्रहाकांक्षया स्वामिनीदास्यांगत्वेन स्वामिनीवदेव कर्तव्यम् । तासां समानशीलसखीत्वात्तद्दास्यकरणे श्रीस्वामिन्यत्यन्तमनुगृह्णाति । स्वामि-न्यनुग्रहे च ता अनुगृह्णाति । तदनुग्रहे च ब्रजराजकिशोरानुग्रह इति न कदापि कुत्रापि केनाप्यंशेन फलविच्छेदः । अत एव कैश्चिद्भगवदीयैः सिद्धान्तितं श्रीमच्चन्द्रावल्यादिषु स्वामिनीप्रतिपक्षात्वमपि न सम्भवति, सखित्वोक्तिविरोधात् । अत एव 'यदैव श्रीराधे मिलति रहसि त्वां मधुपतिस्तदैवाकार्याहं निजचरणदास्येतिगदिता । मुदा चन्द्रावत्ये'ति पद्ये अस्मत्प्रभुभिः सखीत्वमेव स्फुटीकृतम्, न तु प्रतिपक्षात्वम् । अत एवास्तत्सर्व-स्वायिताः प्रभुचरणाः श्रीमत्स्वामिन्यकृतद्वादशकषट्पद्यादौ तद्दास्यमेव सविस्तरं प्रार्थयन्तो 'यावन्ति पदपद्मानी'त्यादिनाऽन्यासामपि दास्यं प्रार्थितवन्तः । अन्यथा श्रीस्वामिन्या इवान्यासामपि पृथक्कृतया दास्यं प्रार्थयेयुर्न तु तद्दास्यप्रार्थनाप्रसंगे । सर्वासामपि सम-प्राधान्यात् । तस्मादन्यासां दास्यमंगत्वेनैवेत्यस्मदुक्त एव पन्थाः । ननु एवं चेत् सर्वा-स्वपि सखीत्वं तदा रसान्तर्गतामानखण्डिताकलहान्तरितादिलीला नोपपद्येतेति चेत्, अत्र वदामः । हृदयादिस्थिताभरणमणिगणप्रतिबिम्बितदृष्टनिजरूपे प्रतिनायिकाभ्रमात् संकेतस्थलानागमनाद्वा मानोदयात् । एवमेव बन्धविशेषाकस्मिकललाटसंक्रान्तस्वचरणतल-लाक्षारसे सुरतसमयसमुद्भूतनिजदन्तनखक्षतादिषु च कदाचिदतिविस्मरणेन रासस्थनिखिल-ब्रजभक्तातिरिक्तपरकीयाकृतत्वभ्रान्त्या मानखण्डिताकलहान्तरितादिलीलानां सम्भवात् । न च लाक्षारसदन्तनखक्षतादिषु स्वयूथकृतत्वभ्रान्तिरेव कुतो न जायत इति वाच्यम् । तथा भ्रान्ततायामपि तासु परस्परं दृढतरसखीत्वजनितान्तिप्रेम्णा ईर्ष्यानुदयेन तथालीलासम्भवात् । किञ्च 'योगमायासुपाश्रित' इत्यनेन रसलीलायां योगमायामाश्रितो भगवान् । एवञ्च योगमाया यथा यथा येषां येषां पदार्थानामुपयोगो रसलीलायाम्, तथा तथा करोतीति परकीयासम्भोगादिदर्शनजमानादिरसानुभवार्थं परकीयासम्भोगादि प्रदर्श्य मानादिरसानु-भवं कारयतीत्यनेनापि प्रकारेण मानादिलीलानां सम्भवाच्च । यदि चात्यन्तमाग्रहो भवतां यच्चन्द्रावल्यादिसम्भोगदर्शनेन मानादिरैतास्त्रेव च प्रतिपक्षात्वं तदा तत्सर्वं कल्पान्तरीयांश-

रूपकृष्णावतारीयरसलीलायामेव, न सारस्वतकल्पीयपूर्णावतारसम्बन्धिरसलीलायामिति बुद्धताम् । यदि सारस्वतकल्पे भवदुक्तप्रकारः स्यात्तदा श्रीभागवते स्फुटमुपलभ्येत । उपलभ्यते तु सखीत्वमेव परस्परं फलप्रकरण इति सर्वं चतुरस्रमिति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्त-चिन्तया । अत्रेदं ज्ञेयम् । अत्र फलत्रये फलद्वयमेतदेहेपि भवति परन्तु मनस्येव रसरूप-भगवत्सम्बन्धेन मनसोलौकिकत्वाभावात् । सेवौपयिकदेहरूपतृतीयं फलं त्वेतदेहपातो-त्तर एव भवति सर्वथा । सर्वत्र लौकिकदेहपातोत्तर एवालौकिकदेहसम्बन्धसम्भवा-दिति दिक् ॥ १॥ ॥

अथ प्रकृतमनुसरामः । ननु बाधके सति कार्यानुदयाद्बाधकाभावस्य सर्वत्र कारणतेत्यत्र यद्बाधकं तनुजवित्तजरूपसाधनसेवायाम्, तद्वक्तव्यम्, यदभावं सम्पाद्य मानससेवारूपं तत्कार्यं सम्पाद्यतामित्याकांक्षायां तनुजवित्तजरूपसाधनसेवाबाधकमाहुः उद्वेगः प्रतिबन्धो वेति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तुबाधकम् ॥ २ ॥

एतस्य विवरणं तु सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् । उद्वेगो वा प्रतिबन्धो वा भोगो वा । त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्यन्तम् । तत्र तनुजवित्तजरूपसाधनसेवायां येन क्रियमाणेन उद्वेगप्रतिबन्धभोगा भवन्ति तस्य परित्यागः कर्तव्यः । तत्परित्यागे तत्साध्योद्वेगाद्यनुदयात्तनुजवित्तजरूपसाधनसेवासम्पत्तौ सत्यां मानससेवासिद्धिर्भवतीति भावः । तत्रोद्वेगः शोकदुःखादिजनितो भवति, तेषु शोकादिषु जातेषु 'चित्तोद्वेगं विधायपि हरिर्येवत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजे'दिति नवरत्नोक्तेर्भगवल्लीला यथा सर्वा तथेयमप्येका भगवल्लीला भगवतः सुखा-धायिकेति ज्ञात्वा शोकादित्यागः कर्तव्यो, न तु शोकादिदूरीकरणार्थं यत्नः कर्तव्य इति । अन्यथा यद्यपि भविष्यति तदेव यत्प्रभुणा विचारितमस्त्यतः तस्य स्वरूपेण विघटनं तु न कर्तुं शक्यम्, तथापि प्रभुसुखाधायकलीलापदार्थविघटनेच्छायामपि स्वामिद्रोहो भवेदतः प्रभिवच्छां ज्ञात्वा तादृशशोकदुःखादिकेषु त्यक्तेषु सत्सुद्वेगकारणाभावादुद्वेगाभावस्य आय-मानत्वादुद्वेगसाधनपरित्यागः कर्तव्यः । यद्वा, बलिष्ठम्लेच्छबलिष्ठवेदवाह्यजनितोपद्रवेण साधनरूपसेवायामुद्वेगो भवति तदभावार्थं तत्सान्निध्यरूपसाधनपरित्यागः कर्तव्य इत्ये-तदर्थं साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तम् ॥ २ ॥

तत्रोद्वेगकारणानामनन्तत्वात्तज्जन्योद्वेगानामप्यनन्तत्वात् परिगणना कर्तुमशक्येति सर्वविधमप्युद्वेगमुद्वेगत्वेनैकविधमेव निरूप्य द्वितीयं प्रतिबन्धरूपं तनुजवित्तजरूपसाधनसेवायां बाधकमाहुः अकर्तव्यमिति ।

अकर्तव्यं भगवत सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

एतस्य विवरणं तु प्रतिबन्धोपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्च, तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्यः । भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदान्यसेवापि व्यर्था । तदासुरोपं जीव इति निर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्यातव्यं शोकाभावायेति विवेक इत्यन्तम् । अत्र भगवतः सर्वथा चेदकर्तव्यं भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति यावत्, तदा गतिः तदभावसम्पादकसाधनं किमपि नास्तीति मूलार्थः । अत्र उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकमित्यनेन पूर्वं सेवायां बाधकत्रयं यदुक्तं तत्तु तत्रया-भावसम्पादनार्थमेव । अत एव त्रयाणां साधने त्यक्ते तदभावः सम्पद्यत इति त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति विवृतौ स्फुटीकृतम् । न च बाधकत्रयत्याग एव कुतो नोक्तः, तत्साधनपरित्यागः किमर्थमुक्त इति वाच्यम् । जाते उद्वेगे जाते च प्रतिबन्धे जाते च भोगे सेवाभावस्तत्समयावच्छेदेन सिद्ध एव जाते तत्त्यागः कर्तुमशक्योप्युत्तरसमये तन्नाशोपि स्वयमेव भविष्यतीति व्यर्थस्तत्परित्यागः कर्तव्य इति पुरुषप्रयत्नोपदेश इति मनसिकृत्य सेवाविषये बाधकत्रयं न यथोत्पद्यत एव तथा कर्तव्यं पुरुषेणेत्येतदर्थं त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तत्वात् । एवं च सति अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्नहीत्यनेन भगवत्कृतप्रतिबन्धाभावसम्पादनार्थं गतिर्नास्तीत्युक्तत्वादन्त्यकृतप्रति-बन्धाभावसम्पादने गतिरस्तीत्यर्थतः सिद्धत्वाद्विविधं प्रतिबन्धकभागतमेवेति कण्ठरवेण मूलेनुक्त्वा विवरणे प्रतिबन्धकरूपसेवाबाधकद्वैविध्यमाहुः प्रतिबन्धोपि द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्चेति । तत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धाभावः सम्पादयितुमशक्यः, साधारणस्तु शक्य इति विवरणे आहुः तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्य इति । तत्र प्रति-बन्धकरूपसेवाबाधकभेदद्वये आद्यः साधारणः प्रतिबन्धो भगवद्विमुखभार्यादिकृत-प्रतिबन्धस्तत्र साधनपरित्यागस्योक्तत्वात् तत्साधनरूपो यो भार्यादिः स त्याज्यस्त्यक्तुं शक्यः । तत्त्यागेन प्रतिबन्धाभावरूपबाधकाभावः सम्पादयितुं शक्य इत्यर्थो ज्ञेयः । अत एवोक्तं 'भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रति-कूले गृहं त्यजे'दिति भागवततत्त्वदीपे ।

अथ भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु न केनापि त्यक्तुं शक्य इत्याहुः भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यमिति विवरणे अर्थः स्पष्टः । ननु भगवत्कृतः प्रतिबन्धः कस्य फलाभावसम्पादकः ? किं कायवाङ्मनोभिर्भजनं कुर्वतः पुरुषस्याहोस्विद्भजनेच्छावतो वा ? तत्र नाद्यः । 'इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत्सदे'ति भागवततत्त्वदीपकारिकाव्याख्याने 'एकापि सकृत्कृता परिचर्या परम-पुरुषार्थदेति । परं विद्यमानदेहस्य निःकृत्यर्थं सदा परिचरे'दित्याचार्यैः सिद्धान्तितत्वात् किञ्चित्कालिकभजनोत्तरं यावज्जीवं कथाचिद्भगवदिच्छया भगवत्कृतसेवाप्रतिबन्धेपि परम-

पुरुषार्थलाभस्य सिद्धत्वात् न भगवान् फलं न दास्यतीति निषेधस्य विरुद्धत्वात् । अत एव 'न ह्यंगोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपी'ति एकादशस्कन्धीयप्रभुवचनं 'यानास्थाये'ति वचनं 'सकृदिदृष्टादिपुरुषं पुरुषो याति साम्यतां संवत्सरं किञ्चिदूनं दिल्या यद्भरिरिचिंत' इति षष्ठस्कन्धीयाष्टाध्यायीयशुकवचनं च । न द्वितीयः, विना भगवत्कृपां भजनेच्छानु-दयात्, तदुदये च भजनस्य भविष्यत्त्वनिश्चयेनापि निषेधस्य वैयर्थ्यापातात् । तथाचायं निषेधो भगवत्कृतप्रतिबन्धे कालविलम्बेन फलदानेच्छामेव व्यनक्ति, न तु तददाने-च्छामिति भावः । अन्यथा भजनेच्छानुकूलकृपावैयर्थ्यं प्रसज्येतेति । न च विनैवानुग्रहं भजनेच्छोदय इति वाच्यम् । अवतारदशायां स्वरूपदर्शनेनैवेच्छोदयसम्भवेऽप्यनवतार-दशायां सत्संगश्रीभागवतादिश्रवणं विना शुद्धपुष्टिभजनेच्छोदयस्याद्यत्वात् श्रुतत्वाच्च । यदि पुनर्विनादर्शनश्रवणादिकमपि शुद्धपुष्टिभार्गीयभजनेच्छोदयः स्यात् तदा पुरुषोत्तमावता-रोपि न स्यात् । अत एवानुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रित'इत्युपक्रम्य 'विक्रीडितं व्रजवधूमिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोनुशृणुयादथ वर्णयेद्य' इत्यत्र य इतिपदेन यस्य-कस्यापि श्रवणवर्णनाभ्यां भक्तिं परामित्यनेन भक्तिलाभ उक्तः, स त्विच्छोत्पादनपूर्वक एव । तस्माद् व्यर्थं भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यादिनिरूपणमिति चेत्, अत्र वदामः । पुत्रादि-जन्माद्युत्तरं केनापि प्रतिबन्धेनाकृतपुत्रादिनिवेदनस्य कस्यचिन्महत्तमस्य पुरुषस्य तदनन्तर-मतिक्रम्यया पुत्रादिस्नेहेन वा कदाचित् तदनिवेदनस्मरणे मनसि स्यान्मम पुत्रादिः शुद्धपुष्टि-भजनेन भगवन्तं प्राप्नोत्विति मयास्मै नामनिवेदने दत्त्वा भगवत्सेवा कारणीया तदा त्वं सेवां कुरु मत्तो नामनिवेदने गृहीत्वेति कथने यदि तस्य हृद्यत्पोप्युत्साहो न दृश्यते कदापि प्रत्युत द्वेषः तदोन्नेयमिदम्, यदस्य भगवत्कृतः प्रतिबन्धोस्ति भगवान् फलं न दास्यती-त्यस्मै नोपदेष्टव्यं किमपीति ज्ञापनार्थत्वेन भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यादिनिरूपणस्य सार्थकत्वात् । ननु तदा शुद्धपुष्टिभार्गीयपूर्णस्वरूपसेवाफलं मा भवत्वस्यांशस्वरूपसेवा-फलं तु भविष्यतीत्यंशसेवोपदेश एव कर्तव्यस्तेनेति चेदित्याशंक्याहुः तदान्यसेवापि व्यर्थेति । अंशांशिनोरभेदादंशस्यांशधीनत्वाच्चांशिकृतप्रतिबन्धेशस्य फलदानासमर्थ-त्वान्महाराजकृते प्रतिबन्धे सचिवादेरिवैत्यर्थः । नन्वंशिनो न स्वस्वरूपपरमफलदानेच्छा-किन्तु स्वल्पफलदानेच्छांशद्वारा तदांशेन फलदानं कर्तव्यमेव, महाराजस्य महाफलदानेच्छा-भावेपि सचिवादिद्वारा स्वल्पफलदानेच्छायां सचिवादिनेवेति चेत्, सत्यम्, यत्रांश्य-विरोधेनांशभजनं तत्रैवांशेन फलदानं महाराजाविरोधेन सचिवादिभजने सचिवादिनेव, न तु तद्विरोधेन भजने । तथा चैतस्य भगवत्सेवाकर्तव्यत्वकथनेपि कदाप्युत्साहाभावात् प्रत्युत द्वेषाद्भवान्नांशेनापि फलदानमित्यन्यसेवावैयर्थ्यात् सापि नोपदेष्टव्येति सुष्टूक्तं तदान्यसेवापि व्यर्थेति । किञ्च, तदैतादृशस्य यत्स्वरूपं तस्य निर्धारोपि भवतीत्याहुः तदा आसुरोऽयं जीव इति निर्धार इति । आसुरः आसुरावेशी आसुरभाववान्

वा सहजासुरो वेति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः । अत्र कदाचिद्भक्तसन्निधौ यस्य मनसि भगवति सद्भाव उत्पद्यते द्वितीयक्षणे तदसन्निधौ तु नश्यति स आसुरावेशी आसुरभाववान् वा ज्ञेयः । यस्य तु सत्संगेपि भगवति न सद्भावः कदापि स तु सहजासुर इति ज्ञेयः । ननु तर्हि महत्तमकृपावैयर्थ्यप्रसंग इत्याशंक्याहुः यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतमिति । वा अथवा यथा आसुरस्य तत्त्वनिर्धार उक्तस्तथा विवेको विचारो ज्ञान-मिति यावत् । तत्साधनमासुरस्य शोकाभावरूपफलाय मतं सम्मतमित्यर्थः । अत्रैवं ज्ञेयम् । 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेरसुराणां माया सेव्या, सैवश्वरः, तत्कृतत्वाजगन्मायिकम्, तेषां मुक्तिश्चान्धन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासत' इति श्रुतेर्दैवेष्वनाविष्टानां सहजा-सुराणां कामनाभावपूर्वकं सम्भूत्युपासकानां तदुपासनारूपसाधनवलेनासुरज्ञानमार्गप्रवेशे सति शोकाभावरूपावान्तरफले जाते सुखदुःखात्यन्ताभावस्वरूपपुनरावृत्तिरहितप्रकृतित्य-रूपान्धन्तमःप्रवेशरूपा मुक्तिः । आसुराविष्टानां दैवजीवानां तु निरुपधिक्रमया भगवता हतानां मध्ये दैवस्य दैवज्ञानाभावात् स्वरूपवलेनाक्षरब्रह्मणि लयरूपा मुक्तिः, तदा-विष्टासुरस्य त्वासुरज्ञानाभावात् स्वरूपवलेनैवापुनरावृत्तिरहितान्धन्तमःप्रवेशपरपर्यायप्रकृति-लयरूपा मुक्तिः । अन्येषां सकामानां सहजासुराणामासुराविष्टदैवजीवानां च 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्त्यविद्वांसोबुधा जनाः', 'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् क्षिपाम्यजस्रमसुरानासुरीष्वेव योनिष्वि'ति श्रुतिभगवद्वाक्याभ्यामन्धन्तमोवृतकेवलदुःखात्मकलोकरूपनरकप्राप्तिस्तद्गोचरानन्तरं पुनरा-सुरयोनिप्राप्तिरेवेति कृतं पल्लवितेन ।

एवं च सर्वं मायिकमेकोऽस्मदाधात्मा स एव परमार्थो मायैवेश्वरो नान्य ईश्वरः कोप्येवं तत्त्वनिर्धाररूपो विवेकः सोऽस्य साधनं मतं सम्मतं यावज्जीवं शोकाद्य-भावाय, तदनन्तरं तादृशमुक्तये वेतिशेषः । तथा च तादृशपुत्रभार्यादेः संसाराविष्टत्वान्महत्तमकृपया तेषां संसाराभावेन शोकाद्यभावपूर्वकतादृशमुक्तिनिमित्तमासुरज्ञानमार्ग-मुपदिशेदिति भावः । अत एव श्रीमद्भुवदेवैरासुरज्ञानमार्ग एव कंसस्य श्रीमद्देवकीवधो-द्यतस्योपदिष्टो न तु दैव इति ज्ञेयम् । इदमेवाहुर्विवरणे तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तव्यं शोकाभावायेति विवेक इति । तदा तेष्वसुरावेश्यासुरभाववत्सहजासुरजीवत्व-निर्धारि सत्येतैरासुरज्ञानमार्गेण स्यात्तव्यमित्ययं विवेको विचारः सिद्धान्तभूत इत्यर्थः । तथा च तान् प्रत्यासुरज्ञानमार्ग उपदेष्टव्य इति भावः । यदा पूर्वमासुरोऽयं जीव इति निर्धार इत्युक्तं तर्हि तेन किं साधनमनुष्ठेयमित्याकांक्षायां तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तव्यमि-

१ आवेशजीवास्ते सर्वे दैवानां वपुषि स्थिताः, आवेशेन विना ये च मूलदैव्या इति सृष्टाः, तेषां तमस्य सम्प्रोक्तं चान्ये देवांशिनस्तथा, तेषां स्थानं च स्वर्गादि तत्तत्पदमवाप्तुरितिपद्यपुराणोत्तरखण्डीयवाक्येभ्य आसुरावेशिनां मुक्तेरासुराणामन्धन्तमोरूपनरकप्राप्तेरुक्तत्वात् ।

त्यासुरस्यैव साधनमुपदिशन्ति तदा ज्ञानेत्यादिना । एवं च ज्ञानमार्गपदेनासुरज्ञानमार्गं
 एवायातीति तथा व्याख्यातमिति ज्ञेयम् । न ह्यासुरस्य सर्वं ब्रह्मेत्यक्षरज्ञानमार्गं पुरुषोत्तम-
 ज्ञानमार्गं वाधिकारः, तस्य तामसत्वात् । अत एवेश्वरत्वेनाभिमतामसमायाशक्त्युपास-
 कास्तेषु सत्त्वाभावात् सत्त्वजनितज्ञानाभावे 'नोर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था' इत्युक्त्वा नोर्ध्वगतिः,
 किन्तु तामसशक्त्युपासनाजनितज्ञानस्य तमोगुणजनितत्वेन तामसत्वाद्दधो गच्छन्ति
 तामसा' इत्यधोगतिरूपनिरयान्धन्तमोरूपप्रकृतिलयान्यतरप्रवेश एव, 'ये यथा मां प्रपद्यन्त'
 इति वाक्यात् । अत्र अधःपदेनाधममेव विवक्षितम्, न तु नीचस्थानम्, निरयाणां
 नीचस्थानत्वेपि अन्धन्तमःप्रवेशरूपासुरमुक्तेः सुखदुःखाभावरूपत्वेन नीचस्थानत्वाभावात्,
 सर्वं ब्रह्मेत्यक्षरब्रह्मज्ञानमार्गं तु 'दैवी सम्पद्धिमोक्षाये'ति वाक्याद्दैवसम्पद्युक्तजीवा-
 नामेवाधिकारः । अत एव 'जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः । सात्त्विकः स तु
 विज्ञेयो भवेन्मोक्षयाधिष्ठित' इतिमोक्षधर्मीयनारायणीयवाक्यान्मोक्षाधिकारिणां सात्त्विक-
 त्वेन 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान'मित्युक्तसत्त्वगुणजनितज्ञाने 'नोर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था' इति
 वाक्योक्तोर्ध्वगमनरूपा स्वर्गमुत्तयन्तरप्राप्तिर्भवतीति । अत्रोर्ध्वपदस्योत्तममित्यर्थो न तृच्च-
 स्थानम्, स्वर्गलोकस्योर्ध्वलोकत्वेपि 'यन्न दुःखेन सम्भिन्न'मित्यादिवाक्योक्तस्वर्गसुख-
 स्य मुक्तेश्चोर्ध्वलोकत्वाभावात् । तस्मादूर्ध्वपदेनोत्तमत्वमेव विवक्षितमिति ज्ञेयमिति
 दिक् ॥ ३ ॥

तथा च यस्माद्बाधकेषु सत्सु न सेवासिद्धिरतस्तत्र यत्साधनपरित्यागः कर्तव्य
 इत्याहुः बाधकानां परित्याग इति । एवं द्विविधमपि प्रतिबन्धरूपं सेवाबाधकमुक्त्वा
 लौकिकभोगरूपं सेवाबाधकं वदन्तो द्विविधं भोगमाहुः भोगोप्येकं तथा परम् ।
 निःप्रत्यूहम् । एतद्विवरणं तु भोगो द्विविधो, लौकिकोऽलौकिकश्च ।
 तत्र लौकिकस्त्याज्य एव । अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे
 प्रविशतीत्यन्तम् । अत्र यथा प्रतिबन्धे साधारणस्त्याज्यो, भगवत्कृतस्तु फलविघ्न-
 मेव जनयेत्, तथा भोगेपि सुखदुःखसाक्षात्काररूपभोगरूपवस्तुन्यपि एकं साधारणं
 लौकिकमिति यावत्, तत् तथा त्याज्यम्, तत्साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः ।
 परं द्वितीयं साधारणाद्भिन्नमलौकिकमिति यावत्, तादृशभोगरूपं वस्तु निष्प्रत्यूहं
 निर्गतः फलप्राप्तौ विघ्नो यस्मात्तत्फलाप्रतिबन्धकमिति यावदेतादृशमित्यर्थः । तथा च
 तत्फलानुकूलमेवेत्यर्थ इति भावः । एवं द्विविधोपि भोगो मूले कण्ठरवेणोक्तो यस्तमेव
 भोगं विवरणे भोगोपि द्विविधो लौकिकोऽलौकिकश्चेत्यादिना स्फुटीकृत्य तत्र
 लौकिकस्त्याज्य एवेत्यनेन लौकिकभोगस्यापि तत्साधनपरित्यागेन त्याज्यत्वमुक्तम् ।
 ननु कथमलौकिकस्य द्वितीयस्य भोगस्य फलाप्रतिबन्धकत्वमित्याशंकायामाहुः महान्
 भोगः प्रथमे विशते सदेति । महानलौकिको भोगस्तु प्रथमे अलौकिकरसोप-

भोगसामर्थ्यरूपे पूर्वोक्तफले विषयत्वेन प्रविशतीत्यर्थः । नन्वलौकिकभोगस्तु नेह भवति
 किन्वेतदेहपातोत्तरं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धे सति भवति । तथा चात्रालौकिकभोगप्रसक्ते-
 रेवाभावात् तद्भोगप्रसक्तौ सत्यामेव लौकिकभोगवदस्यापि त्यागाशंकायां प्राप्तायामेतस्य
 प्रथमफले प्रवेशवचनं सार्थकं स्यात्तस्मान्महान्भोगः प्रथमे विशते सदेति वचनं व्यर्थमिति
 चेत्, अत्र वदामः । अलौकिकभोगस्त्वत्रापि मनोमात्रस्य स्थायिभावात्मकभगवत्सम्बन्धे-
 नालौकिकत्वान्मनोमात्रे त्वात्मनि द्वारा भवति, तत्सहनार्थमेवालौकिकसामर्थ्यं भगवता
 दीयते, अत एवालौकिकभोगस्य प्रथमफलान्तरभावोक्तिः संगता भवति । अन्यथा प्रथम-
 फलान्तरभावोक्तिरसंगता स्यात् । तस्माद्यदा तनुजवित्तजसेवया प्रेमोत्पत्तिस्तदनन्तर-
 मलौकिकभोगरूपे अपूर्वानुरागरूपविरहजडुःखसाक्षात्कारे विषयत्वेन प्रविष्टस्य दुःखस्य
 तापविशिष्टस्य सहनार्थमलौकिकसामर्थ्यं भगवता दत्ते स्वसेव्यश्रीविग्रहे स्वप्नादिषु वा स्पर्शादि-
 जनितविलक्षणसुखभोगप्राप्तिरत्रापि भवति तदाचार्यैर्भोगः प्रतिबन्धकत्वेनोक्तो तोयं भोगो-
 पि मम प्रतिबन्धकः स्यादिति कदाचित् कस्यचिन्मनसि भवेत्, प्रेमभरेण च स भोग-
 सत्यक्तुमशक्यस्तदा व्याकुलतया महान्खेद उत्पद्येत, तेन च विरहानुभवप्रतिबन्धः स्यादिति
 तत्खेदनिवारणार्थं महान्भोगः प्रथमे विशते सदेति मूले, अलौकिकभोगस्तु
 फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीत्येतद्विवरणे चालौकिकभोगस्य प्रथमफले प्रवेश
 उक्त इति तथोक्तेः सार्थकत्वस्य सिद्धत्वाच्च त्वदुत्तयवकाशः कथमपीति बुध्यस्व । ननु
 लौकिको भोगो न तनुजवित्तजसेवायाः प्रतिबन्धकः किन्तु 'ता नाविद'न्नित्याद्युक्तप्रकारक-
 चेतस्तत्प्रवृत्तत्वतद्रूपायां मानससेवायां प्रतिबन्धकः । यदि तनुजवित्तजसेवाप्रतिबन्धकः
 स्यात्तदा लौकिकसुखसाक्षात्काररूपभोगाभावे देहस्थितेरभावात् तनुजवित्तजसेवाश्रवण-
 कीर्तनादीनां चाभावे सिद्धे कारणाभावेन प्रेमोत्पत्तेरभावान्मानससेवासिद्धेश्चाभावात् परम-
 फलप्राप्तिर्न भवेदेव कस्यापीति न कोप्यस्मिन्मार्गे प्रवर्ततेति मार्ग एवायमुच्छिद्येत, तस्माच्च
 तत्प्रतिबन्धको लौकिको भोगः । सति च लौकिके भोगे 'विषयाविद्यचित्ताना नावेशः
 सर्वदा हरे'रिति वचनात्तत्कारणविषयावेशेन भगवद्विषयकतनुजवित्तजसेवाभावे कथं
 पूर्वोक्तं फलं स्यादिति चेत्, अत्र वदामः । लौकिकविषयभोगो द्विविधः, एकः केवले-
 न्द्रियपोषको, द्वितीयो भगवत्तनुजवित्तजसेवोपयोगी । तत्र केवलेन्द्रियमात्रपोषकविषय-
 भोगो न कर्तव्यः, किन्तु प्रभुसेवोपयोगित्वबुद्ध्या अथ च स्वस्य दासत्वेन दासधर्मत्व-
 बुद्ध्या च लौकिकभगवन्निवेदितविषयभोगः कर्तव्यः । एवं च 'तावद्रागादयः स्तेनास्ताव-
 त्कारागृहं गृहम् । तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः । त्वयोपभुक्तस्रग्बन्ध-
 वासोलंकारचर्चिताः । उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमही'त्यादिवचनानि च
 यैर्भगवत्सेवोपयोगित्वेन दासधर्मत्वेन बन्धकमायाजयसाधकत्वेनानर्थनिवारकत्वेन च भगव-
 न्निवेदितलौकिकविषयभोगस्य विहितत्वात् । तस्मात्केवलेन्द्रियमात्रपोषकलौकिकभगवद-

निवेदितविषयजभोग एव त्याज्यत्वेनोक्तोत्र, स तु तनुजवित्तजसेवाबाधक एवेति स एव त्याज्यो न तु भगवत्सेवौपयिकत्वेन दासधर्मत्वेन च प्राप्तो विषयजभोग इति बाधकत्वाभावेन पूर्वोक्तफलस्य निःप्रत्यूहत्वात् । अत एव 'बीजदारब्धप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि'रित्यादिना भक्तिवर्धिन्यां तनुजवित्तजसेवाकरणे गृहस्थितिरुक्ता । प्रेमासक्तयनन्तरमेव च 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् । त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थाथैकमानसः । लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां परा'मित्यनेन भगवद्भजनान्यविषयकव्यासंगजनकत्वेन सर्वविषयापि गृहस्य त्याग उक्तः सर्वविषय-भोगाभावसाधकत्वेनेति कृतं पल्लवितेन ॥ ४ ॥

ननु भगवता साक्षात्सम्बन्धेपि यदि सुखदुःखसाक्षात्काररूपो भोग एव भवति तदा लौकिकभोगः किमर्थं त्याज्यत्वेनोच्यत इत्यनतिपण्डितांशकां परिहरन्त आहुः ।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्दलादेतौ सदा मतौ ।

एतद्विवरणं तु साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाह सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति । सविघ्नत्वादल्पत्वाच्च भोगस्त्याज्यः । एतौ सदा प्रतिबन्धकावित्यन्तम् । लौकिकसुखभोगसुखभोगसाधनानां नाशात्स-विघ्नो, अथ च लौकिकभोगः किञ्चित्कालिकत्वात् परिच्छिन्न इत्यल्पश्च । अथ च परमफल-बाधक इति घातकः । एवमेव लौकिकदुःखभोगस्तु यद्विषयक उत्पद्यते तद्विषयस्य कस्यचिदेव प्राप्तिर्न सर्वस्येति सविघ्नो, अथ च लौकिकविषयस्य तुच्छत्वात् तुच्छविषयक इति अल्पस्तुच्छश्च । अथ च परम्परया मानससेवाप्रतिबन्धकत्वात् फलप्राप्तिघातकश्चेति मूले हेतुगर्भविशेषणानि । अत एवात्र भावप्रधानो निर्देश इति ज्ञेयमिति मनसिकृत्याचार्याः सविघ्नत्वादल्पत्वाद्घातकत्वाच्चेति हेतुत्वेनैव विवरणे व्याख्यातवन्तो भोगविशेषणानि । अत एव एतौ भगवत्कृतप्रतिबन्धसाधारणभोगौ बलाद्धेतोः सदा बाधकाविति भावः । नन्वत्रैको भोगः एवोक्तः पूर्वमव्यवहितः, तथा सति सदायं प्रतिबन्धक इत्येकवचनमेव वक्तव्यम्, न त्वेताविति द्विवचनमित्याशंकायामाहुः द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति । द्विवचनाकान्तैतच्छब्दे द्वितीयो द्वित्वसंख्यापूरको भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति तात्पर्यात् द्विवचनस्य सार्थक्यमिति भावः ।

ननु भगवत्प्रतिबन्धे ज्ञाते संसाराभावायातिक्रमया तस्यासुरज्ञानमार्ग उपदेष्टव्य इति पूर्वमुक्तम्, तत्रापि तस्य चेन्न स्थिरता तदा महत्तमैः किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः द्वितीय इति ॥ ५ ॥

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

एतद्विवरणं तु ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाह द्वितीय इत्यन्तम् । द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे आसुरज्ञानोपदेशपर्यन्तं चिन्ता कर्तव्या महत्तमैरतिक्रमया ।

यदासुरज्ञानेपि भार्यादेः स्थितिर्न दृश्यते किन्तु 'कामोपभोगपरमा' इति वचनसिद्धकामोप-भोगमात्रपरत्वं दृष्टम्, तदास्यासुरसुक्तिरपि न देया भगवता किन्तु मरणानन्तर'मसुर्या नाम ते लोका बन्धेन तमसा वृताः । तांस्तो प्रेत्यापि गच्छन्त्यविद्वांसोबुधा जना' इति श्रुत्युक्तान्धन्तमोवृत्तकेवलदुःखात्मकलोकप्राप्तिपूर्वकं 'तानहं द्विषतः क्रूरानि'त्यादिवाक्योक्तः संसार एव देयोस्येति संसारनिश्चयं प्राप्य सर्वथैव चिन्ता त्याज्या । तादृशपुत्रादिरुपेक्ष्य इति भावः ॥ ५ ॥

एवं प्रसंगादासुरस्य पुत्रादेरुद्धारोपायस्य कर्तव्याकर्तव्यत्वं निरूप्य प्रकृतं विचार-यन्ति । ननु यथासुरस्यासुरसुक्तिसंसारयोर्निश्चयः कृतः कामोपभोगपरत्वापरत्वादिलिङ्गैस्तथा शुद्धपुष्टिमार्गीयेष्वेतस्य शीघ्रं फलमेतस्य विलम्बेनेति केन लिङ्गेन ज्ञेयमित्याकांक्षायामाहुः ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति ।

तुशब्द आसुरप्रसङ्गनिवारणार्थः । आद्ये अलौकिकसामर्थ्यरूपे फले जाते सति भगवतः दातृत्वं नास्तीति न, किन्तु दातृत्वं वर्तत इति ज्ञेयम् । नन्वाद्य इति पाठे नु निश्चयेन दातृता नास्तीति न, किन्तु वर्तत एवेत्यर्थो ज्ञेयः । एतदेहे मनसि एतदेह-पातोत्तरं चालौकिकसंघात एव फलं भविष्यतीति भावः । अयं मूलार्थः स्पष्ट एवेति मत्वाद्ये दातृता नास्तीत्येतस्यार्थमनुक्त्वा आद्यफलाभावे एतदेहे मनसि एतदेहपातोत्तरं च भगवतो दातृता नास्तीति शिरश्चालनेनोक्त्वा किन्तु विलम्बेन दातृता वर्तत इत्यर्थतः सिद्धमर्थमाहुर्विवरणे आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति तदा सेव-नाधिदैविकीत्युक्तं भवतीत्यन्तेन । यतश्चायमार्थिकोर्थ उक्तोत एव इत्युक्तं भवतीत्युक्तं न त्वित्यर्थ इति । यद्वा आद्यफलाभावे तनुजवित्तजसेवाजनितप्रेमासक्तयनन्तरमलौकिक-सामर्थ्यदानाभावे भगवतो दातृत्वाभावो नास्ति किन्तु विलम्बेन दातृत्वं वर्तत इत्यकार-प्रश्लेषेण व्याख्येयम् । नन्वाद्यफलाभावे दातृत्वं कुतो नास्तीत्याकाङ्क्षायामाहुर्विवरणे तदा सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति । व्यसनपर्यन्तं स्वतन्त्रेच्छत्वेन प्रेमावस्थानामा-विर्भाव्यत्वाभावात् पूर्णप्रेमाविर्भावाभावाद्रसरूपताभावात्सेवाया आधिदैविकत्वाभावादिति हेतोर्दातृत्वं नास्ति, यत आधिदैविकसेवयैवाधिदैविकस्वरूपप्राप्तिर्ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्त-यैव भजाम्यहं'मिति वाक्यादित्यवेहि । रसरूपस्यैवाधिदैविकत्वे 'रसो वै स' इतिश्रुतिश्च-परमकाष्ठापन्नब्रह्मस्वरूपनिश्चयवाचकवैदित्यव्ययशब्दः प्रमाणं परमकाष्ठापन्नस्यैव पर्यन्ततः सर्वाधिदैविकत्वात् । एवं चाद्यफले जाते फलं शीघ्रं भविष्यति तदभावे भगवदिच्छाभावेन कस्यचिद्विलम्बेन भविष्यतीत्याद्यफलोत्पत्त्यनुत्पत्तिरूपलिङ्गाभ्यां शुद्धपुष्टिमार्गीयस्यापि भक्तस्य शीघ्रफलोत्पत्त्यनुत्पत्ती ज्ञेये इति दिक् ।

अथ उद्वेगाभावप्रतिबन्धाभावभोगाभावानां बाधकाभावत्वेन पूर्वं कारणत्वमुक्तम् । तत्र सर्वस्यापि भगवद्द्वेषलात्वेन ज्ञानादुद्वेगाभावः सिद्धस्तत्र न गृहत्यागः । सेवाप्रतिबन्धका-

सुरपुत्रादेस्त्यागात्प्रतिबन्धाभावसिद्धेश्च तत्र पाक्षिको गृहत्यागः । दैवपुत्रादिषु सत्सु गृहत्यागाभावात् । भोगाभावस्तु लौकिकभोगत्वावच्छेदकावच्छिन्नाभावः । स तु लौकिक-गृहत्वावच्छेदकावच्छिन्नत्यागेनैवेत्याहुः ।

तृतीये बाधकं गृहम् ।

तृतीये बाधकाभावत्वेन कारणे लौकिकभोगाभावे लौकिकं गृहं बाधकम् । तादृशगृहे सति तादृशभोगाभावाभावात्, सर्वेन्द्रियाणां लोकवेदसंकोचेनापि स्वस्वविषये प्रवृत्तिसम्भवादिति भावः । एतद्विवरणे इदमेवाहुः भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इति । अत्र पर्युपसर्गो वैशमलीतत्रस्थपुत्रादिवाचको ज्ञेयः । अन्योर्थः स्पष्टः ।

ननु एतादृशसेवनातिदुर्लभेत्याशंकायामाहुरवश्येयं सदा भाव्येति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

अत्र विवरणाभावात्स्माभिरेव व्याख्यायते । इयमव्यवहितक्षण एवोक्ता बुद्धिस्था मानसी सेवना 'न रोषयती'त्यादिवाक्येभ्यः कस्यापि कर्मज्ञानादेरवश्याधीना यद्यपि न भवति, व्रजभक्तरूपसाधुकृपायात्राधीनत्वात्, तथापि श्रीप्रभुव्रजभक्तदास्यपूर्वकं भाव्या चिन्तनीया । एतादृशीं सेवनां कदास्मत्प्रभुरस्त्वामिन्योस्मभ्यं दास्यन्ति, कदा भगवति चक्षुरागः, कदा वा चित्तासंगः, कदा वा 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च । आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः । अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्ताथा । तत्कूजितानां श्रवणमाप्राणं चापि सर्वतः । तदन्तिकगतितिनित्य'मित्यादिः संकल्पः, कदा निद्राछेदः, कदा तनुतनुता, कदा विषयनिवृत्तिः, कदा व्रपानाशः, कदोन्मादमूर्छामृतय इत्याद्युक्तप्रकारेण सदा देहपातपर्यन्तं भाव्या, भावनया मनसि स्थापनीया । अतिदीनतया ज्ञानविषयत्वमापदनीयेति यावत् । यद्वा इयं मानसी सेवा सदा भाव्या, प्रेमाद्यभावेपि प्रेमाद्यवस्थाद्यनुकरणकरणेन च चिन्तनीया । तथा च मनस्ये-तादृशभावनापूर्वकं तनुजवित्तजसेवाकरणे 'तं यथा यथोपासते तथैव भवती'ति श्रुतेर्ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति गीतास्थभगवद्वाक्यादथ च 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'त्यादिवचनाच्चैतद्देहपातोत्तरमलौकिकदेहप्राप्ति वा कस्यचित्कस्य-चित्तु जन्मान्तरे वा बहुतरभगवत्कृपायामस्मिन् जन्मन्यपि वा 'ता नाविद'न्नित्या-द्युक्तप्रकारा फलरूपा सेवना सिद्धा भविष्यतीति भावः । अथवा इयं रसरूपा प्रेमासक्तिव्यसनात्मिका सेवा सदा सर्वदा अः भगवान् वश्यो यस्यां सा भाव्या ज्ञेया । एतादृशज्ञानेनापि फलसिद्धिरित्यर्थः । तथा चान्यप्रकारकसेवायां न सर्वदा भगवान् वश्यो भवति, न वा तज्ज्ञानमात्रेण च फलसिद्धिरिति भावः । ननु ज्ञानादि-मार्गप्रकारेणापि सेवा प्रभुं स्वश्रे करिष्यति प्रभुसेवात्वाविशेषादित्याशंक्याहुः सर्वमन्य-न्मनोभ्रम इति । अन्यत् सर्वं मनोभ्रमरूपमेव । तथा च भगवन्मायामोहितानामेवायं

सिद्धान्तो यदन्यत्रापि मार्गं प्रभुर्वश्यो भवतीति । अत एवास्मिन्मार्गे मार्गान्तराच्छ्रेष्ठ्यम् । अत एव च 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति वचनं चेति दिक् ॥६॥

एवं मानससेवाभावनाया माहात्म्यमुक्त्वा पूर्वोक्तसेवाबाधकत्यागस्यावश्यकतामाहुः तदीयैरपि तत्कार्यमिति ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

बालबोधग्रन्थे 'समर्पणादात्मनो हिं तदीयत्वं भवेद्भुव'मित्युक्तत्वा'देवं धर्मै-र्मनुष्याणा'मित्यादिभगवद्वाक्याच्च पुष्टौ पुष्टिमार्गे तदीयैरपि आत्मसमर्पणं कृतवद्विरपि तत् पूर्वोक्तं बाधकव्रितयत्यागरूपं यत् तत् कार्यं कर्तव्यम्, न तु मयात्मसमर्पणं कृतं तदीयं च सर्वं जातमतः परं प्रभुर्यथा ज्ञास्यति तथा करिष्यति मम का चिन्तेति निश्चिन्ततया श्येयम् । तथा सति भगवति भरदाने पुष्टिमार्गस्य प्रेमात्मकत्वात् प्रेममार्ग-विरोध आपद्येत । सर्वथा स्वाशक्येथे हि भगवति भरदानम्, न तु स्वशक्येपि, स्वशक्येथेपि तत्र भरदाने स्वामिन्यादीनां स्वप्राणप्रियस्यायासदर्शनेन महान् खेद उत्पद्येत, तेन तदधीनत्वात्फलस्य तत्फलदाने भगवतो विलम्बस्तखेददानजनितः स्वामिनीष्वापद्येतेति । अत एवाग्रे आहुः पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति । पुष्टाविति देहलीदीपन्यायेनात्रापि सम्बध्यते । अन्यमार्गस्थस्तु कृतात्मसमर्पणो विक्रीतपश्चादिवत् खेदेहभरणपोषणादिचिन्ता-रहितो विलम्बं कुर्यादपि, पुष्टौ शुद्धपुष्टिमार्गे तु तन्मार्गस्थो नैव विलम्बयेन्न विलम्बं कुर्याद्बाधकत्रयापनोद इत्यर्थः । यद्वा स्वयमेवात्मसमर्पिणा बाधकत्रयापनोदे कृते स्वप्राण-प्रियस्यायासादर्शनात् स्वामिन्यादीनां खेदाभावात् तदधीनफलदाने प्रभुर्न विलम्बयेन्न विलम्बं कुर्यादिति वार्थः । अत एव 'मदर्थेथपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य चेत्येकादश-स्कन्धीयं प्रभुवचनमात्मसमर्पिणो भोगादित्यागमुपदिशति, न तु स्वस्मिन् भरदानेन निश्चिन्ततयावस्थानम् । अन्यथा तासां खेदे सति तनुजवित्तजसेवायाः प्रतिबन्धे जाते सति फलरूपसेवाप्राप्त्याशा दूरापास्ता । तथा च यत्र तनुजवित्तजसेवायामपि बाधकं त्यक्तव्यं जातं तत्र फलरूपसेवासिद्धौ सत्यां प्रभवायासस्फुरणाद्विलम्बं न कुर्यादेवेत्यर्थः । अत्रैतावज्ज्ञेयम् । साधनरूपसेवायां 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दित्युपदेशे भजनप्रतिबन्धक-गृहस्यैव त्यागो, न भजनानुकूलगृहस्य । फलरूपसेवायां तु भजनानुकूलस्यापि गृहस्य त्याग इति । एतद्यथा तथा मत्कृतभक्तिवर्धिनीटीकायां 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशक'मितिश्लोके द्रष्टव्यम् ।

अथ तनुजवित्तजसेवया प्राप्तमानससेवस्य व्यसने जाते दशावस्थासु महादुःखानु-भवादतितापेन कदाचिदतिनिष्ठुरः प्रियो यदेतावत्पर्यन्तमपि न मिलति, मया त्वेतावद्दुःख-मनुभूयते तदर्थमित्यादिको दोषारोपो भगवति भगवदीयस्य स्यात् सोपि बाधक एवेत्याहुः गुणक्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणैः रसावस्थारूपैर्निद्राछेदादिभिर्मनःक्षोभेपि प्रियदोषारोपेपि एतदेव भगवद्प्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वमेव द्रष्टव्यं दोषारोपस्य । तथा च तादृशावस्थायामपि प्रिये दोषारोपो न कर्तव्यः । यतः प्रियस्य निर्दोषपूर्णगुणवत्त्वात्तत्र दोषारोपे स्वामिन्यादीनां रोषे फलप्राप्तिविलम्बः स्यात् । किन्तु धन्योहं यत्प्रियार्थमेतादृशावस्थामनुभवाभीतिगुणारोप एव कर्तव्य इति भावः । इदं त्रपानाशावस्थापर्यन्तमेव कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । उन्मादावस्थाप्रादुर्भावे तु देहानुसन्धानाभावाच्च तत्र दोषो दोषारोपेपीति ज्ञेयम् । अत एवोद्धवद्वारा ब्रजसीमन्तिनीनां ज्ञानोपदेशो दोषाभावार्थमेव कृतः प्रभुणा ॥ ७ ॥

नन्विदं सर्वं प्राकृततुल्यमेवेति किमेतादृशावस्थाप्राप्त्याप्युत्कर्ष इत्याशङ्क्याहुः ।

कुसुष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

अत्र या काचित् कुसुष्टिरुत्पद्येत सा भ्रमो ज्ञेयः । यतो 'रसो वै स' इति श्रुते रसरूपो भगवान् सिद्धस्तदा सर्वा अपि रसावस्था भगवद्रूपा एव, रसस्य विभावानुभावव्यभिचारिभावसमूहात्म्यनरूपत्वादिति सिद्धः सर्वोत्कर्षोस्य मार्गस्यास्य फलस्य चेति सर्वं चतुरस्रम् ॥ ७॥ ॥

अत्र केचिदस्मच्छ्रीमदाचार्यमार्गीया भगवदीया यादृशी सेवनेति मूले सेवायां फलत्रयमिति तद्विवरणे च पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदभिन्नमार्गसम्बन्धिविध-सेवानां क्रमेण फलत्रयमुक्तमिति व्याचक्षते । तच्चिन्त्यम् । एवं सति मूले यादृशी सेवनेत्यत्र तद्विवरणे च सेवायामित्यत्र चैकवचनं श्रीमदाचार्यैर्न दत्तं स्यात् । मूले कदाचिच्छन्दोपुरोधेनैकवचनदानेपि विवरणे सेवासु फलत्रयमिति बहुवचनमेवोक्तं स्यात्, विवरणस्य मूलाभिप्रायप्रकटनार्थमेव क्रियमाणत्वात् । अतो मूलविवरणयोरेकवचनदानान्यथानुपपत्त्या तत्रत्यैकवचनाभ्यां शुद्धपुष्टिमार्गसेवाफलमात्रनिरूपणमेवात्र श्रीमदाचार्य-चरणानामभिप्रेतं स्वीयमात्रेभ्यो ज्ञापनार्थमिति ज्ञायत इति सारम् । अन्ये त्वेतन्मार्गीया भगवदीया मूलविवरणोक्तैकवचनानुरोधेन शुद्धपुष्टिसेवाफलत्रयमेवात्र श्रीमदाचार्याणामभिप्रेतमधिकारभेदेनोत्तमत्वमध्यमत्वसाधारणत्वभेदभिन्नम् । तत्रोत्तमं फलमलौकिक-सामर्थ्यम्, तत्र सेवायां क्रियमाणायामेव प्रभुसम्पादितालौकिकशरीरनिष्ठस्वरूपानुभव-सामर्थ्यं प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यम्, यथा रासमण्डलमण्डनायमानानाम्, मध्यमं फलं तु सायुज्यम् । तत्र सह युनक्तीति सहयुक्, सेवायां क्रियमाणायामेव भगवता सह सतत-स्थितिः सार्वदिकसंयोगरसानुभव इति यावत् । तथा च भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपद-

१ इतःपरं 'इति श्रीवल्गुभक्तनुजवरविश्वलनाथाङ्घ्रिरेणुलवचनतः । जयनोपालः कृतवान्' इति प्रथमं लिखितं, हरितालेन पश्चाद्विहितम् । अतःपरं विद्यमानश्रीकाभागः पाश्चात्त्यः, ग्रन्थकृता स्वयमेव निर्मितः, स्वहस्ताक्षरैर्लिखितश्चेति प्रतिभाति । एतत्प्रथमं तु परमतद्वयणेन स्वमतद्वीकरणम् ।

खिलगुण्यपापक्षयद्वारा पाञ्चभौतिकं देहं निवर्त्यालौकिकं दत्त्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य प्रभुकारितस्वलीलानुभवरूपं प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यम्, यथा लक्ष्म्या अन्तर्गृहगतगोपिकानां वा । अत्र मध्यमत्वं चास्य फलस्य विप्रयोगरसानुभवाभावाज्ज्ञेयम् । साधारणफलं तु सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु । तत्र सेवायां क्रियमाणायामे-वानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात्सेवानुपयोगेनैस्तादृशसाक्षाद्रसानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायामे-सेवाया उप समीपे योगः सम्बन्धस्तद्वच्छरीरप्राप्तिस्तद्रूपम्, यथा वृन्दावनस्थपक्ष्या-दीनाम् । तस्य चान्तररमणानुकूलत्वात्फलत्वम्, बहिःसाक्षात्सम्बन्धाभावादधिकाररूपत्वं च ज्ञेयमिति वदन्ति । तत्रान्तर्गृहगतानां मध्यमं फलमिति त्वस्मदाचार्यचरणसिद्धान्त-विरुद्धम् । तथा हि । यद्यस्मदाचार्याणामेवमेवाभिप्रायः स्यात्तदा कुत्रापि दशमस्कन्धसुबो-धिण्यां श्रीमदाचार्यैस्तद्विष्णुणां च तत्तनुजवरैः स्फुटीकृतः स्यात् । न 'चान्तर्गृहगताः काश्चि'दित्यस्याभासे 'यासां कालः प्रतिबन्धकः, पूर्वमेव भक्तियुक्तास्ता भजनानन्दमननु-भूयैव प्रतिबद्धा एव भगवत्सायुज्यं प्राप्तवत्य इत्याहे'त्यत्रत्यसायुज्यपदेन, पुनरेतस्यैव पदस्य व्याख्यानान्ते 'ततो मुक्ता जाता' इत्यारभ्य 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गता' इति पद्यव्याख्यानान्तप्रयुक्तैर्मुक्तापदैश्च मुख्यफलापेक्षया मुक्तिरूपफलस्यैव प्राप्ति-कथनेनायमेवाभिप्रायः स्फुटीकृतः श्रीमदाचार्यचरणैरिति वाच्यम् । अत्रत्यसायुज्यपद-मुक्तापदानां परोक्षवादरूपत्वमिति सायुज्यपदस्य भगवत्सहभावपरत्वेन मुक्तापदानां 'जहुर्गुणमयं देह'मित्यत्रोक्तगुणमयदेहत्यागोत्तरप्राप्तगुणातीतसङ्घातनिष्ठभगवद्रसानन्दानुभव-विशिष्टत्वपरत्वेन च प्रयुक्तत्वात् । न च पूर्वोक्तानां पदानां परोक्षवादत्वे प्रमाणाभावः । 'लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपूरणम् । आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनादत' इति प्रथमस्कन्धीयसुबोधिनीप्रारंभप्रघट्टकपद्यस्य 'परोक्षकथनादत' इति श्रीमदाचार्यप्रति-ज्ञाया एव प्रमाणत्वात् । अस्यार्थः । अहं श्रीभागवते कुत्रापि लक्षणां नैव वक्ष्यामि, न कथयिष्यामि । लक्षणा हि मुख्यार्थबाधे भवति, तत्रात्र प्रतिपाद्यस्य भगवतः सर्व-शक्तिमत्त्वेन सर्वभवनसमर्थत्वेन मुख्यार्थबाधाभावात् । 'पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेद-श्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि युक्तिभि'रिति गौतमस्मृतिवचनेन पुराणेषु लक्षणावृत्त्याश्रयणस्य निषिद्धत्वाच्च । अथ च न्यूनात्पुराणान्तरकथया न्यूनत्वं प्राप्य भावप्रधानो निर्देशो, ल्यब्लोपे पञ्चमी । यद्वा, न्यूनात्पुराणान्तरकथया न्यूनात्न्यूनं प्रमेयं प्राप्यान्यपूरणमन्येन पुराणान्तरेण पुराणान्तरकथयेति यावत्तेन पूरणं श्रीभागवतस्य भगवदीयान्तरकृतश्रीभागवतव्याख्यान इव न वक्ष्यामि । यदि सा कथैतत्कल्पीया स्यात् तदा व्यासचरणैरेव निबद्धा स्यादतो न वक्ष्यामीति भावः । केचित्तु न्यूनाच्छब्दादर्था-च्चान्यस्य तस्य पूरणं नेत्यर्थः, अध्याहारं शब्दस्य वार्थस्य वा न करिष्यामीत्याहुः । तत्र 'जन्माद्यस्ये'ति प्रथमस्कन्धीयाद्यश्लोक एव 'धीमहि' इति तिङ्वाच्यकारकवाचिनो-

साच्छब्दस्य चाध्याहारदर्शनात् सोक्तिश्चिन्त्या, किन्त्वार्थिकं वाच्यार्थसिद्धमेवार्थं प्रवक्ष्यामि प्रकृष्टत्वेन वक्ष्यामि । अगोप्यत्वादिति भावः । परन्तु परोक्षकथनादते परोक्षकथनमप्रत्यक्ष-
कथनं वाचकशब्देतरशब्देन कथनं गोप्यकथनमिति यावत् तद्विहायेत्यर्थः । तथा च
परोक्षकथनेनानधिकारिभ्यो गोपनार्थं लक्षणां लक्षणावृत्तिविशिष्टशब्दानथ च न्यूनं प्रमेयं
प्राप्यान्त्येन पुराणान्तरेण पूरणं न वक्ष्यामि परन्तु तात्पर्यग्राहकलिङ्गादिसिद्धमेव, न तु
तदसिद्धमपीत्येतावदधिकं बोध्यम् । तथैव सुबोधिण्यां दृश्यमानत्वात् । तादृक्कथायाः
कल्पान्तरीयत्वात् । एतत्कल्पीयत्वे तु 'गोप्यः संस्पृष्टसलिला अंगेषु करयोः पृथक् ।
न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत' 'इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिका'
इत्यादिमन्त्रद्रष्टृत्वादिरूपलिङ्गं कुमारिकानामग्रिकुमारत्वे, अथ च 'तमेव परमात्मानं
जारबुद्ध्यापि सङ्गता' इत्यत्रत्यजारबुद्धिरूपं लिङ्गमन्तर्गृहगतानां 'जारधर्मेण सुखेहं
सुदृढं सर्वतोधिकं । मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे'ति बृहद्भामनोक्तभगवद्भ-
दानविशिष्टश्रुतित्वे च यथोक्तं तथोक्तमेव स्यादतो ज्ञायते तत्रैतत्कल्पीयमिति तादृश-
पुराणान्तरकथया पूरणं न करिष्यामीति ज्ञेयम् । अथ च परोक्षकथने वाच्यार्थसिद्धमेवार्थं
न प्रकृष्टत्वेन वक्ष्यामि किन्तु गोप्यत्वात् प्रकटतया न कथितमीदृशं तात्पर्यवृत्त्या सिद्ध-
मप्यर्थं वक्ष्यामीति भावो ज्ञेयः । एवञ्च फलप्रकरणीयलीलायामितिगोप्यत्वादुपक्रमे
फलप्रकरणीयसुबोधिनीस्थसायुज्यमुक्तापदा'न्युक्तं पुरस्ता'दित्यारभ्य 'यत एतद्विमुच्यत'
इत्यन्तं मध्ये प्रयुक्तानि मुक्तिमुच्यतइत्यादिपदानि, अथ च रासलीलोपसंहारे च 'ब्रह्मरात्र
उपावृत्त' इतिपद्यव्याख्याने 'यतो भगवान् मोक्षदाता ताश्चेदासन्ध्यमन्तःस्मरणं करि-
ष्यन्ति तदा मोक्षाधिकारिण्यो भविष्यन्तीति वासुदेवानुमोदिता' इत्यत्रत्यमोक्षपदं च न
लोकप्रसिद्धलयरूपसायुज्यपरत्वेन लयरूपमुक्तिविशिष्टत्वपरत्वेन लयरूपमोक्षपरत्वेन च
न प्रयुक्तानि, किन्तु परोक्षवादेन भगवत्सहस्रस्थितिपरत्वेन गुणमयदेहत्यागोत्तरप्राप्तलौकिक-
देहनिष्ठभगवद्रसानुभवविशिष्टत्वपरत्वेन विप्रयोगोत्तरप्राप्तभगवद्दर्शनानन्दपरत्वेन च प्रयुक्ता-
नीति ज्ञेयम् । पञ्चाध्यायीव्याख्यानस्थसायुज्यमुक्तामुक्तिमोक्षपदानि परोक्षवादरूपाणीति
ज्ञापयितुमेव पञ्चाध्यायीसमाप्तिश्लोकव्याख्यानीयश्रीमदाचार्यतनुजरत्नकृतफलप्रकरणीयसु-
बोधिनीटिप्पण्यां व्याख्यातं 'दिवा विप्रयोगजातौ सत्यां दिनान्ते प्रियसङ्गमे य आनन्दो, न
स सर्वदा दर्शन इति सोत्र मोक्षपदेनोच्यत' इति मोक्षपदस्य तादृगानन्दपरत्वमेव । एवञ्च
सायुज्यमुक्तामुक्तिमोक्षपदानां परोक्षवादत्वं सिद्धम् । अन्यथा 'न चैवं विस्मय' इति
पद्यव्याख्याने 'एतत्परिदृश्यमानं जगत् सर्वमेव यतो विमुक्तिं यास्यति, भावनया गोकुले
स्थित आह, ज्ञानदृष्ट्या वे'त्यत्र विमुक्तिपदस्योपसंहारश्लोकव्याख्याने श्रीमदाचार्यचरणै-
र्मोक्षपदस्य चोक्तत्वाद्रासमण्डलमण्डनायमानानां च लोकप्रसिद्धमोक्षप्राप्तिर्विशाध्याये यज्ञप-
त्नीप्रसङ्ग्ये 'तत्रैका विधृता भवे'तिपद्यव्याख्यानसुबोधिण्या 'मतस्तस्या मुक्तिः सिद्धे'त्युक्तत्वा-

द्विप्रभार्याया अपि मोक्षप्राप्तिरंगीक्रियताम् । तस्मात् परोक्षवादरूपाण्येवात्र सायुज्यादि-
पदानीति न लोकप्रसिद्धमोक्षरूपमध्यमफलप्राप्तिरन्तर्गृहगतानामिति बोध्यम् ।
ननु मुक्तिवाचकपदैरेवात्रपरोक्षवादकरणे किं बीजमिति चेत्? श्रीभागवतमेव
बीजमिति गृहाण । तथाहि । 'न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यज' इतिपद्ये 'यत
एतद्विमुच्यत' इतिपदमुच्यते, तेन च सर्वस्यापि गोकुलस्य मुक्तिः प्रतिपाद्यते, न हि
भवतापि सर्वस्य गोकुलस्य मुक्तिरंगीक्रियते लोकप्रसिद्धा । एवं च विमुच्यतइतिपदं
परोक्षवादरूपमेव । तथा सति श्रीव्यासचरणैरत्र प्रकरणे मुक्तिवाचकपदेनैव परोक्षवादः
कृत इति श्रीमदाचार्यैरपि मुक्तिवाचकपदैरेव परोक्षवादः कृत इति सुष्ठु श्रीभागवत-
मेव बीजमिति । ननु न वयमेवंरूपं मध्यमं फलं तासां वदामः, किन्तु प्रकारान्तरेण
मध्यमफलं वदामः । तच्च भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपदखिलपापपुण्यक्षयद्वारा पाञ्च-
भौतिकं देहं निवर्त्य तदनन्तरं चालौकिकदेहं दत्त्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो
निष्कास्य प्रभुः संयोगरसलीलानुभवमेव कारयति, न तु विप्रयोगरसलीलानुभवम्, एवं च
रसरूपभगवत एकदलानुभवरूपं फलं मध्यममेव, द्वितीयदलानुभवाभावात् । मुख्यानां तु
दलद्वयानुभवस्यापि जायमानत्वान्मुख्यं फलमिति चेत्, अत्र पृच्छामः । अलौकिकदेह-
प्राप्त्यनन्तरं भगवत्कृता स्वस्मिन् स्थितिस्तासां केन रूपेण, सार्वदिकलयरूपेण वा, रस-
व्यभिचारिभावलयरूपेण वा, 'सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनानुभवात् तत' इति श्रीमदा-
चार्यसिद्धान्तितभेदविशिष्टसायुज्यरूपेण वा, सर्वदा कण्ठलग्नत्वेन वा, 'चैत्यस्य तत्त्वममलं
मणिमस्य कण्ठे, कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्विभर्त्यज' इत्यत्रोक्तानां स्वाङ्गीकृतात्मनां
तत्त्वरूपकण्ठस्थितकौस्तुभे लयरूपेण वा, लक्ष्मीवद्वक्षःस्थलस्थितिरूपेण वा, शिवोमा-
वदर्थनारीश्वररूपेण वा, पूतनासुपानसमानीतभगवदुदरस्थितपूतनाभक्षिताशिकुमाररूप-
कुमारीपुंस्त्वधर्मरूपबालकवद्वा । तत्र नाद्यः । पुरुषोत्तमे सार्वदिकलयरूपेण स्थितिस्तु
केवलजीवात्मनामेव, सा त्वेतासामसम्भावितैवालौकिकदेहप्राप्तिप्रविष्टत्वात्, न हि शरीर-
विशिष्टानां लयः कुत्रापि वेदादौ श्रुतोस्ति । पुरुषोत्तमे लयस्य पुरुषोत्तमविषयक-
मर्यादाभक्तिफलत्वाच्च । भवद्विस्वेतासां शुद्धपुष्टिमार्गीयमध्यमफलविशिष्टत्वं सिद्धान्ति-
तमस्ति । न द्वितीयः । एतादृशलयस्यास्माभिरप्यत्राङ्गीक्रियमाणत्वान् । न च तर्हि मध्यम-
फलप्रसक्तिः । एतादृशलयस्य रासमण्डलमण्डनायमानास्वप्यसावहमित्यादौ दृष्टत्वेन
तत्समकक्षत्वान्मध्यमफलत्वाभावात् ! न तृतीयः । तादृशसायुज्यस्य मर्यादापुष्टिफल-
त्वात् । न चतुर्थः । सर्वदा कण्ठलग्नत्वेन स्थिते रसाभासरूपत्वात् । न पञ्चमः । देह-
विशिष्टत्वेन तत्रापि लयासम्भवात् । न षष्ठसप्तमौ । तत्र प्रमाणाभावात् । शिवोमयोरर्ध-
नारीश्वररूपेण स्थितौ च निखिलपुराणेतिहासादीनां प्रमाणत्वाच्च तथात्र प्रमाणमस्ति ।
न चार्धनारीश्वरवदेतासां स्थितौ 'त्वर्थं शोणमथार्धमम्बुदनिभं वद्धं ललाटे सजा वर्धा-

कल्पतया विलाससदनं स्त्रीपुंमयं वाञ्छयम् । हस्तैर्वेणुवराभयानि दधतं लावण्यवारा-
निधिम् । ध्यायामि स्मितशोभितास्यकमलं गोपालचूडामणि'मितिसुन्दरीगोपालमन्त्रसम्बन्धि-
ध्यानप्रतिपादकामम एव प्रमाणमिति वाच्यम् । 'अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी'ति
श्रुतौ यज्ञसम्बन्धयुक्तायाः स्वविवाहिताया एवार्धत्वमुक्तमिति लक्ष्या एवार्धनारीत्वेन
स्थितिराममेन प्रतिपाद्यते न त्वेतासाम्, स्वविवाहितत्वाभावेन पत्नीत्वाभावादित्यस्या अपि
भवदुक्तेरनवकाशात् । नाप्यष्टमः । तेषामपि केवलजीवरूपाणामेव स्वोदरे पूतनया समान-
यनम्, न तु बालकदेहसहितानाम्, तदनन्तरं भगवतापि तदसुपानद्वारा तादृशानामेव
स्वोदरे समानयनम्, पश्चाद्द्वयस्यैरागतस्तत्रेत्यत्र व्रतचर्याप्रसङ्गे त्वलौकिकदेहं दत्त्वा तल्लीला-
प्रदर्शनं कारितवानिति निश्चयस्य दृढतरत्वेनास्यापि दृष्टान्तत्वाभावात् । शरीरविशिष्टानामेव
तेषां स्वोदरानयनमित्यस्य कण्ठरवेणाश्रयमाणत्वात्, प्रत्युत षष्ठदशमस्कन्धीयाध्यायसुबो-
धिण्यां 'तया स्वस्मिन्नानीता ये बालकानां जीवास्ते स्वजीवमर्मस्थाने स्थापिताः सन्तीति
तान् स्वस्मिन्नानेतुं भगवांस्तन्निष्पीडनमेव कृतवानित्यभिप्रेतोर्थ' इत्यनेन केवलजीवाना-
मेवानयनस्य श्रीमदाचार्यैरुक्तत्वाच्च । न च लालनमृद्भक्षणलीलाप्रदर्शितस्वमुखस्थसर्वव्रजे
भगवति देहसहितानामपि स्थितिरस्त्येव, एवं चालौकिकदेहसहितानामप्येतासां स्थितिर्ना-
सम्भावितेति वाच्यम् । स्वमुखारविन्दप्रदर्शितसर्वव्रजे रासमण्डलमण्डनायमानानामपि
स्थितत्वात् तासामपि मध्यमफलप्राप्तवेक्तुं शक्यत्वादिति न किञ्चिदेतत् । अथ यद्यपि
भगवतोऽचिन्त्यशक्तित्वात् केनापि प्रकारेणैतासां भगवति स्थितिः सम्भवेदपि, तथापि
यद्येतासां मध्यमफलं स्यात् तदाऽचिन्त्यशक्तिमत्त्वपर्यन्तं धावना समञ्जसा स्यात्, तदेव
तु खपुष्पायमाणम्, यत एतासां सगुणदेहत्यागोत्तरं निर्गुणदेहप्राप्त्यनन्तरं तु सर्वभाव-
प्रप्तिरूपसाधनस्य सर्वभावप्रपत्तिलभ्यस्यैव च फलस्य प्राप्तिः श्रीमदाचार्यैः सिद्धान्ति-
तास्ति । तथाहि 'कृष्णं विदुः परं कान्त'मितिपञ्चश्लोकीसुबोधिण्यां प्रथमव्याख्याना-
भिप्रायविशदीकारकद्वितीयव्याख्याने 'उक्तं पुरस्ता'दितिपद्यव्याख्यायां 'यथा भगवति
गुणातीत एव परिनिष्ठबुद्धित्वेपि द्वेषस्य तत्र प्रयोजकत्वात् सगुणत्वमेवेति लक्ष्यते,
अयं च रसः सर्वभावप्रपत्तिलभ्यः । नहि जारत्वबुद्धौ सर्वभावप्रपत्तिः । कामपू-
कत्वेनैव तत्सम्भवात्, अत्र च सगुणत्वस्य प्रतिबन्धकत्वाद्यथा चैद्यादीनां स्वाधि-
कारानुसारेण तादृशशरीरनाशे तत्पदप्राप्तिः स्वाधिकारानुसारेण, तथैतासामपि स्वाधि-
कारानुसारेण तथात्वं सगुणत्वोपरमेण सर्वभावप्रपत्त्यैव, ततो निजपतिभजनमिति सर्वमव-
दातम्, अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति मर्यादा भज्येते'त्युक्त्या,
अथ च ननु तथापि तादृशप्रपत्तेरेव मूलत्वात् कथं सर्वभावप्रपत्तिसाध्यं फलं भविष्यतीत्या-
भासं दत्त्वा 'द्विषन्नपी'त्यादिप्रतीकव्याख्याने 'मोक्षसुखानभीषुस्तद्विरुद्धद्वेषकर्ता च चैद्य-
स्तस्मै यथा ज्ञानिनामपि दुर्लभां मुक्तिं दत्तवानेवं तादृक्प्रपत्तिमूलानामप्येतासां तादृशं

फलं दत्तवानित्युक्त्या, तदनु किञ्चाग्रे 'यदि सर्वभावप्रपत्तिलभ्यफलमेव दित्सितं भगवत-
स्तदा पूर्वमेव स एव भावः किमिति नोत्पादित इति चे'दिति पूर्वपक्षीकृत्य 'अत्र वदामो,
यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासामेव रासमण्डलमण्डनायमानानां शरीरमपि
गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपयगोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा पूर्वोक्तानां
भावोपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणभावमुत्पाद्यैतन्निवर्तकोपि स्वयमेव नान्य
इति ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधायाग्रे भाविस्वविरहजडुःखस्वसङ्गमजसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि
ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय मत्स्वाभ्येव सर्वं कृतवानित्युक्त्या च सर्वभाव-
प्रप्तिरूपं साधनं सर्वभावप्रपत्तिलभ्यमेव च फलमेतासामिति दृढीकृतं श्रीमदाचार्यचरणै-
रिति तद्विरुद्धा भवद्वाख्यानपद्धतिर्नादरपदवीमारोहति । तस्मान्नान्तर्गृहगतानां सर्वदा
संयोगरसानुभवमात्ररूपं मध्यमं फलम्, किन्तु पूर्णसंयोगविप्रयोगरसात्मकमुत्तमफलमेव ।
उचितं चैवमेव यत्सर्वभावप्रपत्तिर्नाम सर्वांशेन प्रपत्तिः, तस्यां सत्यां सर्वांशेनैव प्रभुणा
फलदानं कर्तव्यम्, न तु केनाप्यंशेन न्यूनफलदानं सम्भवति, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते
तांस्तथैव भजाम्यह'मितिमर्यादा यतोस्तीति दिक् ।

अपरञ्च । 'या मया क्रीडता रात्र्यां वनेस्मिन् व्रज आस्थिताः । अलब्धरासाः
कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तये'तिभ्रमरगीतस्थपद्यव्याख्याने 'भवत्यः समागता अन्तर्गृह-
गतास्तु गृह एव स्थितास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवत्योनेनैव निदर्शनेन
भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्य' इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । तत्र सर्वप्रकारेण भगवत्प्राप्तिरन्तर्गृह-
गतानां न तु केनाप्यंशेन न्यूनप्रकारेणेत्युक्तत्वात् सार्वदिकसंयोगरसमात्रानुभव एवैतासा-
मिति भवदुक्तिः कथं सङ्गच्छताम् । भगवतो रसरूपत्वाद्रसस्य द्विदलत्वाद्भवन्मते
विप्रयोगप्रकारेण प्राप्त्यभावादिति कृतं पल्लवितेन । अत्र तदैवेतिपदमेव न तु भवत्य
इत्यत्रापि सम्बध्यते । तथा च तदैव तत्क्षण एव तासां मत्प्राप्तिः सर्वप्रकारेण जाता ।
भवतीनां तु तत्क्षण एव न जाता क्रमेणैव मद्द्विषयकदोषारोपरूपदोषनिवृत्तौ सत्यां
भविष्यति, तासां तु मयि दोषारोपो नासीदिति निर्दोषत्वात्तदैव जाता । अन्यथा तदैवेति
पदस्यात्रानुषङ्गाभावे तासां सर्वप्रकारेण मत्प्राप्तिर्भवतीनां सर्वप्रकारेण न जातेत्येवमर्थे
सम्पन्नेन्तर्गृहगतानामेव रासमण्डलमण्डनायमानाभ्योधिकत्वभापद्येत । तदैवेतिपदस्य
त्वत्रानुषङ्गने तासां तदैव जाता, भवतीनां तु दोषनिवृत्तौ क्रमेण भविष्यतीति न न्यूनता
फले प्राप्नोतीति ज्ञेयम् । ननु साधारणानामपि भक्तानां दोषान् भगवान् गणयति, रास-
मण्डलमण्डनायमाना'स्त्वेताः परं तनुभृतो ननु गोपवध्वः', 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं
स्याम्,' 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्षणश' इत्यादिप्रकारेण श्रीमदुद्धवैः स्तुतानां
प्रणतपादरेणुनामथ च तदोषस्य विप्रयोगरसावस्थारूपत्वेन निर्दोषाणां च तादृशं भावं
दोषत्वेन किमर्थं भगवानगणयदिति चेत् । अत्र वदामः । केषाञ्चिदतिकृपाविषयाणां

जीवानां शुद्धपुष्टिमार्गफलं दित्सुर्भगवान् प्रपञ्चे लीलासहित आविर्भवति । अन्यथा सर्व-
भावप्रपत्तिरूपसाधनस्य सर्वभावप्रपत्तिरभ्यफलस्य चाज्ञायमानत्वात् कथमेतन्मार्गप्रवृत्ति-
हेतुभूतफलज्ञानं स्यात्, कथं वा एतन्मार्गीयं साधनं च ज्ञातं स्यात् । तत्रैतन्मार्गीयं फलं
तु ब्रजभक्तसजातीयभावेन भजने भवतीति तद्भावावधारणे भजने क्रियमाणे भगवत्ताज्ञानेपि
तासां दोषारोपे न बाधको जातः, एवं ममापि न भविष्यतीति कदाचिच्छीघ्रं भगवता
फलादाने तनुजवित्तजसेवाकरणसमय एव भगवति दोषारोपं कुर्याद्यन्मया त्वेतावद्दुःख-
मनुभूयते सेवाकरणे, भगवांस्त्वितिनिष्ठुर एतावत्पर्यन्तमपि प्रेमासक्त्यादिकं नाविर्भावयति
येन फलं स्यात्तदा भगवतो निर्दोषपूर्णगुणत्वेन तत्र दोषारोपे तस्य फलप्राप्तौ विलम्बः
स्यादतो भगवति कस्यामप्यवस्थायां दोषारोपे न कर्तव्य इति ज्ञापयितुं यथान्तर्गृहगतानां
जारभावोत्पादनेन रासमण्डलमण्डनायमानानामपि शरीरादि निर्गुणमिति ज्ञापयितुं तासां
जारभावमुत्पादितवानेवमेव रासमण्डलमण्डनायमानानामपि तादृशसावधारूपमपि दोषा-
रोपरूपं भावं दोषत्वेनाख्यापयच्छ्रीमद्बुद्धवमुखेनेति सर्वं सुस्थम् । तस्मादन्तर्गृहगता-
नामपि मुख्यमेव फलमिति सिद्धम् । अन्यच्च 'जारधर्मेण सुखेहं सुदहं सर्वतोधिकं मयि
सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे'ति श्रुतीः प्रति भगवदुक्तेस्तद्भावज्ञापकजारबुद्ध्यापि
सङ्गता इति फलप्रकरणीयवचनस्थजारबुद्धिसङ्गतत्वोक्त्या च श्रुतिरूपा एता अन्तर्गृहगता
इति ज्ञायते । एवं च श्रुतिकृतस्तुतिसन्तुष्टप्रकृत्यतीताक्षरमध्यस्थेन श्रीवृन्दावनगोवर्धन-
यमुनानानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टेन किशोराकृतिना भगवता किं करवाणी-
त्युक्ते 'कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः । कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्य-
संशयम् । यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षा
जनिता तथे'त्यादिना श्रुतिभिः स्वस्य कामिनीभावपूर्वकः स्मरक्षोभ उक्तस्तत्र मा कदा-
चिद्भगवानेवं जानातु यदेतासां लौकिककामाभिलाष इति शङ्कां वारयितुं यथा त्वल्लोक-
वास्तव्या गोपिकाः कामतत्त्वेन कामस्य तत्त्वं परमकाष्ठापन्नं रूपमाधिदैविकमिति यावत्
तादृशकामाधिदैविकेन रूपेण रमणं रमणकर्तारं मत्वा त्वां भजन्ति तथा भजनेस्माकं
चिकीर्षा जनितोत्पादिता त्वद्रूपदर्शनेनेति श्रुतिभिः प्रार्थितम् । तत्र भगवल्लोकस्थनित्य-
सिद्धगोपिकाभावसजातीयभावेन भजनचिकीर्षेतासाम् । तत्र भगवल्लोकस्थनित्यसिद्धगोपि-
कानां न भगवति जारभावः किन्तु सर्वभावप्रपत्तिरूपो भावः । एवं च यद्येतासां मध्यमं
फलं भगवान् दद्यात् तदा 'ये यथा मा'मिति मर्यादा भज्येत । तस्मादपि न तासां मध्यमं
फलं किन्तुत्तममेव । अत्रेपि 'दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथः । मयानुमोदितः
सम्यक् सत्यो भवितुमर्हती'त्यत्र मनोरथस्य दुर्लभत्वं दुर्घटत्वं चोक्तम्, सुमनोरथ इत्यनेन
मनोरथस्य सुष्ठुत्वं चोक्तम् । यदि जारभावेन भजन एव मनोरथः स्यात् तदा दुर्लभत्वं
दुर्घटत्वं च नोक्तं स्यात् । कदाचित् तदानीं श्रुतीनां विवाहितपतेरभावात् स्वस्मिन्

जारभावो दुर्घटोत एव दुर्लभश्चेति दुर्लभत्वदुर्घटत्वोक्तिः सङ्गच्छेतापि, परन्तु सुमनोरथ
इत्यत्र मनोरथे सुष्ठुत्वं तु न सङ्गच्छेत, जारभावेन भजनमनोरथस्य दुष्टत्वेन सुष्ठुत्वा-
भावात् । तस्मात् सुमनोरथपदेन सर्वभावप्रपत्तिपूर्वकभगवल्लोकवास्तव्यगोपिकाभावसजा-
तीयभावमनोरथ एवोक्तोत्रेति निश्चितम् । अत एवात्रे मयानुमोदित इत्यनेन पूर्वं मल्लोक-
वासिनोपीभिर्मोदितो अनु पश्चान्मया मोदितो अत एव सम्यक् समीचीनः सत्यो भवितुं
योग्यो भवति । ममैतदधीनत्वादेतासां मोदनं विना न सत्यो भवितुं योग्यः स्यादिति
भावः । अन्यथा तासां मोदनं नापेक्ष्येत, निकृष्टमनोरथस्य सत्त्वात् । एतदत्रे तु 'आगा-
मिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते । कल्पं सारस्वतं प्राप्य ब्रजे गोप्यो भविष्यथ ।
पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले । वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्वो रासमण्डले,
जारधर्मेण सुखेहं सुदहं सर्वतोधिकम् । मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे'त्यनेन
प्रघट्टकेनैताभिरप्रार्थितः किञ्चित्कार्यार्थं जारभावो भगवतैव दत्त इति प्रतीयते स्फुटमेव ।
तत्रायं भगवदभिप्रायः । मया त्वागामिविरिञ्चिदिनरूपसारस्वतकल्पे पृथिवीस्थभारतक्षेत्रस्थ-
माथुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावने सर्वभावप्रपत्तिस्तत्फलं च प्रकटनीयं जीवविशेषोद्धारार्थम् ।
तत्र सर्वभावप्रपत्तिर्निर्गुणा, तद्भाववतां देहादिकं च निर्गुणम्, तादृशीनां भगवत्सङ्गम-
विरहजन्यं सुखं दुःखं च निर्गुणमिति ज्ञापनीयम्, अन्यथा रासमण्डलमण्डनायमानानां
भावादिषु सगुणत्वबुद्ध्या सर्वेषां प्रवृत्तिर्न स्यात्, तथा च मदवतारोपि व्यर्थः स्यादत
एता एव श्रुतीस्तस्मिन्कल्पे अवतारयित्वैतासां भावादिकं च सगुणं विधाय सगुणभावः
सगुणदेहः सुखदुःखादिकं च कर्मजन्यमिति ज्ञापनीयम् । एवं सत्येतासां तद्भावतद्देहादि-
नाशे लौकिकभिन्नशरीरप्राप्तौ सर्वभावप्रपत्तिरूपं साधनं तल्लभ्यं फलं भविष्यति, मुख्यानां
भावादेर्निर्गुणत्वं च ज्ञापितं भविष्यतीत्युभयमपि कार्यं सेत्स्यति । अन्यथा तज्ज्ञापनार्थं
प्रयत्नान्तरकरणमापद्येतेति जारभावो भगवतैव दत्तो, न तु तासां जारभावप्रपत्तिः साह-
जिकीति बोध्यम् । एवं च बृहद्ब्रह्मपुराणीयकथाविचारेणापि नैतासां मध्यमफलमायाति
किन्तुत्तमफलप्राप्तिरेवेति कृतमधिकतराभिनिवेशेन । अत एव सुबोधिन्वासुक्तं पुरस्ता-
दित्यस्य द्वितीयव्याख्याने श्रीमदाचार्यैरुक्तं 'यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासा-
मेव रासमण्डलमण्डनायमानानां शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कृतिपय-
गोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा पूर्वोक्तानां भावोपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणं
भावमुत्पाद्यैतन्नवर्तकोपि स्वयमेव नान्य इति ज्ञापयितुं तन्नवृत्तिं विधायत्रे भावि-
स्वविरहजदुःखस्वसङ्गमसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय
मत्स्वाम्येव सर्वं कृतवानिति निगर्वः । अत्र पुष्टिमार्गाङ्गिकारान्मर्यादामार्गीया अनुप-
पत्तयोनवसरपराहता इति सर्वमनवद्य'मिति । न च तासां यदा सगुणदेहनाशस्तदैव
भगवति सर्वजीवतत्त्वरूपभगवत्कौस्तुभे वा 'मणिधरः कचिदागणयन्गा' इत्यत्रोक्तगोपि-

(अत्र एकं पत्रं त्रुटितमिति प्रतिभाति)——घानामन्तर्गृहगतानां रासानुभवोत्तरं भवन्मते कुत्र स्थितिर्भवतोच्यते, अस्मन्मते तूक्तस्थानान्यतमस्थाने लयाद्भवता सह ब्रज एव समागमनम्, पुना रासलीलासमये भगवता सह तत्र गमनम्, तदा त्वलौकिकदेहप्राप्त्या रमणम्, पुनरपि तत्रैव लय इति चेत्, अत्र ब्रूमः । यावद्ब्रजीयैरलक्षितत्वेन केवलप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनाभावविशिष्टत्वेन चास्मिन्नेव ब्रजेन्तर्गृहगतानां स्थितिः । न च विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव ब्रजे तासां स्थितौ किं मानमिति वाच्यम् । 'या मया क्रीडता रात्र्या'मिति प्रमरगीतपद्यसुबोधिनीस्थश्रीमदाचार्यकृतव्याख्यानस्यैव प्रमाणत्वात् । तथा हि, यदि ब्रजीयैरन्तर्गृहगतानां सगुणदेहत्यागोत्तरप्राप्तनिर्गुणदेहसम्बन्धिनी लीला दृश्येत तदा रासमण्डलमण्डनायमानाः प्रति त्वन्तर्गृहगताविषयकस्वकृतक्रीडाव्रजस्थितिकथनपूर्वकं किमिति स्वप्राप्तिसाधनं बोधयेत्, स्वप्राप्तिसाधनमात्रमेव तु बोधयेत्, स्वकृतक्रीडाव्रजस्थित्योस्तु ताभिर्दृश्यमानत्वादतो नैतासां तल्लीलादर्शनमिति भगवतासां स्वक्रीडाव्रजस्थिती अपि बोध्येते इति यावद्ब्रजीयैरलक्षितत्वं सिद्धम् । अथ च भवत्यः समागताः अन्तर्गृहगता गृह एव स्थितास्तास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवत्यः । अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यस्तस्मान्मदर्थं जीवनस्थापनमिति पक्षो निरर्थकः । अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः क्लेशो न भवेदनुभवसिद्धश्च क्लेशः । ननु ताः प्रतिबन्धेन तथाभूताः कथं स्तुत्या इत्याशंक्याह कल्याण्य इति । तासां महद्भाग्यमस्तीत्यवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं दृष्ट एवोपक्षीणमिति कण्टकेन कण्टकोद्धारवद् देहनिराकरण एवोपक्षीणम्, भवतीनां तु तद्दुरितमिमामवस्थां प्रापितवत्, अतो मद्भक्तप्रकारेण दोषं परित्यज्य तामवस्थां प्राप्य मां प्राप्स्यथेति भाव इति श्रीमदाचार्यव्याख्यानपर्यालोचनेन्तर्गृहगतानां नाक्रूरागमनरूपमथुरोद्देश्यकभगवन्नयनरूपप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनमस्ति । यदि तद्दर्शनं स्यात् तदा भवतीनां तु तद्दुरितमिमामवस्थां प्रापितवत्, तास्तु महाभाग्यवत्यस्तासामवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं सगुणदेहनिवृत्तावेवोपक्षीणमस्तत्ता इमामवस्थां न प्रापितवदिति भगवान्न कथयेदेव । अक्रूरागमनभगवन्नयनदर्शनजक्लेशस्यैतासामप्यवश्यसिद्धत्वात् । तस्मादन्तर्गृहगतानां न प्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनमित्यपि सिद्धम् । उचितं चैवमेव यतः श्रुतिरूपाभिरन्तर्गृहगताभिर्'यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षां जनिता तथे'त्यनेन प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मस्थव्यापिवैकुण्ठान्तर्गतव्रजान्तस्थप्रपञ्चान्तर्गतवृन्दावने तत्रस्थानानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकभावसजातीयभावेन भगवता सह रमणं प्रार्थितम्, तद्यदि तासां प्रापञ्चिकपदार्थदर्शनं स्यात्, तदा प्रपञ्चान्तर्गतवृन्दावने तादृशभावेन भगवता सह रमणं न प्राप्तमेव स्यात्, एवं च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति मर्यादाभंगः स्यादिति न तासां प्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनमिति साधीयसी पूर्वोक्तोक्तिः । एवमेवास्मिन्नेव ब्रजे ता आस्थिता इति

भवतीनामपि निर्बन्धेनैवात्र स्थापनमित्यनेनास्मिन् ब्रज आस्थिता इत्यस्य व्याख्यानेनास्मिन्नेव ब्रजे स्थितत्वमपि सिद्धम् । इदमेवाभिप्रेत्य पूर्वमेवोक्तं यज्ञपत्नीप्रसंगे विंशाध्याये, 'तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम् । हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धन'मित्तिपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां भगवत्सङ्गतायाः स्थानान्तरं न मृग्यम्, तच्छक्तीनामिव । अत्र यत्र भगवांस्तत्र तच्छक्तयः श्रयादयो गोप्यादयो वेत्यर्थो ज्ञेयः । एवं चात्र भगवान् ब्रजे तिष्ठतीति ता अपि ब्रजे एव चेति ब्रजे स्थितत्वमायात्येवेति दिक् । एवं च सिद्धा विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव ब्रजे स्थितिरन्तर्गृहगतानाम् । तथा च गोपसाहित्येन गोचारणलीलार्थं भगवतो गमने रासलीलानन्तरं भगवतो गृहगमने च दिवा विप्रयोगरसानुभवः, सायंसमये परावृत्य भगवदागमने रात्रौ च वृन्दावन एव महानन्दसन्दोहानुभवश्चैतासामपीति संयोगरसमात्रानुभव एवैतासामिति कथं वक्तुं शक्यत इति कृतं विस्तरेणेति सर्वं चतुरस्तम् ।

स्यादेतत् । वयमन्तर्गृहगतानां यन्मध्यमं फलं वदामो न तूत्तमफलम्, तत्र यतोन्तर्हिते भगवतीति फलप्रकरणीयद्वितीयाध्यायश्चप्रारम्भपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां सन्ति च सिंहास्तयात्र काल इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । व्याख्यातं चैतत् तत्तनुजरत्नैः स्वकृततट्टिप्पण्यामवतारसम्पूर्तिकाल इत्यर्थ इति, तत्रापूर्णाविप्रयोगसंयोगात्मकः पूर्वावतारः समाप्त इदानीं पूर्णाविप्रयोगात्मकपूर्णासंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतारो जात इत्युच्यते, तत्रान्तर्हिते भगवतीत्यनेन पूर्णाविप्रयोगात्मकस्तदनन्तरं 'तासामाविरभू'दित्यनेनैकोनविंशाध्याये पूर्णासंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतार उक्तः । एवं च पूर्वस्वरूपाद्भिन्नमेवेदं भगवत्स्वरूपं परमकाष्ठापन्नम्, एतत्तु अन्तर्गृहगताः प्रति न प्रकटमेव, अतस्तासां नैतादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिः, किन्तु न्यूनसंयोगविप्रयोगरसात्मकत्वेनासम्पूर्णात् तादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिरेवेति न सम्पूर्णफलप्राप्तिरिति तासां मध्यमफलप्राप्तिरित्युच्यते । न चेदं स्वरूपं पूर्वं न प्रकटमिदानीमेवाविर्भूतमित्यत्र किं प्रमाणमिति वाच्यम्, 'गायन्त्य उच्चै'रितिपद्यव्याख्यानसुबोधिनीस्थशब्दो हि धूमवल्बोक इति श्रीमदाचार्यतनुजरत्नकृतश्रीमदाचार्यकारिकाटिप्पण्यां 'अत्रेदमाकृतम्, एतावत्कालपर्यन्तं भगवता स्वरूपानन्दो न प्रकटितः । तस्य स्वरूपात्मकत्वेन तत्प्राकट्यं विना तदनुभवासम्भवात्, 'तथा परमहंसाना'मिति वाक्याद्यादृशेन भक्तियोगेन तत्प्राप्तिस्तादृक् तत्प्रकटनायाधुनैव पुरुषोत्तमावतारादित्यादितत्तनुजरत्नप्रतिपादनान्तर्गतैतावत्कालाधुनापदवाच्यान्तर्धानकालतदधिकरणकपुरुषोत्तमावतारोक्तेरेव प्रमाणत्वादिति चेत्, अत्र वदामः । आगामिविरिञ्चिसृष्ट्युद्यतविरिञ्चिदिनरूपसारस्वतकल्पे भवन्तो ब्रजे गोप्यो भविष्यथ तत्र पृथिवीस्थभारतक्षेत्रान्तर्गतमाथुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावनेहं भवतां प्रेयान्वासमण्डले भविष्यामीति प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मान्तःस्थानन्दमयव्यापिवैकुण्ठलोकस्थशुद्धपुष्टिस्थानरूपश्रीमद्भोवर्धनयमुनासहितनानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टकेवल-

शृंगाररसानन्दमयेन सारस्वतकल्पानुसारिश्रीभागवतीयकृष्णस्तु भगवान् स्वयमितिवचन-
सिद्धपरमकाष्ठापन्नत्वेन भगवता वेदान् प्रति वरो दत्तः । एवं च ब्रह्मकल्पादारभ्य सार-
स्वतकल्पपर्यन्तं न पूर्णपुरुषोत्तमावतारो जातः, सारस्वतकल्प एव च जात इति सिद्धम् ।
एवं चेदं प्रघट्टकमेव मनसिकृत्यैतावत्कालाधुनापदे उक्ते । तथा चैतावत्कालपर्यन्तपदस्य
ब्रह्मकल्पादारभ्य सारस्वतकल्पपर्यन्तमित्यर्थोऽधुनापदस्य च सारस्वतकल्पे इत्यर्थः सम्पन्नः ।
तथा च बाल्यमारभ्य कृता लीला सर्वापि रसालतामापद्यते । भवदुक्तप्रकारे त्वेतदवतार-
पूर्वसामयिकी सर्वापि लीला स्वरूपान्तरसहभावेन कृतत्वाद्रसाभासतामाविष्करोति । किञ्च ।
रासमण्डलमण्डनाभिः कृतं 'कस्याश्चित् पूतनायन्त्या' इत्यादिलीलानुकरणमपि न सङ्गच्छते ।
इदानीमाविर्भूतविप्रयोगसंयोगात्मकस्वरूपेण तत्तल्लीलाया अकृतत्वात् । स्वप्रियकृत-
लीलानुकरणस्यैव लीलाहावरूपत्वमिति रसशास्त्रसिद्धान्तात् । अपरञ्च । विचयनसामयिक-
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा रामानुजो मानिनीनां, गोविन्दचरणप्रिये इत्यादिषु नन्दसुतबल-
भद्रानुजगोकुलेन्द्रादिनामकथनस्याथ च 'विषजलाप्ययाक्षारालाक्षसा'दित्याद्युक्तकालीयादि-
भयरक्षितत्वगोचारणगमनकर्तृत्वादिकथनस्य तत्समयप्रकटस्वरूपे सम्भवाभावेन भ्रम-
रूपत्वापातात् । न चास्तु भ्रमरूपत्वमिति वाच्यम् । तथा सति रासमण्डलमण्डनाय-
मानानां भावानुसारेणेदानीन्तनभजनकर्तृभिरेतादृशभवत्सिद्धान्तस्य ज्ञायमानत्वेन नन्द-
सून्वादिनामाग्रहणस्य बाललीलामारभ्य रासलीलाप्रारम्भपर्यन्तकृतलीलानामभावनाप्रसक्तेः ।
अन्यच्च । श्रीमन्नवनीतप्रियश्रीमद्गोवर्धनोद्धरणस्वरूपभजनाप्रसक्तेश्च महाननर्थः प्रसज्येत् ।
न च तदन्तर्गतमिदमपि स्वरूपं वर्तते एवेति वाच्यम् । तथा सति तत्तल्लीलाविशिष्ट-
स्वरूपाणां तत्तल्लीलाश्रवणादीनां तत्तत्स्वरूपभजनस्य च गौणलीलात्वगौणश्रवणादित्व-
गौणस्वरूपभजनत्वापत्तेश्च । अपरञ्च । 'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम् ।
तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधा' इतिपद्येन श्रीमदाचार्यैर्यशोदोत्सङ्गलालितस्य
सिद्धान्तितायाः परमतत्त्वताया भङ्गप्रसङ्गश्च । न हीदानीमाविर्भूते स्वरूपे यशोदोत्सङ्ग-
लालितत्वमस्तीति तद्विरुद्धा भवद्राद्धान्तपद्धतिः कथं भव्यातामुपेयात् । अथ च 'सखि
कापि सापि सम्प्रति वरिवर्ति किमु ब्रजाधिपप्राणा । या नन्दसूनुमुरलीतरलं चेतः
समादध्या'दिति तत्तनुजराजोक्ता स्वस्य तरलचेतस्त्वे नन्दसूनुमुरल्या हेतुत्वोक्तिरपि कथं
समञ्जसा स्यात् । श्रीमदाचार्यैरज्ञानां तत्तनुजराजानां च ब्रजभक्तभावात्मकभगवत्स्वरूप
एव निष्ठावत्त्वात् । ननु तर्ह्यवतारसम्पूर्तिकाल इत्यस्यास्मत्पुत्रकृततथात्र काल इत्यत्रत्य-
कालपदव्याख्यानस्य का गतिरिति चेत् । अत्रोच्यते । पृ पालनपूरणयोरितिधात्वर्थानु-
सारात् सम्पूर्तिशब्दस्य सम्पूर्णता ह्यर्थः, सा च केनचित् प्रकारेण न्यूनस्य भवति ।
तत्रास्मदाचार्योक्तमार्गो हि फलमार्गः । तत्र फलरूपो भगवानेव साधनम्, फलरूपो
भगवानेव च फलम् । तत्र परमकाष्ठापन्नस्य फलरूपभगवतो 'रसो वै स' इति श्रुते

रसरूपत्वात् स्वप्नादिसंयोगविशिष्टप्रेमासक्तिव्यसनपर्यन्तावस्थासंवलितपूर्वानुरागजविप्रयोग-
रूपेण साधनता । तदनन्तराविर्भूतपरस्परपोष्यपोषकभावविशिष्टविप्रयोगातिपुष्टपूर्णपूर्णतर-
पूर्णतमसंयोगात्तद्विशसंयोगातिपुष्टपूर्णपूर्णतरपूर्णतमविप्रयोगपरम्परारूपेण च फलता । तत्रापि
परम्परायां परमफलता तु संयोगरूपस्यैव । इदं यथा तथानुपदमेव प्रतिपादयिष्यते ।
एवं च बाल्यमारभ्य पौगण्डान्तं पूर्वोक्तप्रकारकपूर्वानुरागजविप्रयोगरूपसाधनविशिष्टत्वमेव
ब्रजभक्तानाम् । तत्र फलात् साधनं न्यूनमेवेत्यनुभवसिद्धम् । अन्यथा साधने प्राप्ते फला-
काङ्क्षा न स्यात् । तथा चैतासां पूर्वानुरागविशिष्टस्वप्नादिसंयोगसुखे प्राप्तेपि बाह्यसंयोग-
सुखस्याभिलषितस्याजातत्वादेतावत्पर्यन्तं साधनरूपत्वमात्रेणैव भगवत आविर्भावात् पुरुषो-
त्तमावतारो न्यून एव स्थितः । अतःपरं तु 'बाहुप्रसारपरिरम्भे'त्याद्युक्तेन तदभिलषितपूर्ण-
बाह्यसंयोगसुखरूपेण, तदनन्तरमेतत्संयोगसुखपोषार्थमुक्तसंयोगपु'द्यन्तर्हिते भगवती'त्याद्यु-
क्तेन पूर्णविप्रयोगस्वरूपेण, तदनन्तरं 'तासामाविरभू'दित्याद्युक्तेन रासावसानपर्यन्तं पूर्वपूर्ण-
संयोगसुखस्वरूपादपि कोटिगुणेन पूर्णविप्रयोगपुष्टेन पूर्णतरसंयोगसुखरूपेण, तदनन्तरं
च गोप्यः कृष्णे वनं यात इत्याद्युक्तेन पूर्वोक्तपूर्णतरसंयोगसुखपुष्टेन परार्धगुणभाविंसंयोग-
सुखपोषार्थं पूर्णतरविप्रयोगस्वरूपेण, ततः पुनः पूर्वोक्तपूर्णतरविप्रयोगपुष्टेन गोचारणपरावृत्ति-
जनितबहुपरार्धगुणपूर्णतमसंयोगसुखरूपेणाविर्भूतः, ततः पुनरप्यक्रूरकृतमथुरानयनजनितेन
पूर्णतमसंयोगसुखपुष्टेन पूर्णतमविप्रयोगरूपेण पुनरपि भावभरेणानन्तगुणान्तरबाह्यसंयोग-
सुखस्वरूपेण चेत्येवं संयोगपरम्परारूपेणाविर्भविष्यति भगवान् । एवं चेदानीमेव स्स-
रूपावतारस्य पूर्वं बाहुप्रसारेत्यादिना एकदलरूपसंयोगावतार उक्तः, इदानी'मन्तर्हिते
भगवती'त्यादिना द्वितीयदलरूपविप्रयोगावतार उच्यते इति सम्पूर्णता जायत इत्यवतार-
सम्पूर्तिकाल इत्यतस्यसम्पूर्तिशब्देन सम्पूर्णतोक्ता, न तु पूर्वावतारसमाप्तिर्जातेत्युच्यते ।
समाप्तिरूपार्थस्यैव विवक्षितत्वेवतारसमाप्तिकाल इत्येवोक्तं स्यात् । तस्मादवतारसम्पूर्ति-
काल इत्यस्यावतारसम्पूर्णताकाल इत्यर्थः सम्पन्न इति नन्वित्यादिभवत्प्रश्नोत्तरस्य सिद्धे-
रिति सर्वं भव्यम् । यत्पुनर्विप्रयोगस्यैव फलत्वम्, न संयोगस्य, संयोगस्तु तडिलतावत्
किञ्चित् कालं मध्ये मध्ये जायमानो भक्तानां देहस्थित्यर्थमुपयुक्तो भवति । भगवद्विषयक-
विप्रयोगस्यातिदुःसहत्वात् । अत एव भगवतो मथुरातः परावृत्त्यानागमनम्, संयोगस्यैव
फलत्वे मथुरातः परावृत्त्यागमनमेव स्यात् । नन्वत्र किं प्रमाणमिति चेत् । 'भवतीनां
वियोग' इति पद्यव्याख्यानसुबोधिन्यामथदेहभावेनात्मा गौण इति देहेन सह वियोग
आविर्भूतस्योच्येत । तदपि न घटते । समवायिकारणत्वेन तेषु वर्तते इति । अन्यथा देहा
निःस्वभावाः स्युः । आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारी । अन्यथा स्वरूपनाश एव स्यात् ।
यथाभिकाष्ठायोः । पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्धेदग्धाः, पुनः सम्बन्धेन सर्वदाह एव स्यात् ।
सुखानुभवस्तु स्वान्तःस्थिताभ्यभिव्यक्तिवत् स्वान्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या । सर्वथाभि-

व्यक्तौ काष्ठांशो ज्वलिष्यतीति न सम्बन्ध्यते, यतो भगवान् प्रलयकर्तृत्वादिप्रवृत्तकर्मपर्यालोचने काष्ठान्तःस्थिताग्नेरभिव्यक्तिर्यथा बाह्योपाधिसम्बन्धाभावे किञ्चित्कालिकी, एवं स्वान्तःस्थितभगवदभिव्यक्तिरपि तद्विल्लतावद्भगवत्संयोगाद्विप्रयोगस्यैव सार्वकालिकत्वाद्विप्रयोगस्यैव फलत्वं न संयोगस्येति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेरेव प्रमाणत्वात्, आविर्भूतेन वियोगस्त्वित्यादेरयमर्थः । यद्याविर्भूतस्वरूपेण संयोगः स्यात् तदा मथुरात आगमनज्ञानेऽस्मान् विहाय गत इति निश्चयजनितमहादुःखेन देहपातः स्यात्, तदेवोक्तमन्यथेत्यादिना सद्यन्तमतोयं वियोगो हितकारीति भावः । पूर्वसम्बन्धेनेत्यादेरयमर्थः । राससामयिकवियोगोत्तरसञ्जातसम्बन्धेनैवेताः स्वत्यागजनितमहादुःखेन स्मरणपथगतेनार्धदग्धाः, अतःपरमिदानीन्तनसम्बन्धे मथुराविषयकगमनज्ञानेन कोटिगुणे दुःखे जाते सर्वदाहः स्यादिति ज्ञेयाग्ने स्पष्टोर्थ इति वदन्ति । तत्रापि वदामः । भगवद्रूपसो ह्यग्निरूपः । तत्र यथाग्निस्तापजनकः शीतलताजनकश्चेति द्विविधः । तत्रान्नादिपरिपाकजनकोऽग्नस्तु तापजनकः । हिमादिरूपोऽग्नस्तु शीतलताजनकः । तत्र यावत्पर्यन्तं देहादिषु तापस्तावत्पर्यन्तं हिमरूपोऽग्निः स्वसम्बन्धेन देहादिस्थितिकारकः । सर्वथा स्वसम्बन्धेन देहादिनिष्ठतापनिवृत्तौ शीतलतागुणेन देहादिनाशकरश्च । एवं रसरूपो भगवद्रूपोऽग्निरपि विप्रयोगसंयोगरूपेण द्विधः । तत्र विप्रयोगात्मको रसरूपो वह्निस्तापकारकः, संयोगरूपो वह्निस्तु शीतलताकारकः । तत्र यावत्पर्यन्तं देहे विप्रयोगजनितस्तापसम्बन्धस्तावत्पर्यन्तं तापनिवर्तकस्वशीतलतागुणेन देहजीवात्मनोः स्थितिकारकः । स्वसम्बन्धेन सर्वथा तापनिवृत्तौ संयोगरूपो वह्निस्तु जीवलयसम्पादकस्वभावत्वात् स्वसम्बन्धेन सर्वथा जीवस्य लये सम्पन्ने स्थितोऽपि भक्तिमार्गीयजीवात्मा रसानुभवाभावाद्ब्रह्म एव भवतीति तत्राशकारकः । अस्मिन् पक्षे श्रीमदाचार्योक्तसर्वदाह एव स्यादित्यत्रत्यादाहपदेन स्वरूपनाश एव स्यादित्यत्राप्याचार्योक्तनाशपदेनापि लय एव ज्ञेयः । जीवस्याविकृतत्वान्नित्यत्वात् काष्ठादिदाहवदाहस्य देहादिनाशवन्नाशस्य वाऽसम्भवात् । एवं च सति यदि भगवानेताभिः सह संयुज्येत तदा पूर्वानुभूतानन्दात् कोटिगुणानन्दप्रादुर्भावे सर्वथा तापनिवृत्तौ भक्तात्मनां लय एव भवेद्, एवं च रसमार्गीयफलाभावः सम्पद्येतेत्याविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः । न च लयसम्भावनायामेव पुनरपि विप्रयोगाविर्भावे पूर्वोक्तफलसम्भव इति वाच्यम् । यदि पुनरपि बहिराविर्भूतस्वरूपविप्रयोगाविर्भावावश्यकत्वम्, तदैतेनैव विप्रयोगेण चारितार्थात् पिष्टपेषणन्यायप्रसक्तेः । न च सुखानुभवार्थं बहिराविर्भूतस्वरूपेण संयोगो देय एवेति वाच्यम् । अन्तःस्थिताभ्यभिव्यक्तिवदन्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या सुखानुभवसिद्धिरिति श्रीमदाचार्यैरेवोक्तत्वाद्बहिराविर्भूतस्वरूपसंयोगस्य निःप्रयोजनकत्वादिति दिक् । यद्वा । बहिराविर्भूतस्वरूपेण वियोगस्तु हितकारीत्यस्यायमर्थः । प्रपञ्चप्रादुर्भूतमथुरागतभगवत्सम्बन्धे महासुखानुभवे जाते पुनरपि रसरूपभगवत्स्वभावाद्विप्रयोगे जाते यथा यथा

संयोगानन्दाधिक्यम्, तथा तथा विप्रयोगे तापाधिक्यम्, यथा यथा विप्रयोगे तु दुःखाधिक्यम्, तथा तथा संयोगे आनन्दाधिक्यम्, इत्यनुभवान्मथुरागतस्वरूपेण विप्रयोगे पूर्वंतापादपि कोटिगुणे तापे जाते देहनाश एव स्यात्, एतत्तापस्य प्रलयाश्रितापादपि प्रबलत्वात् । यथा बाह्याधिकाष्टसम्बन्धे काष्ठनाशः । अस्मिन् पक्षे पूर्वसम्बन्धेनैवेता अर्धदग्धाः, पुनः सम्बन्धे सर्वदाह एव स्यादित्यत्रत्यपूर्वसम्बन्धेनेत्यस्य पूर्वविप्रयोगसम्बन्धेनेति पुनः सम्बन्धे इत्यस्य च पुनर्विप्रयोगसम्बन्धे इति चार्थो बोध्यः । तस्माद्बहिराविर्भूतस्वरूपेण भगवान् सम्बन्ध्यते । सुखानुभवस्त्वन्तरनुसन्धानेन्तःस्थिताभ्यभिव्यक्तिवदन्तःस्थितभगवत्स्वरूपाविर्भावानन्तर्बहिरनुसन्धाने भगवत्सङ्गमाकाङ्क्षायामप्यन्तःस्थितस्य बाह्यप्राकट्यादेव बहिरपि भविष्यत्येवेति बहिराविर्भूतस्वरूपेण वियोगो हितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यैः । न चान्तःस्थस्वरूपप्राकट्येन तत्सम्बन्धजनितसुखातिशयोत्तरसञ्जातविप्रयोगादपि देहनाशप्रसक्तिर्भविष्येवेति वाच्यम् । बाह्यतृणतूलरूपोपाधिसम्बन्धाभावे मथनाविर्भूतकाष्ठान्तःस्थवह्निर्न काष्ठदहनसमर्थः, तथात्र बाह्योपाधिरूपसर्वमुक्तिदानसम्बन्धाभावे बहिराविर्भूतस्वरूपमप्यग्नित्वात् देहनाशकरम्, किन्तु प्रपञ्चातीततापक्लेशनाशरूपपरसधर्मपुरस्कारेणैव प्रकटमिति तदेव करोतीति भवदुक्त्यप्रसक्तेः । यद्वा । आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारीत्यादेरयमभिप्रायः । प्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपं हि सर्वमुक्तिदानाय प्रकटम्, तत्र सर्वमध्ये गोपिकानामपि सत्त्वादेतासामपि लयरूपमुक्तिमेव प्रतिक्षणं ददाति भगवान्, परं तस्मात् पृथक्कृत्य भजनानन्दमनुभावयति । 'ये यथा मा'मिति प्रतिज्ञातः । अत्रोपष्टम्भकरूपा 'यत् एतद्विमुच्यत' इतिफलप्रकरणीयपञ्चाध्यायीपद्यव्याख्यानसुबोधिनी द्रष्टव्या । एवञ्च तस्मात् पृथक्करणक्लेशः प्रतिक्षणं प्रभोर्भवतीति प्रक्षालनाद्भिः पङ्क्त्येति न्यायाद्बहिःप्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपेण भगवान् न सम्बन्ध्यते, तेन गोपिकानां लयनिवृत्तेर्हितं भवतीति प्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपेण वियोगो हितकारीत्याचार्यैरुक्तम् । बाह्याननुसन्धानेनुसन्धाने वा भावभरणान्तर्बहिःप्रकटरसरूपस्वसंयोगं तु करोत्येव प्रभुः । तासामभिलषितत्वाद्भ्रसमार्गीयपरमफलरूपत्वाच्च । तस्मान्न विप्रयोगस्य परमफलत्वम्, किन्तु संयोगस्यैव । संयोगसाधनत्वात् पूर्वानुरागजनितविप्रयोगस्य संयोगपोषकत्वात् संयोगानन्तराविर्भूतस्य विप्रयोगस्य च परमफलत्वमुच्यते । अन्यथा भगवत्संयोगोस्माकं भवत्वितिच्छोदयवद्भजभक्तानां भगवद्विप्रयोगोस्माकं भवत्वितिच्छोदयोपि श्रीभागवते श्रुतः स्यात् । इदानीन्तनानां भगवद्विप्रयोगेच्छोदयस्तु भगवत्संयोगसाधकत्वपोषकत्वज्ञानादेव भवतीति न काप्यनुपपत्तिः । यद्यपि भगवतो रसरूपत्वात् संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद्भ्रसरूपभगवत्प्राप्तौ विप्रयोगोप्याप्रादिफले त्वग्बीजादिवदन्तर्गतो भवति तथापि त्वग्बीजादिप्राप्त्या यथाप्रफलरसाकाङ्क्षा भवत्येव, तद्रसप्राप्त्या तु त्वग्बीजाद्याकाङ्क्षा न भवति, तथा विप्रयोगप्राप्त्या संयोगाकाङ्क्षा भवत्येव, संयोगप्राप्त्या तु विप्रयोगाकाङ्क्षा तु न भवतीति संयोगस्यैव परम-

फलत्वं वक्तुं शक्यते । ज्ञाते सति स्ववृत्तितयेष्यमाणस्यैव फलत्वात् । न त्विदं विप्रयोग इति न विप्रयोगस्य फलत्वम् । अत एव फलप्रकरणीयप्रथमाध्यायसुबोधिनीप्रारम्भस्थाया-
 'भतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम् । बाह्याभ्यन्तरभेदेन ह्यान्तरं तु महाफल'-
 मितिकारिकायां रमणपदवाच्यबाह्याभ्यन्तरसंयोगस्यैव फलत्वं महाफलत्वं च क्रमेणैवोक्तम् ।
 एवमेव 'स्वानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता । स बाह्यो जनितः पुष्टो यथान्तनिविशे-
 त्युनः । तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोविश'दित्येतद्वितीयाध्यायसुबोधिनीप्रारम्भ-
 कारिकायां विप्रयोगस्य संयोगपोषकत्वमेव, फलत्वं तु संयोगस्यैव श्रीमदाचार्यवर्यैरुक्तम् । अत
 एव 'मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठ' इति अमरगीतपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यामपि फलसाधकत्वाद्भ-
 क्तिमार्गे विरह एव पुरुषार्थ इति किमिति निराक्रियते तत्राहेत्याभासे विप्रयोगस्य फलसाध-
 कत्वमेवोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्न तु फलत्वमिति भवत्सिद्धान्तिता विप्रयोगस्यैव परमफल-
 रूपता कथं सङ्गच्छेततराम् । अतःपरं विप्रयोगान्तर्गतभगवत्स्वरूपप्राकट्यं तडिल्लतावत्
 किञ्चित्कालिकमेव भवति, अन्यथा देहनाशः स्यादिति यदुक्तम्, तदपि न विचारक्षमम् ।
 ताभिः किञ्चित्कालिकसंयोगस्यानाकाङ्क्षितत्वात्, बहुकालिकसंयोगस्यैव तदाकाङ्क्षाविषय-
 त्वात् । इदं तु दशमस्कन्धीयषट्त्रिंशोऽध्याये 'अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया संयोज्य
 मैत्र्या प्रणयेन देहिनः । तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थक्यं विचेष्टितं तेभैकचेष्टितं यथे'-
 त्यारभ्य श्लोकचतुष्टये 'निवारयामः समुपेत्य माधवं किञ्चो करिष्यन्कुलवृद्धवान्धवाः ।
 मुकुन्दसङ्गात्रिमिषार्धदुस्त्यजादैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम्, यस्यानुरागललितस्मितवल्गु-
 मघ्नलीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम् । नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः
 कथं न्वतितरेम तमो दुरन्त'मितिश्लोकद्वये च प्रकटमेव । एवमपि सति यदि किञ्चित्का-
 लिकमेव संयोगं दद्यात् तदा 'ये यथा मा'मिति भगवत्प्रतिज्ञाहानिः स्यात् । तडिल्लताव-
 देतासां संयोगो भवतीत्यादिप्रकारस्य श्रीमदाचार्यैस्तत्तनुजरलैश्च कण्ठरवेण कुत्राप्यनुक्त-
 त्वाच्च । तस्मादन्तर्बहिर्दिवा रात्रौ चातृप्तिसंयोगरूपेण प्रकटः, पुनस्तत्संयोगपोषार्थं विप्र-
 योगरूपेण च प्रकटः, पुनः पूर्वप्रकारसंयोगरूपेण पुनर्विप्रयोगरूपेणेति परम्परया गोपि-
 काभिः सह ऋषिर्भित्ति भगवानिति कृतं विस्तरेण । ननु तथापि नान्तर्गृहगतानामेवंविध-
 सम्पूर्णरसरूपभगवत्प्राप्तिरेतासां मुक्त्यनन्तरमेवैतादृशरसलीलाप्राकट्यादिति तत्प्राप्तफलस्य
 मध्यमफलत्वमस्माभिरुच्यते इति चेत्, अब्रुच्यते । सगुणशरीरत्यागोत्तरतत्क्षणप्राप्त-
 गुणातीतदेहेन भगवन्निकटगतानामन्तर्गृहगतानामपि 'ताभिः समेताभिरुदारचेष्टित'
 इत्यादिलीलासौभागजन्यमदमानलीलाप्राप्त्युत्तरसामयिकान्तर्धानलीलांमारभ्य 'वामबाहु-
 कृतवामकपोले'त्याद्युक्तयुगलगीतलीलान्तसर्वलीलानामपि प्राप्तिरेतासामिति श्रीमदाचार्य-
 तत्तनुजरानां हि सिद्धान्तः । अत एव 'ता दृष्टान्तिकमायाता' इतिफलप्रकरणीय-
 पद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां 'यास्तु समाहृताः समागतास्ता न निवार्यन्ते, याः पुनः सगुणा

अन्यसम्बन्धिन्यस्ताः शब्दश्रवणात् समागता इति शब्देन निवारणीयाः, अन्यशेषतया
 भजनमयुक्तमिति । करिष्यमाणलीला तु सर्वभावप्रपत्तिसाध्या, अतो निवारणार्थं यत्नमाहे'ति
 श्रीमदाचार्यैर्व्याख्यातम् । विवृतं चैतत् तत्तनुजरलैः स्वकृतटिप्पण्यां 'यदन्तर्गृहगता
 अनाकारिता एव नादं श्रुत्वोद्युक्ता इति प्रतिबन्धोभूदिति शङ्कानिरासायाहुः याः पूर्वो-
 क्तास्ता अप्याहृताः, तत्रोपपत्तिमाहुः समागता इति । अन्यथा तथा न स्यादिति भावः ।
 गेहस्य देहसम्बन्धित्वात् तस्य च नष्टत्वे नैतासां गृहाभावात् तत्र गमनं बाधितमिति न
 निवार्यन्ते' इति । एवं चान्तर्गृहगता न निवार्यन्ते इति स्फुटमेव प्रतीयते, तत्र
 तन्निवारणं च भगवन्निकटप्राप्तौ सति सम्भवति । भवदभिमतसिद्धान्ते त्वेतासामिदानीं
 लय इति तन्निवारणप्राप्तेरभावाच्छ्रीमदाचार्योक्तिस्तत्तनुजरलोक्तिश्चासमञ्जसा स्यात् ।
 तस्मादन्तर्गृहगतानां गुणातीतदेहप्राप्त्या भगवन्निकटगमनं सिद्धम्, तदा तन्निवारण-
 प्रसङ्गनं च सिद्धम् । एवं च तदुत्तरसामयिकी सर्वापि लीलैतासु सिद्धेति न मध्यमफल-
 त्वमेतत्फलस्य, किन्तुत्तमफलत्वमेवेति व्यर्थ एवैतासां मध्यमफलप्राप्तिरिति सिद्धान्ता-
 भिमानः केषाञ्चिदिति सर्वमवदातम् ।

श्रीवल्लभतत्सुतवरविह्वलनाथाङ्घ्रिरेणुलवचलतः ।

जयगोपालः कृतवान् सविवृत्तिसेवाफलव्याख्याम् ॥ १ ॥

मूर्धन्यञ्जलिं ननु निधाय निधाय भूयो

भूयः कृपालुषु महत्सु निवेदयामि ।

यत्किञ्चिदत्र लिखितं मयका भवद्भिः

तत् पुष्टिमार्गपथिकैः परिशोधनीयम् ॥ २ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणकमलैकतानमानसश्रीमन्महाप्रभुश्रीविह्वलेश्वर-
 कृपाकटाक्षोद्भुद्धबुद्धिना सुबुद्धिना मठपतिजयगोपालेन
 विरचिता सविवृत्तिसेवाफलटिप्पणी समाप्ता ॥
 ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

मठेशश्रीलक्ष्मणभट्टविरचितसेवाफलविवृतिविवरणसमेतम् ।

विचार्य श्रीमदाचार्यप्रोक्तं सेवाफलाभिधम् ।

ग्रन्थं तद्विवृतिं चापि विवृणोमि यथामति ॥ १ ॥

साङ्ख्ययोगावभेदार्यौ भक्तिभेदकरी हरौ ।

खेहासक्तिव्यसनिनी तसिद्धौ स्वाङ्गवित्तजा ॥ २ ॥

व्यसनं मानसी सेवा माहात्म्यज्ञानभक्तिः ॥ ३ ॥

अथातः श्रीवल्लभाचार्याः स्वसिद्धान्तमुक्तावल्यां 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'त्यादिना ब्रह्मवादसिद्धान्ततः सत्ये जगति कृष्णस्य सेवाभक्तिं निरूप्य तत्सिद्धौ मुख्यं फलं सपरिकरं निरूपयितुकामाः सेवाफलनिर्णयग्रन्थं सविवरणमाहुः ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

सेवना च प्रागुक्ता त्रिविधा, अत्यन्तरङ्गा अन्तरङ्गा बहिरङ्गा चेति प्रशब्देन सूच्यते, या नित्यश्रीस्वामिन्यन्तरङ्गस्य स्वस्वामिनः पुरुषोत्तमस्य 'प्रतिकृतिरूपस्य' काश्मीर-चन्दनसुगन्धतैलाभ्यङ्गस्नापनपूर्वकशृङ्गारादिज्ञानक्रियारूपा साक्षादङ्गेषु मृदु संस्पृश्य लोकवत् सस्नेहं क्रियमाणा सैषा प्रथमा । मन्दिरपात्रसम्मार्जनोपलेपनचित्रकरणपूर्वक-सिंहासनादिशय्यास्तरणक्रीडनोपस्करणपीठखण्डाक्षिभृङ्गारादियोजनाच्चादिपयःपाकसामग्री-साधनज्ञानक्रियारूपा परिचर्या द्वितीया । पुष्पगन्धताम्बूलफलकन्दमूलशाकामान्नरस-संशोधनधनवसनभूषणसम्पादनज्ञानक्रियारूपा परिचर्या बहिरङ्गा तृतीयेति यादृशपदस्यार्थः । सैव स्वतनुवित्तजेति तत्रोक्ता । तत्सिद्धौ 'तत्र प्रेमासक्तिव्यसनात्मना परिणतायां मानसां सत्यां' सेवकस्य यादृक् फलं तदुच्यते । यद्यपि तत्र 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्म-बोधन'मिति फलमुक्तं तथापि तदवान्तरमेवेति मुख्यं फलमुच्यत इत्यर्थः ।

तदपि त्रिविधमिति सविवरणं निरूपयितुमाहुः ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

विवरणमत्र सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोप-योगिदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति । अलौकिकसामर्थ्यं प्रथमायाः फलम् ।

सायुज्यं द्वितीयायाः । सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु 'अधिकृतः' तृती-यायाः । तत्रालौकिकस्य भगवत इवालौकिकमेव ज्ञानक्रियाभ्यां सामर्थ्यं जगद्ध्या-पारवर्जं यत् तत्तथा । खेच्छया देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणैरेव सदा सेवापरैः सहितस्यात्मनो जीवनशक्तत्वं 'श्रुति'कुमारिकाणामिव, तत्परित्यजने च खेच्छयाशक्तत्वमित्यैहिकमन्त-र्गृहगतानामिव । तान्कादाचित्कीखेच्छया 'मुत्र' भगवन्नोकगमनशक्तत्वमित्यामुष्मिन्कं ध्रुवादेरिव तत्तथा । 'मृत्योः कृत्वैव मूर्धन्यङ्घ्रिमारोह हरेः पद'मितिवाक्यात् स्पर्शमणि-न्यायेन तेषामप्राकृतत्वेन त्यागासम्भवात् भगवदानन्दानुभवसामर्थ्यं यत् तस्यालौकिकस्य दानेनाद्यो मनोरथः उत्पन्नः प्रमाणाननुरोधी प्रमेयैकसाध्यो मनोरथः स्वाभिलषित-रूपो 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रितिवाक्यात् तद्भजनानन्दानुभवश्च सिध्येत् । एतेन कालकर्मप्रकृत्यनधीनत्वं द्योतितम् । द्वितीयायाः फलं सायुज्यम्, तदपि द्विविधम्, रूढार्थकं यौगिकार्थकं च । तत्रायं ज्ञानमिश्रितानामेकत्वरूपम्, अभेदरूपं भेदात्यन्ता-भारूपपमात्मनैक्यमित्यर्थः । 'शुद्ध' भक्तानामपरम्, सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, तद्भक्तानां भेदतस्तद्दत्तसखित्वतस्तदानन्दानुभवात्, पूर्वत्र देहेन्द्रियप्राणान्तः-करणानि विहायेह स्वात्मनैव केवलेन तदानन्दानुभवः, अपरत्र सहैव तैः स इति सार्थक-तैषामन्यत्र नेति तारतम्यम् । तच्च स्पष्टमेव पार्षदानामसुरावेशिनां ज्ञानयोगिनां चोक्तम् । तृतीयायाः फलं सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु । अप्राकृतभूतभौतिक-तृणलतौषधिवृक्षपशुपक्ष्यादिदेहः अधिकारात्मा, तत्र सेवोपयोगी बोध्यः । पूर्वत्रापरोक्ष-मेवात्र च 'परोक्षमिति भेदः । वैकुण्ठे मुख्येऽमुख्ये च । आदिपदेन स्वर्गादिषु विष्णोः स्थानेष्वपि तथेति निरूपितम् । वेति चार्थं ज्ञेयः । अत्र फलत्रयेपि न कालो निया-मकः । काल इत्युपलक्षणम्, कर्मप्रकृत्योरपि न नियामकतेत्यर्थः । अत एव श्रीभागवते द्वितीये 'न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रधानं,' तृतीये 'न कर्हि-चित्तमत्पराः शान्तरूपे' इति, कपिलेनोक्तं च 'नक्ष्यन्ति नो निमिषो लेढि हेति'रित्यादि १॥

तत्र सेवायां प्रतिबन्धकाभावः कारणमिति प्रासङ्गिकं प्रतिबन्धमपि त्याज्यत्वेन निरूपयन्ति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

अत्र बाधकमित्येकवचनेन मिलितानामेव बाधकतेत्याशङ्क्य विवृण्वन्ति, सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति । अत्रोद्वेगः साधारणः स त्याज्य एव । एवमुद्वेगं निरूप्य प्रतिबन्धभोगौ निरूपयन्तोऽनुरोधरूपस्य प्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन पाठक्रममनपेक्ष्यार्थ-क्रमतो भोगं विवृण्वन्ति भोगो द्विविध इति । लौकिकोऽलौकिकश्च । तत्र लौकिकस्त्याज्य एव, अलौकिकस्तु न, तस्य फलानां मुख्यमध्यमसाधारणानां प्रथमे प्रविशतीति प्रथमे फलेऽलौकिकसामर्थ्येन प्रमुखरूपानन्दानुभवभोगे प्रवेशात् ।

एवं भोगं निरूप्य प्रतिबन्धं निरूपयन्ति प्रतिबन्धोपीति । स च साधारणोऽसाधारणश्च । साधारणः सेवासमये लौकिकवैदिककर्मानुरोधरूपस्याज्य एव, स्वाधीनत्वात् । असाधारणो भगवत्कृतः, स सह्य एवेति भावः । ननु कथमेतेषां सिद्धानां त्याग इत्याशङ्क्याहुः त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति । साधनमत्र तज्जननहेतुभूतं यत् तत्परित्याग इत्यर्थः । नन्वावश्यकस्य लोकवेदसिद्धतया अशक्यत्यागत्वात् कथं त्याग इत्याशङ्क्य तदुपायं विवृण्वन्ति तत्राथो बुद्ध्या त्याज्य इति । सेवाया अवसरे त्याज्यः, अनवसरे विधेय इति चातुर्यैत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं साधारणप्रतिबन्धं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धं निरूपयन्ति ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

प्रभोरेव अकर्तव्यं स्वसेवाकारणमचिकीर्षितं चेत् तदा स्वस्य गतिर्न हीति निश्चयः । तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति । वक्ष्यन्ति चाग्रे तदान्यसेवापि व्यर्थेति भावः । नन्वासुरेष्वेवं न तु दैवे तथेत्याशङ्क्याहुः तदा आसुरोऽयमिति । एवंविधप्रतिबन्धरूपलिङ्गेन स्वस्यासुरत्वमनुभेयमिति भावः । तत्रासुरत्वमागन्तुकं वा साहजिकमिति निर्धारार्थं विवेकः, सांख्यज्ञानमिति केचित् । तेन शोकाभावमात्रं न तु मोक्षः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तमेव निगमयन्ति ।

बाधकानां परित्यागो भोगेष्येकं तथा परम् ।

भोगयोरपि पूर्वसमतामाशङ्क्य वैलक्षण्येनाहुः ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

प्रथमे अलौकिकसामर्थ्ये भोगो भजनानन्दानुभवरूपो महान् सदा स्वरूपतः साधनतः फलतः इत्यर्थः । पाठान्तरे अल्पो भोगः सविघ्नः सप्रतिबन्धः ॥ ४ ॥

सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति ।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्द्वलादेतौ सदा मतौ ।

अत एवैताविति विवृतौ । भगवत्कृतप्रतिबन्धे अन्यफलचिन्तया शोकः कदाचित् तस्य स्यादिति तदभावार्थं चिन्ता न कार्येत्याशयेनाहुः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

भगवत्कृतप्रतिबन्धे । तत्र हेतुः । स्वस्य संसारनिश्चयादिति । संसारोऽहंमतया जन्मकर्मप्रवाहमार्गस्वरूपः, तस्य निर्धारणादित्यर्थः ॥ ५ ॥

एवं प्रतिबन्धं विचार्य उद्वेगरूपप्रथमं प्रतिबन्धेन फलाभावे भगवतो दातृत्वाभावं हेतुत्वेन निरूपयन्ति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

अत्र आद्यफलाभाव इति विवृतम् । आद्येन वा प्रतिबन्धेन फलाभाव इत्यर्थः । नन्विति विरोधोक्तौ । आद्ये उद्वेगरूपप्रतिबन्धे, भगवतः सर्वसमर्थस्यापि सेवाया अमानसीत्वेन अनाधिदैविकीत्वे तत्प्रयुक्तः प्रभोः फलदातृत्वाभाव इत्यर्थः । एतदेव विवृण्वन्ति तदा सेवा नाधिदैविकीत्यादि । तृतीये लौकिकभोगे गृहमेव बाधकम् । गृहमत्र पत्न्यादिकं विष्णुबहिर्मुखमेव त्याज्यम् । अत एवोक्तमाचार्यैर्निबन्धे 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मित्यादि ।

एवं फलत्रयं प्रतिबन्धकत्रयं च प्रासङ्गिकं निरूप्य एतद्विचारमावश्यकत्वेन वक्तुमुपसंहरन्ति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

(इयं दातृता हरेः यद्वा भक्तिः मद्गुक्तिर्वा) । सेवा पूर्वोक्ता तत्रयी वा विचिन्त्येत्यर्थः । एतदतिरिक्तं सर्वं मनोभ्रमः । भक्तिमार्गे त्रिविधसेवाया एव पूर्वोक्तं फलत्रयं नान्यत्, प्रतिबन्धकं चोद्वेगादिकमेव न पापादिकं । 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्ये'ति भागवतवाक्यादिति भावः ॥ ६ ॥

ननु भगवदीयैर्नैयं भाव्येत्युच्यतां किन्त्वन्यैरेवेत्याशङ्क्याहुः तदीयैरपि तदित्यादि ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

कलौ देशादीनामसाधकत्वात् तथा । पुष्टौ स्थितः प्रभुस्तु नैव विलम्बयेत् । मध्यस्थैरेवेह तथेति भावः ।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्युपदिशन्ति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

एतद्भावनेन मनसो भगवत्तत्त्वपरतायां गुणक्षोभोपि न भवितेति भावः । अत्र स्वसंमतिरेव मानमाहुः इति मे मतिरिति ॥ ७ ॥

नन्वत्र काचित् कुतर्ककल्पना उत्पद्येत तदा कथं विचारणीयेत्याशङ्क्यामाहुः ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

स्पष्टार्थः ॥ ७ ॥

इति श्रीशाचार्यवर्यमतमार्गानुवर्तिना ।

सेवाफलं सविवृति विवृतं च यथामति ॥ १ ॥

इतिमठेशश्रीनाथभट्टात्मजगोपीनाथसुतलक्ष्मणभट्टविरचितं
सेवाफलविवृतिविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

विवरणटिप्पणीसमेतम् ।

श्रीमदाचार्यचरणान् सेवारसफलप्रदान् ।
नमामि तद्रजोलेशलवस्पर्शसमीहया ॥ १ ॥
श्रीमदाचार्यचरणैस्त्रिधा सेवा फलत्रयम् ।
निर्णीतं तत्र मे बोधस्तथाहि कृपयोच्यते ॥ २ ॥

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी सेवनेत्यस्य विवरणे सेवायां फलत्रयमिति । अयं भावः । भक्तिमार्गे पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन जीवेषु भगवदङ्गीकारस्त्रिधा । तत्रापि पुष्टिमार्गफलार्थं यद्वरणं तत्पुष्टौ मर्यादायामेव, न तु प्रवाहमार्गेषीति विवरणे स्फुटीकरिष्यत इति । तेषां साधनरूपा सेवापि त्रिधा प्रोक्ता । अतस्तादृशतत्प्रकारकसेवासिद्धौ फलमुच्यते । तत्किमित्या-
काङ्क्षायामुक्तमलौकिकसामर्थ्यमित्यादि । तत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकृतस्य साधनदशाया-
माचार्योक्तप्रकारेण सेवाकरणे मानसीतत्सिद्धौ फलं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपं भवेदिति । तस्येदमेव अलौकिकसामर्थ्यं यदाधुनिकजीवस्य तादृशपूर्णलौकिकैश्वर्यवीर्यादिगुण-
वता समं साम्येन रतिः रसोद्बोधश्च भवतीति तथोक्तं विवरणे, न हि साधारणस्य तादृशेन महता सममेतत् कर्तुं शक्यम्, रसाभासहेतुत्वात् ।

ननु पूर्वं मानससेवायाः सिद्धिः कथं तत्राहुः अलौकिकस्येति ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्नमनोरथः ॥ १ ॥

‘मानसी सा परा मते’त्युक्त्या सा सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपेण लौकिकस्य प्रभो-
दाने परमकाष्ठापन्नस्वरूपसम्बन्धाभिलाषरूपभावदाने सः आद्यः पुष्टिफलरूपः सर्वो-
त्कृष्टो मनोरथः सिध्येत् । मनोरथपदेन प्रेमासक्तिव्यसनसंकल्पादिरूपः सन् सिद्धिं
प्राप्नोति, फलसम्मुखो भवतीत्यर्थः । अत एव मनोरथपदमुक्तम् । इयमेव मानसीतत्सिद्धिः ।
तदुक्तं ‘चेतस्तत्प्रवणं सेवे’ति । यद्यपि मानससेवासिद्धौ तनुजा वित्तजा च द्वे अङ्गे,
तथापि मुख्यमङ्गं दानम्, यतस्तत्करणेपि यदा दानं भवति, तदैव तादृशी सा भवति,
अन्यथा मर्यादामार्गीयभक्तानामपि निरन्तरं तत्करणे पुष्टिरूपायां तस्यां को विशेष इति

१ यद्यप्येतद्विवरणकृतां नाम न ज्ञायते तथापि जयगोपालभट्टकृततदुपन्यासादस्य प्राचीनत्वं निश्चीयते ।

तद्भावोदये नैव सा भवेदित्यर्थः । तेन तत्करणेपि दानेनैव तादृशभावः सिध्येन्नान्यथेति
ज्ञेयम्, परन्तु तत्कृतिस्तु सर्वदा कर्तव्या, अकरणे भावः क उद्भवेद्, विषयाभावाद्,
अत एवाङ्गभूते ते उक्ते ॥ १ ॥

ततः किमित्यत आहुः फलमिति ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

तादृशप्रचुरभावे सति फलं स्वरूपसम्बन्धरूपम्, अधिकारः अलौकिकदेहवयो-
गुणादिकं भवेत्, तत्राहुः न काल इति । अत्र कालः वयोवस्थादिसमयरूपः
नियामको न, भगवदिच्छयैव सर्वं लीलोपयोगि तदैव भवेत्, न कालापेक्षा । तादृशं
प्रति भगवतोपि विलम्बासहिष्णुत्वात् ।

एवं पुष्टिफलं निरूप्य मर्यादाफलं निरूपयन्ति । तथा हि, मर्यादामार्गाङ्गीकृतस्य
माहात्म्यज्ञानपूर्वकसेवाकरणे भगवति माहात्म्यभावसहितस्नेहेन तदात्मतया सायुज्यं
साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपे भवेन्न त्वक्षरे । तत्र तदालौकिकदानेच्छाऽभावात् स्वरूपसम्बन्धा-
त्मकं फलं न भवेदित्यर्थः । यदा पुनः भगवान् कदाचिद् दातुमिच्छति तदा स्वस्वरू-
पात् पृथक्कृत्य तादृशं प्रचुरभावदानं कृत्वा फलं प्रयच्छति, यतोस्मिन्मार्गेपि दातृत्वभि-
प्रायेणैव वरणकार्यत्वात् । एवं भक्तिहंसे स्फुटीकृतं श्रीमत्प्रभुचरणैर्भक्तिमार्गीयभक्तकृते-
त्यारभ्य, अत्रापवर्गवर्त्मनीत्यन्तम् ।

प्रवाहभक्तिमार्गीयलक्षणकथनेन व्यापिवैकुण्ठस्य लोकत्वेनाक्षरात्मकत्वादक्षरमुक्तिरेव
फले, न तु पुरुषोत्तमसायुज्यम् । अक्षरमुक्तौ तु आद्यफलदानेच्छाऽभावात्तदर्थं वरणमेव
नास्तीति नाद्यफलसम्भावनेति मर्यादातो हीनत्वमुक्तम् । पुरुषोत्तमसायुज्ये तत्सम्भावना
वर्तते इति प्रवाहभक्तिमार्गीयसेवाफलादुत्कृष्टत्वम् । यत एतत्फलदानेच्छया यद्वरणं तन्मार्ग-
द्वये एव, न तु प्रवाहमार्गे, तदप्युक्तं भक्तिहंसे ‘विवरणे चास्ति प्रकारद्वय’मिति ।

एवं सेवास्वरूपं साधनफलसहितं मार्गत्रयेपि निरूपितमिदानीं तादृशसेवासिद्धौ
प्रतिबन्धकत्रयं निरूपयन्ति उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वेति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

श्लोकविवरणे सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमित्यादि । एतन्नित्यनिवारणे त्रयाणां
साधनपरित्याग इति विवरणे विवृतम् । तत्रोद्वेगसाधनं लौकिकशोकदुःखादिकम् ।
तस्य भगवदिच्छाधीनत्वं ज्ञात्वा तत्त्यागेन तस्यापि त्यागो भवत्येवेति । ‘चित्तोद्वेग’मित्यु-
क्त्वाद्दत्र न विशेषतो विवृतम् । तथा अपरः प्रतिबन्धः । स च द्विविधः ।
साधारणो भगवत्कृतश्च । साधारणो बुद्ध्या त्याज्यः । बुद्धिस्तु यस्मिन्कृते सेवा-
प्रतिबन्धोऽभूत् स न कर्तव्य इति विचाररूपबुद्ध्या त्याज्यः । भगवत्कृतमग्रे वदिष्यन्ति ।
लौकिकभोगस्तु विषयरूपत्वात् बाधक इति तत्साधनवस्तुमात्रत्यागादेव तत्त्याग इति
तदेव त्याज्यमित्यर्थः । एवं तत्रयं त्याज्यमित्युक्तम् ॥ २ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथापरम् ।

एतन्नयाणां साधनपरित्यागेनैव बाधकानां परित्यागो भवतीति शेषः । ननु सेवायां वस्तुमात्रोपयोगात्तत्त्यागे कथं तन्निर्वाह इत्याशङ्क्यामाहुः भोग इति । तत्रापि भोगे एकं लौकिकं त्यजेदपरं नेति शेषः । यतस्तेषां स्वार्थमुपयोगे लौकिकत्वम्, भगवदर्थमुपयोगे अलौकिकत्वम्, अतः स्वार्थं ते त्याज्याः, भगवदर्थमुपयोज्या इति भावः । तदनन्तरमबाधकत्वमाहुः निःप्रत्य्यूहमिति ।

निःप्रत्य्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ३ ॥

निःप्रत्य्यूहमिति प्रतिबन्धरहितं प्रत्युत साधकम् ॥ ३ ॥

एवं बाधकानां परित्यागे निर्विघ्नेसेवासम्भवे तस्यैव भोगस्य प्रतिबन्धत्यागे च हेतुं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धे हेतुं निरूपयन्ति अकर्तव्यं भगवत् इति ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

अस्य विवरणे भगवत्कृतश्रेत्यादि विवेक इत्यन्तम् । अस्यायमर्थः । यदि भगवतः तत्फलदानं न कर्तव्यं भवेत् तदा तादृशसेवायां सर्वथा सर्वप्रकारेणापि गतिर्न भवति । तत्र यथा तथा प्रतिबन्धकमेव भवेत्, न तु निर्वाहः । ननु स्वमार्गीयसेवायां तस्य भगवान् प्रतिबन्धं करोतु, परन्तु अन्यमार्गीयसेवायां न करिष्यतीति चेत्, तत्रोक्तं विवरणे तदा अन्यसेवापि कृता व्यर्थेति । प्रवाहादिमार्गेषु कृतापि व्यर्था । यतः सकलमार्गेषु फलदाता भगवानेव । तस्य त्वकर्तव्यमेवेतीति तथा । यदा यत्ने कृतेपि प्रतिबन्धकं भवेत् तदा यथा तत्त्वनिर्धारो भवेत् तथा कर्तव्यम् । तत्त्वनिर्धारः कथमित्याकाङ्क्षायां विवरणे विवृतम् । आसुरोऽयं जीव इति । एवं तस्य विवेकेन ज्ञानस्थितिरूपमेव साधनं मतम्, यतः पूर्वमासुर एव जीवः । यथासुरदेह-युक्तम्लेच्छादिषु कस्यचिद्वैवजीवत्वात् भगवत्परता दृश्यते, तथासुरजीवस्यापि कदाचिद्वैव-वशाद्भगवद्भक्तसङ्गेन सेवायां प्रवृत्तिर्भवति, परन्तु आसुरे भगवतो दातृत्वाभावात्तत्र प्रतिबन्धकमेव जायते । यतस्तेषामन्यदेव फलम् । तदेवासुरी योनिमापन्ना इत्यादिनो-क्तम् । तथापि भगवद्भक्तसङ्गानुभावात् ज्ञानमार्गोऽपि स्थितिरुक्ता ॥ ४ ॥

तत्रापि चेत् स्थितिर्न भवेत्तदा तत्पूर्वोक्तफलविषयिणी चिन्तापि सर्वथा त्याज्ये-त्याहुः द्वितीय इति ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

विवरणे ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थं द्वितीय इति । तत्र हेतुः । संसारनिश्चयादिति । स्वस्य पूर्वोक्तसंसाररूपस्य फलस्यैव निश्चयात् सा न कार्या, पुनस्तादाशोच्छेद एवेति सर्वथेत्युक्तम् ॥ ५ ॥

ननु यथा द्वितीयप्रतिबन्धे पूर्वोक्तप्रकारेण आसुरजीवस्य सर्वथा फलविषयिणी चिन्ता त्याज्या, तथा साधारणप्रतिबन्धेपि सा त्याज्या, अन्यथा सा कथं भवेदित्याशङ्कानिरासायाहुः न त्वाद्य इति ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

आद्ये साधारणप्रतिबन्धे दातृता भगवतो नास्तीति न किन्तु वर्तते, परन्तु फलस्य कियञ्जन्मानन्तरभावित्वात् तद् भवति । तदपि प्रतिबन्धकं साधारणं निवारयितुं शक्यम् । तेन भगवत्कृत एव तस्मिन् दातृत्वाभावो, न साधारण इति ज्ञेयम् । अतो यस्य आद्यफलदानार्थं मर्यादयाङ्गीकारः तस्य तथैव सेवाकरणे साधारणप्रतिबन्धश्चेद् भवेत्, तदा तन्निवारणेन सेवानिर्वाहात् पूर्वं सायुज्यफलं तदनन्तरं तत्फलं भविष्यतीति सा चिन्ता न त्याज्येति भावः । यस्य पुष्टौ अङ्गीकारस्तस्य तन्निवारणेन तादृशतत्सिद्धौ तत्फलं भवेदिति सा तथैत्यर्थः । एवं सति प्रवाहमार्गसेवायामपि सेवायाः साधनदृश्यमानत्वात् साधारणप्रतिबन्धे दातृत्वं भविष्यतीति शङ्कानिरासाय आद्यफलाभाव इति विवृतम् । आद्यफलस्याभावो यत्रैतादृशे प्रवाहमार्गे तदर्थमङ्गीकार एव नास्तीति नाद्यफलसम्भावना-पीति न दातृत्वम् । सा सेवापि नाधिदैविकी, तत्र पूज्यस्वरूपेपि नाधिदैविकत्वम्, किन्तु विभूतिरूपत्वमिति महद्वैलक्षण्यात् कुतः साम्यमिति ज्ञेयम् ।

एवं साधारणप्रतिबन्धस्य व्यवस्थामुक्त्वा प्रथमवृत्तौ सर्वथा लौकिकभोगत्यागा-सम्भवात्, तत्रापि भगवतो दातृत्वाभावमाशङ्क्य तन्निवारणाय तद्व्यवस्थामाहुः, तृतीय इति । तृतीये लौकिकभोगेपि दातृता नेति न, यत एतन्मार्गे द्वये तादृश एवाङ्गीकारः, किन्तु तत्र मूलभूतं साधनं यद्गृहं तद्बाधकमिति तत् त्याज्यमिति शेषः । तत्त्यागे सर्वथा भोगाभावात् प्रतिबन्धकाभावेन तादृशभगवद्भक्तसङ्गेन सेवानिर्वाहात् तत्फलमपि भवेदिति भावः । एतदेव विवरणे विवृतं भोगाभावस्तदैवेति ।

अत्र कश्चित्पूर्वपक्षी शङ्कते । तथा हि । स्वमार्गीयपरित्यागस्तु प्रेमासक्तिव्यसनात्मक-भक्तौ सत्यां कर्तव्यो, न तु साधनभक्तौ । तदुक्तं सन्न्यासनिर्णये 'सन्न्यासवरणं भक्तौ' 'अतोत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावह' इति च । तत्र करणे विपरीतफलमपि भवेदित्यपि । प्रकृते तु तत्पूर्वमेव भोगाभावार्थं सेवानिर्वाहार्थं च त्याग उच्यते इति कथमेक-वाक्यतायां विरोध इव प्रतिभाति ?

तत्रोच्यते । प्रथमं स्वमार्गीयभक्तिसिद्धौ मुख्यं कारणं सेवा । सा सेवा 'गृहे स्थित्वा अव्यावृत्त्या गृहव्यावृत्त्याभावे न, प्रत्युत पुत्रकलत्रादीनां भगवदर्थमुपयोगेन स्वधर्मतः करणे सिध्येत्, तच्चेदनुकूलं भवेत्, नो चेत् भजनप्रतिबन्धकत्वेन सर्वात्मना तस्य त्याग एवोचितः । अन्यथा तत्सङ्गेन पुत्रकलत्राद्युपभोगे स्वस्य भजनासम्भवे शरणगतिर्भज्येत, तदा सेवाऽभावे प्रेमासक्तिव्यसनात्मिका भक्तिरपि न भवेत्, तदभावे तन्मार्गीयपरि-त्यागोपि न, तदभावे फलाभाव एव च स्यादिति मार्ग एवोच्छिद्येत इति । तद्भोगाभा-

सिद्ध्यर्थं तथा तत्सेवासिद्ध्यर्थं च कथनम्, तदनुकूलतद्ग्रहणाभिप्रायेणैवेति, न तत्राश्रम-
स्वीकारः, सेवाभावानुपपत्तेः, साधनभक्तौ निषेधाच्च । एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपेपि 'प्रति-
कूले गृहं लजे'दित्यनुकूलतत्यागाभावाभिप्रायेणान्ते प्रेम्णि जाते अङ्गेपि यत्किञ्चित्
भोगस्यापि बन्धकत्वात् तेनैव तन्नाशे सति ततो यथा साधारणप्रतिबन्धनिवारणेन सेवा-
करणं तदानं च, तथा लौकिकभोगत्यागेनापि निर्विघ्नसेवाकरणे सति तत्फलं भवेदिति
ज्ञेयम् । तत्र पुष्टिमर्यादायां भगवति लीलामाहात्म्यगुणादिभावेनैव प्रेम भवेत्, न पुष्टि-
रीत्येति तादृशस्य तादृशप्रेम्णा क्रमेण सर्वविषयत्यागे, ततो तत्प्रभावेन तदात्मकतया
श्रीकृष्णे सायुज्यं भवेत्, ततो यदा दानेच्छा तदा स्वरूपात् पृथक्कृत्य तद्भावदाने तत्त-
त्फलानुभवं कारयिष्यतीति मर्यादाङ्गीकारे आद्यफलदानप्रकार उक्तः । तदुक्तं तत्त्वार्थदीपे
'सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फल'मिति-
सायुज्यानन्तरं ध्रुवं फलं तदेवेतिभावार्थः । यस्य शुद्धपुष्ट्यावंगीकारस्तस्य तदारभ्यैव पूर्वोक्त-
भोगादिप्रतिकूलगृहत्यागेनानुकूलगृहे स्थित्वा सेवाकरणे भावात्मिकैव प्रवृत्तिर्भवेत्, ततो
यदा प्रेमासक्तिव्यसनानि भावात्मकतया पुष्टानि भवेयुः, तदा तत्र स्थितौ यत्किञ्चिद्भोग-
सम्बन्धेनापि भावनाश इति तदभावेन तद्विगाढभावपोषादिना पूर्णविरहानुभवार्थं संन्यास-
निर्णयोक्तप्रकारेण परित्यागः सन्न्यासः आवश्यक उक्तः । अन्यथा क्षणमात्रं भावान्तरसम्बन्धे
भावशैथिल्याद् विरहानुभवाभावात् फलाभाव इति । ततस्तत्पूर्णानुभवे दशमावस्थया प्रति-
बन्धकदेहनिवृत्तौ अलौकिकतत्प्राप्त्या तत्फलानुभवो भवतीति पुष्टिमार्गाङ्गीकारे फलदान-
प्रकार उक्तः । अत एव मर्यादायां 'मदर्थेऽर्थपरित्याग' इत्यादिना भोगाभावार्थं भगवत्प्राप्त्यर्थं
च सर्वसमर्पणरूप एव त्याग उक्तः, न तु संन्यासप्रकारः । यतः संन्यासे तस्य पुष्टभावा-
दतोपि तादृशैरेव सम्भोगो भवतीत्युक्तबाधकत्वात् । अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय
इति निषेधोप्युक्तसिद्ध एव । अग्रेपि त्वयोपभुक्तेपि विरोधो भवतीति । संन्यासस्तु तादृश-
भक्तावेवेत्युक्तम्, 'संन्यासवरणं भक्ता'विति मार्गद्वयभेदेन परित्यागस्य भिन्नत्वान्न कोपि
विरोध इति ज्ञापितम् ।

एवं मार्गत्रयसेवाफलभेदं त्यागभेदं च निरूप्योपसंहरन्ति अवश्येयमिति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

इयं पूर्वोक्ता त्यागपूर्वनिरूपिका मनुक्तिः अवश्या भाव्या, सर्वथा सदा,
भाव्या कर्तव्या । अथवा अवश्या यद्यपि स्ववशेन कर्तुं न शक्यापि तथापि
भाव्या, भावयितुं मनसि चिन्तयितुं योग्या । तत एव सर्वं भविष्यतीति सर्वथा
कर्तृत्वमुक्तम् । आवश्यककरणे हेतुः एतदन्यत् सर्वं मनोभ्रम एव न तु फलम् ।
मदुक्तप्रकारातिरिक्तकरणे सर्वोत्कृष्टफलाभावो न, प्रत्युत मनसो भ्रम एवेत्यर्थः ।

ननु कथं भ्रमः ? सर्वैस्तदेव क्रियते तत्राहुः तदीयैरपीति ।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

तदीयैः पुष्टिमार्गातिरिक्तजीवैः भ्रमसम्बन्धभिरपि कार्यं तदेव, सर्वत्यागपूर्वकं
मदुत्तरीत्यैव भजनं कार्यम् । न क्रियते चेत् तदा अज्ञानाद्भ्रम एव, न तु फलम् । यदि
तदीयैरपि तदेव कार्यं तदा यः पुष्टौ स्थितः कोपि मदुक्तप्रकारसेवाकरणजनितप्रेमासक्ति-
व्यसनदिभाववान् स तु विशेषतः क्षणमात्रमपि न विलम्बयेत्, मदुक्तकरणे विलम्बं
न कुर्यात् । यदि विलम्बयेत् तदा पुष्टिभावान्तरत्यागाभावे विजातीयसङ्गेन भावशैथि-
ल्यात् फलाभाव एव भवेदित्यर्थः । यतस्तादृशस्य स्वरूपव्यतिरिक्तवस्तुमात्रस्मरणस्यापि
फलप्रतिबन्धकत्वम् । तदेवाहुः गुणक्षोभेपीति । अयं भावः । तादृशपुष्टिमार्गीयस्य
व्यसनानन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागे कृते स्वरूपसङ्गाभिलाषायाः प्राचुर्याद्विगाढभावेन
देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानि स्वरूपात्मकान्येव भवन्ति, यतः विकलत्वास्वास्थ्यदिकं
निरन्तरं भवति तदा तादृशशायां मध्ये कदाचित्तस्य भगवल्लीलागुणादिस्फूर्तिर्न भवेत्,
तदा मनःस्वास्थ्येन भावशैथिल्यात् स्वरूपान्तरायो भवेदित्येव गुणक्षोभः गुणैः कृत्वा
मनःस्वास्थ्यरूपोऽविकारस्तस्मिन्नपि एतदेव द्रष्टव्यम्, फले प्रतिबन्धकमेव, द्रष्टव्यमिति-
पदं प्रत्यक्षप्रमाणत्वेनोक्तम् । एतेन लीलागुणस्मरणस्य बाधकत्वं कथं वक्तुमुचित-
मित्याशङ्का निरस्ता । एतदेव सन्न्यासनिर्णये 'ज्ञानं गुणाश्चे'ति बाधकत्वमुक्तम् । एवं सति
यत्र स्वरूपगुणस्मरणेपि फलाभावः, तत्र गृहादीनां प्रतिबन्धकत्वेन त्यागविलम्बे फलाभाव
इति किं वाच्यमिति भावः । अत एव सर्वथा भोगाभावस्याग एवेत्याशयेन विवृतावुक्तं
भोगाभावस्तदैवेति । अत्र प्रमाणं मे मतिरिति । स्वस्यैव तादृशप्रकारकानुभवात्
स्वमतिरेवोक्ता । यदि मन्मतिप्रमाणत्वेन य एवं करिष्यति तर्हि तस्य सर्वं सुष्टेव भविष्य-
तीति भावः । अकरणे बाधकमाहुः कुसृष्टिरिति । अत्र एतत्प्रकारकसेवाफलनिरूपण-
रूपमदुक्तौ कथं किमित्यादिरूपा कुसृष्टिश्चेदुत्पद्येत वै निश्चयेन स भ्रम एवेति
सा न कार्येत्यर्थः । करणे सर्वस्वहानिरेवेति निश्चयः ॥ ७ ॥

एतद्विवृतेरर्थो यद्यपि विवृतो महच्चरणैः ।

तदपि तदेव हि गृहं दृष्ट्वा भावः स्फुटीकृतः कृपया ॥ १ ॥

सोपि तथेतरथा वा नो जाने सद्भिरीक्षणीयस्तत् ।

कृपया च मार्जनीयस्तेन ततोहं विभूषणीयश्च ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणे सरोजे मानसे मम । तिष्ठतां विकचे नित्यं तत्प्रभावोत्र भानुना ॥ ३ ॥

इति श्रीमदाचार्यकृतसेवाफलनिरूपणविवृतौ टिप्पणी समाप्ता ॥

प्रथमं परिशिष्टम्

सेवाफलविवरणत्रयम्

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् विवृतिसमेतम् ।

नैसर्गिकी मधुभिदश्ररणस्य सेवा जीवस्य तत्र सुतरां हरिमार्गलिप्सोः ।

बुध्येत नो विघटनं च फलं यदास्यां नो सेवनाग्रथनमत्र तदर्थमिष्टम् ॥ १ ॥

वह्निर्भव जगतो हितकारणाय पारीक्षितस्य विवृतिं पदशश्वकार ।

यः सूत्रयोर्निगमसंशयबाधनाय संक्षिप्य च प्रकरणानि नुमस्तमीशम् ॥ २ ॥

सिद्धान्तमुक्तावल्यादिभूयस्सु निबन्धेषु सेवाया उक्तत्वेपि तत्फलानां प्रतिबन्धानां चेतस्ततो विप्रकीर्णत्वेन तत उद्धर्तुमशक्तान् स्वान् संक्षिप्य तदुपदेष्टुं सेवाफलनिरूपणं प्रतिजानते यादृशीत्यादि, नोच्यत इति । तत्फलं तु श्रोत्रभिमुखीकरणं निरूप्यार्थस्य यावतः प्रतिज्ञोचिता, नत्वेकदेशस्येति तु न शक्यम् । यतः फलमेव प्रधानं प्रतिबन्धकं तु तद्विघटकतया त्याजनार्थं निरूपितमिति तच्छेषस्य न पृथक्प्रतिज्ञानम्, स्वप्र-

सेवाफलम् विवृतिसमेतम् ।

धानत्वेनानिरूपणात् । फलमिति जात्यैकवचनम् । यादृशी यत्प्रकारिका उक्ता सिद्धान्तमुक्तावल्यादौ, अकरणे प्रत्यवायः प्रार्थः । स च दृश्य इवेत्यादि निन्दया बोध्यः । तत्सिद्धौ तस्यां यावज्जीवनिर्वीहे व्यसनरूपत्वसिद्धौ फलमुच्यते । फलं चात्र वक्ष्यमाणत्रयमेव बोद्धव्यम् । यत्तु सेवाया एव फलरूपत्वेन तत्फलकथनमनुपपन्नमित्याशंकनम्, तत्तु केवलपौष्टिकाभिप्रायेण, पुष्टिमर्यादास्थितस्य तु साधनरूपत्वमेव सेवायाः । न चैवं गौणत्वम् । पुरुषोत्तमस्यैव साध्यसाधनोभयरूपत्वात् । कर्तृतावच्छेदकमेव परं गौणम्, फलस्य भूले स्पष्टतयाऽकथनादुक्तं विवरणे सेवायां फलत्रयमिति । अलौकिकसामर्थ्यं तु अपारतेजसः फलदित्सायां सलीलस्य हृदि प्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यम् । अत्रानुभवश्च मनसा तदध्यक्षीकरणम् । न चैतदेतच्छरीरेण संभवति, अप्राप्य मनसा सहेति वचनात् । तदर्थं च तद्भोगयोग्यत्वमलौकिकत्वं मृग्यम् । तच्च संघाते अलौकिकसंघातस्य विज्ञाने चानन्दमयस्य प्रवेशात् स्पर्शसंबन्धेऽयसश्चामीकरत्वमिव सम्पद्यते । एतच्च प्रभवेकसंपाद्यमित्याहुः अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिद्धेद् मनोरथ इति । चस्त्वर्थे । हि युक्तश्रायमर्थः । 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतेः । 'तमेव विदित्वे'ति तु मार्यादिकस्य । तथा चोक्तम् 'गतेरर्थवत्त्वमुभयथा अन्यथा हि विरोध' इति । सायुज्यं त्वन्तर्गृहगतानामिव मध्यमं फलम् । तच्च द्विविधम् । बाह्यमाभ्यन्तरं च । बाह्यमलौकिकशरीरप्राप्तिरूपम्, आन्तरं तु व्युच्चरणसामयिकपरिच्छिन्नानन्दादिमत्त्वेन अणुरत्वेन च विशिष्टस्य ब्रह्मणि लयः । अत एव च निरस्तधर्मस्य ब्रह्मणि लयरूपात् कैवल्याद्भेदः । न च भक्तस्य न लयः । ज्ञानिनोऽक्षरे भक्तस्य पुरुषोत्तमे लयादिति भाष्योक्तेः । एतच्च 'सोऽश्रुते सर्वान् कामान् सह' 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति वाक्याभ्यां गम्यते । परं ब्रह्मोपैति तदनन्तरं साम्यमुपैतीति वाक्ययोजनां कृत्वाशेषैर्ब्राह्मैः कतिपर्यैवेति संदिह्य 'न तत्सम' इति निषेधादशेषैः साम्यासंभवात् कतिपर्यैरेव साम्यं निश्चित्य, न च कतिपर्यैरपि धर्मैर्जायमानं साम्यं तदभेदगमकमित्यर्थे 'कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवदि'ति सूत्रावयवयोजनायामान्तरसायुज्यस्य 'हानौ तूपायन'सूत्रभाष्य एव स्पष्टत्वात् । तृतीयं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु । सेवाया उप समीपे योगवत् शरीरप्राप्तिरूपम्, पक्ष्यादीनामिव । ननु प्रभवेकसम्पाद्यपूर्वफलस्यान्यानधीनत्वेपि सायुज्यसेवोपयोगिदेहयोः फलतदधिकाररूपमध्यमावान्तरफलयोस्तु ज्ञानादीनामिव कदाचित् कालकर्मसाध्यत्वं भवेदिति नेत्याहुर्मूले फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामक इति । फलं सायुज्यम् । अधिकारः सेवोपयोगिदेहः । अत्र एतदुभयोः कालो न नियामकः, फलदः प्रतिबन्धको वा नेत्यर्थः । अत्र बाह्यं फलतदधिकारयोर्भयोरपि भगवत्समक्षत्वबोधनाय । यद्वा, बाह्यं क्रियाक्षेपकम्, फलं वा स्यादधिकारो वा स्यात् । कालेनेति नेत्याहुः यतस्तयोरनियामक इति । अत्र एतयोः । उद्देशः प्रतिबन्धो वेति वाक्यं विवृण्वन्ति सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति ।

उद्देशः सेवायां क्रियमाण्यायां मनोवृत्तेरस्थिरता । प्रतिबन्धभोगयोः प्रकारभेदानां बहु वक्तव्यत्वेन प्रथमतः सिद्धानां दोषाणां दुर्विनाश्यत्वात् त्रयाणां साधनेत्यादिना तत्सामग्रीत्यागमेवोपदिश्य पाठक्रममनपेक्ष्य चरमोद्दिष्टमपि भोगं संनिहिततरत्वेन लौकिकालौकिकभेदेन विभज्य 'भोगो द्विविध' इत्यादिना लौकिकस्य त्याज्यत्वं 'तत्र लौकिके'त्यादिना निर्दिश्य प्रतिबन्धद्वैविध्यं वक्तुं 'प्रतिबन्धोपि द्विविध' इत्यादिना तत्स्वरूपं निर्दिश्य द्वयं विभजन्ते साधारणो भगवत्कृतश्चेति । तत्र साधारणो दुरदृष्टजन्यः, भगवत्कृतस्तु उत्तमं मार्गं दृष्ट्वा सङ्गतः प्रवृत्तासुरमात्रविषयकः । न च तादृशस्य नात्र प्रवृत्तिरिति रागतः प्रवृत्तेरनिवार्यत्वात् भगवत्कृतस्याग्रे वक्तव्यत्वात् तत्स्वरूपमात्रं निर्दिश्य साधारणमाद्यपदेनोच्छिष्य बुद्ध्या त्याज्य इत्याहुः । आद्यत्वं तु प्रतिबन्धक्रमे, बुद्धिस्तु सेवायामायतनस्य लौकिकवैदिकादेरनावश्यकसाकरणम्, आवश्यकस्य तु अनवसरे प्राग्वा करणम् । निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदेत्यस्य व्याख्यानमलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे विशतीति । अस्य व्याख्यानस्य व्याख्येयानुसारित्वाभावात् तदर्थमात्रप्रकाशकत्वाच्चादोषः । अक्षरार्थस्तु भोगो महान् स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेति । स्वरूपं स्वरूपानन्दानुभवः । साधनं प्रभवनुग्रहः । विषयानन्दब्रह्मानन्दापेक्षया स्वरूपानन्दस्योत्कृष्टत्वात् । फलं तु 'सोऽश्रुते' इत्यादि प्रथमेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे फले विशते । निःप्रत्यूहं क्रियाविशेषणमेतत् । जायमान इति क्रियाध्याहर्तव्या । विशतौ विशेषणदानस्याप्रयोजकत्वात् तत्रापि विशेषणस्य संभवादर्थवत्ता, न च कश्चिद् व्यभिचारोस्ति । एतस्मिन् भोगे कालकर्मादीनामविघातकत्वात् । अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्नहीत्यस्य व्याख्यानं भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यमिति । अक्षरार्थस्तु भगवतश्चेत् फलदानमकर्तव्यं सर्वथा न तदा गतिः प्रभुप्राप्तिः । अकर्तव्यतानिर्धारस्तु निरन्तरं सेवां कुर्वाणस्याचिन्तितस्यापि लौकिकवैदिकादेर्मुहुरापतनात् । ननु भगवत्सेवासिद्धौ इतरसेवा भगवत्प्राप्त्यर्था कर्तव्येत्याशंक्याहुर्विवरणे तदानयेति । भगवत्कृतफलस्येतरसाधनासाध्यत्वेन अनुग्रहमात्रसाध्यत्वेन च सेवायां प्रतिबन्धकरणादनुग्रहानिश्चयेन तत्साधनार्थं प्रयासस्य तदसाधकत्वात् व्यर्थतेत्याशयः । अत एवोक्तमासुरोऽर्थं जीव इति निर्धार इति । यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतमेतस्य विवरणं तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तव्यं शोकाभावायेति । विवेक इति । ज्ञानमार्गश्च जीवब्रह्मणोरभेदज्ञानं जगन्मिथ्यात्वज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रफलभोगविराग इत्यादिः । सांख्येन योगेन वा सिद्धिः, नौपनिषदः, तस्मिन्स्तस्यानधिकारित्वात् । मूले वा शब्दोनादरे । इतोपि न ज्ञानमार्गीया मुक्तिरपि तु शोकाभाव एवेत्याहुः शोकाभावायेतिपदेन । कथमेवमिति चेत्, निबन्धायासुरी मतेति वाक्यादिति गृहाण । भगवदर्थिनः फलस्यैव निरूपणमुचितम्, न प्रतिबन्ध-

निरूपणमित्याशंक्य त्यागार्थमेतन्निरूपितमित्याहुर्बाधकानां परित्याग इति । परित्यागस्तु साधनपरित्यागरूपः पूर्वमेवोक्तः । नन्वेवमलौकिकभोगस्यापि त्याज्यत्वमागतं, नेत्याहुर्भोगेप्येकं परं विहाय । तथेति त्याग इत्यर्थः । बाधकानामिति वाक्यं सुगमत्वादव्याख्याय निष्प्रत्यूहमिति वाक्यस्य च अलौकिकभोगस्त्वित्यादिना पूर्वमेतद्व्याख्यातत्वात् तत्प्रतीकमपि अगृह्य सविघ्नोऽल्प इति वाक्यं व्याख्यातुमाभासयन्ति साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहेति सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति प्रतीकग्रहणम् । तदर्थस्तु सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्य इति । बलादेतौ सदा मत्ताविति वाक्यव्याख्यानं एतौ सदा प्रतिबन्धकाविति । एतौ लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ सविघ्नत्वाल्पत्वघातकत्वादिभिर्हेयतावच्छेदकरूपावुक्तौ । द्वितीये सर्व इति वाक्यं विवृण्वन्ति । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति । द्वितीयत्वं चात्र प्रतिबन्धक्रमेण बोद्धव्यम् । एवं द्वितीयपदमात्रं व्याख्याय कृत्स्नं वाक्यं व्याख्यातुमवतारयन्ति ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाहेति । द्वितीय इतीति स्पष्टत्वात् न व्याख्यातम् । भगवत्कृतप्रतिबन्धे जायमाने संसृतेरवश्यंभावित्वेन फलान्तरस्यासंभवात् तद्विषयिणी चिन्ता नैव कर्तव्या, व्यर्थत्वादित्यर्थः । नन्वाद्ये दातृता नास्तीति वाक्यव्याख्यानमाद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति । मूले आद्यपदं प्रतिबन्धकत्रये आद्यपरम् । तथा चाद्ये उद्देशे जायमाने सतीत्यर्थो बोध्यः । विवृतौ तु आद्यफलाभाव इत्यत्र फलाभावपदयोः षष्ठीतत्पुरुषं विधाय समस्तस्य आद्यपदेन तृतीयातत्पुरुषो बोध्यः । आद्यफलस्य अभाव इति तु न प्रमितव्यम् । फलाभावस्याप्रत्यक्षत्वेन दातृत्वाभावे लिंगत्वासंभवात् । तथा च सेवायां क्रियमाणायाम् मनस उद्देशे जायमाने अमानसीत्वादनधिदैविकीत्वसंपत्तौ भौतिक्याश्च फलाजनकत्वेन भगवतो दातृत्वाभावः स्पष्ट एव । प्रभोः का वा शक्तिर्मानसोद्देशनिवारणे यतः । तदेवोक्तं विवरणे तदा सेवाऽनाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति । तृतीये बाधकं गृहमिति वाक्यस्य आशयं विवेचयन्ति । भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इति । तथा च मूले प्रतिबन्धकतृतीयापेक्षं तृतीयपदं बोध्यम् । यदर्थमेतावन्निरूपितं तत्प्रयोजनमाहुरवश्येति । इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी चावश्या, न स्ववशा, भक्तिमार्गीयफलप्रतिबन्धनिवृत्त्योर्भगवदधीनत्वात्, तथापि निरन्तरं भाव्या फलप्रतिबन्धयोः संश्लेषासंश्लेषार्थम् । नन्वितोपि किञ्चित्फलान्तरं प्रतिबन्धान्तरं वा भक्तिमार्गे स्यादिति नेत्याहुः सर्वमन्धन्मनोभ्रम इति । मोक्षपापादेः फलत्वप्रतिबन्धकत्वयोरसंभवादिति भावः । तथा च 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपी'ति 'विकर्म यच्चोत्पतित'मिति च भक्तिमार्गीयस्यैतदेव फलम्, उत्तममध्यमसाधारणादिभेदेन । न च निरस्तसमस्तविशेषे कथं तारतम्यमिति वाच्यम् । एतद्विना लीलानुपपत्तेः । तथा चोक्तम्, 'अहो मायागुणा विष्णोराकारश्चिच्छरीरता । निर्दोषत्वं तारतम्यं मुक्तानामपि चोच्यते' । 'मुक्ता अपि लीलाविग्रहं

कृत्वा भजन्त' इति च । स्पष्टं चैतदाकरे । प्रभुसमर्पितदेहादेः फलनैयत्यात् न तेनैत-
द्भाव्यमिति नेत्याहुः तदीयैरपीति । तत्प्रतिबन्धकत्रयस्य फलत्रयस्य च भावनं कार्यम्, पु-
ष्टिमर्यादाश्च साधनद्वारैव फलनैयत्यात् । तथा चोक्तमाकरे 'स चिरकालोक्तैत्यारभ्य सुधां
वर्षं तथैव सर्वत्र वर्षिष्यतीति न ज्ञातुं शक्यम्, अतो मर्यादया तद्भजनमेव सर्वेषां क-
र्तव्यत्वेन श्रेयमिति दिगित्यन्तेन । न चायं पुष्टिश्च एवेति वाच्यम् । तस्य फलविलंबा-
संभवादिति आहुः पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति । फलं प्रभुरिति शेषः । एवं सत्त्वरजस्त-
मसां परस्पराभिभवनोद्रेकनिमित्तमनःखेदेपि एतद्भावनमेव कर्तव्यम्, तत एव भगवत्परे
चित्ते जायमाने मनःक्षोभनिवृत्तेः । क्षोभश्चायं फलविलंबादेव, नान्यस्मात् । अतस्तत्रापि
नान्यरसाधनं, किन्त्वेतदेव कर्तव्यमित्याहुः गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मति-
रिति । ननु भगवदीयत्वस्य फलावश्यं भावनियमात् फलविलम्बे च भगवदीयत्ववैय-
र्थ्यात् प्रतिबन्धानामसंभव एव, ततश्चैतन्निरूपणं व्यर्थमेवेति चेत्, इयं नाशंका, अपि
तु सिद्धान्ताबोधजभ्रमजन्या कुसृष्टिरेवेत्याहुः कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्यते
स वै भ्रम इति । भ्रमत्वं तु स्वतन्त्रेच्छस्य प्रभोर्भक्तवैचित्र्यं विना लीलानुपपत्तैर्वैचित्र्य-
स्यावश्यवाच्यतया मर्यादापुष्टेरनपेक्षत्वात् तादृशभक्तस्य च प्रतिबन्धफलविलम्बानामपरि-
हार्यत्वात् तस्य तथा निरूपणमनुचितमिति कथनस्य सिद्धान्तानवबोधविजृम्भितत्वात् पुष्टौ
नैव विलम्बयेदित्यादिनोक्तोप्यर्थोवसरे स्मारितः ।

वृष्ण्यन्ववायजलधिप्रविभूतचन्द्रश्चन्द्रावलीरमणकौशलमादधानः ।
राधानेन्दुसुषमासृतपानमत्तो नन्दात्मजो हृदि तमोहृतये समेऽस्तु ॥ १ ॥

इति श्रीसेवाफलटीका ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् टिप्पणसमेतम् ।

वल्लभाचार्यचरणाः प्रसीदन्तु सदा मयि । यदाश्रयकथामात्रेऽप्यखिलाः पुष्टिसिद्धयः ॥१॥
यद्यपीश्वरवाक्यार्थाः स्वतोऽज्ञेयास्तथाप्यहम् । सेवाफले टिप्पणं तत्कृपया वक्तुमुत्सहे ॥२॥
अथ श्रीवल्लभाचार्यनिरूपितं सेवाफलारूपं प्रकरणं तन्निरूपितयैव टीकया सहितं
सुगमत्वाय विप्रियते । यादृशीति । यादृशी सेवा मया मुख्यसेवासाधनीभूता तनुवि-
त्तजा सिद्धान्तमुक्तावल्यादिषु प्रकर्षणोक्ता तस्याः सिद्धौ परिणामदशायां इहामुत्र च य-
त्फलं भवति तदुच्यते । अत्र फलमिति जात्यभिप्रायेणैकवचनम्, तेन फलत्रयमुक्तं भ-
वति । तदेवोक्तं टीकायां सेवायां फलत्रयमित्यनेन । नन्वेकस्या एव सेवाया विसदृशं
फलत्रयं कथं भवितुमर्हतीति चेत्, इत्थम्, भगवानस्मिन् भक्तिमार्गे शुद्धपुष्टिमर्यादा-

पुष्टिप्रवाहपुष्टिभेदेन भक्तानंगीकरोति । तत्र शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यप्रकटितत्वात् साक्षात्पर-
म्पराभेदेन सद्यो विलम्बेन वा पुरुषोत्तमसम्बन्धावश्यंभावरूपः पुष्ट्यंशस्त्रिष्वप्यनुस्यूत
एव । इतरावग्रे वक्ष्यमाणबाधकसंभवान्यथापत्यवधेयौ फलत्रयकथनेन च । साधन-
फलयोश्चित्त्वे वस्तुतो नियमिका विचित्रा तदिच्छैव । तथा च यं भक्तं यस्मिन्मार्गे भ-
गवानंगीकरोति तस्मै तदनुसारेण फलं प्रयच्छतीति न काप्यत्रानुपपत्तिः । अथ तत्रयं
किरूपमित्याकांक्षायामुच्यते । अलौकिकस्येत्यारभ्याधिकारो वेत्यन्तेन । तद्विर-
णमलौकिकसामर्थ्यमित्यादि वैकुण्ठादिष्वित्यन्तम् । अर्थस्तु भगवानलौकिकं लोकवेदातीतं
पूर्णं सर्वात्मभावैकलभ्यं फलं साधनरहितं यदा वरवत् दातुमिच्छति तदैव आद्यः फला-
व्यभिचरितपूर्वजन्मसंबंधी सकलफलाग्रगण्यो ब्रजभक्तसदृशो यो मनोरथः स सिध्यति ।
तदवान्तरफलं अलौकिकसामर्थ्यं भजनानन्दानुभवयोग्यतारूपं सिध्यतीत्यर्थः । अत्र दि-
त्सायां वक्तव्यायां दान इति सिद्धवन्निरिदंशस्तु भगवतः स्वतन्त्रत्वात् तदानस्य नित्यत्वात्
निरपेक्षत्वादनन्तत्वाच्च । तथा चास्मिन्नेव जन्मनि भगवान् साक्षात् स्पर्शादिसुखं कदा
कदाचित् तमनुभावयतीति इह लोक एव तेषां सकलपुरुषार्थाधिकफलसिद्धिर्भवति, किमु
वाच्यमग्र इति कैमुतिकन्यायेन आमुष्मिकफलस्यानिर्वचनीयत्वं सूचितम् । अत एव पुष्टि-
मार्गीयामुत्रिकफलस्यात्र न स्फुटोक्तिः अनुक्तसिद्धत्वादवचनीयत्वाच्च । हि युक्तश्चाय-
मर्थः । यत् परमोत्कृष्टं फलं भगवद्वत्तमेव प्राप्यते, नान्यथापीति । चकारस्त्वप्यर्थे ।
तथा चाद्योपि श्रेष्ठोपि जीवस्वरूपविचारे भवितुमयोग्योपि श्रीमदाचार्यपक्षपाताद्भगवता
दीयते चेत्, सिध्यत्येव, केन वा रोद्धव्यः, नान्यथापीति भावः । अल्प इति पाठे पुष्टि-
मार्गीयसाक्षाद्भगवत्संबन्धिफलमगम्यत्वात् जीवैर्मनोरथीकर्तुमपि न शक्यते । अतः फ-
लापेक्षया स्वल्पोपि मनोरथः भगवान् खानुरूपमेव फलं ददातीति पूर्णं एव सिध्यति,
न तु जीवविचारितरूपमात्र इत्यर्थः । इत्येकमविहितभक्तसदृशं फलमुक्तम् । विहितभक्त-
विहितं द्वितीयमाहुः फलं वेति । तद्विवृतिः सायुज्यमिति । सायुज्ये फलोक्तिस्तु लो'
कवेदयोस्तस्यैव फलत्वेन प्रसिद्धेः । तेन यं मर्यादापुष्टावंगीकरोति तस्मै 'मामेवैष्यसी-
त्यादिवाक्योपदिष्टं पुरुषोत्तमसायुज्यं प्रयच्छतीत्यर्थः । तृतीयं फलमाहुः अधिकारो
वेति । तटीका सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिष्विति । वैकुण्ठादिषु किञ्चित् परिचरणं कु-
र्वन् तिष्ठतीत्यर्थः । आदिपदाद्भूमावपि जन्मान्तरान् चेदवशिष्टान् प्राप्नोति तदापि सेवा-
पर एव भवतीति ज्ञापितम् । अथवा देहाध्यासस्योक्तत्वात् जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः । पु-
ष्ट्यंशस्य सत्त्वादग्रे यथाधिकारं पुरुषोत्तमसंबन्धो भावीति ज्ञेयम् । तदुक्तं सिद्धान्तमुक्ता-
वल्यां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'ति । यद्वा, यादृशीति पूर्ववत् । फले
त्रित्वोक्तिरैहिकामुष्मिकाभिप्रायावान्तरपरमफलाभिप्राया वा । वस्तुतः परमफले विहिता-
विहितभक्त्यधिकारके सायुज्यभजनानन्दरूपद्विविधे एव । तथा चैकमैहिकमवान्तरफलं

वा । अग्रे आमुष्मिकमधिकारिभेदेन द्विविधं परमफलमिति त्रैविध्यं फले । अत एव नि-
बन्धे विहितभक्तानां सायुज्यमुक्तं, परमफलत्वेन, अविहितभक्तानां गोपिकादितुल्यानां भज-
नानन्दरूपमेव । फलद्वैविध्ये कारणं, सर्वात्मभावतदितरभावसाध्यपदार्थतारतम्यज्ञापनमेव ।
अथ कश्चिद्ब्रह्मिलस्तत्फलस्य द्विविधत्वे तत्राप्तौ चान्यत्सेवैव वा भिन्नप्रकारा कारणम-
स्त्विति वदति चेत्, तत्राहुः अलौकिकस्येति । इदं फलत्रयमप्यलौकिकं भवति, अत-
स्तद्भगवतैव दीयते चेत् प्राप्यते, नान्यथा । तत्रैकं प्रथमं फलमिह लोके एव भवति,
इतरे त्वमुत्र । तत्राग्रिमफलद्वयस्य प्रत्येकं सूचकम् । ऐहिकफलेपि द्वैविध्यमाहुः आद्य
इति । आद्यः सिध्येत्, मनोरथश्च सिध्येत् । अयमर्थः । यस्य सायुज्यं भावि स आद्यो
मुख्यः भक्तिमार्गीयसकलसाधनसंपन्नो भवति । यस्य पुनः साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तमसंबन्धिमु-
ख्यरसानुभवो भावी तस्य संन्यासनिर्णयोक्तप्रकारकातिविरहजवैक्यव्यादिसंहिता परमार्ति-
रूपाधिकारसंपत्तिर्भवति । अल्प इति पाठे अल्पस्तुच्छो दास इति यावत् । तथाच
माहात्म्यपूर्वककेवलदासभावयुक्तो भवतीत्यर्थः । अग्रे पूर्ववत् । एवमवान्तरफलद्वयं
निरूप्य अग्रिमपरमफलद्वयमाहुः फलं सायुज्यं वा पुरुषोत्तमस्य । अधिकारः
सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिषु वा । अत्र वैकुण्ठपदं लोकवेदप्रसिद्धाभिप्रायेण ।
वस्तुतस्तु ब्रह्मात्मके स्वधामनि । तथाच 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः' इति
श्रुतिनिरूपिते परमपदे मुख्याधिकाररूपसाक्षाद्भजनानन्दानुभवयोग्यस्वरूपावासिरूपः ।
सिध्येदिति सर्वत्रानुषङ्गः । आदिपदात् यत्रैव साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तमसंनिध्यं
तत्रैव सेवां कुर्वन् तिष्ठतीति ज्ञापितं भवति । यद्वा । आद्य इति । आदिपदेन अ-
ग्रिमफलाधिकरणकस्थित्यपेक्षया प्राथमिकं सद्योनुभूयमानं जन्मोच्यते । तत्सम्बन्धी यो
मनोरथः यथाधिकारमग्रिमफलविषयकाभिलाषरूपः स सिध्यतीत्यर्थः । पाठान्तरे तु पूर्वा-
र्थवत् । इममेव सर्वमर्थमनुसन्धाय टीकायामुक्तमलौकिकसामर्थ्यमिति । सायुज्यप्रापकं
भक्तिमार्गीयसाधनसम्पत्तिरूपं स्वरूपप्रापकं तद्रससहिष्णुतारूपं चेति । अत्र साधनफ-
लयोः सम्पत्तौ कालकर्मादयो नियामका भविष्यन्तीत्याशङ्कायामाहुः न कालोऽत्रेति ।
सर्वोपजीव्यत्वात् काल एवोक्तः । तेन भगवदिच्छाव्यतिरिक्तः कोऽपि न नियामक इ-
त्युक्तं भवति । तर्ह्यत्र स्वच्छन्दचारित्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निरासपूर्वकं सावधानतया
स्थितिज्ञापनाय मध्ये अन्तरायोत्पत्तिमाहुः उद्वेग इति । तस्य विवरणं सेवायामित्यारभ्य
भोगो वेत्यन्तम् । एतन्नित्यमपि बाधकमस्ति । यथा तदनुत्पत्तिर्भवति तथा यतनीयमि-
त्याशयः । ननु उद्वेगप्रतिबन्धभोगाः क्रमेण मनोजन्यत्वात् दैवागतत्वात् क्षुदादिनिवर्त-
कत्वाच्चाशक्यपरिहारास्ते कथं त्यक्तव्या इत्याशङ्कायां त्यागप्रकारमाहुरग्रे बाधकानां
परित्याग इति । तटीका त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति । सिद्धाश्चेत् त्यक्तुम-
शक्या एव । अतस्तत्साधकवस्तूनां त्यागे तदनुत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः । अथ तेषु प्रत्येकं त्या-

ज्यात्याज्यभेदेन द्वैविध्यमस्तीति सामान्यतो वदन्तः प्रथमं त्याज्यवस्तुस्वरूपमाहुः अ-
कर्तव्यमिति । व्याकृतिः भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यारभ्य विवेक इत्यन्ता । अर्थस्तु
यत्कार्यं सर्वथा भगवान् कर्तुं नेच्छति तत्र यावद्द्विविधोदयं जीवैः दृष्टादृष्टोपायैः प्रयत्ने कृतेपि
प्रतिबन्धराहित्यपूर्वकं तत्कार्यं न सिध्यति, तदा भगवत्कृतोऽयं प्रतिबन्धोऽयमित्यवधेयः ।
तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदा अन्या तदनन्तरं कृता या सेवा सा
व्यर्था । यतः फलशून्या । तदा किं कर्तव्यं तेनेति प्रश्ने उच्यते । तदायं परिदृश्यमानो
मल्लक्षणो वा जीव आसुर इति मनसि निर्धार्यं ज्ञानमार्गेण वेदोक्तेन श्येयम्, तत्र मयेयान्
प्रयासः कृतस्तथापि किमिति न स सिद्धिं प्राप्त इतिरूपखेदाभावाय हरिः सर्वं निजेच्छ-
यैव करोति करिष्यति अकार्षीदित्येवं विवेकः कर्तव्य इत्यर्थः । अत्रासुरत्वमावेशजन्यं
ज्ञेयम् । अन्यथा सहजासुरस्य ज्ञानाद्यनधिकारित्वेन श्रीमदाचार्यास्तस्य कर्तव्यत्वं
नोपदिशेयुः । तेनासुरत्वं आवेशिसहजभेदेन द्विविधं ज्ञेयम् । द्वितीयमग्रे वक्ष्यति
द्वितीयेत्यनेन । अन्यथा पूर्वं विवेकः साधनं मतं इत्युक्तम्, अग्रे सर्वथा चिन्ता
त्याज्येति वक्ष्यते तेनान्योन्यं विरुद्धवाक्यकथनेन वदद्वाधातः प्रसज्येत । तथा च स-
र्वथा भगवान् यत्कर्तुं नेच्छति तस्याचार्याक्तसकैतैर्भगवदीयद्वारा वा यथा तत्त्वनिर्धारो
भवति तथा कृत्वा सर्वथा असाध्यत्वे ज्ञाते तदुपक्रम एव न कार्यः, किन्तु विवेकपूर्वकं
श्रेयमित्यर्थः । अथ त्याज्यात्याज्यभेदान् तत्स्वरूपाणि च विविच्य प्रकटमाहुः भोगे-
प्येकमित्यादि तृतीये बाधकं गृहमित्यन्तेन । तद्व्याख्यानं भोगो द्विविध इत्या-
रभ्य आग्रन्थपरिसमाप्ति । अर्थस्तु भोगप्रतिबन्धौ लौकिकालौकिकभेदेन साधारणभगव-
त्कृतभेदेन च प्रत्येकं द्विविधौ । तत्र लौकिको भोगः स्वच्छन्दतया यथेष्टं सर्वेन्द्रियसंतर्प-
णादिरूपः । स सर्वथा त्याज्यः । तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः 'स्वयमिन्द्रियकार्याणि', 'विषया-
क्रान्तदेहाना'मित्यादिवाक्यैः । साधारणप्रतिबन्धस्तु त्रैवर्गिकायासासकत्यादिरूपः, सोपि
तथा । एतस्य भगवद्धर्मापेक्षयातिनिर्वलत्वेन सेवाद्यासक्तस्य वृथा कालक्षेपजनकत्वमस्ति ।
तदुक्तं 'तावत्कर्माणि कुर्वीत' 'मत्कर्म कुर्वतां पूंसा'मित्यादिवाक्यैः । ननु तर्हि
धर्मादिशास्त्रभयवैयर्थ्यं स्यादिति चेत् । न । यतो बुद्ध्येत्युक्तं टीकायाम् । लोकसंग्रहा-
र्थकरणाभिप्रायेण । तदेव गीतायामुक्तं 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांस' इति । अन्यथा तत्तन्नियत-
कारणकमेव फलं स्यात्, नैतन्मार्गीयम् । अथालौकिकभोगस्तु वस्तुमात्रस्य भगवदुप-
योगे तदयोग्यत्वे च जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपयोगादिरूपः, स न त्याज्यः । यतः स
भोगः फलानां मध्ये प्रथमफलेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति, तदज्ञातां प्राप्नोति । काय-
वाङ्मनःशोधकत्वात्, स्वधर्मत्वाच्च । तदुक्तं 'त्वयोपशुक्तस्त्रगन्धे'त्यादिवाक्यैः । 'यत्क-
रोषि यदश्नासि' 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा' इत्यादिभिर्भोगस्य यथाकथञ्चित् कर्तव्य-
ताप्युक्ता । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः, स स्वरूपतः फलतश्च पूर्वमुपपादितः । नन्व-

निषिद्धसुखत्यागी पशुरेवेति न्यायेन साधारणो भोगः किमर्थं त्यक्तव्यः, तत्राहुः सचि-
न्नेति । अस्य टीका सचिन्नेत्यादिप्रतिबन्धेत्यन्ता । अर्थः सचिन्नेत्वात् बह्वन्तरायवत्त्वात्
तत्रापि स्वरूपतः कालतश्च स्वल्पत्वात् घातकोयं त्याज्य एवेत्यर्थः । तथाच साधारणभो-
गभगवत्कृतप्रतिबन्धौ प्रसङ्ग फलाभावजनकौ । यतस्तौ मतौ संमतौ न, प्रतिबन्धक-
त्वात् । अथवा मतौ प्रतिबन्धकत्वेन संमतावित्यर्थः । तत्र तयोराद्यः स्वसाध्यत्वात् त्याज्य
एव । इतरोसाध्यत्वात् मर्यादामार्गेण स्थित्वा सोढव्य इति । पूर्वं यदुक्तं तत् 'प्रवृत्तिं च
निवृत्तिं चेत्यादिभगवद्वाक्यैः सहजासुरेषु मर्यादामार्गोपि याथातथ्येन न सिध्यतीति
ज्ञानस्थित्यभावेत्याभासेनानूद्य तेषां कर्तव्यमाहुः द्वितीयेति । द्वितीये बाधके भगव-
त्कृतप्रतिबन्धे, अथवा द्वितीये आसुरत्वे साहजिके जाते फलविषयिणी चिन्ता साधनान्वे-
षणं न कर्तव्यम् । यतः फलं तस्यैतन्मार्गीयं न भवत्येव । तर्हि तस्य किं भवतीति प्रश्ने
आहुः संसारेति । तस्याविद्यकोऽहंममात्मकः संसार एव भवति, अत्रेपि तदनुसारेणैव
फलम्, नान्यदपीत्यर्थः । नन्वन्यबाधकद्वये द्विरूपत्वं विविच्योक्तं नत्वादिनैतत्कृतः इ-
त्यत्राहुः नत्वाद्य इति । तटीका आद्य इति । आद्यो यः फलस्याभावो यस्मादिति फला-
भावः प्रतिबन्ध उद्वेग इति यावत् । स यद्यपि साहजिकदुःसङ्गकृतभेदेन द्विविधोऽस्ति त-
द्दशात्तत्र चित्तशुद्धभावेन कदाचित् स्वधर्मत्यागनिन्दादिकमपि भवति, तथापि द्वैविध्येपि
भगवान् सर्वात्मना फलं नैव संपादयतीति न, किन्तु किञ्चिन्न्यूनाधिकं भवत्येव । अत-
स्तत्र भगवतोऽदातृत्वं फलविषयकं नास्ति, किन्त्वग्निमज्जन्मान्तरेषु फलमुत्तमं मध्यमं वा
भवत्येवेत्यर्थः । तदेवोक्तं निबन्धे 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा । नरके न भवेत्पातः
किन्तु हीनेषु जायते । पूर्वसंस्कारतस्तत्र भजन्मुच्येत जन्मभि'रिति । तर्हि सद्यस्तस्य
किं भवतीत्याकांक्षायामाहुस्तदेति । तदा तनुवित्तजा सेवा आधिदैविकी न भवति ।
यस्यां कदा कदाचित् साक्षात्स्वरूपानुभवः सर्वदा तत्सङ्गमार्थं परमार्तिश्च नियता तादृशी
साम्प्रतं न भवतीत्यर्थः । अथ लौकिकभोगत्यागप्रकारमाहुः तृतीय इति । तद्व्याकृति-
भोगाभाव इति । गृहे त्यक्ते तदधीनत्वात् सोपि त्यक्तो भवतीत्यर्थः । अथ अवश्येत्याद्य-
वशिष्टमूलव्याख्या श्रीमदाचार्यकृता न लभ्यत इति तद्व्याख्यायते । इयं सेवा सदा
अवस्था जीवकृत्यसाध्येति भावनीया । अथमाशयोऽत्र । तस्याः कृतौ स्वस्य कर्तृत्वाभि-
माने जाते कृताप्यकृतप्राया भवतीति भगवत्येव सर्वं भारं निष्कष्य तदिच्छयैव सर्वं सम्प-
द्यत इति निश्चित्य तत्परतया श्रेयमिति । तदुक्तं 'अशक्ये वा सुशक्ये वे'त्यादिवाक्यैः ।
एतदन्यप्रकारा भावना मनोभ्रमरूपा । यद्वा । इयं सेवा सदा अवस्था, जीवकृत्यसाध्या
भाव्या च, भावसम्बन्धिनी तत्प्रधाना च ज्ञेयेति शेषः । एतस्मादन्यजीवसाध्यत्वविध्यधी-
नत्वज्ञानं मनसो भ्रमः । इति संक्षिप्य सेवास्वरूपमापातत उक्तम् । एवं स्वरूपमुक्त्वा
तस्या एतत्प्रकारेणैव ज्ञानं कर्तव्यतां चाज्ञापयति तदीयैरिति । अत्राप्रस्तुतत्वेन प्रतीय-

मानोप्यपिशब्द एतत्प्रकारकज्ञानविशिष्टत्वमाक्षिपति । तथाचैवं ज्ञानपूर्णेऽपि तन्मदुक्तमेव
कार्यम्, नान्यदित्यर्थः । नन्वन्यमार्गद्वये यथोक्तकरणं युक्तं, लोकवेदानुसारित्वात्, न तु
शुद्धपुष्टौ, लोकवेदातीतत्वात् । अतस्तत्र यथोक्तकरणं नोपदिश्यत इति चेत्, तत्राहुः
पुष्टाविति । एवकारेण विचारान्तराभावपूर्वकमवश्यकर्तव्यत्वं सूच्यते । तथा च पुष्टि-
मार्गे एतदुक्ताचरणे विलम्बो न कार्यः । यतस्तत्र मार्गाचार्यप्राधान्यमेवोत्कर्षः, तदेव च
निर्वहति । तथाकरणेनैवं भगवान् प्रसीदति, नान्यथा । अतस्तादृशैस्तदुक्तकरणे सर्वथा
विलम्बो न कार्यः । ननु पूर्वं यदुक्तं भगवत्कृतप्रतिबन्धसंभवे तत् सोढ्या श्रेयमिति, तत्र
युक्तम्, यतस्तपोऽनशनदेहाभिधातादिभिराग्रहे क्रियमाणे देवव्रतादेरिवास्यापि प्रतिज्ञा-
पालनं भगवान् करोत्येवेति चेत्, तत्राहुः गुणेति । गुणानां सत्त्वादीनां क्षोभेऽतिक्रान्त-
मर्यादत्वे जाते अर्थात् गुणाधिक्येन क्रोधमदमात्सर्यादिविकारसंभवेपि स्वाभाविकं त्यक्त्वा
मदुक्तमेव कार्यमित्यर्थः । दर्शनमालोचनज्ञानं दृष्ट्वा कर्तव्यमित्यर्थः । तत्र प्रमाणं मे
मतिरिति । पूर्वं यदाक्षिप्तं तत्सर्वं सगुणभाववद्भक्तकृत्यम्, मदीयास्तु निर्गुणभावा इति
तैर्मदुक्तमेव विधेयम् । तत्राज्ञानमन्यथाज्ञानं च वारयन्ति कुसृष्टिरिति । अत्र मदुक्तौ
या कुसृष्टिर्हेतुवादादिरूपद्येत स वै निश्चयेन भ्रम एव । श्रीमदाचार्योपदिष्टप्रकारेषु यत्प्र-
माणान्तरान्वेषणं तद्भ्रमरूपमेवेति दिक् ।

इति सेवाफले मूले टीकायां च कृतं मया । टिप्पणं श्रीमदाचार्यपदपञ्चानुसारिणा ॥ १ ॥

इति श्रीसेवाफलटिप्पणम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् विवृतिप्रकाशसहितम् ।

प्रणम्य पुष्टिमार्गीयं ससूनुं बलभं प्रभुम् । सेवाफलस्य विवृतिप्रकाशः क्रियते मया ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्याः पुष्टिमार्गीयदैवजीवानां मानसीसेवासिद्धावङ्गभूतं फलत्रयं प्रतिब-
न्धकत्रयं तदभावं च प्रतिपादयन्ति सेवायां फलत्रयमिति । मानसीसेवायामङ्गभूतं
तनुवित्तजासेवासाध्यं फलत्रयम् । अलौकिकसामर्थ्यं सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परतारू-
पमेकं फलम् । सायुज्यं सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, व्यसनभा-
वानन्तरं देहनाशकेन विगाढभावेनान्यस्फूर्तिराहित्यपूर्वकं भगवता सह योगः द्वितीयं
फलम् । सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु । यथा वैकुण्ठज्जादिषु साक्षात् सेवोप-
योगिदेहस्तथा देहो मानसीसेवायामधिकाररूपस्तृतीयं फलम् । एतत्फलत्रयमेव सार्ध-
श्लोकेन प्रतिपादयन्ति यादृशीति । यादृक्प्रकारिका मानसी सेवा 'ता नाविद'न्नित्यादि-
वाक्यैर्भगवता प्रोक्ता तत्सिद्धावङ्गभूतं येन विना यत्न संभवति तत्तदङ्गमेतादृशमलौकिक-

सामर्थ्यरूपं फलमुच्यते । यतो हि निश्चितम् । अलौकिकसामर्थ्यस्य दाने सति तनुवित्तजा-
सेवाप्रारम्भे जातो यो मनोरथः ममानया सेवया मानसीसेवा सिध्यत्वेवरूपः स सिध्येत्,
अत इदं फलमङ्गभूतमुच्यते । अथवा सायुज्यं फलमङ्गभूतमुच्यते । अथवा साक्षात्सेवोपयो-
ग्यधिकाररूपदेहोङ्गभूतं फलमुच्यते । यत एतयोरपि दाने प्रथमं जातो मनोरथः सिध्येत्,
नान्यथा । तस्मादेतयोरपि मानसीसेवायामङ्गभूतत्वम् । अस्मिन् फलत्रये कालो न नियामकः
संपादको न भवति । यतः पुष्टिमार्गीयदैवजीवे मानसीसेवार्थं भगवदुत्पादितमेवैतत्फलत्रयम् ।

एवं मानसीसेवायामङ्गभूतं फलत्रयमुपपाद्य मानसीसेवायां प्रतिबन्धकत्रयमुप-
पादयन्ति सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् । तदेव विशदयन्ति उद्वेग इति । मानसी-
सेवायां तु उद्वेगः बाधकं भवेत् । अथवा प्रतिबन्धः बाधकं भवेत् । भोगो वा बाधकं
भवेत् । एवं बाधकत्रयं सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् । तुशब्दोन्यव्यावृत्त्यर्थम् । बाधकानां
परित्याग इति । बाधकत्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । लौकि-
कोऽलौकिकश्च । द्विविधेपि भोगे एकं लौकिकभोगरूपं बाधकं तथा लाज्यम् । अपरं
द्वितीयमलौकिकभोगस्वरूपं निष्प्रत्यूहं निर्विघ्नं भगवतैव निर्वाहात् । स अलौकिकभो-
गस्तु महान् भोगः सदा निरन्तरं सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परतारूपः । फलत्रयाणां मध्ये
प्रथमे फलेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति । अतो न त्यक्तुं योग्यः । प्रतिबन्धोपि द्विविधः ।
साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्र प्रतिबन्धद्वये आद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायेन लाज्यः ।
भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदेवाहुः अक-
र्तव्यमिति । भगवतो जीवकर्तृकं भजनं कर्तुमयोग्यं चेत्तदा सर्वप्रकारेण गतिर्नहि ।
फलं नेति निश्चयः । यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धः सर्वथा निवारयितुमयोग्यस्तदा तत्प्रति-
बन्धनिवारणार्थं कृता या अन्यदेवतासेवा सापि व्यर्था । अन्यफलदातृणामपि देवानां
भगवदधीनानां भगवत्कृतप्रतिबन्धानिवारकत्वात् । किञ्च, यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा
आसुरोयं जीव इति निर्धारः । अयं जीवो दैवः पुष्टिमार्गीयजीववत् सेवादिना प्रती-
यमानोऽप्यासुर इति निर्धारः । दैवजीवे भगवत्कृतप्रतिबन्धासंभवात् । ननु यदा भक्ति-
मार्गीयभजने भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा शोकाभावाय तेन किं कार्यमित्याकांक्षायामाहुः
यथा वेति । वेत्यनादरे । यथा येन प्रकारेण वेदान्तश्रवणादिना अन्येनापि येन केन-
चित्प्रकारेण तत्त्वनिर्धारः स्वरूपनिर्धारो भवति तेन प्रकारेण तस्य विवेकः साधनं संमतम् ।
विवेकस्वरूपं तदेव विवृतं तदा ज्ञानमार्गेण स्यातव्यम्, शोकाभावायेति विवेकः । यदा
भक्तिमार्गीयभजने भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा शोकाभावाय ज्ञानमार्गेण मया स्यातव्यमिति
विवेकरूपं साधनम् । साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहुः सविघ्नोत्पो
घातकः स्यादिति । सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भावविघातकत्वात् साधारणो भोगस्त्याज्यः ।
बलावेतौ सदा मतौ । एतौ साधारणप्रतिबन्धसाधारणभोगरूपौ सदाप्रतिबन्धकौ संमतावत-

स्याज्यौ । द्वितीय इति । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तस्मिन् सति ज्ञानमार्गेणापि स्थित्य-
संभवे चिन्ता भवति । तदभावार्थमाहुः द्वितीय इति । ज्ञानमार्गेणापि स्थितौ भगवत्कृ-
तप्रतिबन्धे सर्वथा चिन्ता त्याज्या । संसारनिश्चयात् । सर्वत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धादयं जीव
आसुर इत्यस्य संसार एव भवति, नतूद्धार इति निर्धारत् सर्वथा चिन्ता त्याज्या । भगव-
त्कृतप्रतिबन्धस्य ज्ञापकमाहुः नन्वाद्य इति । नन्विति विरोधोक्तौ । दैवजीवे सर्वेन्द्रियाणां
भगवत्परत्वं, तेन तत्कृता सेवा आधिदैविकी, आधिदैविको भगवान् तत्संबन्धिनी भवति ।
आसुरजीवे भगवत्कृतप्रतिबन्धादाद्यफलाभावे सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परत्वाभावे सति तत्र
भगवतः फलदातृत्वं नास्ति । तदा तत्कृता सेवा नाधिदैविकी भगवत्संबन्धिनी न भवती-
त्युक्तं भवति । तस्य प्रपञ्चासक्तत्वात् । तृतीय इति । ननु तृतीये-भोगाभावे बाधकं
गृहम् । भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः । अचक्षुष्यमिति । इयं फलत्रयी
प्रतिबन्धकाभावत्रयी अवश्य, न स्वशक्या । तथापि भाव्या विचारणीया । मम फलत्रयं
भवतु, प्रतिबन्धकाभावत्रयं भवतु, एवं विचारणीया । फलत्रयप्रतिबन्धकाभावत्रयान्याम-
न्यत् सर्वं फलभावनं प्रतिबन्धकभावनं स्वान्तर्भ्रान्तिरित्यर्थः । ननु पुष्टिमार्गीयाणां किमर्थं
भावनं, तं विनैव फलसिद्धेरित्याकांक्षायामाहुः तदीचैरिति । पुष्टिमार्गीयैरप्येतद्भावनं का-
र्यम् । एतद्भावनं भगवान् पुष्टिमार्गे फलदाने विलम्बं न करोत्येव । अतः पुष्टिमार्गीया-
णामेतद्भावनं शीघ्रं फलं भवत्यतस्तैरपि भावनं कार्यम् । ननु सत्त्वादिप्राकृतगुणकृतचित्त-
क्षोभे सति कथं भावनं कार्यं तत्राहुः गुणक्षोभेपीति । चित्तस्य गुणत्रयकृतक्षो-
भेप्येतदेव फलप्रतिबन्धकत्रयप्राप्तिनिवृत्तिभावनं तन्निवारणे साधनरूपं द्रष्टव्यम् । एत-
द्भावनयैव गुणत्रयक्षोभोपि नश्यतीति मे मतिः । एवंप्रकारिका मम बुद्धिः । कुसृष्टिरिति ।
अत्रैतद्भावनकृतगुणत्रयक्षोभनिवारणे काचित् कुसृष्टिरेतद्भावनयैव गुणत्रयकृतक्षोभो नश्य-
तीति कथं, गुणत्रयकृतक्षोभनिवारणे साधनान्तराप्यपि भविष्यन्तीत्येवंरूपानुपपत्तिरुत्पद्यते
चेत्, निश्चयेन स वै अमः । स्वान्तर्भ्रान्तिः । अत्र न काप्यनुपपत्तिरिति दिक् ।

इति श्रीसेवाफलविवृतिप्रकाशः ।

परिशिष्टम् ।

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	पाठः	पाठान्तरम् ।
५	३९	सद्विषयकः	सिद्धिविषयकः
६	८	दर्शनसेवायाम्	दर्शने सेवायाम्
६	२२	अलौकिकसाधन	अलौकिकभोगसाधन
७	५	द्विविध इत्यनन्तरम्, लौकिकोऽलौकिकश्च । तत्र लौकिकस्त्याज्य एव । प्रतिबन्धो द्विविधो ।	
८	२५	द्रवादस्य	द्रवश्चा
१९	३	प्रयत्नसम्भवेन ।	प्रयत्नासम्भवेन ।
२२	१९	तदवैयर्थ्य-	तद्वैयर्थ्य-

श्रीवल्लभगोस्वामिनां टीकाया मुद्रणानन्तरं प्रभुकृपयास्माभिस्तेषां टीकायाः द्वितीया प्रतिः प्राप्ता । सा टीका श्रीवल्लभगोस्वामिभिः पुनर्लिखिता, इति प्रतिभाति । तन्मध्ये तैः प्रथमटीकापेक्षया केषु केषु स्थलेषु किञ्चिदधिकं लिखितम्, तदत्र वाचकानां जिज्ञासा-तृप्त्यर्थं ग्रन्थरक्षणार्थं चावतार्यते ।

पृष्ठ २३, पङ्क्ति १२, सर्वाभोग्यसुधानन्तरमिदमधिकं वाचनीयम्—‘फलरूपापीयं भगवता साधनतामापादितेति वेणुगीते निरूपितमतोऽलौकिकत्वम् ।’

पृष्ठ २३, पङ्क्ति २४, सेवोपयोगिदेहो—इत्यस्यानन्तरं ‘इति यस्य देहस्य सेवायामेवोपयोगः, अन्यदावयवा अप्रकटा एव स इत्यर्थः । यत्र स्वरूपानन्ददानम्, तत्र फलत्रयमपि, यत्र धर्मभूतानन्ददानम्, स्वयमप्रधानीभूय, तत्र फलद्वयम्, यत्र स्वप्राधान्येन धर्मभूतानन्ददानम्, तत्र सेवोपयोगिदेहमात्रदानमिति ज्ञेयम्’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २३, पङ्क्ति २७, लभन्ते—इत्यस्यानन्तरं ‘इमान्येव फलरूपात्मनिवेदनसख्य-दास्यानि ज्ञेयानि’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति ३, भोगः—इत्यस्यानन्तरं ‘भगवदुपयोगिवस्तुपरतायाः प्रति-बन्धकत्वाभावाद् यद्द्विभुजाक्षेतिश्लोकव्याख्यातः सर्वथा भगवन्तमप्रपन्नः अन्यपदार्थो ज्ञेयः । अप्रपन्नो ननुगतो भगवदनुपयोगीति यावत् । नवरत्ने चित्तोद्वेगमित्यस्याभासे चित्तस्य पुत्रादिपरता उद्वेगपदार्थो निरूपितः । अन्यपरतेतियावत् । तन्न्यायेन त्रयमपीदं ज्ञेयम् ।’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति ५, मूलार्थः—इत्यस्यानन्तरं ‘तत्र द्वयं साक्षात्तद्वाधकं प्रतिबन्ध-रूपम्, एकं च तदाधारस्य साधनस्य बाधेन बाधकमिति भेदो ज्ञेयः । सामर्थ्यस्य बाधकत्वेन सामर्थ्योत्पत्तेः पूर्वमेतत्सम्भवे सामर्थ्यं नोत्पद्येतेति सिद्धमेवेति भावः । नवरत्ने

तथानिरूपणात्त्रिवेदनपदार्थनाशाभावेपि तद्बाधस्तु स्यादिति तुशब्दः । तेन जन्मान्तर-व्यवधानं भवतीति निबन्धे निरूपितमिति भावः । सामर्थ्यबाधश्च तद्वेतुभूताभ्यासबाधेन सेवानभ्यस्ता भवतीत्यर्थः ।’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति ७, लौकिकभोगानाम्—इत्यस्यानन्तरं ‘बाधकत्वात्तत्साधनपरि-त्यागः कर्तव्यः । मनोदेहेन्द्रियाणि च भगवदसम्बन्धिषु न प्रवर्तनीयानि । तथा सति तेषां तत्परता भवति ‘विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जत’ इति वाक्यादिति भावः । साधन-परित्यागं विवृण्वतो’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति १२, भोगः—इत्यस्यानन्तरं ‘लौकिकस्त्याज्य इति । सिद्धान्त-रहस्योक्तप्रकारेण यथासम्भवं भगवदुपयोगं सम्पाद्य भोगः कर्तव्य इत्यर्थः । प्रतिबन्ध इति । श्रवणकीर्तनादिना हरिश्रेष्ठद्वयं निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति । एवं जाते ततः कार्यान्तरवशाज्जाता तनोरन्यपरता साधारणः प्रतिबन्धः । क्रियमाणेपि श्रवणकीर्त-नादौ हरिश्रेष्ठं निविशेत्तदाभ्यासो न भवति । तेन जाता तनोरन्यपरता या स भगव-त्कृतप्रतिबन्धः ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति १३, विभावनीयेत्यर्थः—इत्यस्यानन्तरं ‘बुद्धिर्वा तत्र न स्थाप-नीया । यत्करणेपि तदनुचिन्तनं न कर्तव्यमित्यर्थः । अलौकिकभोगो न त्याज्य इत्या-शयेनाहुः अलौकिकेति ।’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति २०, प्रतिबन्धः—इत्यस्यानन्तरं ‘ध्रुवस्य गता भक्तिः कुबरेण सिद्धेति चतुर्थस्कन्धे निरूपितं तथात्राप्याशङ्क्य नेत्याहुः तदेति’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति २२, बोध्यम्—इत्यस्यानन्तरं ‘ननु दुरदृष्टनाशनार्थं कात्यायनी-पूजेति कात्यायनीपदनिरुक्तौ सुबोधिण्यां निरूपितम्, दुरदृष्टस्य भगवत्कृतप्रतिबन्धत्वं च तत्रैव निरूपितम् । यदि भगवदिच्छयैवेति । स्वेच्छामप्येतदनुगुणं करिष्यतीति च । तथा च कथमन्यसेवावैयर्थ्यमित्यत आहुरयमिति । लीलास्थेषु रसविशेषानुभवार्थं भगवता प्रतिबन्धः सम्पाद्यते न त्वासुरत्वं तेषु । आधुनिकोयं त्वासुर एव भगवता प्रतिबन्धयुक्तः क्रियते, तदा तु फलाभावनिश्चयात् साधनवैयर्थ्यमिति भावः ।’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २५, पङ्क्ति १७, बाधकत्वाभावात्—इत्यस्यानन्तरं ‘विद्यमानमप्यदृष्टं तस्य दुर्बलम् । अत एव प्रारब्धभोजनार्थं प्रभुश्रेष्ठिलम्बत इत्युक्तम् । लोकवेदस्वास्थ्यं हरिर्न करिष्यतीति चोक्तम् ।’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ	३२	पङ्क्ति	११	दृढाद्	हठात्
”	३२	”	२८	सा	स
”	९५	”	२१	विवरणे	वरणे